डॉ. अयोध्या प्रसाद 'अचल'
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

॥ श्री ॥

चौखम्बा आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

१८

कौमारभृत्य

(अभिनव बालरोग-चिकित्सा)

[भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक—

डॉ० अयोध्या प्रसाद 'अचल'

एम. ए. (द्वय), पी-एच. डी., आयुर्वेद-बृहस्पति

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष—मौलिक सिद्धान्त विभाग
आयुर्वेद मेडिकल कालेज, गया
एवं
निदेशक, योगायुर्वेद शोध-संस्थान, गया

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

प्रथम संस्करण १९८६

मूल्य ५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक—

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA AYURVIJNAN GRANTHAMALA

18
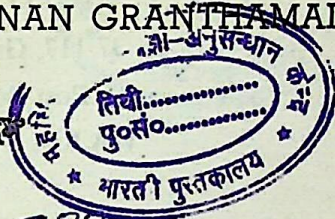
KAUMĀRABHṚTYA

(A new approach towards the Treatment of Children)

[*According to the Syllabus of Central Council of Indian Medicine, Delhi*]

By

Dr. Ayodhya Prasad Achal

M. A. (Double), Ph. D., Ayurveda-vrihaspati

Professor & Head; Deptt. of Basic Principles
Ayurveda Medical College, Gaya
&
Director; Yogayurveda Shodha Sansthan, Gaya

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

First Edition
1986

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076

भूमिका
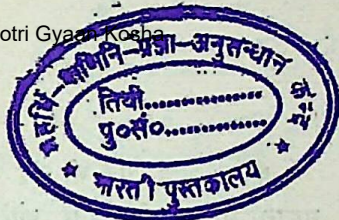
कौमारभृत्य या बालरोगविज्ञान आयुर्वेद के आठ प्रधान अंगों में से एक है। काश्यप ने इसे आठों अंगों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने इसे आदि अंग कहा है। उनके अनुसार आयुर्वेद में इसका वही स्थान है जो देवताओं में अग्नि का। जिस प्रकार अन्य सभी देवताओं के होते हुए भी जब तक अग्नि की उपस्थिति न हो, यज्ञ की पूर्ति सम्भव नहीं हो सकती; उसी प्रकार कौमारभृत्य के बिना आयुर्वेद के अन्य अंगों का आधार ही नहीं बनता। बाल्यावस्था ही जीवन का आदि है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—

कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते।
आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः॥

आयुर्वेद में कौमारभृत्य को बड़े ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। शिशु स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होकर बड़ा होता है। गर्भ-स्थापना से लेकर पूर्ण गर्भावस्था तक स्त्री में जो भी शारीरिक या मानसिक परिवर्तन होते हैं, वे बालक को भी प्रभावित करते हैं। सगर्भता और प्रसव बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की नींव यहीं से पड़ जाती है। इसीलिए आयुर्वेद में प्रसूति-तन्त्र और स्त्री के प्रजनन-तन्त्र में होने वाले रोगों (योनि-व्यापदों) का समावेश कौमारभृत्य में ही कर दिया गया है। परन्तु आजकल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कौमारभृत्य को प्रसूति-तन्त्र और स्त्रीरोगविज्ञान से पृथक् कर दिया गया है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जैसे-जैसे आयुर्वेद महाविद्यालयों की पृथक् से स्थापना होने लगी और वे एलोपैथिक कालेजों को आदर्श मानकर उन्हीं के अनुरूप ढलने लगे, उनमें संहिता-ग्रन्थों के शिक्षण के स्थान पर विषयविभागानुसार अध्ययन-अध्यापन पर बल दिया जाने लगा। शिक्षण के माध्यम के रूप में भी हिन्दी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ संस्कृत का स्थान ग्रहण करने लगीं।

विषयानुसार अध्ययन-अध्यापन के परिणामस्वरूप आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओं पर मातृभाषा हिन्दी में ग्रन्थों के प्रणयन का क्रम भी आरम्भ हुआ। अनेक विद्वानों ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर भविष्य के लिए मार्गदर्शन भी किया।

कौमारभृत्य पर भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की गयी। उनके सम्बन्ध में कुछ भी कहना छोटे मुँह बड़ी बात होगी। प्रस्तुत 'कौमारभृत्य' उसी रचना-परम्परा की एक नवीनतम कड़ी है। इसमें छात्रों के हित को ही प्रधानता दी गयी है।

भारतीय-चिकित्सा-केन्द्रीय-परिषद्, नई दिल्ली द्वारा मुख्यायुर्वेद परीक्षा में निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर ही इसमें विषयों का समायोजन किया गया है। साथ ही इस ग्रन्थ में विषय से सम्बन्धित और भी तथ्य प्रकाश में लाये गये है, जिनका ज्ञान कौमारभृत्य के जिज्ञासुओं के लिए सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से आवश्यक है।

यद्यपि प्रारम्भ में पुस्तक दो ही खण्डों में विभाजित करने का विचार था; परन्तु कालान्तर में नव चिकित्सकों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इसमें एक तीसरा खण्ड भी जोड़ना पड़ा। इस खण्ड के समावेश से पुस्तक की उपयोगिता में निश्चय ही वृद्धि हुई है।

प्रथम 'सैद्धान्तिक-खण्ड' में कौमारभृत्य के स्वरूप, महत्त्व, उपयोगिता, व्यापकता आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसमें गर्भ, शिशु, कुमार, किशोर, युवा आदि की व्याप्ति और व्याख्याएँ दी गयीं हैं। माता के गर्भ में आने से लेकर शिशु के अट्ठारह वर्ष की अवस्था तक के विकास के विभिन्न स्तरों को प्रभावित करनेवाले अंगों-कारकों, विकास के सामान्य एवं असामान्य प्रतिमानों तथा भिन्न-भिन्न स्तरों पर बालक की परिचर्या पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। विशेष रूप से बाल्यावस्था में प्रतिपादित किये जाने वाले संस्कारों, बालक की आधारभूत आवश्यकताओं (आहार, विहार, निद्रा आदि), दन्तोद्भवन, बालरोग परीक्षा-विधि, बालकों को दी जानेवाली औषधि की मात्रा, स्वरूप एवं प्रदान-पद्धति आदि की विस्तार से चर्चा की गयी है।

द्वितीय 'विकृति-खण्ड' में बाल-रोगों के स्वरूप, निदान एवं चिकित्सा की विस्तार से चर्चा की गयी है। इसमें उन सभी बालरोगों का समावेश करने का प्रयास किया गया है, जिनका वर्णन आयुर्वेद की संहिताओं तथा प्रमुख संग्रह-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। सामान्य रोगों के उस स्वरूप को भी दर्शाया गया है जिस रूप में वह बालकों में प्रकट होता है। बालग्रहों के भी शास्त्रोक्त स्वरूप, निदान और चिकित्सा पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उन्हें हम मानें या न मानें, परन्तु उनके शास्त्रीय महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता।
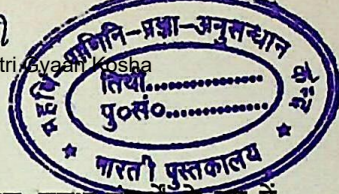
तृतीय खण्ड में नव चिकित्सकों के लिए तत्काल सुलभ सन्दर्भों के रूप में आयुर्वेदिक और एलोपैथिक दोनों की पृथक्-पृथक् संक्षिप्त चिकित्सा-निर्देशिकाएँ दी गयी हैं। इनमें बालरोगों में व्यवहार में आने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण औषधियों की मात्रा, अनुपान, देने की विधि, अवधि आदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। एलोपैथी के योगों के साथ ब्रैकेट में उन योगों का निर्माण करने वाली कम्पनियों का नाम भी सुविधा की दृष्टि से उल्लेख कर दिया गया है। आयुर्वेदिक औषधि बनाने वाले संस्थानों द्वारा निर्मित बाल-औषधियों का एक पृथक् अध्याय भी जोड़ दिया गया है। चूंकि एलोपैथी की निर्देशिका में भी रोगों का नामोल्लेख हिन्दी में अकारादि क्रम से किया गया है, इसलिए एलोपैथी के प्रेमी पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में हिन्दी की अनुक्रमणिका के पश्चात् एक अंग्रेजी की भी संक्षिप्त अनुक्रमणिका दे दी गयी है, जिसमें चिकित्सा-निर्देशिका में आये रोगों के नाम अंगरेजी में अकारादि-क्रम से प्रस्तुत किये गये हैं।

यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ का मूलाधार आयुर्वेद की प्राचीन संहिताएँ एवं प्रमुख संग्रह-ग्रन्थ हैं, फिर भी विषय के विशदीकरण एवं स्पष्टीकरण के लिए सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंगरेजी की बालरोग-विज्ञान की आधुनिकतम पुस्तकों एवं खोजों का भी सहारा लिया गया है। प्रायः जहाँ भी साम्य दृष्टिगोचर हुआ आयुर्वेद के साथ-साथ उनके समकक्ष अंगरेजी पर्याय भी व्याख्या सहित प्रस्तुत किये गये हैं।

अपनी पिछली कुछ रचनाओं के सम्बन्ध में कतिपय दक्षिण भारतीय प्रशंसकों की शिकायत को ध्यान में रखते हुए अहिन्दी भाषी छात्रों एवं पाठकों की सुविधा के लिए न केवल स्थान-स्थान पर महत्त्वपूर्ण हिन्दी शब्दों के अंगरेजी पर्याय दिये गये हैं, प्रत्युत प्रत्येक शीर्षक एवं उपशीर्षक को भी हिन्दी के साथ-साथ अंगरेजी में भी प्रस्तुत किया गया है। इससे विषय की सुग्राह्यता निश्चय ही बढ़ गयी है।

तकनीकी शब्दों के चयन में आयुर्वेद की प्रमुख संहिताओं और अंगरेजी में बालरोगविज्ञान पर उपलब्ध मानक ग्रन्थों की सहायता ली गयी है। अंगरेजी के तकनीकी शब्दों के हिन्दी पर्याय भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह' से लिये गये हैं।

विषय के निरूपण में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि कठिन से कठिन विषय को भी सरल, सुग्राह्य एवं बोधगम्य शैली में प्रस्तुत किया जाय। जहाँ भी कोई नया तथ्य पहली बार आया है, उसे सरल से सरल

भाषा में समझाने एवं परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए न केवल आयुर्वेद की शैली में ही उपयुक्त उदाहरणों की, प्रत्युत रेखाचित्रों और सारणियों की भी सहायता ली गयी है।

ग्रन्थ का सुन्दर एवं आकर्षक मुद्रण तथा नयनाभिराम रूप-सज्जा चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ इतने आकर्षक रूप में और इतना शीघ्र प्रकाश में आ सका, इसका सारा श्रेय प्रकाशन-संस्थान को ही है। मैं तो पाण्डुलिपि सौंप कर निश्चिन्त-सा हो गया था। इस बीच चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के व्यवस्थापक और इनके पारिवारिक जनों का जो स्नेह एवं सौहार्द मिला उसके लिए मैं इनका आभारी हूँ।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को तैयार करने में मुझे अपनी धर्मपत्नी वैद्या श्रीमती विमला 'अचल' और पुत्र आनन्द प्रकाश अचल से समय-समय पर जो सहायता मिलती रही, उसी के फलस्वरूप मैं इस कार्य को इतना शीघ्र सम्पादित करने में सक्षम हो सका।

मैं अपने उन सभी सहयोगियों एवं मित्रों का भी आभारी हूँ जो बराबर मुझे कुछ-न-कुछ लिखते रहने की प्रेरणा देते रहे हैं। उनकी प्रेरणा ही मेरा सम्बल है।

लेखक का हर सम्भव यह प्रयास होता है कि वह पाठकों को जो कुछ भी दे रहा है वह श्रेष्ठ हो, पूर्ण हो तथा अब तक जो दिया जा चुका है उससे कुछ भिन्न हो, नवीन हो। परन्तु अपूर्ण मानव की कृति में पूर्णता कहाँ से आ सकती है। लाख प्रयत्न करने पर भी कुछ-न-कुछ त्रुटियाँ तो रह ही जाती हैं। प्रस्तुत कौमारभृत्य भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। मैं अपने सहृदय पाठकों से अपेक्षा रखूंगा कि वे इसकी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान अवश्य आकृष्ट करें ताकि आगामी संस्करण में इसे और भी अधिक सजाया-सँवारा जा सके।

धन्वन्तरि जयन्ती
३० अक्टूबर १९८६

—अयोध्या प्रसाद अचल

विषय-सूची

प्रथम खण्ड
सैद्धान्तिक विवेचन
बालक का उद्भव एवं विकास

द्वितीय खण्ड

विकृति-विज्ञान

बालरोग : निदान, लक्षण एवं चिकित्सा

गर्भकालीन व्याधियाँ

प्रसवकालीन व्याधियाँ

(सहज व्याधियाँ : संघातबल-प्रवृत्त)

(सहज व्याधियाँ : आदिबल-प्रवृत्त)

अन्नादकालीन व्याधियाँ

बालग्रह

तृतीय खण्ड

चिकित्सा-निर्देशिका

आयुर्वेदिक एवं एलोपैथिक

प्रथम खण्ड

*

सैद्धान्तिक विवेचन

बालक का उद्भव एवं विकास

अध्याय २

विषय-प्रवेश

कौमारभृत्य की परिभाषा

(Definition of Kaumar Bhritya)

प्राचीन संहिताओं में आयुर्वेद को आठ प्रधान अंगों या शाखाओं में बाँटा गया है—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण।

कौमारभृत्य आयुर्वेद की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध कुमार या बालक के भरण-पोषण तथा बाल्यावस्था में उत्पन्न होनेवाले रोगों और उनकी चिकित्सा से है।

कौमारभृत्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—कुमार और भृत्य। सामान्यतया कुमार शब्द का व्यवहार बालक, युवराज, राजकुमार, पाँच वर्ष तक के बालक या अविवाहित पुरुष के लिए किया जाता है। पर कौमार-भृत्य के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग बालक के अर्थ में ही किया गया है। आयुर्वेद में सामान्यतया बाल्यावस्था की अवधि बालक के गर्भ में आने के समय से लेकर सोलह वर्ष की अवस्था तक मानी गयी है।

भृत्य शब्द का प्रयोग सामान्यतया सेवक, अमात्य या भरण-पोषण करने वाले के लिए किया जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग भरण-पोषण या सेवा के अर्थ में ही किया गया है। हमें इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेद का प्रयोजन मात्र आतुर या रोगी प्राणियों के रोग का निवारण ही नहीं है, प्रत्युत स्वस्थ प्राणियों के स्वास्थ्य की रक्षा भी है। इसी व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए भृत्य शब्द का प्रयोग बालक के माता के गर्भ में आने के समय (From the time of conception) से लेकर परिपक्वावस्था (Age of maturity) तक की उसकी देख-भाल के लिए किया गया है। इस देख-भाल में दोनों पक्ष सम्मिलित हैं—बालक का समुचित भरण-पोषण और इस अवस्थाविशेष में होनेवाले रोगों का उपचार।

अतः हम कह सकते हैं कि कौमारभृत्य आयुर्वेद की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत गर्भ में प्राणी के अस्तित्व में आने के समय से लेकर सोलह वर्ष की आयुपर्यन्त उसकी परिचर्या, भरण-पोषण, स्वास्थ्य-संवर्धन, स्वास्थ्य-संरक्षण

तथा इस अवधिविशेष में उत्पन्न होनेवाले रोगों के स्वरूप, निदान और चिकित्सा का शास्त्रीय या वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है।

कौमारभृत्य का क्षेत्र
(Scope of Kaumar Bhritya)

प्राचीनकाल में कौमारभृत्य शब्द का प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थ में किया जाता था। बालकों के भरण-पोषण और उनकी चिकित्सा के अतिरिक्त, उनके होने और न होने में कारणस्वरूप रज और वीर्य की शुद्धता, अशुद्धता तथा उनके दोषों के निराकरण, गर्भावक्रान्ति, गर्भ में बालक के अस्तित्व को प्रभावित करनेवाले विशेष स्त्री-रोगों जिनका विवरण आयुर्वेद के ग्रन्थों में 'योनिव्यापद्' के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है; इसके अतिरिक्त प्रसवकालीन कठिनाइयों, व्याधियों आदि का भी इसी में समावेश किया जाता था। कौमारभृत्य के ही विशेषज्ञ स्त्री-रोग और प्रसूति-तन्त्र के भी विशेषज्ञ होते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है—

आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भभर्मणि प्रजनने च वियतेत।

—प्र० ११, अ० १६।२

अर्थात् गर्भ में बालक के अस्तित्व में आ जाने के बाद कौमारभृत्य-विशेषज्ञ को गर्भ की रक्षा एवं प्रसव-कार्यों के लिए नियुक्त करे।

इसी प्रकार कालिदास ने रघुवंश-महाकाव्य में सुदक्षिणा के गर्भवती हो जाने पर कौमारभृत्य-विशेषज्ञों द्वारा उनकी देखभाल की बात कही है—

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव॥

—रघुवंश ३।१२

अर्थात् 'कौमारभृत्य में कुशल बहुत से चतुर वैद्य वे सभी उपाय कर रहे थे जिनसे गर्भिणी सुखपूर्वक बच्चे को जन्म देती है और गर्भ पुष्ट होता है। दसवें महीने में राजा ने देखा कि शीघ्र ही पुत्र को जन्म देनेवाली रानी ऐसी लग रही थी जैसे तत्काल बरसनेवाले बादलों से घिरा हुआ आकाश।

उक्त दोनों ही उद्धरण तत्कालीन समाज में कौमारभृत्य की व्यापकता और कौमारभृत्य-विशेषज्ञों के महत्त्व पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हैं।

सुश्रुत ने कौमारभृत्य के क्षेत्र पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निबेधनम्।
अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक्।
पूतनायास्तथाऽन्धाया मण्डिका शीतपूतना॥

नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा।
कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्त्तितम्॥

—सु० सू०, अ० ३।३५-३७

अर्थात् नवग्रहों का आकृतिविज्ञान, स्कन्दग्रह की चिकित्सा, अपस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, मण्डिका, शीतपूतना, नैगमेष आदि ग्रहों की चिकित्सा, ग्रहों की उत्पत्ति, योनिव्यापद्-चिकित्सा तथा शारीरस्थान में वर्णित रजःशुद्धि-गर्भावक्रान्ति आदि विषय कौमारभृत्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

सुश्रुत के प्रसिद्ध टीकाकार डल्हण ने उक्त अंशों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

कुमारतन्त्रं दर्शयन्नाह—नवग्रहेत्यादि। स्कन्दस्य च निषेधनम्, स्कन्दग्रह-प्रतिषेधाध्यायः।...। पूतनाया इति पूतनाप्रतिषेधाध्यायः। तथाऽन्धाया इत्यत्रापि पूतनाशब्दः सम्बध्यते, तेन अन्धपूतनाप्रतिषेधाध्यायः। शीतपूतना इति शीत-पूतनाप्रतिषेधाध्यायः। मण्डिकेति मुखमण्डिकाप्रतिषेधाध्यायः। नैगमेष-चिकित्सा चेति नैगमेषप्रतिषेधाध्यायः।...। सयोनिजेति योनिव्यापत् प्रतिषेधा-ध्यायः। सशब्दः सहार्थः। कुमारतन्त्रमिति अत्रेतिशब्दः कुमारतन्त्रपरिसमाप्तौ किमेतावदेव कुमारतन्त्रमथवाऽन्यदप्यस्तीति। पृष्ट आह—शारीरेषु च कीर्तित-मिति। किं तच्छरीरेषूक्तम्? तद्यथा—रजःशुद्धिः, गर्भावक्रान्तिरित्यादि।

अर्थात् स्कन्दग्रह-निषेध से स्कन्दग्रह-प्रतिषेधाध्याय, पूतनाया से पूतनाग्रह-प्रतिषेधाध्याय, अन्धाया से अन्धपूतना-प्रतिषेधाध्याय, शीतपूतना से शीतपूतना-प्रतिषेधाध्याय, मण्डिका से मुखमण्डिका-प्रतिषेधाध्याय तथा नैगमेष से नैगमेष-प्रतिषेधाध्याय का ग्रहण किया गया है। ग्रहोत्पत्ति से ग्रहोत्पत्ति-प्रतिषेधा-ध्याय समझना चाहिए। सयोनिजा से योनिव्यापत् प्रतिषेधाध्याय का ग्रहण किया जाना चाहिए। 'स' शब्द सहार्थ का बोधक है। क्या कौमारतन्त्र केवल इतना ही है या अन्यत्र भी है। इस प्रकार का प्रश्न किये जाने पर कहना चाहिए कि इसका कुछ अंश शारीरस्थान में भी वर्णित है। शारीरस्थान में वह कौन-सा अंश है। यह पूछे जाने पर कहना चाहिए कि रजःशुद्धि और गर्भावक्रान्ति आदि विषय।

इसी प्रकार हारीतसंहिता में कौमारभृत्य की विषय-वस्तु पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमस्तथा।
बालानां रोगशमनी क्रिया बालचिकित्सितम्॥

—प्रथम स्थान २।१७

अर्थात् गर्भकालीन उपक्रम, सूतिकाकालीन उपक्रम तथा बालकों के रोगों के शमन की प्रक्रिया—ये सभी बालचिकित्सा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में इस विषय को तीन प्रधान शाखाओं में बाँटा गया है—

१. स्त्री-रोगविज्ञान। (Gynaecology),

२. प्रसूतिविज्ञान (Obstetrics),

३. बालचिकित्साविज्ञान (Paediatrics)।

स्त्री-रोगविज्ञान का सम्बन्ध स्त्रियों, विशेषरूप से उनके प्रजनन-तन्त्र तथा उन पर प्रभाव डालनेवाले अंगों में उत्पन्न होनेवाले रोगों से है।

प्रसूतिविज्ञान का सम्बन्ध स्त्रियों में गर्भ-स्थापन, गर्भ के उत्तरोत्तर विकास, प्रसव तथा उसकी प्रसवकालीन देखभाल (Pregnancy, labour & puerperium) से है।

बालचिकित्साविज्ञान बालकों में उत्पन्न होनेवाले रोगों और उनकी चिकित्सा का व्यापकरूप से अध्ययन करता है।

व्यावहारिक दृष्टि से यह विभाजन सुविधाजनक एवं उपयोगी है। शायद इसी बात को ध्यान में रखते हुए स्वर्गीय श्रीगणनाथ सेन सरस्वती ने अपने प्रत्यक्ष-शारीर की भूमिका में प्रसूति-तन्त्र को कौमारभृत्य से पृथक् मानने की संस्तुति करते हुए कहा है—

इदञ्चात्रावधेयम्। कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्—इति सुश्रुतः। प्रसूतीतन्त्रस्य गर्भिण्युपचारादिप्रयोजनकस्य तु नान्तर्भावः। तस्य हि वैद्यके शारीर एवान्तर्भावः शल्यतन्त्रे च मूढगर्भचिकित्सादेः। एवञ्च सर्वथा कौमारभृत्यात् पृथगेव प्रसूतितन्त्रं मन्तव्यम्।

अर्थात् कौमारभृत्य नामक तन्त्र कुमार के भरण-पोषण, धात्री, धात्री के दुग्धसंशोधनार्थ तथा विकृत दुग्ध से उत्पन्न होनेवाली व्याधियों के शमनार्थ है। प्रसूतितन्त्र से सम्बद्ध विषय, यथा—गर्भिणी के उपचार आदि प्रयोजनों का इसमें अन्तर्भाव नहीं है। इस विषय का वैद्यक में शारीर में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार मूढ़गर्भ आदि की चिकित्सा का अन्तर्भाव शल्यतन्त्र में हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रसूतितन्त्र को कौमारभृत्य से पृथक् ही मानना चाहिए।

आज का युग विशेषज्ञता या विशेषीकरण (Specialization) का युग है। ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं का बड़ी तेजी के साथ विस्तार होता जा रहा है। जितना ही वे बढ़ती जा रही हैं, विषयों का शाखा-प्रशाखाओं में विभाजन

अनिवार्य होता जा रहा है। सीमित आयुवाले मनुष्य के लिए विज्ञान की किसी भी शाखा की समग्र विषय-वस्तु का एक साथ अध्ययन न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुरूप किसी प्रशाखाविशेष का चयन कर उसी का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है। आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में भी यही हो रहा है। आयुर्विज्ञान (Medical science) की प्रत्येक प्रधान शाखा अनेक उपशाखाओं में विभक्त होती चली जा रही है। हर शाखा के अलग-अलग विशेषज्ञ होने लगे हैं। इनका ज्ञान प्रायः अपनी शाखा तक ही सीमित रहता है। इसी का यह फल है कि आज एक रोगी को अपने रोग के निदान एवं चिकित्सा के लिए अनेक विशेषज्ञों की शरण लेनी पड़ती है। हमें इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य का मनोदैहिक-तन्त्र (Psychophysical organism) एक इकाई के रूप में काम करता है। उसके सभी कल-पुर्जे परस्परावलम्बी (Inter-dependent) हैं। आयुर्वेद में इसी व्यापकदृष्टि को ध्यान में रखकर मात्र रोग-लक्षण ही नहीं, बल्कि रोगी-व्यक्तित्व (Diseased personality) की चिकित्सा पर ध्यान देने की बात कही गयी है। आयुर्वेद में अंगों का विभाजन भी इसी व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया गया है। कौमारभृत्य के अन्तर्गत जिन विषयों का समावेश किया गया है वे सभी परस्परव्याप्त (Overlapping) हैं। शुक्राणु और डिम्बाणु गर्भस्थापन के मूलाधार हैं। स्वस्थ शुक्राणु और स्वस्थ डिम्बाणु ही गर्भ को अस्तित्व में लाने में समर्थ हो सकते हैं। शुक्राणु का आधार है शुक्र और डिम्बाणु का आधार है रज। इसीलिए कौमारभृत्य में शुक्र और रज की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। बालक के गर्भ में अस्तित्व में आ जाने पर योनिव्यापद् या स्त्री के प्रजनन-तन्त्र (Reproductive organs) में उत्पन्न होनेवाले अधिकांश रोग निश्चितरूप से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में गर्भस्थ शिशु पर अपना प्रभाव डालते हैं। सच पूछिए तो कुमार या बालक गर्भ-स्थापन के समय से ही अस्तित्व में आ जाता है। उसका जीवन उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है। जन्म लेना तो उसके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना मात्र है। पहले जो बालक गर्भ में पल रहा था, अब गर्भ से बाहर आकर पलने लगता है। अनेक रोगों-विकृतियों की जड़ें गर्भावस्था में ही जन्म ले लेती हैं। योनिव्यापद् इन विकृतियों की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इसीलिए योनिव्याधियों को भी आयुर्वेद में कौमारभृत्य के अन्तर्गत ही ले लिया गया है। प्रसव बालक के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह न केवल उसके वर्तमान बल्कि भविष्य को भी अनेक रूपों में

प्रभावित करता है। पीड़ाहीन प्रसव न केवल बालक के शारीरिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखता है, प्रत्युत उसके मन में भी आशावाद (Optimism) का संचार करता है। ठीक इसके विपरीत कठिन-प्रसव न केवल माता बल्कि बालक के लिए भी कष्टकर होते हैं। शरीर के अतिरिक्त उसके मन पर भी इसका आघात लगता है। इसके फलस्वरूप वह स्थायीरूप से निराशा एवं दुश्चिन्ता (Neurotic anxiety) का शिकार हो जा सकता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बालक का गर्भ में अस्तित्व में आना, पलना, गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि एवं विकास, जन्म लेना, जन्मोत्तर विकास के क्रम में नवजात शिशु, शिशु, बालक, पूर्व किशोर, किशोर आदि की स्थितियों से गुजरते हुए तरुणाई में प्रवेश करना आदि उसके सतत गतिमान जीवन में मील के पत्थरों के समान हैं। गर्भावक्रान्ति, गर्भ का विकास, प्रसव तथा जन्मोत्तर विकास सभी बालक के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सभी का सम्वन्ध बालक की वृद्धि एवं उसके विकास से है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद में उन सभी विषयों का, जिनका सम्वन्ध प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से बालक के जीवन की इस अवधि में से किसी भी पक्ष से रहा है, उसका समावेश कौमारभृत्य के अन्तर्गत कर दिया गया है।

धीरे-धीरे आधुनिक आयुर्विज्ञान में दीक्षित बाल-चिकित्सक भी अब इसी मत को मानने लगे हैं। इस सम्बन्ध में भारत के ख्यातिप्राप्त बाल-चिकित्सक लाला सूरजनन्दन प्रसाद का मत उल्लेखनीय है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—"बाल-चिकित्सीय देखभाल बालक के गर्भ में अस्तित्व में आने के समय से ही आरम्भ होनी चाहिए और उसे ऐसा योजनाबद्ध होना चाहिए जिससे कि न केवल गर्भ अपने गर्भाशयी जीवन में वृद्धि और विकास की चरम सीमा तक पहुँच सके बल्कि अपनी समस्त वैयक्तिक विशेषताओं एवं सम्भावित अन्तःशक्तियों के साथ एक स्वस्थ नवजात शिशु के रूप में जन्म ले"।[1] उन्होंने आगे कहा है—"एक तथ्य जो बाल-चिकित्सा को चिकित्सा की अन्य विशिष्ट विधाओं से अलग करता है वह उसका गर्भ, नवजात या जातमात्र, शिशु, स्कूल-पूर्व बालक, पूर्व किशोर तथा किशोरावस्था की वृद्धि एवं विकास में

---

1. Paediatric care should start from the stage of conception and should be so planned that not only the foetus attains optimum growth and development in intra-uterine life but he is born as a healthy neonate with its own individual characteristics and potentialities.

—Text book of Paediatrics : Robinson and Prasad.

अनवरत आवेष्ठन या लगाव है। बाल-चिकित्सक का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि नवजात शिशु अपने निर्माण-काल में विना किसी क्षति या जटिलता के, अन्ततोगत्वा वयस्कता को प्राप्त कर लेता है।"[1] उक्त दो उद्धरणों की सहायता से कौमारभृत्य के सतत बढ़ते हुए क्षेत्र और उसकी व्यापकता का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है।

कौमारभृत्य का महत्त्व एवं उपयोगिता

(Importance and Utility of Kaumar Bhritya)

कौमारभृत्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कश्यप ने कहा है—

कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते।
आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः॥

अनेन हि संवर्धितमितरे चिकित्सन्ति। बालस्य हृद्यमौषधमन्यत्, प्रमाणमन्य उपक्रमोऽन्ये च विशेषाः॥

—काश्यपसंहिता : विमानस्थान, शिष्योपक्रमणीयाध्यायः।

अर्थात् कौमारभृत्य आयुर्वेद के आठों अंगों में से आदि अंग है। इसका आयुर्वेद में वही महत्त्वपूर्ण स्थान है जो देवताओं में अग्नि का। जिस प्रकार अन्य देवताओं के होते हुए भी अग्नि के विना किसी भी यज्ञ की पूर्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार कौमारभृत्य के विना आयुर्वेद के अन्य अंगों का आधार ही नहीं तैयार होता। इसी कौमारभृत्य के द्वारा पोषित वृद्धि को प्राप्त हुए अन्य लोग भी चिकित्सा करते हैं। बालकों की वयस्कों से भिन्नता दर्शाते हुए उन्होंने आगे कहा है—'बालकों को दी जानेवाली औषधि हृद्य होनी चाहिए। उनको दी जानेवाली औषधि की मात्रा भिन्न होती है। उनके रोगों के निदान एवं चिकित्सा में प्रयुक्त होनेवाले उपक्रम भिन्न होते हैं।' इसी प्रकार और भी बहुत-सी भिन्नताएँ होती हैं।

बाल्यावस्था जीवन का निर्माण-काल है। इस अवस्था में जो नींव रख दी जाती है वह बराबर बनी रहती है। गर्भावस्था से लेकर सोलह साल की

---

1. The one fact which demarcates pediatrics from other specialities of medicine is its continuous involvement in the study of the process of growth and development of the foetus, the new born, the infant, the pre-school child and the child during the periods of pre-puberty and adolescence. It is the duty of the Paediatricians to see that the new born eventually attains adult-hood to withiout any damage or complication during its formative period.

—Text-book of Paediatrics : Robinson & Prasad

उम्र तक उसमें निरन्तर वृद्धि और विकास (Growth & Development) की प्रक्रिया चलती रहती है। शारीरिक और मानसिक विकार प्रायः समानान्तर गति से आगे बढ़ते हैं। बालक को अपने माता-पिता से जो वीजरूप में मिल जाता है वही अनुकूल अवसर, पोषण और परिवेश पाकर पनपता-विकसित होता रहता है। परिपक्वावस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह विकास अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाता है। अगर बालक को अपने माता-पिता से स्वस्थ शुक्राणु (Sperm) और डिम्बाणु (Ovum) प्राप्त होते हैं, माता-पिता की सन्तानोत्पादन के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति होती है, गर्भ की अवस्था में उसे पर्याप्त पोषण मिलता है, प्रसव-काल में ठीक से देख-रेख की जाती है, प्रसव सामान्य होता है, नवजात की देखरेख के प्रति आवश्यक सावधानी बरती जाती है, उसकी परिवेश के प्रतिकूल प्रभावों से हर सम्भव प्रकार से रक्षा की जाती है, उसकी रोगप्रतिरोधक-क्षमता (Immunity) को बनाये रखने के लिए हर आवश्यक कदम उठाया जाता है, वृद्धि और विकास के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उसके भोजन की समुचित व्यवस्था की जाती है, खेलने का उचित प्रवन्ध किया जाता है, उसके बौद्धिक और संवेगात्मक विकास के विभिन्न पक्षों की ओर ठीक से ध्यान दिया जाता है, मानसिक द्वन्द्वों एवं विकृत संवेगों से उसकी रक्षा की जाती है, प्रज्ञापराध से बचाया जाता है, सद्वृत्त का पालन कराया जाता है तथा समग्र आवश्यक संस्कारों को यथाविधि यथासमय सम्पादित कराया जाता है तो निश्चय ही बालक एक स्वस्थ नागरिक के रूप में विकसित होता है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में यथोचित सफलता प्राप्त करता है।

प्रायः देखा जाता है कि जिसकी बाल्यावस्था सुखी और निर्द्वन्द होती है उसका आगे का जीवन भी सुख से बीतता है। उसकी आयु सुखायु होती है। वह जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखनेवाला होता है। ठीक इसके विपरीत जिसकी वाल्यावस्था सुख से नहीं वीतती, वृद्धि और विकास के विभिन्न स्तरों पर उसकी ठीक से देखभाल नहीं की जाती, रोगक्षमता की रक्षा नहीं की जाती, सद्वृत्त का पालन नहीं कराया जाता, वह अनेकानेक प्रकार के निज और आगन्तुक रोगों का शिकार होता रहता है। तरह-तरह की मानसिक परेशानियों को झेलता है, ऐसा व्यक्ति निश्चय ही एक अस्वस्थ और दुःखी नागरिक के रूप में विकसित होता है। उसकी आयु दुःखायु बन जाती है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण निराशावादी बन जाता है। हीनताभाव उसका पीछा नहीं छोड़ता। वह जीवन के जिस क्षेत्र में भी जाता है, प्रायः असफल होता है।

कौमारभृत्य का सम्बन्ध जीवन के इसी निर्माण-काल से है। वह बालक के शारीरिक, बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक विकास की ओर ध्यान देता है। इस अवस्थाविशेष में विभिन्न स्तरों पर होनेवाले रोगों और उनकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था करता है। यदि बालकों का लालन-पालन, उनकी देख-रेख तथा चिकित्सा-व्यवस्था कौमारभृत्य में बतलाये गये नियमों के अनुरूप की जाये तो निश्चय ही बालक की आयु सुखायु होगी और वह एक स्वस्थ और सुखी प्रौढ़ के रूप में विकसित होगा। इन्हीं प्रौढ़ों में से ऐसे लोग भी निकलेंगे जिनके स्वास्थ्य की रक्षा और बीमार हो जाने पर चिकित्सा की जरूरत पड़ेगी और इन्हीं प्रौढ़ों में से ही ऐसे कुशल वैद्य भी निकलेंगे जो चिकित्सा-कर्म करेंगे। बालक बचेंगे, जीवित रहेंगे तभी चिकित्सा की समस्याएँ भी उत्पन्न होंगी। इसीलिए कश्यप ने कौमारभृत्य को आयुर्वेद के आठ अंगों में से आदि और सर्वश्रेष्ठ अंग माना है।

कुछ लोग बालक को प्रौढ़ के एक लघु संस्करण (Miny adult) के रूप में देखते हैं। लेकिन उनका ऐसा मानना तर्कसंगत नहीं है। बालक प्रौढ़ से अनेक अंशों में भिन्न होता है। उसका समग्र मनोदैहिक-तन्त्र (Psycho-plysical organism) वृद्धि और विकास की एक अनवरत परम्परा से गुजर रहा होता है। वह भ्रूण से गर्भ, गर्भ से नवजात, नवजात से शिशु, शिशु से बालक, बालक से किशोर और किशोर से तरुण बनता है। विकास के विभिन्न स्तरों पर उसके शारीरिक और मानसिक विकास की गति भिन्न होती है, ढंग भिन्न होता है। हर स्तर पर होनेवाले रोगों के प्रतिरूप भिन्न होते हैं। प्रतिरूपों के अनुरूप ही उपचार की विधियों में भी भिन्नता आ जाती है।

हर बालक का वंशानुक्रम (Heredity) भिन्न होता है, परिवेश (Environment) भिन्न होता है। बालक वंशपरम्परा और परिवेश के घात-प्रतिघात (Interaction) स्वरूप ही विकसित होता है। वंशानुक्रम और परिवेश की भिन्नताएँ उसके व्यक्तित्व में—शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में भिन्नता उत्पन्न कर देती है। व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से हर बालक दूसरे से भिन्न होता है। ये भिन्नताएँ न केवल उसकी आकृति में बल्कि उसके बौद्धिक विकास में भी देखने को मिलती हैं।

विकास के हर स्तर पर बालक में कुछ विशेष प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है। वृद्धि की प्रक्रिया रोगों के प्रतिरूपों (Patterns) को बदल देती है। रोगों के बदले हुए प्रतिरूपों के अनुरूप ही उपचार के उपक्रमों में भी परिवर्तन आवश्यक होता है। लीनगर्भ, मूढगर्भ आदि की विकृतियाँ गर्भावस्था में, दन्तोद्भेदगत दन्तोद्भवन काल में, दुष्टस्तन्यजन्य रोग क्षीरप अवस्था में

तथा गौण यौन विशेषताओं (Secondary sex characteristics) के विकासक्रम में उत्पन्न होनेवाली विकृतियाँ किशोरावस्था में ही संभव हैं। संक्रामक रोगों के प्रति बालक अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील होते हैं।

आयुर्वेद के दृष्टिकोण से बाल्यावस्था में कफ की प्रधानता होती है। अतः इस अवस्था में उन्हें कफज या कफ की प्रधानता वाले रोगों से पीड़ित होने की अधिक संभावना रहती है। दुर्घटनाएँ भी इस अवस्था में ही अधिक होती हैं।

निदान के मामले में भी बालक प्रौढ़ों से भिन्न होते हैं। वे अपने रोगों को प्रौढ़ों के समान बोलकर नहीं बतला सकते। प्रायः चिकित्सक के पास जाते हुए डरते हैं। जल्दी अपने अंग-प्रत्यंगों का प्रदर्शन अथवा परीक्षण कराने के लिए नहीं तैयार होते। इसीलिए उनके रोगों के निदान में, उनके प्रति व्यवहार में अधिक सावधानी और सतर्कता बरतनी पड़ती है। उनके लिए अलग ढंग और विधियाँ अपनानी पड़ती हैं।

बालकों की उपचार-विधियाँ भी प्रौढ़ों से भिन्न होती हैं। विष-मिश्रित तथा उग्र प्रभाववाली औषधियाँ उन्हें प्रायः नहीं दी जातीं। पंचकर्मों का प्रयोग उन पर नहीं किया जाता। कटु, तिक्त और कसाय रसवाली औषधियाँ वे खुशी से नहीं लेते। उनके लिए बनायी जानेवाली औषधि का रूप उनकी उम्र के अनुरूप ऐसा होना चाहिए जिसे वे आसानी से ले सकें, जो उनके लिए रुचिकर एवं सुस्वादु हो।

उक्त सभी तथ्य इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपचारात्मक दृष्टिकोण से भी बाल्यावस्था का अपना अलग महत्त्व है और इस अवस्था में उत्पन्न होनेवाली निदान एवं उपचार सम्बन्धी समस्याओं का पृथक् रूप से अध्ययन किया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

कौमारभृत्य-सम्बन्धी साहित्य
(Literature on Kaumar Bhritya)

आयुर्वेद के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में आयुर्वेद का प्रत्येक अंग तत्कालीन परिवेश के अनुरूप अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। हर अंग से सम्बन्धित अलग-२ संहिताएँ थीं। इन संहिताओं में विषय का सर्वांगीण विवेचन किया गया था। परन्तु कालान्तर में कुछ तो समय के व्यतिक्रम से और अधिकांशतः भारत के पराधीनता-काल में विदेशियों द्वारा सुनियोजित ढंग से भारतीय वाङ्मय को नष्ट किये जाने के क्रम में, इनमें से अधिकांश संहिताएँ असमय में ही काल के कराल गाल में

समा गयीं। जो इधर-उधर दव गयीं या विदेशी यात्रियों द्वारा मूल या अनुवाद के रूप में वाहर ले जायी गयीं, वे ही वच गयीं।

आजदिन कौमारभृत्य पर संहितास्तर का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ आचार्य वृद्धजीवक कृत **काश्यपसंहिता** या **वृद्धजीवकतन्त्र** है। इसी ग्रन्थ में इस वात के प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि कश्यप के पहिले और उनके समकालीन भी कौमारभृत्य के अनेक आचार्य हुए हैं। हो सकता है उनमें से कुछ की संहिताएँ भी रही हों। पर आजदिन मात्र उनमें से दो-एक के नामों को छोड़कर और किसी की जानकारी उपलब्ध नहीं है।

काश्यपसंहिता भी नेपाल से खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई है। वीच-वीच में इसका वहुत-सा अंश गायब है। लेकिन जो है उसी से इसके महत्त्व को आसानी से आँका जा सकता है।

काश्यपसंहिता के अतिरिक्त आयुर्वेद की अन्य महत्त्वपूर्ण संहिताओं—चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, भेलसंहिता, अष्टांगसंग्रह आदि में भी कौमारभृत्य से सम्वन्धित सामग्री छिट-पुट रूप में बिखरी हुई पायी जाती है।

काश्यपसंहिता के अतिरिक्त कौमारभृत्य के कुछ अन्य उपजीव्य तन्त्रों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है, यथा—**वृद्धकाश्यपसंहिता, पर्वतक-तन्त्र, बन्धक-तन्त्र, हिरण्याक्ष-तन्त्र, कुमारतन्त्र** आदि। पर इनमें से अधिकांश अनुपलब्ध हैं। 'विव्लियोथिक नेशनल पेरिस' नामक ग्रन्थ में **रावणकृत बालकुमारतन्त्र, कुमारतन्त्र** अथवा **दशग्रीवबालतन्त्र** नामक एक-एक प्राचीन बालतन्त्र का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि छठी-सातवीं शताव्दी में इस पुस्तक का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया गया था। १९५४ ईसवी में गंगाविष्णु-श्रीकृष्णदास वम्वई से एक रावणकृत कुमारतन्त्र प्रकाशित भी हुआ है। लेकिन यह रावण कौन था, इसकी कोई प्रामाणिक जानकारी अभी तक नहीं प्राप्त हो सकी है। पुस्तक की सामग्री को देखने से ऐसा मालूम होता है कि यह मध्यकाल में रची गयी होगी। इस सम्वन्ध में दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ कल्याणवैद्यरचित **बालतन्त्रम्** है। इसकी रचना १५८७ में की गयी। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में ताड़पत्र पर लिखित **बालचिकित्सामृत** नामक एक अन्य पुस्तक भी जीर्ण अवस्था में उपलब्ध है। इसमें बालरोगों की औषधियों का पद्यात्मक शैली में संग्रह किया गया है।

इसके अतिरिक्त मध्यकाल में रचित अन्य ग्रन्थों, यथा—भावप्रकाश, माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता आदि में भी बालरोगों एवं बालचिकित्सा का यत्किञ्चित उल्लेख पाया जाता है, परन्तु उनका आधार मुख्यरूप से प्राचीन संहिताएँ ही हैं।

संग्रह-ग्रन्थों, यथा—भैषज्यरत्नावली, योगरत्नाकर आदि में भी वही बात देखने को मिलती है।

आधुनिक काल में जब से यह विषय आयुर्वेद-विद्यापीठों अथवा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम का एक अंग बना, इस पर आधुनिक दृष्टि से ग्रन्थों के प्रणयन का सूत्रपात हुआ। इस क्रम में कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सामने आये। इनमें से कुछ तो आयुर्वेद तक ही सीमित हैं, कुछ में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए आयुर्वेद के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान का भी समावेश किया गया है। इन ग्रन्थों में कविराज यामिनीभूषणकृत **कुमारतन्त्र** (१९२०), आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी कृत **कौमारभृत्य** (१९४८), आचार्य रमानाथ द्विवेदी कृत **कुमारतन्त्र-समुच्चय** (१९७७), उन्हीं की **बालरोग-चिकित्सा**, आचार्य राधानाथ कृत **अभिनव कौमारभृत्य** (१९७८) आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी ग्रन्थ आयुर्वेद के प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं।

आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाओं में भी यदा-कदा कौमारभृत्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित होती रहती है। कुछ पत्रिकाओं ने तो इस विषय पर अपने विशेषांक भी प्रकाशित किये हैं, जिनमें उन्होंने कौमारभृत्य के विभिन्न पक्षों पर क्रमबद्ध रूप में सारगर्भित सामग्री प्रस्तुत की है। इनमें से धन्वन्तरि के **शिशु-रोगांक** (१९६२), आयुर्वेद-विकास के **बालरोगांक** (१९६७) तथा सुधानिधि के **शिशुरोग-चिकित्सांक** (१९७५) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं में आयुर्वेदीय कौमारभृत्य पर महत्त्वपूर्ण सामग्री का प्रकाशन हुआ है। पूना के तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय की अध्यक्षा श्रीमती निर्मला जाजवाड़े ने मराठी में इस विषय पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है।

कौमारभृत्य के प्रतिपादन में काश्यपसंहिता की विशिष्टता
(Special Position of Kashyap Samhita in Expounding Kaumar Bhritya)

वृद्धजीवक-रचित काश्यपसंहिता आयुर्वेद का एक अति प्राचीन ग्रन्थ है। वृद्धजीवक द्वारा रचित होने के कारण इसे **वृद्धजीवकीय-तन्त्र** के नाम से भी जाना जाता है। प्राचीनता और महत्त्व की दृष्टि से आयुर्वेद-वाङ्मय में इसे वही स्थान प्राप्त है जो चरकसंहिता या सुश्रुतसंहिता को प्राप्त है। जिस प्रकार चरकसंहिता कायचिकित्सा का और सुश्रुतसंहिता शल्यतन्त्र का प्रधान ग्रन्थ माना जाता है, उसी प्रकार काश्यपसंहिता कौमारतन्त्र का प्रधान ग्रन्थ माना

जाता है। इसकी सम्पूर्ण रचना उसी प्रकार की गयी है जिस प्रकार अन्य संहिताओं की की गयी है। इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषयों का विवेचन कौमारभृत्य के संदर्भ में ही किया गया है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कौमारभृत्य ही है। कुमार या बालक ही इसका केन्द्रबिन्दु है। इसमें जिस विषय का भी विवेचन किया गया है, बालक को केन्द्र में रखकर ही किया गया है।

चरकसंहिता कायचिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ है। उसमें चरक ने आयुर्वेद के आठ अंगों में से कौमारभृत्य का केवल नाममात्र के लिए ही उल्लेख किया है। सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है। फिर भी उसमें सुश्रुत ने उत्तर-तन्त्र के बारह अध्यायों में कौमारभृत्य के कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया है। लगभग यही स्थिति अष्टांगसंग्रह की भी है। उसमें भी वाग्भट ने उत्तरतन्त्र के प्रथम छः अध्यायों में बालोपचरणीय, बालमय-प्रतिषेध, बालग्रह-विज्ञानीय, बालग्रह-प्रतिषेध आदि विषयों का विवेचन किया है। इन संहिताओं में यह विषय गौण है। अतः इनमें जो भी विवेचन किये गये हैं, प्रायः संक्षेप में एवं अपूर्ण हैं। उनमें अपेक्षित क्रमबद्धता भी नहीं पायी जाती। ठीक इसके विपरीत काश्यपसंहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कौमारभृत्य है। उसमें इसी विषय का सांगोपांग क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। उसमें बालकों की उत्पत्ति, वृद्धि एवं विकास, विकास के क्रम में होने वाले परिवर्तनों, बालकों की परिचर्या, उनके रोग, निदान, चिकित्सा, ग्रहबाधा, ग्रहबाधा-प्रतिषेध, उससे सम्बन्धित गर्भिणी, दुष्प्रजाता तथा धात्री आदि के दोषों के निराकरण के उपायों का विस्तार से वर्णन किया गया है। शारीर, इन्द्रिय तथा विमान आदि स्थानों के अन्तर्गत आने वाले विषयों का विवेचन करते हुए बीच-बीच में कौमारभृत्य से सम्बन्धित प्रसंगों से उसकी पूर्ति की गयी है। बीच-बीच में प्रसंगवश जो प्रश्न पूछे गये हैं वे कुमारों को लक्ष्य कर ही पूछे गये हैं, यथा—'कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते', 'कौमारभृत्यमतिवर्धनमेतदुक्तम्' आदि। और, प्रश्नों के अनुरूप कुमारों को लक्ष्य कर ही इन प्रश्नों के उत्तर भी दिये गये हैं। संहिता के उपलब्ध अंशों में जहाँ भी देखेंगे आपको कौमारभृत्य या उसी से सम्बन्धित विषयों की चर्चा मिलेगी। उपलब्ध अंशों के आधार पर ही खण्डित अनुपलब्ध अंशों के बारे में भी आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। उनमें भी निश्चय ही इन्हीं या ऐसे ही विषयों की विस्तार से चर्चा की गयी होगी।

कश्यप के समकालीन तथा उसके बाद हुए अनेक आचार्यों ने अपनी रचनाओं में कौमारभृत्य-सम्बन्धी विषयों में कश्यप को ही प्रमाण के रूप में

उद्धृत किया है। प्राचीन-नवनीतक नामक ग्रन्थ के कौमारभृत्य-विषयक अध्याय में कश्यप और जीवक के नाम से अनेक औषधि-योगों का उल्लेख किया गया है। अष्टांगहृदय के कौमारभृत्य-विषयक अध्यायों में दन्तरोग-भेषज्य और ग्रहहर-धूप का कश्यप के नाम के साथ ही उल्लेख किया गया है। स्तन्यदोष-परीक्षा आदि विषयों का भी ठीक कश्यप के समान ही वर्णन किया गया है। सुश्रुत के उत्तर-तन्त्र में भी कौमारभृत्य-विषयक प्रसंगों में कश्यप की स्पष्ट छाया मिलती है।

काश्यपसंहिता-कल्पस्थान (धूपकल्प) का उद्धरण देखिये—

कौमारभृत्यास्त्वपरे जङ्गमस्थावराश्रयात्।
द्वियोनिं ब्रुवते धूपं कश्यपस्य मते स्थिताः॥

अर्थात् 'कौमारभृत्य के अन्य जो आचार्य हैं वे कश्यप के मतानुसार धूपों के जंगम और स्थावर-भेद से उत्पत्ति के दो कारण मानते हैं।' इससे स्पष्ट है कि कश्यप के पूर्व तथा उनके समकालीन भी कौमारभृत्य के और भी आचार्य थे। कश्यप के समकालीनों में से अधिकांश उन्हीं के अनुयायी थे। वे कौमार-भृत्य के प्रधान आचार्य माने जाते थे।

काश्यपसंहिता सभी दृष्टि से कौमारभृत्य के विषय में कश्यप के प्रधानत्व को सिद्ध करती है। उसमें स्थान-स्थान पर मिलने वाले नवीन विषय, विचार और उनकी निरूपण-शैली कश्यप की अपनी विशेषता है। दन्तजन्मिक अध्याय में दाँतों के भेद, प्रकार, उनके निषेचन, मूर्तिमान् होने, प्रकट होने, गिरने, दन्तोद्भेद काल में होने वाले रोगों, उपद्रवों और उनकी शान्ति के उपायों, दन्तसम्पत् एवं असम्पत् आदि के जो वर्णन किये गये हैं वे आज भी उतने ही सत्य हैं जितने वे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व थे। इसी स्वेदाध्याय में बालकों के स्वेदन के विषय में जिन विषयों का निरूपण किया गया है उसकी छाया आधुनिक वाष्पस्वेद की प्रक्रियायों में आज भी देखी जा सकती है। लक्षणाध्याय में सामुद्रिक लक्षणों का वर्णन कश्यप के इस क्षेत्र के विशद ज्ञान का परिचायक है। रोगों में उपद्रवों के उत्पन्न होने पर रोग और उपद्रव की पृथक्-पृथक् चिकित्सा के प्रचलित सिद्धान्त को न मानकर कश्यप ने दोनों की साथ-साथ चिकित्सा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। प्रसवकाल में प्रसव में विलम्ब होने पर अन्य आचार्यों ने व्यायाम करने तथा मूसल आदि चलाने की राय दी है। कश्यप ने युक्तिपूर्वक इसका खण्डन किया है। बालरोगियों पर साधारणतया पंचकर्मों के प्रयोग का निषेध किया गया है। पर आवश्यक हो जाने पर बालकों पर इनका प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, कौन-कौन-सी

सावधानियाँ बरतनी चाहिए, काश्यपसंहिता में इसकी विस्तृत विवेचना की गयी है। जहाँ अन्य आचार्यों ने छठे महीने में अन्न-प्राशन की राय दी है, वहीं कश्यप ने छठे महीने में फलों का रस और बारहवें महीने में थोड़ा-थोड़ा अन्न देने की बात कही है। आधुनिक दृष्टि से भी यह मत अधिक समीचीन मालूम होता है। इसी प्रकार कुमारागार, बालकों की क्रीड़ा-भूमि, उनके खिलौनों, महत्वपूर्ण संस्कारों आदि के भी विषद वर्णन किये गये हैं। फक्करोग से पीड़ित बालकों के लिए तीन पहिये की गाड़ी का उपयोग जिसके सहारे वह खड़े होने तथा चलने का अभ्यास करे, आधुनिक खेलोपचार (Play therapy) की याद दिलाता है। काश्यपसंहिता का वेदनाध्याय भी अपनी विशेषता रखता है। उसमें रोगी बालकों के, जो वाणी के द्वारा अपनी वेदना को व्यक्त नहीं कर सकते, व्यवहार, हावभाव और अन्य शारीरिक लक्षणों द्वारा रोगों के निदान की विस्तृत चर्चा की गयी है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि काश्यपसंहिता कौमारभृत्य-विषयक अप्रतिम शास्त्रीय विवेचनाओं से युक्त, नवीन विचाराद्बोधक एक मार्गदर्शक ग्रन्थ है। कौमारभृत्य से सम्बन्धित विषयों की जितनी विशद और सार-गर्भित विवेचना इस ग्रन्थ में की गई है, उतनी अन्य किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलती।

आयुर्वेद में वय का विभाजन और बाल्यावस्था

(Division of Life-span and Childhood in Ayurved)

आयुर्वेद में सम्पूर्ण जीवनावधि (Life span) या वय के विस्तार को सामान्यतया सौ वर्ष का, पर कहीं-कहीं एक सौ बीस वर्ष का भी माना गया है। जीव की वृद्धि और विकास की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न तन्त्रों ने इसे अपने-अपने ढंग से अनेक अवस्थाओं में बाँटा है। आयुर्वेद के संहिताकारों ने भी इस प्रकार के प्रयास किये हैं। नीचे चरक, सुश्रुत और काश्यप के मतानुसार वयोभेद-दर्शक सारणियों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

वयोभेद-दर्शक सारणियाँ

चरक के अनुसार

अवस्था का नाम	उपभेद	वर्ष-मर्यादा
१—बाल्यावस्था	अपरिपक्व धातु	जन्म से सोलह वर्ष तक
	विवर्धमान धातु	सोलह वर्ष से तीस वर्ष तक
२—मध्य अवस्था	—	तीस वर्ष से ६० वर्ष तक
३—वृद्धावस्था	—	साठ वर्ष से १०० वर्ष तक

२ कौ०

सुश्रुत के अनुसार

१–बाल्यावस्था	१–क्षीरप	जन्म से एक वर्ष तक
	२–क्षीरान्नाद	दूसरे वर्ष से तीसरे वर्ष के अन्त तक
	३–अन्नाद	चौथे वर्ष से सोलह वर्ष तक
२–मध्यमावस्था	४–वृद्धि	सोलह वर्ष से बीस वर्ष तक
	५–यौवन	बीस वर्ष से तीस वर्ष तक
	६–सम्पूर्णता	३० वर्ष से ४० वर्ष तक
	७–हानि	४० वर्ष से ७० वर्ष तक
३–वृद्धावस्था	८–जरा	सत्तर से मृत्युपर्यन्त

काश्यप के अनुसार

१–गर्भावस्था	गर्भाधान से जन्म तक
२–बाल्यावस्था	जन्म से एक वर्ष तक या जब तक बालक दूध पीता रहे।
३–कौमारावस्था	एक वर्ष से सोलह वर्ष तक
४–यौवनावस्था	सोलह वर्ष से चौंतीस वर्ष तक
५–मध्यमावस्था	चौंतीस से सत्तर वर्ष तक
६–वृद्धावस्था	सत्तर वर्ष से मृत्युपर्यन्त

उक्त सारणियों से स्पष्ट है कि आयुर्वेद के प्रायः सभी संहिताकारों ने वयोभेद के आधार पर जन्म से लेकर सोलह वर्ष तक की आयु को ही बाल्यावस्था के अन्तर्गत माना है।

पुनः बाल्यावस्था को तीन भागों में बाँटा गया है—क्षीरप, क्षीरान्नाद तथा अन्नाद।

क्षीरप—क्षीरपायी या केवल माता के दूध पर आश्रित शिशु। जब तक शिशु केवल दूध पर आश्रित रहता है, दूध के अलावा और कुछ नहीं लेता, उसे क्षीरप कहा जाता है। इसकी अवधि सामान्यतया जन्म से लेकर एक वर्ष तक अथवा जब तक वह मात्र दूध पर आश्रित रहे, मानी जाती है।

क्षीरान्नाद—जब बालक आहार के रूप में दूध के साथ-साथ अन्न को भी ग्रहण करने लगता है तब उसे क्षीरान्नाद कहा जाता है। इसकी अवधि दूसरे वर्ष के प्रारम्भ से तीसरे वर्ष के अन्त तक मानी गयी है। तीसरे वर्ष का अन्त होते-होते सामान्यता प्रायः सभी बच्चे माता का दूध पीना छोड़ देते हैं।

अन्नाद—जब बालक दूध पीना छोड़कर मात्र अन्न पर आश्रित हो जाता है, अन्न ही उसके आहार का प्रमुख भाग बन जाता है तब उसे अन्नाद कहा

जाता है। इसकी अवधि चौथे वर्ष के प्रारम्भ से सोलह वर्ष के अन्त तक मानी गयी है।

इस वर्गीकरण का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनके बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। इनके क्षेत्र बहुत-कुछ परस्पर व्याप्त रहते हैं।

विकास की दृष्टि से भी इस वर्गीकरण का अपना विशेष महत्त्व है। इनमें से प्रत्येक सोपान बालक के विकासक्रम में एक विशेष अवस्था का सूचक है। शुरू-शुरू में जब तक बच्चे के दाँत निकलना शुरू नहीं होते, वह ठोस वस्तुओं को नहीं चबा सकता। दूसरे उसका पाचन-तन्त्र भी अभी प्रकार्यात्मक दृष्टि से अधिक सबल नहीं होता। अतः वह दूध पर ही आश्रित रहता है। पर जब उसके दाँत आने लगते हैं और उसका पाचन-तन्त्र परिपक्वता की उस अवस्था तक पहुँच जाता है कि वह दूध के साथ-साथ अन्य ठोस खाद्य-पदार्थों को भी पचा सके तब उसे दूध के साथ-साथ धीरे-धीरे अन्न भी दिया जाना शुरू किया जाता है। पहले-पहल अन्न का ग्रहण करना बालक के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। तब वह विकास की एक अवस्था को पार कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है। आर्य-संस्कृति में इसे अन्न-प्राशन-संस्कार के रूप में मनाया जाता है। इसी प्रकार माता के दूध को पूर्णरूपेण त्यागकर केवल अन्न पर ही आश्रित हो जाना विकास की एक अन्य महत्त्वपूर्ण अवस्था का सूचक है। इसका शारीरिक के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है।

ये प्रभेद न केवल विकास की दृष्टि से बल्कि रोगों की उत्पत्ति एवं उनके उपचार की दृष्टि से भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

काश्यप को कौमारभृत्य का विशेषज्ञ माना जाता है। इस दृष्टि से उनका वर्गीकरण विशेष महत्त्व रखता है। बालक का जीवन वस्तुतः माता के गर्भ में आने के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक के विकासक्रम में इस अवस्था का अपना विशेष महत्त्व है। इसीलिए काश्यप ने अपने वर्गीकरण में गर्भावस्था को सबसे पहला स्थान दिया है। उन्होंने बालक के माता के गर्भ में अस्तित्व में आने के समय से लेकर प्रसव के पूर्व तक की अवस्था को गर्भावस्था, जन्म से लेकर एक वर्ष तक अथवा बालक जब तक माता का दूध पीता रहे, की अवस्था को बाल्यावस्था और उसके बाद से सोलह वर्ष तक की अवस्था को कौमारावस्था की संज्ञा दी है।

आधुनिक दृष्टि से वयोभेद-विभाजन

आधुनिक आयुर्विज्ञान, विकासात्मक मनोविज्ञान तथा बच्चों की देखभाल सम्बन्धी पुस्तकों में भी वयोभेद के अनेक विभाजन मिलते हैं। विकास की प्रक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए वय के छोटे से छोटे विभाजन होते चले जा रहे हैं। इनमें से एक नवीनतम प्रयास को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

अवस्था का नाम	अवधि
१. प्रसवपूर्व (Prenatal)	गर्भस्थापना से जन्म के पूर्व तक
(क) बीजावस्था (Germinal period)	गर्भ में अस्तित्व में आने के समय से लेकर दूसरे सप्ताह के अन्त तक
(ख) भ्रूणावस्था (Embryonic period)	तीसरे सप्ताह के आरम्भ से आठवें सप्ताह के अन्त तक।
(ग) गर्भावस्था (Foetal period)	नवें सप्ताह के आरंभ से जन्म के पूर्व तक।
२. नवजात शिशु (Infancy)	जन्म से दूसरे सप्ताह के अन्त तक
(क) सद्योजातावस्था (Period of portunate)	जन्म के बाद १५ से लेकर ३० सेकेण्ड तक
(ख) नवजातावस्था (Period of neonate)	गर्भनाल के कट जाने के बाद से दूसरे सप्ताह के अन्त तक।
३. शैशवावस्था (Babyhood)	दूसरे सप्ताह के अन्त से दूसरे वर्ष के अन्त तक।
४. पूर्व-बाल्यावस्था (Early childhood)	दो वर्ष से छः वर्ष तक
५. उत्तर-बाल्यावस्था (Late childhood)	छः वर्ष से दस-बारह वर्ष तक
६. वयःसन्धिकाल (Puberty)	दस वर्ष से लेकर तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था तक।
७. किशोरावस्था (Adolescence)	तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था से लेकर अठारह वर्ष की अवस्था तक
८. पूर्व-प्रौढ़ावस्था (Early adulthood)	अठारह वर्ष से ४० वर्ष तक
९. मध्यवय (Middle age)	चालीस वर्ष से साठ वर्ष तक
१०. जरावस्था (Old age or senescencc)	साठ वर्ष से मृत्युपर्यन्त।

चिकित्सा में व्यावहारिक दृष्टि से मोटे-तौर पर वाल्यावस्था को निम्न चार भागों में वाँटा जाता है—

१.	नवजात (New-born)	प्रसव के बाद एक माह तक
२.	शिशु (Infant)	दो वर्ष की आयु तक
३.	बालक (Child)	वारह वर्ष की आयु तक
४.	किशोर (Adolescent)	सोलह वर्ष की आयु तक

वारह वर्ष के बाद सामान्यतया बालकों को भी प्रौढ़ोंवाली खुराक ही दी जाती है।

कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ
(Some Important Definitions)

गर्भ—स्त्री की डिम्बवाहिनी में परिपक्व शुक्राणु (Sperm) द्वारा परिपक्व डिम्बाणु (Ovum) को निषेचित (Fertilize) किये जाने के समय (गर्भस्थापन काल) से लेकर जब तक कि यह नया जीव माता के गर्भाशय में पलता है (सामान्यतया लगभग नौ महीने या २८० दिन) उसे गर्भ की संज्ञा दी जाती है। इस सम्वन्ध में चरक और सुश्रुत के निम्न वचन देखिये—

शुक्रशोणितं जीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।

—चरक शा०, अ० ४

अर्थात् गर्भाशय में जब शुक्र, शोणित और जीव का संयोग होता है तब उसकी गर्भ संज्ञा होती है।

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्मूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते।

—सुश्रुत शा०, अ० ५।२

अर्थात् गर्भाशय में स्थित शुक्र और शोणित जब आत्मा प्रधानादि अष्ट प्रकृति और सोलह विकारों से मिलते हैं तब उसे गर्भ कहते हैं।

उक्त परिभाषाओं में आये पदों की विस्तृत व्याख्या आगे गर्भ के प्रकरण में की जायेगी।

जातमात्र—तत्काल जन्मे हुए वालक की संज्ञा जातमात्र है—**'तत्काल एव जातमात्रः'** (इन्दु)। अष्टांगसंग्रह में भी इसका इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है। यथा—

'अथ खलु जातमात्रमेव बालमुल्वात् सैन्धवसर्पिषा मार्जयेत्।'

सुश्रुत ने इसी संदर्भ में जातस्य शब्द का प्रयोग किया है—**'अथ जातस्योल्वणमपनीय'**।

प्रस्तुत प्रसंगों में जातस्य, जातमात्रस्य, जातमात्र आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थ के बोधक हैं। जन्म लेने के बाद से जब तक बालक को उल्वा से पूरी तौर से अलग नहीं किया जाता उसकी संज्ञा जातमात्र है। अंग्रेजी में इसे 'Period of portunate' कहते हैं।

सद्योजात—सद्योजात का शाब्दिक अर्थ है शीघ्र उत्पन्न हुआ। इसे कहीं-कहीं जातमात्र के पर्याय के रूप में, पर अधिकांशतः नवजात शिशु के रूप में लिया गया है। शब्दों की उत्पत्ति पर ध्यान दें तो इसकी व्यापकता या वस्तु-वाचकता जातमात्र से अधिक प्रतीत होती है। आधुनिक आयुर्विज्ञान में बालक की इस अवस्था को 'Period of neonate' कहा गया है।

बालक—प्रसव के उपरान्त गर्भ की संज्ञा बालक होती है—**'स जातो बाल उच्यते'**। सामान्यतया बाल्यावस्था की अवधि जन्म से लेकर सोलह वर्ष तक मानी जाती है। इस बीच बालक का अधिकांश शारीरिक एवं बौद्धिक विकास परिपक्वता को प्राप्त कर लेता है। विकासात्मक दृष्टि से जब तक यह विकास परिपक्वता को नहीं प्राप्त कर लेता, बाल्यावस्था की समाप्ति नहीं मानी जा सकती। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर चरकसंहिता में बाल्यावस्था की कालमर्यादा जन्म से लेकर तीस वर्ष तक बतलायी गयी है। इसे दो भागों में बाँटा गया है—

(क) जन्म से लेकर सोलह वर्ष तक—इसे अपरिपक्व धातु का काल कहा गया है। इस बीच आकारिक दृष्टि से बालक के शरीर का विकास तो हो जाता है पर उसकी धातुएँ पूर्णरूपेण परिपक्व नहीं हो पातीं। गौण यौन-विशेषताओं (Secondary sex characteristics) का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता। शरीर अभी भी कोमल होता है। क्लेशों को सहन करने की शक्ति अपेक्षाकृत कम होती है। शरीर में सभी प्रकार के बलों का विकास नहीं हो पाता। मन चंचल रहता है। बौद्धिक परिपक्वता पूरी तौर से नहीं आ पाती। शरीर में अभी भी कफ की प्रधानता रहती है। आधुनिक दृष्टि से यह काल जन्म से लेकर पूर्व-किशोरावस्था (Birth to early adolescence) तक के काल का परिचायक है।

(ख) सोलह से लेकर तीस साल तक की अवस्था—इसे विवर्धमान काल या वृद्धि की अवस्था कहा गया है। इस बीच रस, रक्त आदि समस्त धातुएँ बढ़ती हुई विकास की चरमसीमा तक पहुँच जाती हैं। बालक एवं बालिकाओं का यौन-विकास अपनी परिपूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वे प्रजोत्पादन के लिए पूर्णतः सक्षम एवं समर्थ हो जाते हैं। मन में स्थिरता आ

जाती है। बौद्धिक परिपक्वता के लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यह उत्तर किशोरावस्था से लेकर पूर्व-प्रौढ़ावस्था (Late adolescence to early adulthood) तक का काल है। इस बीच बाल्यावस्था धीरे-धीरे समाप्त हो रही होती है और तरुणाई या युवावस्था का आगमन हो रहा होता है। सुश्रुत ने इस विवर्धमान अवस्था की अवधि सोलह से लेकर बीस साल तक ही मानी है और इसे मध्यवय के अन्तर्गत रखा है।

कुमार—कुमार शब्द, जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही देखा, अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पर आयुर्वेद में इसे अधिकांशतः बालक के पर्याय के रूप में ही व्यवहार किया गया है। सामान्यतया कुमारावस्था की भी वही अवधि मानी गयी है जो बाल्यावस्था की मानी जाती है। पर कहीं-कहीं इसका व्यवहार विवाह के पूर्व तक की अवस्था के लिए भी किया गया है।

पोगण्ड—पाँच वर्ष से लेकर दस अथवा सोलह वर्ष तक की अवस्था।

युवा—सुश्रुत ने बीस से लेकर तीस साल और कश्यप ने सोलह से लेकर चौंतीस साल तक की अवस्था को युवावस्था की संज्ञा दी है। अगर युवावस्था को भी हम दो भागों में बाँट दें तो हम कह सकते हैं कि चरक ने पूर्व-युवावस्था का विवर्धमान काल में और उत्तर-युवावस्था का पूर्व-मध्यवय में समावेश कर दिया है। इस अवस्था में शरीर में बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन एवं विज्ञान (विशेष ज्ञान या आत्मज्ञान) की शक्ति विकसित हो चुकी होती है। मन में स्थिरता और संवेगों में परिपक्वता आ गयी होती है। बौद्धिक शक्तियाँ पूर्णतः विकसित हो चुकी होती हैं। शरीर में पित्त धातु की प्रधानता होती है। शरीर के बलाबल और धातुओं के गुणों में स्थिरता आ जाती है।

पाठकों की जानकारी एवं सुविधा के लिए चरक, सुश्रुत और कश्यप के वय-भेद-विभाजन सम्बन्धी मतों को मूलरूप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. वयस्तश्चेति कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथास्थूलभेदेन त्रिविधम्—बालं, मध्यं, जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टं, मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्; अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं

भ्रश्यमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम्; वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले, सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः, तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्। —चरक वि०, अ० ८।१२२

२. वयस्तु त्रिविधम्—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। तेऽपि त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति।

षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्र आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति।

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि बलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते। —सुश्रुत सू०, ३५।३४–३६

३. गर्भबालकुमाराख्यमित्येतत्त्रिविधं वयः।
यौवनं मध्यमं वृद्धमेतच्च त्रिविधं पुनः॥
वर्षावरः क्षीरपः स्याद्यावत् पिबति वा पयः।
वयस्तद्बालमस्माच्च यावत् षोडशवार्षिकः॥
अन्नादः सर्व एव स्यात् कौमारे वयसि स्थितः।
अतः परं धातुसत्त्वबलवीर्यपराक्रमैः॥
वर्धमानैश्चतुस्त्रिंशद् युवा वर्षाण्युदर्कतः।
धात्वादिभिः स्थिरीभूतैर्यावदासप्ततिर्नरः॥

—काश्यप० खिलस्थान, ३।७२-७५

ग्रन्थ की योजना

सम्पूर्ण ग्रन्थ को दो खण्डों में बाँटा गया है–पूर्व खण्ड और उत्तर खण्ड। पूर्व खण्ड का सम्बन्ध सैद्धान्तिक विवेचन से है। इसमें बालक के गर्भ में अस्तित्व में आने के समय से लेकर परिपक्वावस्था तक उसकी वृद्धि एवं विकास, आहार, विहार, निद्रा, परिचर्या आदि विषयों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

उत्तर खण्ड विकृति-विज्ञानीय है। इसमें विशेषरूप से बाल्यावस्था में उत्पन्न होने वाले रोगों-विकृतियों के स्वरूप, निदान एवं चिकित्सा सम्बन्धी विषयों पर प्रधानतया आयुर्वेदीय दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

अध्याय २

गर्भस्थ शिशु का विकास (१)

(Development of Foetus)

गर्भ-स्थापना

(Conception)

वाग्भट के शब्दों में—'गते पुराणे रजसि नवेऽवस्थिते शुद्धे गर्भस्याशये मार्गे च बीजात्मना शुक्रमविकृतमविकृतेन वायुना प्रेरितमन्यैश्च महाभूतैरनुगतमार्तवेनाभिमूर्च्छितमन्वक्षमेव रागादिक्लेशवशानुवर्तिना स्वकर्मचोदितेन मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं गर्भाशयमुपयाति ।' —अष्टाङ्गसंग्रह, शा० २।२

अर्थात् पुरातन रज के समाप्त हो जाने के बाद नये रज के स्थापित हो जाने पर शुद्ध गर्भाशय और योनि-मार्ग में प्रविष्ट अविकृत बीजात्मा शुक्र अविकृत वायु द्वारा तथा अन्य पंचमहाभूतों से प्रेरित होकर अनुकूल गुणवाले अविकृत आर्त्तव के साथ मिलकर तत्क्षण ही रागादि पंचक्लेशों के वशीभूत हुए तथा अपने पूर्वजन्म के कर्मों से प्रेरित होकर मन के वेग के कारण जीव से मिश्रित हुआ गर्भाशय में आ जाता है । तभी गर्भ की स्थापना होती है ।

आयुर्वेद में शुद्ध शुक्र और शुद्ध आर्त्तव या रज के मिलने से ही नवीन जीव की सृष्टि मानी गयी है । उसके अनुसार कामासक्त स्त्री-पुरुष के सम्भोग में रत होने पर जब पुरुष का शुक्र स्त्री की योनि में स्खलित होकर वहाँ वर्तमान रज से मिलता है तभी गर्भ की स्थापना होती है । इस सन्दर्भ में शुद्ध शुक्र 'पुं-बीज' या 'शुक्राणु' (Sperm) तथा शुद्ध आर्त्तव 'स्त्री-बीज' अथवा 'डिम्बाणु' (Ovum) का बोधक है । कहा भी गया है कि यह आर्त्तव मासिकधर्म के समय आने वाले पुराने रज के समाप्त हो जाने के बाद गर्भाशय के शुद्ध हो जाने पर वहाँ अवस्थित होता है ।

स्त्री और पुरुष जीवन में अनेक बार सम्भोग में रत होते हैं । हर बार सम्भोग के अन्त में शुक्र और रज का मिलन होता है । लेकिन हर बार शुक्र और रज के मिलने पर गर्भ की स्थापना नहीं होती है । ऐसा क्यों ? आयुर्वेद गर्भ की स्थापना के लिये आत्मा (Self or soul) और पंचमहाभूतों (Five gross elements) की उपस्थिति भी अनिवार्य मानता है । जब तक शुक्र और रज के साथ-साथ उसमें आत्मा और पंचमहाभूतों का योग नहीं होता, गर्भ अस्तित्व में नहीं आता ।

कभी कभी रज और वीर्य के साथ पंचमहाभूतों का तो मिलन होता है पर आत्मा का नहीं होता। ऐसी दशा में मात्र एक मांस-पिण्ड ही अस्तित्व में आता है। उसमें चेतना नहीं होती। पूर्ण गर्भ के अस्तित्व में आने के लिए उसमें आत्मा का भी होना आवश्यक है।

कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। पूछा जा सकता है कि गर्भाशय में रज और शुक्र के साथ आत्मा का संयोग क्यों होता है? आत्मा वहाँ क्यों जाती है? कैसे जाती है? आत्मा को जन्म के लिये प्रेरित करने वाले तत्त्व अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और प्राक्तन कर्म हैं। इन्हीं के वशीभूत उसे इस संयोग में आना पड़ता है। आत्मा स्वयं निष्क्रिय है। उसे संयोग में लाने वाला बल या तत्त्व मन (Mind) है। मन के ही सहारे आत्मा इस संयोग तक आती है। मन ही कारण है। इसी के द्वारा आत्मा सब कुछ करती-कराती है।

आत्मा और पंचमहाभूत शुक्राणु और डिम्बाणु दोनों के माध्यम से आते हैं। जब शुक्राणु और डिम्बाणु दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं तब इनमें वर्तमान पंचमहाभूतों के तत्त्व भी परस्पर मिलकर एकरूप हो जाते हैं।

यदि शुक्राणु और डिम्बाणु में वर्तमान महाभूतों के तत्त्व संतुलित एवं पुष्ट होते हैं तो सन्तान भी सर्वांगपूर्ण और स्वस्थ होती है और यदि उनमें किसी प्रकार की कमी होती है तो उसका प्रभाव गर्भ पर पड़ता है। आयुर्वेद में इस बात का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है कि सन्तान के कौन-कौन से अंग किस-किस महाभूत की प्रधानता से बनते हैं? कौन माता के अंश से बनते हैं और कौन पिता के अंश से बनते हैं। अतः सन्तान में आये जो महाभूत अपुष्ट या विकृत होंगे, बालक में उनसे सम्बन्धित अंग जन्म से ही अपुष्ट या विकारी होंगे। अगर कोई अंग माता से प्राप्त महाभूतों की प्रधानता से निर्मित होता है और माता से प्राप्त उस अंग से सम्बन्धित महाभूत ठीक नहीं मिले हैं तो बालक का वह अंग विकृत होगा, जिन अंशों में ठीक नहीं मिले हैं उन्हीं अंशों में विकृति होगी। अगर किसी अंग से सम्बन्धित महाभूत नहीं मिले हैं तो बालक में उस अंग का अभाव होगा। यही बात पिता से मिलने वाले महाभूतों पर भी लागू होती है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान भी मानता है कि स्त्री-पुरुषों की जनन कोशिकाओं (Reproductive cells) में मात्र २३ क्रोमोसोम (Chromosomes) होते हैं। गर्भाधान काल में बालक को २३ क्रोमोसोम माता से और २३ क्रोमोसोम पिता से प्राप्त होते हैं। जब शुक्राणु और डिम्बाणु मिलकर एक निषेचित डिम्ब (Fertilized ovum) के रूप में एकाकार हो जाते हैं तब

इस निषेचित कोशिका (Fertilized cell) में भी अन्य कोशिकाओं के समान ही २३ जोड़े अर्थात् ४६ क्रोमोसोम हो जाते हैं। अनुमानतः प्रत्येक जनन-कोशिका में ८०,००० से लेकर १,२०,००० तक जीन (Gene) होते हैं । ये जीन ही बालक में वंशपरम्परा के वाहक होते हैं । इन्हीं के माध्यम से माता-पिता अथवा मातृवंश और पितृवंश की विशेषताएँ बालक में बीजरूप में अवक्रमित होती हैं । इनमें से कुछ जीन शारीरिक विशेषताओं के वाहक
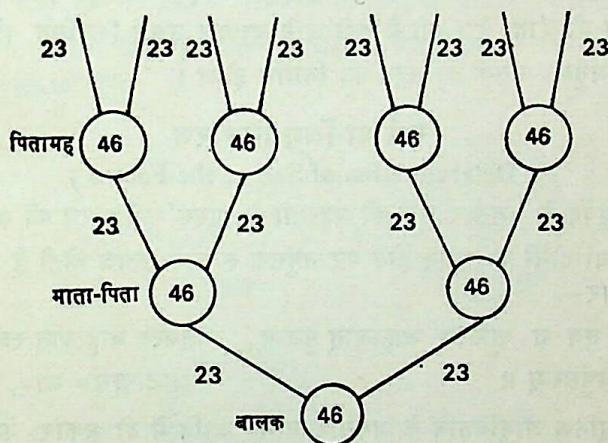
चित्र १—शिशु में माता-पिता के क्रोमोसोम्स का अवक्रमण

होते हैं, यथा—बालक की लम्बाई, बालों का रंग, नाक का आकार और उसकी बनावट आदि । कुछ मानसिक विशेषताओं के वाहक होते हैं, यथा—बुद्धि, शीलगुण, कलात्मक प्रतिभा आदि । इनमें से हर जीन एक-एक विशेषता का वाहक होता है । हर विशेषता से सम्बन्धित जीन बालक को माता और पिता दोनों से मिलता है । बालक में सम्बन्धित विशेषता इन दोनों जीनियों के घात-प्रतिघातस्वरूप ही उत्पन्न होती है । इस घात-प्रतिघात में जो जीन जीतता है उसका प्रभाव व्यक्त (Manifest) हो जाता है । इस जीन को प्रभावी जीन (Dominant Gene) कहते हैं । और जो हार या दब जाता है उसका प्रभाव अव्यक्त (Latent) रह जाता है । दबे हुए जीन को अप्रभावी जीन (Recessive Gene) कहते हैं । लेकिन दबा हुआ जीन समाप्त नहीं होता । उसका प्रभाव कभी भी इसी या अगली पीढ़ियों में व्यक्त हो सकता है । उदाहरण के लिये मान लें कि बालक को माँ से नीली आखों वाला और पिता से भूरी आँखों वाला जीन प्राप्त होता है तो आँखों के रंग के लिए दोनों में प्रतिस्पर्धा होगी । अगर भूरी आँखों वाला जीन प्रभावी हो जाता है तो बालक की आँखें पिता के समान होंगी । नीली आँखों वाला जीन

उसमें अप्रभावी स्थिति में बना रहेगा। वह उससे उसकी सन्तानों में अवक्रमित होकर अगली पीढ़ियों में कभी भी प्रभावी हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि बालक को अपनी प्रत्येक विशेषता से सम्बन्धित जैसे जीन प्राप्त होंगे, अनुकूल परिवेश मिलने पर उसमें उसी के अनुरूप शील-गुण विकसित होंगे।

गर्भाधान के बाद 'गर्भ' में अवस्थापित माता-पिता से प्राप्त इन जीनों को बदला नहीं जा सकता। बालक का वंशानुक्रम (Heredity) इसी समय निर्धारित हो जाता है। जो है वही आगे चलकर उसमें विकसित होगा और उसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण होगा।

गर्भ का लिंग-निर्धारण
(Determination of Sex of the Foetus)

आयुर्वेद के अनुसार शुक्र की बहुलता से 'पुरुष' और रज की बहुलता से 'स्त्री' तथा दोनों के समान होने पर नपुंसक सन्तान उत्पन्न होती है। वाग्भट के अनुसार—

तत एव च शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमान्, आर्तवस्य बाहुल्यात् स्त्री, तयोः साम्येन नपुंसकम् ॥ —अष्टाङ्गसं० शा०, अ० २।३

आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार मानव जाति में दो प्रकार के शुक्राणु (Spermatozoa) पाये जाते हैं—एक तो वे जिनमें २२ जोड़े वाले क्रोमोसोम्स के साथ-साथ एक छोटा 'Y' क्रोमोसोम होता है; और दूसरे वे जिनमें २२ जोड़े वाले क्रोमोसोम्स के साथ एक बड़ा 'X' क्रोमोसोम होता है। किसी भी पुरुष के परिपक्व शुक्राणुओं (Matured spermatozoa) में से आधे 'X' क्रोमोसोम वाले और आधे 'Y' क्रोमोसोम वाले होते हैं। ठीक इसके विपरीत स्त्री के सभी डिम्बाणु (Ova) 'X' क्रोमोसोम वाले होते हैं।

दो 'X' क्रोमोसोम वाली जनन-कोशिकाओं (Reproductive cells) के मिलने से सन्तान लड़की और एक 'X' और दूसरी 'Y' क्रोमोसोम वाली जनन-कोशिकाओं के मिलने से लड़का होता है।

स्त्री के परिपक्व डिम्बाणु (Matured ovam) में X क्रोमोसोम पहले से मौजूद रहता है। सम्भोग के समय क्षरित शुक्र में से हजारों शुक्राणु (Spermatozoa) परिपक्व डिम्बाणु की ओर बढ़ते हैं। उनमें से सबसे पहले उसके निकट पहुँचने वाला शुक्राणु उसे निषेचित (Fertilized) करता है। निषेचित हो जाने के बाद डिम्बाणु बन्द हो जाता है। अब अगर डिम्बाणु के निकट सबसे पहले पहुँचने वाला शुक्राणु 'X' क्रोमोसोम वाला है तो डिम्बाणु और शुक्राणु दोनों के 'X' क्रोमोसोम्स के मिलने से बना युग्म 'XX'

क्रोमोसोम लड़की को जन्म देगा। और अगर डिम्बाणु के निकट पहुँचने वाला शुक्राणु 'Y' क्रोमोसोम वाला है तो डिम्बाणु के 'X' और शुक्राणु के 'Y' क्रोमोसोम से मिलकर बनने वाला युग्म 'X Y' लड़के को जन्म देगा। इस प्रकार आधुनिक दृष्टि से गर्भ का लिंग-निर्धारण गर्भाधान के समय ही हो जाता है। अभी तक की विज्ञान की ज्ञात विधियों के आधार पर बाद में उसे किसी प्रकार बदला नहीं जा सकता। यद्यपि जीन-वैज्ञानिक इस प्रकार के प्रयासों में संलग्न हैं।
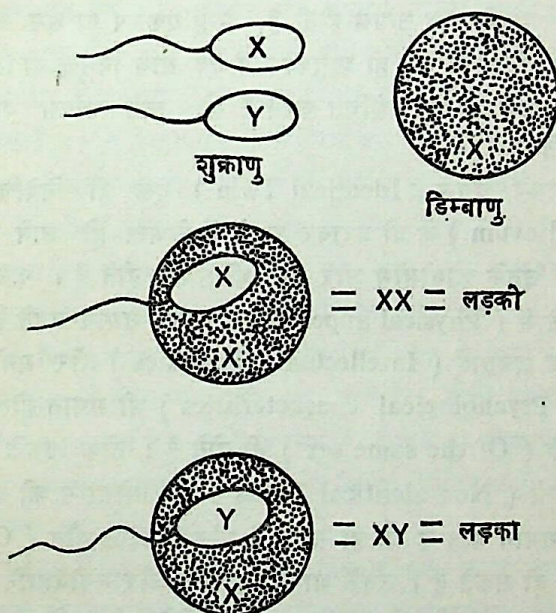
चित्र २—गर्भ में मिश्रित शुक्र-शोणित-स्वरूप

गर्भ में बच्चों की संख्या
(Number of Foetus in the Womb)

स्त्री सामान्यतया एक बार में एक ही बच्चे को जन्म देती है। पर कभी-कभी उनकी संख्या दो या दो से अधिक तीन, चार अथवा पाँच तक भी हो सकती है। इस प्रकार के प्रसवों में सन्तानों की संख्या जितनी अधिक होती है, उनके घटित होने की सम्भावनाएँ उतनी ही कम होती हैं। पहले की अपेक्षा आजकल बहुसंख्यक-प्रसवों (Multiple births) की घटनाएँ अधिक घट रही हैं। इसका मुख्य कारण गर्भ-धारण-सम्बन्धी औषधियों का अधिक मात्रा में सेवन बतलाया जाता है।

बहुसंख्यक-प्रसवों के कारणों पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेद में कहा गया

है कि वायु के द्वारा शुक्र और आर्तव के खण्ड-खण्ड होने पर इन टुकड़ों की संख्या के अनुसार ही सन्तानें उत्पन्न होती हैं। वाग्भट के शब्दों में—

शुक्रार्तवऽनिलेन खण्डशो भिन्ने यथाविभागमपत्यानामुत्पत्तिः।

अष्टाङ्गसं० शा०, अ० २।३

बहुसंख्यक प्रसव दो प्रकार के होते हैं—एकरूप या सम (Identical) और असम (Non-identical or fraternal)। यमज (Twin) सन्तानों में जो सन्तान एक ही निषेचित डिम्ब के निषेचन के ठीक बाद दो खण्डों में बँट जाने के बाद उत्पन्न होती हैं, उन्हें एकरूप या सम कहते हैं। ठीक इसके विपरीत जब एक ही ऋतुकाल में एक साथ निर्मुक्त दो डिम्बाणुओं को दो अलग-अलग शुक्राणु निषेचित करते हैं तो उनसे उत्पन्न यमजों को असमरूप कहते हैं।

चूँकि समरूप यमज (Identical Twin) एक ही निषेचित डिम्व (Fertilized ovum) के दो बराबर भागों में विभक्त हो जाने से उत्पन्न होते हैं। अतः उनके क्रोमोसोम और जीन भी समान होते हैं। फलस्वरूप न केवल वे देखने में (Physical appearance) एक समान लगते हैं, बल्कि उनकी बौद्धिक क्षमताएँ (Intellectual capacities) और मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ (Psychological characteristics) भी समान होती हैं। वे समान यौन के (Of the same sex) भी होते हैं। ठीक इसके विपरीत असमरूप यमजों (Non-identical Twins) में क्रोमोसोम्स की असमानता के कारण वे समान यौन के भी हो सकते हैं और विपरीत यौन (Opposite sex) के भी हो सकते हैं। उनके शारीरिक गठन और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में भी समानता की अपेक्षा भिन्नता के होने की अधिक सम्भावना होती है।

दो से अधिक संख्या वाले प्रसवों में समरूप और असमरूप दोनों ही प्रकार की सन्तानें हो सकती हैं। उदाहरण के लिये तीन बच्चों वाले प्रसव (Triplets) में हो सकता है कि दो अलग-अलग डिम्बाणुओं के निषेचित होने के बाद उनमें से एक दो खण्डों में बँट गया हो और दूसरा ज्यों-का-त्यों रहा हो। ऐसी स्थिति में तीन में से दो सन्तानें तो समरूप होंगी और एक उनसे भिन्न होगी।

माता में जरायु का निर्माण सामान्यतया एक ही सन्तान के पलने के लिए ही होता है। उसकी थैली में एक सन्तान आसानी से पल सकती है, बढ़ सकती है। उसमें जगह सीमित होती है। उस सीमित जगह में एक से अधिक सन्तानों के होने पर जैसे-जैसे वे बढ़ती जाती हैं, एक-दूसरे के विकास को

अवरुद्ध करती जाती हैं। जरायु की प्राचीरों के फैलने की भी एक सीमा होती है। इसलिए प्राय: ऐसी सन्तानें या तो समय के पहले (Pre-mature) पैदा हो जाती हैं या फिर देर से पैदा होती हैं। पैदा होने के समय वे आकृति में छोटी और अपूर्ण विकसित जैसी लगती हैं।

गर्भ का मासानुमासिक विकास

(Month to Month Development of the Foetus)

अस्तित्व में आने के समय गर्भ इतना सूक्ष्म होता है कि उसे इन आँखों से देखा भी नहीं जा सकता। उसका भार लगभग नगण्य होता है। धीरे-धीरे वह बढ़ना शुरू होता है। लगभग नौ महीने तक माता के गर्भ में पलने के पश्चात् जव वह जन्म लेता है तो उसका भार ३ से लेकर ३·५ किलोग्राम तक और लम्बाई ५० से लेकर ५२ सेन्टीमीटर तक होती है। लड़कों का भार और लम्बाई सामान्यतया लड़कियों की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। माता के गर्भ में क्रमिक विकास की अवस्था में उसे अनेक स्तरों (Stages) से गुजरना पड़ता है। प्रत्येक स्तर पर नये-नये अंगों का प्रस्फुटन, उनकी वृद्धि और विकास तथा व्यवहार देखने को मिलता है।

कभी-कभी किसी बीमारी या दुर्घटनावश गर्भस्राव अथवा गर्भपात के कारण गर्भ असमय में ही स्वतः बाहर आ जाते हैं। कभी उन्हे शल्यक्रिया द्वारा निकालना भी पड़ता है। इन्हीं असमय में निकले या निकाले गये गर्भों के आधार पर गर्भस्थ बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

प्राचीन भारत में भी शल्यक्रिया अपने विकास की चरम अवस्था पर थी। उस समय भी आवश्यक होने पर शल्यक्रिया द्वारा बालक को गर्भ से निकाला जाता था। गर्भस्थ बालक के अध्ययन की अन्य विधियाँ भी विकसित थीं। इन्हीं सबके आधार पर आयुर्वेद के उस स्वर्णिम काल में भी गर्भस्थ शिशु के शारीरिक एवं मानसिक विकास का विशद अध्ययन किया गया है।

आयुर्वेद की प्रायः सभी संहिताओं में गर्भ के मासानुमासिक विकास का वर्णन किया गया है। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट की संहिताओं में इनके विशद वर्णन उपलब्ध हैं। काश्यपसंहिता का एतद् विषयक 'असमानगोत्रीय शारीराध्याय' खण्डित अवस्था में प्राप्त है। उसमें प्रथम दो मास के विकास का वर्णन उपलब्ध नहीं है, शेष में काश्यप की विशेषता स्पष्ट परिलक्षित होती है। नीचे इन्हीं संहिताओं के आधार पर गर्भ के मासानुमासिक विकास पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है। प्रत्येक मास के विकास का विवरण प्रस्तुत करते समय प्रायः प्रथम पैरा में आयुर्वेदिक मतानुसार तथा आगे के पैराओं में

आधुनिक मतानुसार बालक के शारीर एवं शरीर-क्रियात्मक-विकास पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम मास
(First month)

स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः। —चरक

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते। —सुश्रुत

तत्र प्रथमे मासे कललं जायते। —वाग्भट

प्रथम मास में गर्भ की संज्ञा 'कलल' होती है। अपनी इस प्रारम्भिक अवस्था में वह एक छोटा बुलबुला जैसा प्रतीत होता है। इस अवस्था का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है कि सर्वगुणसम्पन्न आत्मा गर्भावस्था को प्राप्त होकर प्रथम मास में सभी धातुओं का सम्मिश्रणस्वरूप संकलित रूप बन कर कफ धातु का स्वरूप धारण करता है। इस अवस्था में वह अव्यक्त शरीर वाला होता है। उस अव्यक्त शरीर में उसके अंग-प्रत्यंग, सत् और असत् दोनों रूप में होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रथम मास में गर्भ का आकार इतना सूक्ष्म होता है कि उसे देखकर यह पहचानना कठिन होता है कि वह किस जाति (Species) के जीव का गर्भ है। इसलिए उसे अव्यक्त कहा जाता है। लेकिन फिर भी उसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता है। उस अव्यक्त गर्भ में उसके सभी अंग-प्रत्यंग उसी प्रकार वर्तमान होते हैं, जिस प्रकार बरगद के बीज में बरगद का विशाल वृक्ष। इसी लिए उन्हें सत् कहा है। लेकिन ये अंग-प्रत्यंग अभी अव्यक्तावस्था में होते हैं। उन्हें, जब तक वे व्यक्त नहीं हो जायें, देखा नहीं जा सकता। इसीलिए उन्हें असत् कहा है।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार प्रथम मास में गर्भ की लम्बाई ४ मिलीमीटर के लगभग और भार १·२५ से १·५० ग्राम तक होता है। तीसरे सप्ताह से ही हृदय में सूक्ष्म स्पन्दन होने लगता है। प्रमस्तिष्क और नेत्र पुटिकाएँ (Cerebral and optic vesicles) झलकने लगती हैं। अन्तस्था खतिकाएँ (Medullary groove) बनना आरम्भ हो जाती हैं। पेशियाँ विकसित होने लगती हैं। हाथ-पैर अंकुरित होने लगते हैं।

द्वितीय मास
(Second month)

द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदं वा। तत्र घनः पुरुषः, पेशी स्त्री, अर्बुदं नपुंसकम्। —चरक

द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते, यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति।

—सुश्रुत-शारीर, ३।१८

द्वितीये घनः पेश्यार्बुदं वा तेभ्यः क्रमात्पुंस्त्रीनपुंसकानि।

—अष्टाङ्गसं०, शा०, २।७

दूसरे महीने में गर्भ की संज्ञा 'घन' होती है। इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बुद्बुदा धनीभूत हो जाता है। उसमें वर्तमान पंचमहाभूतों के तत्त्व वात, पित्त और कफ से परिपक्व हो एक आकार धारण कर लेते हैं। यह आकृति प्रायः तीन प्रकार की होती है—पिण्ड, पेशी अथवा अर्बुद। यदि गर्भ की आकृति पिण्ड के समान होती है तो वह पुरुष होता है, पेशी के समान हो तो वह स्त्री होती है और अर्बुद के समान होती है तो वह नपुंसक होता है।

दूसरे महीने के समाप्त होते-होते गर्भ लगभग १½ इंच या ४ सेन्टीमीटर लम्बा हो जाता है। उसका सामान्य स्वरूप मानवीय भ्रूण जैसा दिखाई पड़ने लगता है। नाक, कान और पलकों की आकृति स्पष्ट होने लगती है।

शाखाओं पर उँगलियों का बनना आरम्भ हो जाता है। नीचे का पूँछ के समान दिखाई देने वाला भाग लुप्त हो जाता है। गर्भ के शरीर की वक्रता कुछ कम हो जाती है। सिर ऊपर की ओर उठने लगता है। नाल में स्थित आँत का भाग उदर में आ जाता है। नाल में ऐंठन पड़ने लगती है। कुछ उपास्थियाँ (Cartilages) अस्थियों में बदलने लगती हैं। उनमें कड़ापन आने लगता है। छठे सप्ताह के अन्त में गुप्तांगों के स्थान पर ऐसे लक्षण उभरने लगते हैं जिनके द्वारा किसी हद तक गर्भ के लिंग की पहचान की जा सकती है।

छः सप्ताह का होते-होते उसमें सुषुम्नीय-प्रतिवर्त (Spinal reflex) के लिए आवश्यक तत्त्वों का निर्माण तो हो जाता है, परन्तु आठवें सप्ताह के पूर्व उनमें सक्रियता के लक्षण प्रकट नहीं होते। दूसरे महीने का अन्त होते-होते उसके हाथ-पैर और धड़ में सूक्ष्म गतियाँ दिखाई देने लगती हैं। विद्युतीय उत्तेजन (Electrical stimulation) के फलस्वरूप उसकी पेशियों में भी गति देखी जा सकती है।

तृतीय मास
(Third month)

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते।

—चरक-शारीर, ४।११

तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागाश्च सूक्ष्मो भवति।

—सुश्रुत-शारीर, ३।१८

तृतीये पञ्चधा प्ररोहति । तद्यथा—सक्थिनी बाहू शिरश्च । सक्थ्यादिप्ररोहैककालमेव च सर्वमङ्गावयवेन्द्रियाणि युगपत्सम्भवन्त्यन्यत्र जन्मोत्तरकालजेभ्यो दन्तादिभ्यः । क्रमेण तु स्फुटीभवन्ति । एषा प्रकृतिः । विकृतिरतोऽन्यथा ।

—अष्टाङ्गसं० शा०, २।७

तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम् ।
प्रस्पन्दते चेतयति वेदनाश्चावबुध्यते ॥ —काश्यप-शारीर

तीसरे महीने में गर्भ की सभी इन्द्रियाँ, अंग (हाथ, पैर तथा सिर) तथा अवयव (नाक, कान आदि) यथाक्रम एक साथ उत्पन्न होने लगते हैं। गर्भ स्पंदन करने लगता है। चेतना जागृत हो जाती है। वेदना की प्रतीति होने लगती है। चरक के अनुसार इसी महीने गर्भ का हृदय स्पंदित होने लगता है। मन में सुख-दुःख के भाव जगने लगते हैं और वह पूर्व जन्म में अनुभूत विषयों की चाह करने लगता है। उसकी यह चाह उसकी माता की इच्छाओं के द्वारा व्यक्त होती है। इस अवस्था में माता की इच्छाओं की पूर्ति न की जाये तो गर्भ में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुश्रुत ने इस दौहृद को चौथे महीनें में माना है। वस्तुतः गर्भ में स्पंदन तो तीसरे महीने में ही उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु उस समय वे इतने क्षीण होते हैं कि गर्भोदक के कारण माता उन्हें ठीक से अनुभव नहीं कर पाती। चौथे-पाँचवें महीने में माता को स्पंदनों की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है।

तीसरे महीने गर्भ की लम्बाई लगभग ७ सेन्टीमीटर हो जाती है। धड़ से सर गरदन के द्वारा विभक्त हो जाता है। हाथ-पैर की उँगलियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगती हैं। उन पर नाखूनों के चिह्न उभरने लगते हैं। अस्थियों में अस्थिविकास-केन्द्र बनने लगते हैं। बाह्य जननेन्द्रियाँ इतनी स्पष्ट हो जाती हैं कि उन्हें देखकर आसानी से गर्भ के पुत्र या कन्या होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

गर्भ में बहुत ही धीमी, असंगठित एवं अनियमित गतियाँ देखने को मिलने लगती हैं। वह स्पर्श उत्तेजना के प्रति अनुक्रिया प्रकट करने लगता है। इस प्रकार की अनुक्रिया सबसे पहले मुख एवं नासा क्षेत्र में देखने को मिलती है। पैरों की उँगलियों के पहले हाथों की उँगलियों में मुड़ने के लक्षण देखे जाते हैं। तीन महीने का होते-होते उसकी प्रत्येक सन्धि में विभिन्न प्रकार की सन्धि-गतियाँ देखने को मिलने लगती हैं। उत्तेजित किये जाने पर वह सर को हटाता हुआ-सा प्रतीत होता है। सुषुम्ना नाड़ी (Spinal cord) के विभाजन से मालूम होता है कि गर्भस्थ शिशु में उत्पन्न प्रतिवर्त (Refle-

xes) केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र (Central nervous system) के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिवर्त-धनुओं (Reflex Arc) पर ही निर्भर करते हैं। तीसरे माह का अन्त होते-होते श्वसन-गतियाँ (Respiratory movements) भी देखने को मिलने लगती हैं। कुछ बच्चों के उल्व-तरल (Amniotic fluid) में यूरिया (Urea) की उपस्थिति इस वात का भी संकेत देती है कि उनके गुर्दे (Kidney) में सक्रियता आरम्भ हो गयी है।

चतुर्थ मास
(Fourth month)

चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, तस्मात् तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण।

—चरक-शारीर, ४।२०

चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावात् चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्, तस्माद् गर्भचतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।

—सुश्रुत-शारीर, ३।१८

चतुर्थेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो गर्भश्च स्थिरो भवति।

—अष्टाङ्गसं० शारीर, २।१३

सूक्ष्मप्रव्यक्तकरणस्तृतीये तु मनोऽधिकः।
चतुर्थे स्थिरतां याति गर्भः कुक्षौ निरामयः॥

—काश्यप-शारीर

चौथे महीने में गर्भ गर्भाशय में ठीक से स्थिर हो जाता है; उसमें अब उपद्रवों की सम्भावना नहीं रहती। गर्भ का आकार पहले से बढ़ जाता है। उसके सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों का विभाग पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाता है। गर्भ-हृदय के प्रव्यक्त होने से चेतनाधातु भी अभिव्यक्त हो जाती है।

इस महीने के अन्त तक गर्भ की लम्बाई २२ सेन्टीमीटर और भार २४० ग्राम के लगभग हो जाता है। उसके सिर और शरीर पर रोम प्रकट होने लगते हैं। लिंग स्पष्ट हो जाता है। चेहरे की आकृति स्पष्ट झलकने लगती है। आयुर्वेद में चूँकि हृदय को चेतना का स्थान माना जाता है, इसीलिए हृदय के स्पन्दित होने के कारण इसी मास में गर्भ में चेतना का उदय माना जाता है। चेतना ही सुख-दुःख की अनुभूतियों को जन्म देती है। सुख-ःदुख की अनुभूतियों के कारण बालक हाथ-पैरों को चलाता है और हृदय द्वारा अपनी इच्छाओं का प्रभाव माता के हृदय पर डालता है। यद्यपि इस महीने में गर्भ में हलचल होने लगती है, पर यह इतनी क्षीण होती है कि न तो माता ही इसे ठीक से अनुभव कर पाती है और न उसके पेढ का स्पर्श करने वाला कोई दूसरा

व्यक्ति ही। हाँ, ध्यान देने पर स्टेथिस्कोप के द्वारा उसके हृदय की धड़कन अवश्य सुनी जा सकती है।

इस अवधि का अन्त होते-होते गर्भ में प्रकार्यात्मक श्वास-प्रश्वास तथा स्वर-अनुक्रिया (Functional respiration and vocal response), वे सभी प्रतिवर्त (Reflexes) जो प्रायः नवजात शिशु में देखे जाते हैं, अपनी प्रारम्भिक अवस्था (Rudimentary form) में देखे जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश बड़े ही मन्द और अनिश्चित प्रकार के होते हैं। फिर भी मानव-भ्रूण अब विकास की उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब कि मानव-व्यवहार के उत्पादक अलग प्रकार के आधारभूत प्रतिवर्त अधिक सामान्य, सामूहिक एवं एकरूप अनुक्रिया (Generalized and steriotyped response) का स्थान लेने लगते हैं। सुषुम्नानाड़ी के विभिन्न भागों को पहुँचायी गयी क्षति प्रकार्यात्मक रूप से उन भागों से सम्बन्धित प्रतिवर्तों का लोप कर देती है। यदि पूरी नाड़ी को नष्ट कर दिया जाये तो उसमें किसी भी प्रकार का प्रतिवर्त-सम्बन्धी व्यवहार (Reflex behaviour) देखने को नहीं मिलता। पेशियों को सीधे उत्तेजित करने पर उनमें गतिशीलता के लक्षण देखने को मिल सकते हैं। लेकिन प्रमस्तिष्कीय-प्रान्तस्था (Cerebral cortex) के निकाल दिये जाने पर भी गर्भ की सक्रियता और प्रतिवर्तों में कोई विशेष परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है। यह इस बात का संकेत है कि अभी व्यवहार पर प्रमस्तिष्कीय नियन्त्रण (Cerebral control) नहीं होता। शरीर के सभी बाह्य भाग स्पर्श के प्रति संवेदनशील (Sensitive to touch) होते हैं।

पंचम मास
(Fifth month)

पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात् तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण। —चरक-शारीर, ४।२१

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति। —सुश्रुत-शारीर, ३।३०

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति मांसशोणितोपचयश्च।

—अष्टाङ्गसं० शारीर, २।१३

गुरुगात्रत्वमधिकं गर्भिण्यास्तत्र जायते।
मांसशोणितवृद्धिस्तु पञ्चमे मासि जीवक ! ॥
गर्भिणी पञ्चमे मासि तस्मात् कार्श्येन युज्यते।

—काश्यप-शारीर

पाँचवें महीने में गर्भ में रक्त और मांस की विशेष वृद्धि होती है। इसीलिए गर्भिणी कुछ दुर्बल हो जाती है। गर्भ का स्पंदन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो जाता है। सुश्रुत के अनुसार इस महीने में मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है।

पाँचवें महीने में गर्भ की लम्बाई ३० सेन्टीमीटर और भार ४८० ग्राम के लगभग हो जाता है। टाँगें अधिक लम्बी हो जाती हैं। शरीर की तुलना में सिर अभी भी बड़ा होता है। शरीर पर रोयें अधिक लम्बे हो जाते हैं। गर्भ की हल-चल बढ़ जाती है। यकृत् व्यक्त हो जाता है। आँतों में कुछ मल एकत्रित होने लगता है। सम्पूर्ण शरीर पर एक चिकना पदार्थ बनने लगता है, जो गर्भ की त्वचा की गर्भोदक से रक्षा करता है।

अब गर्भ में हाथों और पैरों की उँगलियों को मोड़ने और फैलाने की प्रतिवर्त गतियाँ (Reflex movements) आसानी से देखी जा सकती है। विशिष्ट विधि से उत्तेजित करने पर श्वास-प्रश्वास-सम्बन्धित गतियाँ (Respiratory movements) भी प्रकट होते देखी गयीं हैं। गर्भ की सामूहिक दैहिक सक्रियता (Generalized body activity) भी इतनी बढ़ जाती है कि कुछ माताएँ उसे स्पष्ट अनुभव करने लगती हैं। कुछ भ्रूणों में तो हिचकियाँ (Hiccough) भी आती देखी गयीं हैं।

षष्ठ मास
(Sixth month)

षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात् तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण। —चरक-शारीर, ४।२२

षष्ठे बुद्धिः। —सुश्रुत-शारीर, ३।३०

षष्ठे केशरोमनखास्थिस्नाय्वादीन्यभिव्यक्तानि बलवर्णोपचयश्च।

—अष्टाङ्गसं० शा०, २।१३

बलवर्णौजसां वृद्धिः षष्ठे मातुः श्रमाधिकः। —काश्यप-शारीर

इस महीने में गर्भ में अन्य महीनों की अपेक्षा बल, वर्ण और ओज की विशेष वृद्धि होती है। इसलिए गर्भिणी अपने को कमजोर अनुभव करने लगती है। किसी भी काम में जल्द ही थकान का अनुभव करने लगती है। गर्भ में केश, रोम, नख, अस्थि और स्नायु अधिक स्पष्ट होने लगते हैं। सुश्रुत के अनुसार इसी महीने में बुद्धि अधिक प्रव्यक्त होती है।

इस महीने गर्भ की लम्बाई ३३ सेन्टीमीटर और भार एक किलो के लगभग होता है। हाथ-पैर आदि इतने विकसित हो जाते हैं कि माता का पेट टटोलने से उनका ज्ञान हो सकता है। गर्भ की गतियाँ भी स्पष्ट प्रतीत होने

लगती हैं। यदि गर्भ गतिहीन हो तो पेट पर हल्का-सा आघात करने पर उसमें गति आ जाती है। उत्तेजित किये जाने पर श्वसन-क्रिया से सम्बन्धित गतियाँ अधिक स्पष्टरूप में देखने को मिलती हैं। विकास-क्रम में शरीरिक गतियों के अनवरत विभेदीकरण के कारण अनेक कण्डरा-प्रतिवर्तों (Tendon reflexes) को अधिक निश्चयात्मकता के साथ पहचाना जा सकता है। मुख-क्षेत्र को स्पर्श द्वारा उत्तेजित कर चूसने से सम्बन्धित प्रतिवर्तों (Sucking reflexes) को उत्पन्न किया जा सकता है।

सप्तम मास
(Seventh month)

सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्याय्यते, तस्मात् तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति। —चरक-शारीर, ४।२३

सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः। —सुश्रुत-शारीर, ३।३०

सप्तमे सर्वाङ्गसम्पूर्णता। —अष्टाङ्गसं० शा०, २।१३

सर्वधात्वङ्गसम्पूर्णो वातपित्तकफान्वितः।
सप्तमे मासि तस्माच्च नित्यक्लान्ताऽत्र गर्भिणी॥—काश्यप-शारीर

सातवें महीने में सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों का विभाग और भी स्पष्ट हो जाता है। गर्भ सभी धातुओं एवं वात, कफ आदि से पूर्ण हो जाता है। सातवें महीने तक गर्भ की लम्बाई ४० सेन्टीमीटर और भार १·५ किलोग्राम के लगभग हो जाता है। त्वचा के नीचे मेद के एकत्रित होने से उसकी सिकुड़नें कम हो जाती हैं। यक्ष्म (Eye lids) अलग हो जाते हैं। आँखों के ऊपर की झिल्ली नष्ट होने लगती है। अण्ड-ग्रन्थियाँ (Testeer) उदरगुहा में से निकलकर वंक्षणनलिका (Inguinal canal) में आ जाती हैं। प्रतिवर्त गतियाँ (Reflexes) अधिक स्पष्टता और तीव्रता के साथ प्रकट होने लगती हैं। रुदन के लक्षण देखे जा सकते हैं। यद्यपि निम्न प्रमस्तिष्कीय केन्द्रों का उत्तेजन दैहिक गतियों को प्रभावित करने लगता है फिर भी प्रमस्तिष्कीय-प्रान्तस्था (Cerebral cortex) का अभी इन पर कोई नियन्त्रण नहीं मालूम होता।

संक्षेप में जीवन के लिए अंग-प्रत्यंगों की जितनी वृद्धि आवश्यक है उतनी इस समय तक पूरी हो जाती है। यदि इस महीने के अन्त में किसी कारण-वश अकाल प्रसव (Premature delivery) हो जाये और बालक की समुचित देखभाल की जाये तो वह जीवित रह सकता है। भले ही वह पूर्ण-कालिक प्रसव (Full-term delivery) से जनमे बच्चे के समान दीर्घजीवी और स्वस्थ न हो।

अष्टम मास
(Eighth month)

अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासम्पूर्णत्वात् । तस्मात् तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च म्लाना, तथा गर्भः, तस्मात् तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात् । तं चैवार्थमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः । —चरक-शारीर, ४।२४

अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत् । —सुश्रुत-शारीर, ३।३०

अष्टमे गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिर्वाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परमाददाते । तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुदिता भवति, मुहुर्म्लाना तथा गर्भः । एवं गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमत्तदा भवति । —अष्टाङ्गसं० शा०, २।१४

अष्टमे गर्भिणीगर्भावाददाते परस्परम् ।
ओजो रसवहायुक्तेः पूर्णत्वाच्छलयत्यपि ॥
तस्मात्तदा मुहुर्म्लाना मुहुर्हृष्टा च गर्भिणी ।
अत्ययं चाप्नुते तस्मान्न मासो गण्यतेऽष्टमः ॥ —काश्यप-शारीर

आठवें महीने में ओज अस्थिर रहता है। रसवहनाड़ियों के द्वारा वह माता से गर्भ में और गर्भ से माता में आता-जाता रहता है। इसीलिए आठवें महीने में गर्भिणी बार-बार प्रसन्न और उदास हुआ करती है। जब ओज गर्भ से माता में आ जाता है तब वह प्रसन्न हो जाती है, और जब वह उसमें से निकल कर गर्भ में चला जाता है तब वह उदास हो जाती है। यही हालत गर्भ की भी होती है। जब वह ओजयुक्त होता है तब उसमें हल-चल अधिक अधिक होती है और जब ओज उसमें से निकल कर माता में चला जाता है तब वह स्पन्दनहीन-सा प्रतीत होने लगता है। ओज की अस्थिरता के कारण ही इस महीने में जन्मे बालक का जीवन खतरे में रहता है। यदि वह ऐसे समय में जनमता है जब कि उसका ओज माता में है या माता में जा रहा होता है तो उसका वचना प्रायः असम्भव होता है। इसीलिए कुशल चिकित्सक आठवें मास में प्रसव को प्रशस्त नहीं मानते।

सुश्रुत ने ओज की अस्थिरता के अतिरिक्त इस मास में उत्पन्न बालक के मरने के एक दूसरे कारण का भी उल्लेख किया है, जिसे 'नैर्ऋतभागत्व' कहते हैं। इस मान्यता के अनुसार नैर्ऋतों (ग्रहों) की वक्रदृष्टि गर्भस्थ शिशु के प्राणों का हरण कर लेती है। वह उनका भाग बन जाता है। सुश्रुत

के अनुसार अप्रत्यक्ष रूप में ये ग्रह भी बालक के शरीर का नहीं वल्कि उसके ओज का ही अपहरण करते हैं। इसीलिए यहाँ भी गर्भ-मृत्यु का प्रधान कारण ओज के अभाव को ही मानना चाहिए।

आधुनिक दृष्टि से भी सातवें या आठवें महीने में जन्मे बालकों में जीवनी शक्ति (Vitality) की कमी मानी जाती है। इसीलिए उनके वचने की सम्भावना कम होती है। अगर उनके पालन-पोषण की विशेष प्रविधियाँ न अपनायी जायें तो प्रायः वे किसी-न-किसी बीमारी के शिकार होकर मर जाते हैं।

उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अभी भी बालक के व्यवहार-प्रतिमानों (Behaviour patterns) पर बहुत ही कम प्रमस्तिष्कीय नियन्त्रण (Cerebral control) होता है। प्रायः सभी कण्डरा-प्रतिवर्तों (Tendon reflexes) का विभेदीकरण हो जाता है। उत्तेजित किये जाने पर उन्हें बालक में स्पष्ट देखा जा सकता है। वे सभी अनुक्रियाएँ जो एक नवजात शिशु में देखी जाती हैं, गर्भस्थ बालक में भी देखी जा सकती हैं।

नवम मास
(Ninth month : Full term)

तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुराद्वादशान्मासात्। एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुक्षाववस्थानं गर्भस्य।

—चरक-शारीर, ४।२५

नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति।

—सुश्रुत-शारीर, ३।३०

तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि प्रसवकालमाहुरासंवत्सरात्। अतः परं विकारी भवति।

—अष्टाङ्गसं० शा०, २।१५

नवमादिषु मासेषु जन्म चास्य यथाक्रमम्।
पूर्वदेहकृतं कर्म गर्भावाससुखासुखम्॥
जातः स्मरति तावच्च यावन्नोपैति जीविकाम्।

—काश्यप-शारीर

नवम मास का अन्त होते-होते प्रायः बालक का जन्म हो जाता है। काश्यप के अनुसार जन्म लेते ही बालक अपने पूर्व जन्म के कर्मों और गर्भावस्था में भोगे गये सुख-दुःख को भूल जाता है। वह अब अपना नया जीवन नये सिरे से प्रारम्भ करता है।

प्रायः सातवें महीने तक बालक का सभी महत्त्वपूर्ण विकास पूरा हो जाता है। आठवें और नवें महीने में उनमें आकारिक वृद्धि ही अधिक होती है। इसी लिए आयुर्वेद की संहिताओं में इन महीनों के गर्भ-विकास के विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होते।

आयुर्वेद में नौवें से लेकर बारहवें महीने तक स्वाभाविक प्रसवकाल माना गया है। इसके बाद भी यदि बालक माता के पेट में रह जाये तो वह विकारी हो जाता है। सुश्रुत और वाग्भट इसी मत को माननेवाले हैं। चरक ने मात्र नौवें और दसवें महीने में ही प्रसव को स्वाभाविक माना है।

आधुनिक अध्ययनों में भी बालक के गर्भ में रहने की सामान्य अवधि लगभग २८० दिन, ९ सूर्यमास या १० चन्द्रमास मानी गयी है। फिर भी इस अवधि में अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। जीवित गर्भ के जन्म के पहले का न्यूनतम ज्ञात समय १८० दिन और अधिकतम ज्ञात समय ३३४ दिन है। जितने बच्चे परिपक्व होने के पूर्व (Pre-mature) जन्म लेते हैं, उसके तीन गुने परिपक्व होने के बाद (Post-mature) जन्म लेते हैं।

अध्याय ३

गर्भस्थ शिशु का विकास (२)

(Development of the Foetus)

आधुनिक दृष्टि से गर्भस्थ शिशु के विकास को प्रायः तीन अवस्थाओं में बाँटा गया है—

(१) बीजावस्था (Germinal period),
(२) भ्रूणावस्था (Embryonic period),
(३) गर्भावस्था (Foetal period)।

बीजावस्था
(Germinal Period)

यह अवस्था बालक के गर्भ में अस्तित्व में आने के समय से लेकर दूसरे सप्ताह के अन्त तक मानी गयी है। इस अवधि में निषेचित डिम्ब (Fertilized ovum) अधिकांशतः स्वतन्त्ररूप से फैलोपी नलिका (Fallopian tube) में रहता है। वहीं से धीरे-धीरे सरक कर गर्भाशय में पहुँचता है। निषेचन
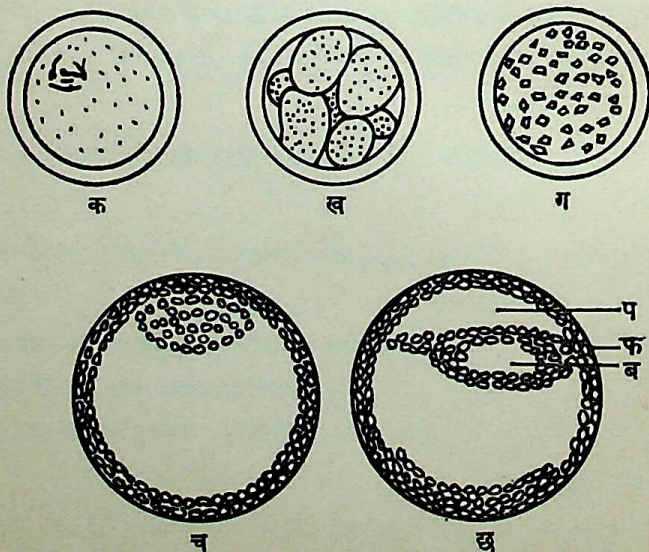
चित्र ३—बीजावस्था का विकास-क्रम

के बाद डिम्ब के फैलोपी नली से गर्भाशय की ओर जाने की अवधि में इसके बाहरी ढाचें में न तो आकारिक वृद्धि होती है और न कोई महत्त्वपूर्ण परि-

वर्तन। आन्तरिक ढाँचे में अवश्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। डिम्ब का अनेक वार विभाजन एवं उपविभाजन होता है। एक कोशिका दो, दो से चार, चार से आठ--इसी प्रकार इनकी संख्या वढ़ती जाती है (देखें क, ख और ग)। यहाँ तक कि ये एक गोलाकार गुच्छे का रूप धारण कर लेते हैं (देखें च)। कोशिकाओं में भिन्नता भी इसी समय से ही आरम्भ हो जाती है। कुछ वड़ी होती हैं कुछ छोटी। कुछ शीघ्रता से वढ़ती हैं कुछ धीरे-धीरे। शीघ्र ही यह गोलाकार गुच्छा वीज से खोखला होने लगता है और एक गुफा-सी बन जाती है। विकासशील कोशिकाएँ बाहरी तह की ओर जमा होने लगती हैं। कुछ तह से लगे हुए एक गुच्छे के रूप में एक स्थान पर जमा हो जाती हैं (देखें च)। तह पर एकत्रित होने वाली कोशिकाएँ बालक की रक्षा और उसे भोजन पहुँचाने का कार्य करती हैं। एक अन्य गुच्छे के रूप में वढ़नेवाली कोशिकाएँ गर्भस्थ शिशु के रूप में विकसित होती है। चित्र (२ छ) में दिखलायी पड़ने वाली दोनों दरारें (प और व) क्रमशः उल्वीयकोश (Amniotic sac) और पीतककोश (Yolk sac) कहलाती हैं। सैक या कोश से तात्पर्य है झिल्ली की ऐसी थैलियाँ जिसमें कोई तरल पदार्थ भरा रहता है। इन दोनों थैलियों के बीच में जो एक सेलों की दीवार जैसी दिखती है, उसे जर्मिनल भ्रूण-चक्रिका (Germinal disc) कहते हैं (देखें फ)। इसी भ्रूण-चक्रिका से ही भ्रूण की रचना होती है।

जिस अवधि में निषेचित डिम्ब फैलोपी नली से गर्भाशय में पहुँचने की अपनी यात्रा पूरी कर रहा होता है, इसी बीच गर्भाशय की अन्दरूनी दीवार डिम्ब के स्वागत की तैयारी पूरी कर रही होती है। इस तैयारी का अर्थ होता है—गर्भाशय की आन्तरिक भित्ति के रुधिरवाहिका-तंत्र और ग्रन्थि-तंत्र की वृद्धि जिससे कि वह मुलायम, मोटी और गद्दी की तरह हो जाये। निषेचित डिम्ब उस पर आराम से रह सके।

बीजावस्था के पूर्वार्द्ध में जब कि निषेचित डिम्ब स्वतन्त्ररूप से फैलोपी नलिका से निकलकर कुछ दिन तक गर्भाशय में ही तैरता रहता है, इस बीच जरूरी है कि उसे पीतक से ही पोषण मिलता रहे। यदि इस बीच इसका पीतक बीच में ही समाप्त हो जाये तो यह निर्जीव हो जायेगा। जब निषेचित डिम्ब को गर्भाशय में ठहरने की जगह मिल जाती है तब इसमें से स्पर्शक (Feelers) फूट पड़ते हैं। ये स्पर्शक गर्भाशय की दीवार में रुधिर-वाहिनियों को ढूँढ़कर उसमें प्रवेश कर जाते हैं। इनके माध्यम से डिम्ब को पोषण के नये स्रोत प्राप्त हो जाते हैं। आरोपण (Implantation) की यह क्रिया निषेचन के प्रायः दस दिन के पश्चात् होती है। इसके पूर्ण हो जाने के बाद

निषेचित डिम्ब परजीवी हो जाता है और प्रसव होने तक उसी हालत में बना रहता है।

यह अवस्था तीन दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनसे गर्भस्थ शिशु का जीवन खतरे में पड़ सकता है—

(१) गर्भाशय की दीवार में आरोपित होने के पूर्व ही निषेचित डिम्ब का निर्जीव हो जाना।

(२) आरोपित न हो पाना—इस हालत में भी निषेचित डिम्ब नष्ट हो जाता है।

(३) डिम्ब का गलत जगह पर आरोपित हो जाना, यथा—फैलोपी नलिका में ही जहाँ उसे बढ़ने का मौका नहीं मिलता और शल्य-क्रिया द्वारा निकालना (Tubal pregnancy) पड़ता है। यह ऐसी जगह भी आरोपित हो सकता है जहाँ से उसे पोषण ही न मिले। इस परिस्थिति में भी वह स्वतः नष्ट हो जायेगा।

भ्रूणावस्था
(Embryonic Period)

इसकी अवधि तीसरे सप्ताह के आरम्भ से लेकर आठवें सप्ताह के अन्त तक मानी जाती है। भ्रूणावस्था तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों की अवस्था है। छः सप्ताह की इस छोटी-सी अवधि में भ्रूण एक कोशिकापुंज (Mass of cells) से विकसित होकर एक छोटे से व्यक्ति का आकार ग्रहण कर लेता है। इस अवधि में शरीर के सभी आवश्यक आन्तरिक और बाह्य अंग-प्रत्यंग
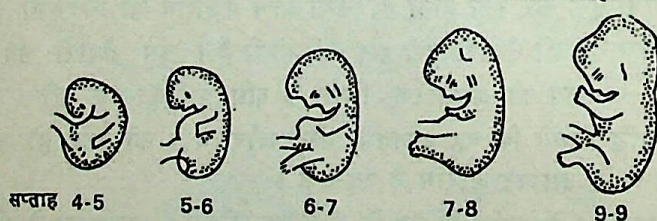
चित्र ४—भ्रूणावस्था का विकास-क्रम

अस्तित्व में आ जाते हैं। भ्रूणावस्था के बाद नये अंगों का निर्माण नहीं होता। जो पहले से अस्तित्व में आ चुके हैं उन्हीं के वास्तविक या आपेक्षिक आकार में और उनकी प्रक्रियाओं में परिवर्तन होते हैं।

कोशिकाओं की बाहरी परत (Outer layer of the cells) जो आरोपण (Implantation) के कुछ समय के बाद ही अन्दरूनी परत से अलग हो जाती है। अब सहायक उपकरणों (Accessory apparatus) के रूप में विकसित होती है। ये सहायक उपकरण हैं—अपरा (Placenta),

नाभिरज्जु (Umbilical cord) और कोष (Sac) ये सहायक उपकरण जन्म के समय तक भ्रूण की रक्षा करते हैं और उसको पोषण देते हैं।

माता का रक्त गर्भाशय-भित्ति की धमनियों से अपरा में आता है। इसी के माध्यम से ऑक्सीजन, खाद्यसामग्री और पानी माता के रक्त-प्रवाह से नाभि-रज्जु में होते हुए भ्रूण तक पहुँच जाते हैं। भ्रूण के शरीर के दूषित पदार्थ नाभि-रज्जु के द्वारा अपरा में से छनकर माता के रक्त-प्रवाह में पहुँचते हैं और वहाँ उसके उत्सर्गी अंगों (Organs of excretion) द्वारा बाहर निकाल दिये जाते हैं। यद्यपि भ्रूण अपने परिसंचरण तंत्र (Circulatory system) का अलग ही विकास कर लेता है, पर पोषण के निमित्त अपने दूषित पदार्थों को निकालने के लिए उसे अपरा पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

विकास के क्रम में जनन-कोशिकाओं की आन्तरिक परत बहिर्जनस्तर (Ectoderm), मध्यजनस्तर (Mesoderm) और अन्तःजनस्तर (Endoderm) में विभक्त हो जाती है। बहिर्जनस्तर बाह्य त्वचा (Epidermis) बाल, नाक, दाँतों के कुछ भाग, त्वक् ग्रन्थियों, संवेदी कोशिकाओं और सम्पूर्ण तंत्रिका-तंत्र को उत्पन्न करता है। भ्रूणावस्था के आरम्भ में बहिजनस्तर में एक लम्बी, खड़ी, खोखली, जगह-सी दिखलाई पड़ती है, जो शीघ्र ही बन्द होकर एक तंत्रिका-नाल (Neural tube) का आकार ग्रहण कर लेती है। कालान्तर में यही सुषुम्नानाड़ी (Spinal cord) और मस्तिष्क के ऊपरी भाग (Upper part of the brain) के रूप में विकसित होती है। पाँचवें सप्ताह तक मस्तिष्क की प्रमुख संरचनाएँ तंत्रिका-नाल (Neural Tube) के शीर्ष स्थान में अलग-अलग पहचानी जा सकती है। मध्यजन-स्तर से अन्तस्त्वचा (Dermis or inner layer of the skin), पेशियाँ तथा परिसंचरण और उत्सर्जन के अंग बनते हैं। अन्तःजन-स्तर से पाचक क्षेत्र की दीवार, श्वास-नली (Trachea), श्वासनली की शाखाएँ (Bronchia), यूस्टेशियन नाल (Eustachian Tube), फेफड़े, यकृत्, अग्न्याशय, लार-ग्रन्थियाँ, थाइराइड-ग्रन्थि और थाइमस की उत्पत्ति होती है।

यद्यपि इस अवस्था में भ्रूण की आकृति स्पष्टरूप से मनुष्य की तरह होती है, पर उसके अंगों का अनुपात प्रौढ़ के अंगों के अनुपात से इतना भिन्न होता हैं कि भ्रूण को 'प्रौढ़ का लघु रूप' (Miniature adult) नहीं कहा जा सकता। उसका सिर बहुत बड़ा होता है। हाथ-पैर बहुत ही छोटे होते हैं। आँखों की पलकें त्वचा में पड़ी सिकुड़नों की तरह दिखलाई पड़ती हैं।

कान सिर की बगल में बहुत नीचे होते हैं। नाक चौड़ी होती है। माथा बड़ा और आगे को निकला हुआ होता है। उसका मुँह खुला होता है। निचला जबड़ा इतना छोटा होता है कि भ्रूण चिबुकहीन (Chinless) जैसा लगता है।

उसके गोल और लम्बे धड़ के अन्दर बीच में प्रायः सभी अंग सन्निहित होते हैं, जो पूरे शरीर के आयतन का दसवाँ भाग घेरे रहता है। उससे पित्त निकलता है। आँतें नाभि-रज्जु के अन्दर घुसी होती हैं। महाप्राचीर (Diaphragm) छाती को उदरगुहा से अलग करती है। जननांग इतने विशिष्टीकृत होते हैं कि उनको शल्यकर्म द्वारा निकालकर भ्रूण के लिंग को पहचाना जा सकता है। उसकी बाहों में कोहनियाँ और टाँगों में घुटने होते हैं। हाथ-पैर की उँगलियाँ झिल्लियों से जुड़ी होती हैं। एक पूँछ भी होती हैं, जो इस अवस्था में अधिकतम विकास को प्राप्त होती है। लेकिन फिर वह धीरे-धीरे सिकुड़ने लगती है। इस समय तक शरीर की अधिकांश माँसपेशियों का निर्माण हो चुका होता है। बाहों और टाँगों की पेशियाँ किसी हद तक काम करने योग्य हो जाती हैं। रीढ़ की हड्डी, पसलियाँ और हाथ-पैरों की हड्डियाँ उपास्थि से निर्मित होती हैं। उपास्थि के चारो ओर कठोर हड्डी होती है, जो समय के बीतने के साथ सतह के अधिकाधिक समीप फैलती रहती हैं और धीरे-धीरे उपास्थि का स्थान ले लेती है।

इस अवस्था में यद्यपि भ्रूण विकास की महत्त्वपूर्ण सीमा पार कर लेता है। फिर भी वह इतना पुष्ट नहीं हो पाता कि आन्तरिक एवं बाह्य आघातों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से पूरी तौर से अपनी रक्षा कर सके। इस अवस्था की तीन महत्त्वपूर्ण आपात स्थितियाँ मानी जाती है—गर्भस्राव (Miscarriage), गर्भपात (Abortion) और विकासात्मक अनियमितताएँ (Developmental irregularities)। इनका वर्णन आगे यथा-स्थान किया जायेगा।

गर्भावस्था
(Foetal Period)

दूसरे मास के अन्त से लेकर जन्म लेने के पूर्व तक की अवधि को गर्भावस्था का समय (The period of the fetus) माना गया है। जन्म-पूर्व अवस्थाओं के उपविभाजनों में यद्यपि यह अवस्था सबसे लम्बी पर महत्त्व की दृष्टि से सबसे कम महत्त्व की होती है। इस अवस्था में कोई नया अंग नहीं बनता। जो अब तक बन चुके हैं उन्हीं के वास्तविक या आपेक्षिक आकार में परिवर्तन होता है। यद्यपि इस अवस्था में पिछली अवस्था की तुलना में कहीं अधिक वृद्धि और विकास होता है, परन्तु उसकी गति मन्द होती है।

इस अवधि में शरीर की लम्बाई बढ़कर लगभग सात गुनी हो जाती है। दूसरे मास के अन्त में जिस भ्रूण की लम्बाई मात्र २५ मिलीमीटर और भार लगभग २० ग्राम था वह जन्म होने के समय तक ५० सेन्टीमीटर लम्बा और २½ से ३ किलोग्राम तक भारी हो जाता है। सिर और चेहरे की आकृति पहले की अपेक्षा बहुत बदल जाती है। जो सिर इस अवस्था के आरम्भ में अनुपात की दृष्टि से सारे शरीर की लम्बाई का एक-तिहाई होता है, वह छठे मास में एक-चौथाई और जन्म के समय तक उससे भी कुछ कम हो जाता है। चेहरा अपेक्षाकृत कुछ अधिक चौड़ा हो जाता है। नाक, मुँह और कण्ठ-नली में अनेकानेक प्रकार के परिवर्तन होने लगते हैं। दातों के लिए गर्त
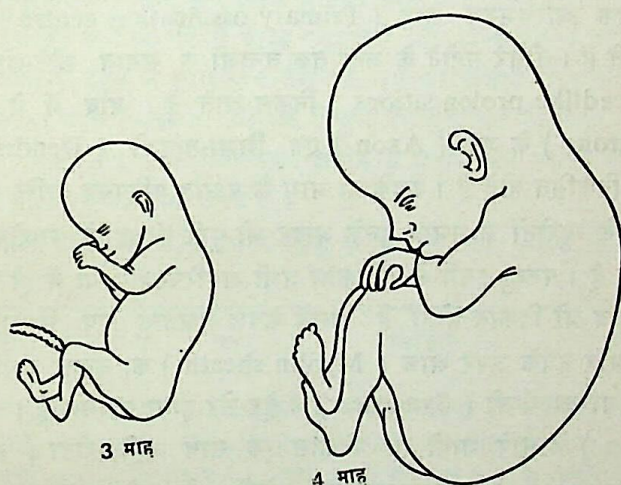
चित्र ५—भ्रूण का क्रमिक विकास

(Sockets) बनने लगते हैं। जो त्वचा शुरू में झुर्रीदार थी, वह धीरे-धीरे समतल एवं मुलायम होती जाती है। कपाल पर के बाल छोटे, हल्के रंग के और प्रायः कम होते हैं। शरीर के अधिकांश भागों पर ऊन-जैसे कोमल बाल होते हैं, जिन्हें गर्भ-लोम (Lanugo) कहते हैं। इनमें से अधिकांश जन्म के बाद स्वतः गिर जाते हैं।

धड़ की भी तीव्र गति से वृद्धि होती है। यह वृद्धि सात गुने से नौ गुने तक होती है। गर्भ के तीसरे महीने से पहले भुजाएँ टाँगों से लम्बी होती हैं, बाद में टाँगे भुजाओं से लम्बी हो जाती हैं। पूर्ण गर्भावस्था में भुजाओं और हाथों दोनों की लम्बाई आठ गुनी बढ़ जाती है। चौथे मास में पैरों के अंगूठों और अंगुलियों के चिह्न भी झलकने लगते हैं। गर्भावस्था के अन्तिम भाग में धीरे-धीरे अंगूठों और अंगुलियों के नाखून भी निकल आते हैं।

तीसरे महीने के अन्त तक आन्तरिक अंग भी भली-प्रकार विकसित हो जाते हैं। कुछ में उनकी क्रियाएँ भी प्रकट होने लगती हैं। पाँचवें महीने के समाप्त होते-होते विभिन्न आन्तरिक अंग लगभग वही स्थिति ग्रहण कर लेते हैं जो उनके प्रौढ़ शरीर के अन्दर होती है। इस अवस्था में थाइमस (Thymus), थाइराइड (Thyroid) और एड्रिनल (Adrenal) ग्रन्थियों के आपेक्षिक भार में भी परिवर्तन होते हैं। चौथे मास में एड्रिनल ग्रन्थियाँ अपेक्षाकृत सबसे बड़े आकार की होती हैं। थाइराइड अपरिपक्व होती है। थाइमस का बढ़ना धीरे-धीरे आरम्भ होता है। प्रसव के बाद थाइमस का भार सबसे अधिक होता है। चौथे महीने के समाप्त होने के पूर्व ही अधिकांश प्रारम्भिक अस्थिभवन केन्द्र (Primary ossification centre) पैदा हो चुके होते हैं। तीसरे महीने के अन्त तक तन्तुओं के समान छोटे-छोटे प्रवर्ध (Threadlike prolongations) निकल आते हैं। वाद में ये न्यूरोन्स (Neurons) के अक्ष (Axon) एवं शिखा-तन्तुओं (Dendrites) के रूप में विकसित होते हैं। इसके दो मास के पश्चात् परिपक्व व्यक्ति में पाये जाने वाले न्यूरोनों के समान इनके अन्दर भी पूरी संख्या में न्यूरोन उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु इनमें से अधिकांश अभी अपरिपक्वावस्था में ही होते हैं। इसके बाद जो विकास होता है उसमें केवल अक्षतन्तु एवं शिखातन्तु का प्रसार और उनके ऊपर खोल (Myolin sheath) का बनना तथा स्नायु-संधियों या साइनेप्सों (Synapses) में हेर-फेर होना शामिल है। मस्तिष्क (Brain) के सारे भागों का विकास एक साथ नहीं होता। गति-क्षेत्रों (Motor areas) का विकास अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा वहुत पहले हो जाता है।

ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) में से अधिकांश के ढाँचों के महत्त्वपूर्ण भागों का विकास इसी अवस्था में हो जाता है, पर उनमें सक्रियता कब आती है, कैसे आती है, इसका पता लगाना एक कठिन कार्य है। गर्भाशय के अन्दर गर्भ जिस हालत में रहता है, उसमें संवेदी कोशिकाओं (Sensory neurons) का उद्दीपन असम्भव प्रतीत होता है।

इस समय तक गर्भ की पेशियाँ भी भलीभाँति विकसित हो चुकी होती हैं। तीसरे माह तक उसकी बाँहों और टाँगों में स्वतः स्फूर्त गतियाँ होने लगती हैं। मात्रा और प्रकार दोनों ही दृष्टियों से विभिन्न गर्भों की सक्रियता में वहुत अन्तर पाया जाता है। छठे मास से नवें मास तक गर्भ की गति की मात्रा वहुत वढ़ जाती है। प्रसव के कुछ दिन पहले गर्भ के सिर पर दवाव बढ़

जाने से उसकी गति में कुछ कमी आ जाती है। उल्वकोश गर्भ के शरीर से एकदम भर जाता है जिससे उसे हिलने-डुलने के लिए जगह नहीं मिल पाती।

गर्भ की सक्रियता के दो अलग-अलग प्रकार देखे जाते हैं—

(१) विशिष्ट प्रतिवर्त (Specific reflexes)

(२) व्यापक गतियाँ या सामूहिक सक्रियता (Generalized movements of mass activity) जिसमें शरीर का अधिकांश भाग सम्मिलित रहता है।

बाह्य उद्दीपनों की अनुक्रिया के रूप में व्यापक गतियाँ तीसरे मास में ही दिखलाई पड़ने लगती हैं। इसका कारण तंत्रिकाओं और पेशियों का अपूर्ण विकास होता है। बाद में व्यापक गतियाँ स्वतः भी प्रकट होने लगती हैं। उन्हें उभारने के लिए किसी बाह्य उद्दीपन की आवश्यकता नहीं पड़ती। गर्भावस्था के बढ़ने के साथ-साथ जैसे-जैसे गर्भ की पेशियों और तन्त्रिकाओं में परिपक्वता आने लगती है, व्यापक क्रियाएँ विशिष्टीकृत क्रियाओं के रूप में बदलती जाती हैं। इसके फलस्वरूप शरीर के प्रत्येक अंग स्वतंत्र होकर हिल-डुल सकने में समर्थ होने लगते हैं।

नीचे की तालिका में गर्भस्थ-शिशु के विकास को संक्षेप में देखा जा सकता है—

अवस्था	लम्बाई	भार	निर्मित अंग
१ सप्ताह	१/१० मि.मी.	१·२५ ग्राम	डिम्ववाहिनी से चलकर गर्भाशय में
४ सप्ताह	२·५ ,,	१·५० ग्राम	आकर स्थापित होना।
५ सप्ताह	३·० ,,	२ से २·५० ग्राम	अंगों की रूपरेखा के संकेत।
६ सप्ताह	११ ,,	३ से ५ ग्राम तक	हाथ-पैर की अंगुलियों का ढाँचा।
७-८ ,,	२५ ,,	४ से २० ग्राम तक	गर्दन, नथुने, नेत्र, पपनी के चिह्न तथा लिंग-भेद का संकेत।
३ मास	१० से.मी.	१५० ग्राम	सिर-वृद्धि, गर्दन की लम्बाई, पपनी तैयार किन्तु छठे मास तक के लिए बन्द लिंग-भेद स्पष्ट।
४ मास	२२ ,,	२४० ग्राम	केश जमना आरम्भ
५ मास	३० ,,	४८० ग्राम	केश-वृद्धि
६ मास	३३ ,,	९५० ग्राम	सारे शरीर पर सूक्ष्मकेशों का उगना
७ मास	४० ,,	१४३० ग्राम	आँखें खुली, अण्ड-ग्रन्थियों का अण्ड-कोषों में उतरना।
८ मास	४५ ,,	१९०० ग्राम	लोमों का शरीरपर लुप्त होना प्रारम्भ चर्बी का बढ़ना
९ मास	५० ,,	२४०० से ३००० तक	सूक्ष्म केश लुप्तप्राय

अध्याय ४

प्रसव के प्रकार और उनका बालक पर प्रभाव

(Types of Birth and Their Effect on the Child)

प्रसव या जन्म लेना बालक के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं कठिनतम परीक्षा की घड़ी होती है। नव महीने के विकसित बालक का पतली-संकरी मातृ-योनि से निकलकर बाहर आना बड़े ही संकट का समय होता है। इसके लिए स्वयं बालक और उसकी माता को जितना घोर परिश्रम करना पड़ता है, जितना कष्ट सहना पड़ता है, उसे वे भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। जेफकोएट (Jeffcoate) के शब्दों में—'लगभग चार इंच की मातृ-योनि जन्म-नलिका से गुजरना किसी भी व्यक्ति की जीवन-यात्रा की सबसे अधिक संकटकालीन एवं खतरनाक घड़ी होती है।' श्वार्ट्ज़ (Schwartz) ने संकटकालीन घड़ी के महत्त्व पर जोर देते हुए कहा है—'जन्म विना किसी अपवाद के एक ऐसी निर्मम प्रक्रिया है जो बालक के जीवन और स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा कर देती है।'

सामान्य प्रसव में भी बालक को कम परेशानी नहीं होती। जन्म के वाद उसके भार का एकाएक घट जाना, श्वास-प्रश्वास की कठिनाई और हृदय-स्पन्दन की अनियमितता इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। जन्म के बाद बालक को सामान्य स्थिति में आने में समय लगता है। कठिन-प्रसव के प्रभाव और भी दूरगामी होते हैं। ये वालक के जन्मोत्तरकालीन अभियोजन को और भी कठिन वना देते हैं। सामान्य प्रसव से जन्मे वालकों की अपेक्षा उन्हें अपने विसंगठित व्यवहार को संगठित रूप देने में कहीं अधिक समय लगता है।

प्रसव के प्रकार

(Types of Birth)

प्रसव निम्न पाँच प्रकार का होता है —

(१) सामान्य या स्वतःस्फूर्त (Normal or Spontaneous)— इसमें गर्भ में बालक की स्थिति (सर नीचे की ओर) और उसका आकार (Size) ऐसा होता है जिससे वह सामान्य तरीके से स्वतः गर्भाशय के वाहर आ जाता है। इसमें माता को भी अपेक्षाकृत कम कष्ट होता है।
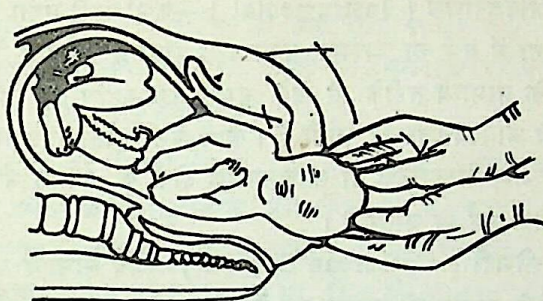
चित्र ६—सामान्य प्रसव

(२) स्फिक् (Breech)—इसमें बच्चे का सर ऊपर होता है और नितम्ब नीचे की ओर। प्रसव के समय पैर और नितम्ब पहले बाहर आते हैं, सर बाद को। इस प्रकार के प्रसव में माता और बालक दोनों को अधिक कष्ट झेलना पड़ता है। कभी-कभी उपकरणों के प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ जाती है।
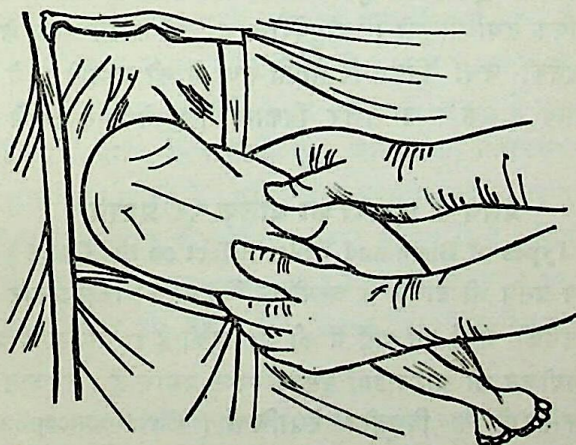
चित्र ७—स्फिक् प्रसव

(३) अनुप्रस्थ (Transverse)—इसमें गर्भाशय में गर्भ की स्थिति आड़ी-तिरछी होती है। अगर प्रसव के पूर्व गर्भ को सामान्य स्थिति में न लाया जा सका तो इसमें भी माता को संज्ञाशून्य कर उपकरणों के प्रयोग के बिना प्रसव कराना असंभव होता है। इसमें बालक और माता दोनों को बहुत कष्ट झेलना पड़ता है।

(४) **औपकरणिक** (Instrumental)—कभी-कभी माता के प्रजनन-अंगों की तुलना में गर्भ का आकार बहुत बड़ा होता है या गर्भ ऐसी स्थिति में रहता है कि सामान्य तरीके से उसे बाहर नहीं लाया जा सकता, तब उपकरणों की आवश्यकता पड़ जाती है। कभी-कभी माता के प्रजनन-पथ की संकीर्णता या अन्य आकारिक या संरचनात्मक दोषों के कारण भी उपकरणों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

(५) **सीजरी** (Caesarean Section)—जब सामान्य या औपकरणिक तरीकों से बालक को प्रजनन-पथ से बाहर लाना असम्भव हो जाता है तो माता के पेट और उसी रास्ते गर्भाशय में चीरा लगाकर बालक को बाहर निकाल लिया जाता है। सम्भवतः शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक जुलियस-सीज़र का नायक सीज़र इसी प्रकार उत्पन्न हुआ था, इसीलिए उसका ऐसा नाम पड़ गया।

(६) **अवक्षेपक** (Precipitate)—इसमें एकबारगी झटके के साथ गर्भ माता के प्रजनन-पथ से बाहर आ जाता है। इस प्रकार के प्रसव में सामान्य की अपेक्षा बहुत ही कम समय लगता है।

इन प्रसवों को हम तीन प्रमुख वर्गों में बाँट सकते हैं—सामान्य, कठिन या औपकरणिक तथा सीजरी। आयुर्वेदोक्त मूढ़-गर्भ कठिन प्रसव के अन्तर्गत आते हैं। इनकी चर्चा विकृत-विज्ञानीय-खण्ड में की जायेगी। ये तीनों ही प्रकार के प्रसव बालक के जन्मोत्तर विकास को अपने-अपने ढंग से प्रभावित करते हैं।

प्रसव के प्रकारों का बालक पर प्रभाव
(Types of Birth and Thier Effect on the Child)

सामान्य प्रसव भी बालक के जन्मोत्तर विकास को किस प्रकार प्रभावित करता है, इसकी चर्चा गत पृष्ठों में की जा चुकी है। बालक के जन्मोत्तर-कालीन अभियोजन की कठिनाइयाँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। नवजात शिशुओं की मस्तिष्क-तरंगों के विद्युतीय रेखाचित्रों (Electroencephalogram records of the brain waves of newborn infants) से भी प्रकट होता है कि सामान्यरूप से जन्मे बालकों के मस्तिष्क में भी कुछ क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि यह बहुत ही सामयिक ढंग का होता है और शीघ्र ही रास्ते पर आ जाता है।

कठिन, औपकरणिक और सीजरी ढंग से जन्मे बालकों की अपेक्षा सामान्य रूप से जन्मे बालक अपने जन्मोत्तरकालीन परिवेश में न केवल शीघ्र प्रत्युत अधिक सफलता के साथ अपने को अभियोजित कर लेते हैं। उनका घटा हुआ

भार बढ़ने लगता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया सामान्य रूप से होने लगती है। वे अपनी माता का स्तन-पान करने लगते हैं। मल-मूत्र त्यागने की क्रिया सामान्यरूप से घटित होने लगती है।

कठिन प्रसव या सीजरी ढंग से जन्मे बालकों को सामान्यरूप से जन्मे बालकों की अपेक्षा जन्मोत्तरकालीन अभियोजन में न केवल अधिक समय लगता है, प्रत्युत अधिक कठिनाई भी होती है। जन्मोत्तरकालीन अभियोजन में उन्हें कितना अधिक समय लगेगा या किस सीमा तक कठिनाई झेलनी पड़ेगी, यह बहुत हद तक उनके द्वारा प्रसवकाल में झेली गयी कठिनाई पर निर्भर करता है।

जिस बालक का प्रसव जितना ही अधिक कठिन या कष्टकर होता है उसको प्रसवकाल में उतनी ही अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। बड़े कद की औरतों की अपेक्षा छोटे कद की औरतों के बच्चों के मर जाने की अधिक सम्भावना रहती है। कठिन प्रसव में उपकरणों की सहायता ली जाय या न ली जाय, हानि पहुँचने की सम्भावना तो रहती ही है। उपकरणों के प्रयोग करने से हानि पहुँचने की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जाती है। प्रजनन-पथ से गुजरते समय उनके मस्तिष्क सम्पीड़ित हो सकते हैं, दब सकते हैं। उसके मस्तिष्क या आसपास के किसी भाग से रक्तस्राव हो सकता है। कोमल हड्डियों पर दवाव पड़ने से वे टूट सकती हैं। स्नायु-केन्द्रों को सामयिक या स्थायी रूप से हानि पहुँच सकती है। ज्ञानेन्द्रियों, विशेषरूप से आँख या कान को चोट पहुँच सकती है। मस्तिष्क में ऑक्सीजन की आपूर्ति में जरा भी बाधा पहुँचने से मस्तिष्क की कोशिकाएँ नष्ट हो सकती हैं। क्रियावाही प्रतिक्रियाओं का विकास अवरुद्ध हो सकता है। बालक पक्षाघात या मस्तिष्कीय-अंगघात का शिकार हो सकता है। उसका मानसिक-विकास अवरुद्ध हो सकता है।

सीजरी बालक सामान्य या कठिन-प्रसव से जन्मे बालकों की अपेक्षा सबसे अधिक शान्त, कम रोनेवाले, सुस्त और निष्क्रिय होते हैं। उन्हें श्वास-प्रश्वास में प्रायः कठिनाई होती है। इसीलिए नवजात शिशुओं की मृत्यु में सामान्य या कठिन प्रसवों से उत्पन्न बालकों की अपेक्षा इनका अनुपात अधिक होता है। यदि श्वास-प्रश्वास की क्रिया ठीक से चलने लगे तो जन्मोत्तरकालीन अभियोजन में इन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती।

अवक्षेपक प्रसव के फलस्वरूप जन्मे बच्चे सामान्यरूप से जन्मे बच्चों की अपेक्षा बहुत ही कम समय में गर्भ से बाहर आ जाते हैं। बाहर के वायु-

मण्डल का एकबारगी प्रभाव पड़ने के कारण उनका श्वसन-संस्थान ठीक से अभियोजित नहीं कर पाता। उन्हें श्वास लेना आरम्भ करने में कठिनाई होती है। फलतः उनके मस्तिष्क की कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त हो जाने की सम्भावना रहती है।

प्रसवकालीन कठिनाइयों से उत्पन्न प्रतिकूल प्रभाव प्रायः जन्म के बाद तुरन्त प्रकट होने लगते हैं। पर कभी-कभी वे कई-कई महीनों या वर्षों के बाद प्रकट होते हैं। ये प्रभाव, वे जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, उनकी बौद्धिक क्षमताओं या व्यक्तित्व की विशेषताओं में परिलक्षित होने लगते हैं। सामान्यरूप से जन्मे पर कठिन-प्रसवों से पैदा हुए किशोर बालकों की बौद्धिक क्षमताओं और व्यक्तित्व की विशेषताओं की माप द्वारा तुलना करने पर ये अन्तर स्पष्ट झलकने लगते हैं। कठिन या औपकरणिक प्रसवों से उत्पन्न बालकों में सक्रियता की कमी पायी जाती है। वे प्रायः बेचैन, चिन्तित और चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं। अपने मन को जल्दी एकाग्र नहीं कर सकते। वाणी के दोष (मुख्यरूप से हकलाना) उनमें अधिक पाये जाते हैं। उनकी बौद्धिक क्षमताएँ भी प्रायः सामान्यरूप से जन्मे बालकों की अपेक्षा न्यून कोटि की होती है।

प्रसव की सुगमता हेतु माता को दी जानेवाली औषधियाँ और बालक पर उनका प्रभाव

(Medication to Make Child-birth Less Painful & Its Effect on the Child)

कुछ समय पूर्व तक ऐसा माना जाता था कि प्रसव को कम कष्टकर बनाने के लिए प्रसवकाल में माता को दी जानेवाली मादक, वेदनाशामक या संज्ञाहर औषधियों का गर्भस्थ बालक पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि कुछ पड़ता भी है तो उनका प्रभाव जिस प्रकार माता पर से शीघ्र दूर हो जाता है उसी प्रकार बालक पर से भी दूर हो जाता होगा। लेकिन ऐसा नहीं होता। आज इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं कि इन औषधियों का बालक पर स्थायी एवं दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

प्रसवकाल में माता को जितनी अधिक मात्रा में संज्ञाहर औषधियाँ दी जातीं हैं, बालक को अपने जन्मोत्तर अभियोजन में उतनी ही अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सामान्यरूप से जन्मे बालकों की अपेक्षा उन्हें माता को दी गयी संज्ञाहर औषधियों की मात्रा के अनुपात में ही जन्मोत्तर अभियोजन में अधिक समय लगता है। वे अपेक्षाकृत कम सक्रिय और ऊँघते-से रहते हैं। उनका व्यवहार अधिक विसंगठित होता है।

प्रसूता को कौन-सी औषधि, किस ढंग से, कितनी मात्रा में और किस काल में दी गयी—इन सभी बातों का बालक के जन्मोत्तर विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन माताओं को जितनी अधिक मात्रा में औषधि दी जाती है उनके द्वारा प्रसूत बच्चों के भार में जन्म के बाद उतनी ही अधिक मात्रा में कमी आती है और उसे फिर से प्राप्त करने में उन्हें उतना ही अधिक समय लगता है।

इन खतरों से बालक को बचाने के लिए आजकल अधिकांश चिकित्सक प्रसूताओं को सामान्य प्रसव के लिए ही तैयार करते हैं। वे उन्हें ऐसे सामान्य व्यायाम करने की सलाह देते हैं जिनसे प्रसव के समय उपयोग में आनेवाली मांसपेशियों को बल मिलता है। इसके फलस्वरूप प्रसवकाल में प्रसूता को न केवल कम पीड़ा होती है, प्रत्युत उसे औषधियों की भी कम से कम आवश्यकता पड़ती है।

अध्याय ५

अपक्व एवं अतिपक्व बालक

(Pre-mature and Post-mature Child)

माता के गर्भ में बालक के रहने की सामान्य अवधि २८० दिन या ९ महीने के लगभग मानी जाती है। इस अवधि के पूर्ण हो जाने पर होनेवाले प्रसव को पूर्णकालिक प्रसव (Full time delivery) और समय से पूर्व (Before time) अथवा समय के वाद (After time) होनेवाले प्रसव को अकाल प्रसव कहते हैं।

माता के गर्भ में पूरे नौ महीने तक रहकर पोषण पा लेने वाले बच्चे प्रायः पूर्ण विकसित और स्वस्थ होते हैं। उनका जन्मोत्तर विकास भी सामान्य होता है।

समय के पूर्व जन्मे बच्चे जिन्हें हम अपक्व वालक (Pre-mature or Pre-term) की संज्ञा देते हैं, प्रायः न्यूनरूप से विकसित एवं अस्वस्थ होते हैं। वे समय से जितना ही पूर्व पैदा हो जाते हैं उनका विकास उतना ही कम होता है। सातवें महीने में पैदा होनेवाले बच्चे आठवें महीने में पैदा होनेवाले बच्चे की अपेक्षा निश्चित ही कम विकसित होंगे।

समय के बाद (दसवें, ग्यारहवें या बारहवें महीने में) पैदा होनेवाले बच्चे जिन्हें हम अतिपक्व बालक (Post-mature) की संज्ञा देते हैं, सामान्य बच्चों की अपेक्षा अधिक विकसित होते हैं।

अपक्वता और अतिपक्वता की कसौटी

(Criteria of Pre-maturity and Post-maturity)

(१) बालक के गर्भ में रहने की अवधि (Length of pregnancy)—पहले मात्र समय से पूर्व या समय के बाद पैदा होने को ही अपक्वता अथवा अतिपक्वता की निर्णायक कसौटी माना जाता था। इसकी गणना गर्भस्थापन के ठीक पहले रुके मासिकस्राव के आधार पर की जाती है। लेकिन बहुत-सी स्त्रियाँ जिनका मासिकस्राव नियमित नहीं होता या जो पढ़ी-लिखी नहीं होतीं वे ठीक-ठीक नहीं बतला पातीं कि उनका मासिकस्राव कब रुका। इससे गणना में कठिनाई होती है। कभी-कभी गलत अनुमान भी लग जाते हैं। इसीलिए अब इसे पहले जैसा महत्त्व नहीं दिया जाता।

अब नवजात शिशु की अपक्वता अथवा अतिपक्वता का निर्णय करने में उसके गर्भ में रहने की अवधि की अपेक्षा जन्म के समय के भार, लम्बाई तथा विकासात्मक स्तर को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(२) **जन्म के समय का भार (Birth weight)**—जन्म के समय भारतीय बच्चे का औसत भार लगभग ३ किलोग्राम या ६·५ पाउण्ड होता है। भार की दृष्टि से २·५ किलोग्राम से कम भारवाले बच्चे को अपक्व और ३·५ किलोग्राम से अधिक भारवाले बच्चे को अतिपक्व कहा जाता है।

लेकिन मात्र भार के आधार पर अपक्वता का निर्णय लेते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक का भार उसके वंशानुक्रम, माता के स्वास्थ्य तथा माता के गर्भकालीन पोषण पर भी निर्भर करता है।

(३) **शरीर की लम्बाई (Body length)**—जन्म के समय भारतीय बच्चे की औसत लम्बाई ५० सेन्टीमीटर के लगभग होती है। लड़कों की लम्बाई लड़कियों की लम्बाई से कुछ अधिक होती है। प्राय: ४० सेन्टीमीटर से कम लम्बाई वाले बालक को अपक्व और ५० सेन्टीमीटर से अधिक लम्बाई वाले बालक को अतिपक्व माना जाता है।

भार के समान ही बालक की लम्बाई भी वंशानुगत एवं परिवेशगत दोनों ही प्रकार के कारकों से प्रभावित होती है। कुछ प्रदेशों के लोग लम्बे होते हैं, कुछ के नाटे। प्राय: लम्बे लोगों के बच्चे लम्बे और नाटे लोगों के नाटे होते हैं। इसलिए लम्बाई के आधार पर भी अपक्वता या अतिपक्वता का निर्णय लेते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है।

(४) **विकासात्मक स्तर (Developmental status)**—जन्म के समय बालक के शरीर और तंत्रिका-तंत्र को इस सीमा तक विकसित होना चाहिए कि नाभिनाल के काट दिये जाने के बाद माता के शरीर से अलग हो जाने पर भी वह अपने जीवन को स्वतन्त्ररूप से आरम्भ कर सकने में समर्थ एवं सक्षम हो सके। पैदा होने के बाद स्वतंत्ररूप से साँस ले सके, स्तनपान कर सके। पूर्ण-कालिक और अधिक-कालिक बच्चे इन क्रियाओं का सम्पादन करने में शीघ्र समर्थ हो जाते हैं। समय के पूर्व पैदा हो जानेवाले बालक प्राय: इन क्रियाओं के प्रति समायोजन में कठिनाई अनुभव करते हैं।

इसीलिए पैदा होने के बाद जो बालक जन्मोत्तर समायोजन में यथा-समय समर्थ हो जाते हैं उन्हें पूर्ण-कालिक, जो शीघ्र समर्थ नहीं हो पाते उन्हें अपक्व तथा सामान्य की अपेक्षा पहले समर्थ हो जाते हैं उन्हें अतिपक्व माना जाता है।

इन चारों कसौटियों में आज दिन भार वाली कसौटी को ही अधिक प्रधानता दी जाती है और अपक्व बालकों को प्राय: न्यून जन्मभारवाला बालक

(Low birth weight) कहा जाता है। कुछ वच्चे पैदा तो समय पर होते हैं पर कुपोषण के कारण उनका समुचित विकास नहीं हो पाता। ऐसे बालकों को अपूर्ण विकसित बालक (Small for date) कहते हैं।

अपक्व बालकों की विशेषताएँ
(Characteristics of Pre-mature Children)

१. अपक्व बालक सामान्य बालकों की अपेक्षा कम विकसित होते हैं।

२. उनका भार २·५ किलोग्राम से कम होता है।

३. उनकी लम्वाई ४५ सेन्टीमीटर से कम होती है।

४. वे प्रायः समय से पूर्व (३७ सप्ताह की आयु से कम में ही) पैदा हो जाते हैं।

५. उनकी त्वचा पतली, लाल और सुकुमार होती है।

६. शरीर में केन्द्र से दूर के भाग प्रायः नीलाभ होते हैं।

७. वे प्रायः निष्क्रिय होते हैं। जोर से रो-चिल्ला नहीं सकते।

८. साँस लेने, स्तनपान करने में कठिनाई होती है।

९. उनकी प्रतिक्षेप-क्रियाएँ (Reflexes) ठीक से विकसित नहीं होतीं।

१०. उनके शरीर की ताप-नियंत्रक प्रणाली प्रायः कमजोर होती है। सर्दी-गर्मी के प्रति वे प्रायः स्वतः समायोजित करने में असमर्थ होते हैं।

११. जन्मोत्तर समायोजन में उन्हें सामान्य बच्चों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। उन्हें अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

१२. संक्रमण एवं संक्रामक रोगों के प्रति वे अधिक संवेदनशील होते हैं।

१३. उनमें प्रायः निम्न विकृतियों के होने की सम्भावना अधिक रहती हैं—

१. अतिसार	२. वमन
३. सर्दी-खाँसी	४. बिलीरूबिन की कमी
५. रक्त में शर्करा की कमी	६. कैल्शियम की कमी
७. प्राथ्रोम्बिन की कमी	८. एल्ब्युमिन की कमी
९. आक्षेप	१०. अपस्मार
११. अंगघात	१२. मानसिक मन्दन

१४. उनमें बौद्धिक क्षमताओं की कमी हो सकती है। उनका मानसिक विकास मन्द हो सकता है।

अतिपक्व बालकों की विशेषताएँ
(Characteristics of Post-mature Children)

अतिपक्व बालक साल, दो साल तक सामान्य बालकों की अपेक्षा शारीरिक रूप से अधिक विकसित मालूम हो सकते हैं। उनमें अपेक्षाकृत अधिक

सक्रियता एवं अधिक बौद्धिक क्षमताओं की अपेक्षा की जाती है। पर प्रायः ऐसा होता नहीं। वे आकार में भले ही कुछ बड़े दिखलाई दें पर उनके मस्तिष्क, तन्त्रिका-तन्त्र, अस्थियाँ तथा पेशियाँ उतने विकसित नहीं होते।

अकाल प्रसव के कारण
(Causes of Pre-mature Delivery)

अकाल प्रसव क्यों होते हैं ? क्यों कुछ बालक समय के पूर्व ही और कुछ समय के बाद पैदा होते हैं ? इसका अभी तक कोई निश्चित कारण ज्ञात नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में अब तक की गयी खोजों से ऐसा ज्ञात होता है कि गर्भाशय में एकाधिक प्रसव का होना (Multiple birth) मानसिक तनाव (Mental tension) तथा अन्तःस्रावी-ग्रन्थियों के स्रावों में असंतुलन (Glandular imbalance) इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। आगे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) **एकाधिक प्रसव** (Multiple birth)—अभी तक ऐसा देखा गया है कि माता के गर्भ में अकेले पलने वाले बच्चों की अपेक्षा बहुसंख्यक बच्चों में अपक्वता का प्रतिशत अधिक पाया जाता है। गर्भ में सामान्यतया एक बच्चे के पलने के लिए पर्याप्त जगह होती है। अकेले होने की स्थिति में उसे विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिलता है। एक से अधिक होने की दशा में उस एक की ही जगह में सभी विकसित होते हैं। ऐसी हालत में बच्चों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उन्हें विकसित होने के लिए उतना ही कम स्थान मिल पायेगा। गर्भाशय की दीवारों के फैलने की भी एक सीमा होती है। उसके बाद ये विवश होकर बच्चों को समय के पूर्व ही बाहर निष्कासित कर देती हैं।

(२) **संवेगात्मक तनाव** (Emotional tension)—माता के प्रतिकूल संवेगों (भय, क्रोध, शोक, द्वेष आदि) तथा संवेगात्मक तनावों का भी गर्भस्थ शिशु पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जो माता दुश्चिन्ता (Neurotic anxiety), विषाद (Depression) आदि मनोवेगों के कारण जितना ही अधिक और जितने अधिक समय तक लगातार तनावग्रस्त रहती हैं, उसमें कालपूर्व प्रसव की सम्भावना उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। गर्भ में पल रहे बालक के प्रति प्रतिकूल अभिवृत्ति (Unfavourable attitude) तथा वात्सल्य का अभाव भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

(३) **ग्रन्थीय असंतुलन** (Glandular imbalance)—मानसिक तनावों और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के बीच असंतुलन का गहरा सम्बन्ध है। दोनों ही एक-दूसरे को बहुत दूरी तक प्रभावित करते हैं। मानसिक तनाव

ग्रन्थियों के असंतुलन को और ग्रन्थीय-असंतुलन मानसिक तनावों को बढ़ा देते हैं। लम्बे अर्से तक तनावग्रस्त रहने वाली माताओं में निश्चित रूप से किसी-न-किसी प्रकार का साधारण या गम्भीर ग्रन्थीय-असंतुलन पाया जाता है। उनका यह ग्रन्थीय-असंतुलन प्रजनन से सम्बन्धित ग्रन्थियों को भी प्रभावित करता है। फलतः गर्भाशय की दीवारों में संकोच होने लगता है। यह अनावश्यक एवं अकाल में उत्पन्न संकोच गर्भाशय में स्थित गर्भ को असमय में ही गर्भ से बाहर फेंक देता है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी कारक हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अकाल प्रसव में सहायक होते हैं। नीचे संक्षेप में इनकी विवेचना प्रस्तुत की जा रही है—

(४) **गर्भपात** (Termination of pregnancy)—जिन स्त्रियों में पहले कभी, विशेषकर गर्भ की उन्नत या विकसित अवस्था में, गर्भपात कराया गया हो उनमें भी अकाल-प्रसव की सम्भावना बढ़ जाती है।

(५) **माता की बीमारी** (Maternal illness)—कुछ बीमारियाँ या विकृतियाँ जो प्रजनन-अंगों को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करती या उनपर दबाव डालती हैं, अकाल-प्रसव का कारण बन जाती हैं। इनमें प्रमुख हैं—पूर्व-गर्भाक्षेपक (Pre-eclampsia), सम्मुखी अपरा (Praevia Placenta) या दुर्घटनाजन्य प्रसवपूर्व रक्तस्राव (Antepartum haemorrhage)। इनके अतिरिक्त जटिल संक्रामक रोग, अन्तर्गर्भाशय संक्रमण (Intra-uterine infection), अपक्वावस्था में श्लैश्मिक कलाओं (झिल्लियों) का फट जाना (Premature rupture of membrane), रक्ताल्पता (Anaemia) तथा कुपोषण (Malnutrition) भी इस मामले में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

(६) **माता की उम्र** (Maternal age)—बीस साल की उम्र तक अकाल प्रसव की सम्भावना कम-से-कम रहती है। इसके बाद उम्र जितनी ही बढ़ती जाती है, अकाल प्रसव की सम्भावना भी बढ़ती जाती है।

(७) **मात्रा की लम्बाई** (Maternal height)—प्रायः देखा गया है कि माता की लम्बाई या कद अथवा भार जितना ही कम होता है, उनमें अकाल प्रसव की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है।

(८) **सामाजिक वर्ग** (Social class)–निम्न-मध्यम वर्ग या आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग की स्त्रियों में अकाल प्रसव के केस अधिक पाये जाते हैं। इसका कारण सम्भवतः उनका कुपोषण, अज्ञान, गर्भावस्था तथा प्रसवोत्तरकाल में उचित देख-रेख का अभाव, मद्यपान या धूम्रपान आदि की आदतें

हो सकती हैं। अर्थाभाव के कारण निम्न वर्ग की स्त्रियाँ गर्भावस्था में भी रोजी-रोटी कमाने के लिए देर तक कठिन परिश्रम करते रहने के लिए विवश होती हैं। इसका भी उनके स्वास्थ्य और गर्भस्थ शिशु पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

अवैध सम्वन्धों से ठहरे गर्भ में भी उचित देख-रेख के अभाव में अकाल प्रसव की सम्भावना अधिक होती है।

अपक्व बालक की परिचर्या
(Care of Premature Children)

अपक्व वालकों की विशेष देख-रेख की आवश्यकता होती है। ऐसी देख-रेख प्रायः अस्पतालों में ही सम्भव है। लेकिन हमारे देश में, मात्र कुछ इने-गिने बड़े नगरों को छोड़कर, न तो अस्पताल हैं और न अस्पतालों में बच्चों के लिए ऐसे वार्ड या नर्सरियाँ (Nurseries), जहाँ अपक्व बालकों की परिचर्या का समुचित प्रवन्ध हो। पाठकों की जानकारी के लिए मात्र कुछ महत्त्वपूर्ण बातें नीचे दी जा रही हैं—

अपक्व वच्चों की ताप-नियंत्रक-प्रणाली (Temperature control) बहुत ही कमजोर होती है। दूसरे उनमें चर्बी या वसा की भी कमी होती है। इसीलिए वे सामान्य वच्चों के समान अपने शरीर की सर्दी-गर्मी को बाहर की सर्दी-गर्मी के अनुरूप शीघ्र ढाल नहीं पाते। शीघ्र ही वे ऋतु-परिवर्तन की विकृतियों के शिकार हो जाते हैं। जाड़ों के मौसम में उन्हें ऊनी कपड़ों-तौलियों आदि में लपेट कर पर्याप्त गरम रखने की आवश्यकता होती है। आवश्यक होने पर गर्म पानी की बोतल को तौलिये में लपेट कर उसके नीचे और अगल-बगल रखा जा सकता है। वोतलों को रखते समय इस बात को देख लेना जरूरी है कि उनकी गर्मी बालक के लिए सह्य हो। बड़े-बड़े अस्पतालों में अपक्व वालकों को रखने के लिए ऊष्मायित या इन्क्यूबेटर (Incubators) होते हैं। ये न केवल बच्चों के ताप का नियंत्रण करते हैं बल्कि संक्रमण से उनकी रक्षा भी करते हैं।

जिस प्रकार जाड़ों में अपक्व बालकों के शरीर जल्दी ठण्डे हो जाते हैं, उसी प्रकार गर्मियों में उनके शरीर का ताप भी जल्दी बढ़ जाता है। इसी-लिए गर्मियों में जिस कमरे में उसे रखा जाये उसका ठण्डा रहना जरूरी है। कमरा एयर-कण्डीशण्ड हो या वहाँ कूलर हो तो सबसे अच्छा, अन्यथा दरवाजों-खिड़कियों पर मोटे-मोटे पर्दों को टाँगकर तेज गर्म हवा और सूरज की गर्मी को उसके अन्दर प्रवेश करने से रोकना चाहिए।

अपक्व बालकों को साँस लेने में कठिनाई होती है। कुछ देर तो उनकी साँस तेज-तेज चलती है फिर रुक-सी जाती है। कुछ क्षणों के बाद पहले जैसी चलने लगती है। ऐसे में अभिभावकों का भयभीत होना स्वाभाविक है। जब तक बच्चे का शरीर रक्ताभ या हल्का लाल रहे, समझ लेना चाहिए कि उसमें श्वास-प्रश्वास की क्रिया ठीक ढंग से हो रही है परन्तु यदि उसका शरीर नीला पड़ने लगे या गले से घुरघुराहट की आवाज आने लगे तो तत्काल चिकित्सक की सहायता आवश्यक हो जाती है। यदि वह अपनी नाक तथा गले के स्रावों को बाहर निकाल पाने में भी असमर्थ होता है तो ऐसे में उसकी खाट के सिरहाने को पाँच-छः इंच ऊपर उठा देना चाहिए। उसे करवट लिटाना चाहिए, इससे स्रावों को स्वतः निष्कासित होने में सहायता मिलेगी और श्वास-प्रश्वास की क्रिया में बाधा नहीं पड़ेगी।

अपक्व बालकों में चूसने का प्रतिवर्त (Sucking reflex) भी ठीक से विकसित नहीं होता। उसे स्तनपान कराना एक समस्या होती है। कुछ बालक अगर चूचक या निपल (Nipple) बहुत ही मुलायम हो तो उसे चूस सकते हैं। जो नहीं चूस सकें उनके मुँह में बहुत ही थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ड्रापर से दूध डालना चाहिए। जो बालक न तो चूस सकते हैं और न ड्रापर से दूध ले सकते हैं, उनके पेट में रबर की नलिका द्वारा दूध पहुँचाना (Tube feeding) आवश्यक हो जाता है। यह काम योग्य चिकित्सक की देख-रेख में या अस्पतालों में ही सम्भव है। चूँकि अपक्व बालक का पेट छोटा होता है इसलिए उसमें थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार दूध पहुँचाने की आवश्यकता होती है।

दूध पिलाते समय कभी-कभी दूध उनके गले में अटक जाता है जिससे खाँसी आने लगती है और शरीर नीला पड़ने लगता है। अतः उन्हें दूध बहुत ही सावधानी से और धीरे-धीरे पिलाना चाहिए। यदि ड्रापर का प्रयोग किया जा रहा है तो उसे हर बार पिलाने के पूर्व गर्म पानी से साफ कर लेना चाहिए।

अपक्व बालकों के शरीर को दूध के अतिरिक्त विटामिन 'ए' 'सी' और 'डी' की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता होती है। लौह और चूने की आवश्यकता होती है। इनके योगों को ड्राप्स की शक्ल में चिकित्सक के परामर्श के अनुसार देना चाहिए।

अपक्व बालक संक्रमण के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं। उनकी संक्रमण से भली प्रकार रक्षा की जानी चाहिए। उन्हें बार-बार नहीं छूना

चाहिए। छूने के पहले हाथों को साबुन से भली प्रकार साफ कर लेना चाहिए। जहाँ वह रहे बिना जरूरत लोगों को वहाँ नहीं जाने देना चाहिए। जिन लोगों को सर्दी या इसी प्रकार के अन्य संक्रमण हों उन्हें तो उसके पास कतई नहीं जाने देना चाहिए।

अगर बालक की शारीरिक गतियों या सक्रियता में कमी मालूम हो, उसे अतिसार या वमन आदि होने लगे तो तुरन्त चिकित्सीय सहायता लेनी चाहिए।

जब बच्चे का भार २·५ किलोग्राम या ५ पाउण्ड के लगभग हो जाय, वह ठीक से स्तन-पान करने लगे और उसकी श्वसन की क्रिया सामान्यरूप में होने लगे तभी उसे सामान्य या खतरे के बाहर समझना चाहिए।

अध्याय ६

नवजात या जातमात्र

(The Neonate)

नवजातावस्था (Period of the neonate) जन्म के पश्चात् जीवन की अवस्थाओं में सबसे पहली और सबसे छोटी अवस्था है। इसकी अवधि जन्म से लेकर दूसरे सप्ताह के अन्त तक मानी जाती है। आयुर्वेद में इसी को जातमात्र या सद्योजात की संज्ञा दी गई है।

नवजात अवस्था को सामान्यतया दो भागों में बाँटा जाता है—

(१) सद्योजात अवस्था (The period of the portunate)।

(२) नवजात अवस्था (The period of the neonate)।

सद्योजातावस्था की अवधि जन्म से लेकर जब तक बच्चे की नाभिनाल (Umbilical cord) नहीं काट दी जाती, मानी जाती है। इस समय तक बच्चा परजीवी रहता है। नाल के काट दिये जाने के बाद से दूसरे सप्ताह के अन्त तक नवजात अवस्था मानी जाती है। नाल के काट दिये जाने के बाद से ही बच्चा अपना स्वतंत्र जीवन आरम्भ करता है। अब उसे स्वयं बाह्य संसार के सर्वथा नये पर्यावरण के प्रति समायोजन स्थापित करना होता है।

प्रारम्भिक समायोजन

(Early Adjustment)

नवजात का नये पर्यावरण के प्रति समायोजन एक कठिन समस्या होती है। शुरू में उसकी अधिकांश शक्ति इसी में लग जाती है इसलिए इस अवधि में उनका शारीरिक विकास रुक-सा जाता है। कुछ में तो और पीछे चला जाता है। उनका भार कुछ कम हो जाता है। इस समायोजन के पूरा होने की चिकित्सा विज्ञानीय कसौटी (Medical criteria) है नाभिनाल का नाभि से गिर जाना; शरीर की क्रियात्मक कसौटी (Physiological criteria) है बालक द्वारा अपने घटे हुए भार को पुनः प्राप्त कर लेना तथा मनोवैज्ञानिक कसौटी (Psychological criteria) है बालक के व्यवहार में विकासात्मक प्रगति के लक्षणों का उदय होना। अधिकांश नवजात शिशु इस समायोजन को दो सप्ताह या उससे कुछ कम ही समय में पूरा कर लेते हैं। कठिन-प्रसव या अपरिपक्व रूप से जन्मे बच्चों को अपेक्षाकृत कुछ अधिक समय लग जाता है।

पूर्व इसके कि नवजात शिशु अपनी विकासात्मक प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ सके, उसे चार महत्त्वपूर्ण अभियोजन की क्रियाएँ पूरी करनी होती हैं। यदि वह इन्हें शीघ्र पूरा नहीं करता तो उसका जीवन खतरे में पड़ जा सकता है। यह अभियोजन उसे चार प्रमुख क्षेत्रों में करना पड़ता है। आगे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) तापमान में परिवर्तन के प्रति समायोजन (Adjustment to temperature changes)—माता के गर्भाशय में जिस कोश में बच्चा रहता है उसका तापमान सदैव १००° फारेनहाइट के आसपास रहता है। बाहर का तापमान नितान्त भिन्न रहता है। माता के गर्भ से बाहर आ जाने के पश्चात् बालक को इसी बदले हुए तापक्रम में अभियोजित करना होता है।

(२) श्वास-प्रश्वास के प्रति समायोजन (Adjustment to breathing)—बच्चे को जन्म के पहले जीवन के लिए आवश्यक ऑक्सीजन की मात्रा जो अपरा और गर्भनाल के द्वारा प्राप्त हो रही थी, गर्भनाल से अलग हो जाने के पश्चात् अब उसे इसे स्वतः अपने द्वारा अपने पर्यावरण से प्राप्त करना होता है। यह कार्य वह फेफड़े की सहायता से श्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा करता है। फेफड़ों (Lungs) का सर्वप्रथम प्रसार जन्म-रुदन (Birth cry) के साथ आरम्भ होता है। शुरू-शुरू में उसमें श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनियमित और अपूर्ण होती है जो धीरे-धीरे कुछ समय पश्चात् सामान्य हो जाती है।

(३) चूसने और निगलने के प्रति समायोजन (Adjustment to sucking & swallowing)—गर्भावस्था में बालक को पोषण भी माता के रक्त में वर्तमान पोषकतत्त्वों द्वारा, जो अपरा एवं गर्भनाल द्वारा माता से गर्भ में आते हैं, प्राप्त होता था। जन्म के पश्चात् बालक को यह काम भी स्वयं करना होता है। इसके लिए उसे चूसने और निगलने की क्रियाएँ सीखनी पड़ती हैं। जन्म के समय से प्रतिवर्त क्रियाएँ (Reflex activities) उसमें अविकसित अवस्था में पायी जाती है। स्तन-पान उसके लिए एक कठिन समस्या होती है। प्रायः वह भूखा रह जाता है। इसलिए इस बीच न केवल उसका भार कुछ घट जाता है, बल्कि विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। इन क्रियाओं के ठीक से स्थापित और नियमित हो जाने के पश्चात् जब बालक पर्याप्त पोषण प्राप्त करने लगता है, तब न केवल उसका घटा हुआ भार पूरा हो जाता है, प्रत्युत अवरुद्ध वृद्धि और विकास की क्रिया भी पुनः अपनी स्वाभाविक गति से होने लगती है।

(४) उत्सर्जन की क्रिया के प्रति समायोजन (Adjustment to elimination)—जन्म के पूर्व बालक के शरीर में उत्पन्न होने वाले मलों का विसर्जन भी माता के द्वारा होता था। वे अपरा तथा गर्भनाल के द्वारा माता के रक्त में पहुँच वहीं से विसर्जित हो जाते थे। अब यह क्रिया भी बालक को स्वयं करनी होती है। जन्म के कुछ ही समय (मिनटों या घण्टों) के पश्चात् उसके उत्सर्जन सम्बन्धी अंग काम करने लगते हैं।

समायोजन : एक कठिन कार्य
(Adjustment : A Difficult Process)

प्रारम्भिक समायोजन बालक के लिए कितना कठिन होता है, उसे तीन प्रमुख रूपों में लक्षित होते हुए देखा जा सकता है—

(१) भार में कमी, (२) व्यवहार में विसंगठन तथा (३) बाल-मृत्युदर।

(१) भार में कमी (Loss of weight)—जीवन के प्रथम सप्ताह में नवजात का भार जन्म के भार से प्रायः कम हो जाता है। इसका प्रमुख कारण जैसा कि हमने गत पृष्ठों में देखा, पोषण की कमी होती है। चूसने और निगलने के प्रतिवर्तों के ठीक से स्थापित हो जाने के पश्चात् जब उसे पर्याप्त पोषण प्राप्त होने लगता है, उसका भार पुनः बढ़ने लगता है। सामान्यतया दो सप्ताह का होते-होते वह अपना खोया हुआ भार पुनः प्राप्त कर लेता है।

(२) व्यवहार में विसंगठन (Disorganization of behaviour)—जन्म के पश्चात् नवजात के व्यवहार में २-३ दिन तक विसंगठन के स्पष्ट लक्षण देखे जा सकते हैं। यह विसंगठन उसकी श्वास-प्रश्वास एवं नाड़ी की अनियमित गतियों, बार-बार मल-मूत्र-त्याग, घुरघुराहट के साथ साँस लेने, पेट-दर्द, पिये हुये दूध को उलट देने आदि के रूप में परिलक्षित होता है। लगभग एक सप्ताह का होते-होते उसमें ये सारी क्रियाएँ संगठित रूप में होने लगती हैं। नवजात शिशु में विसंगठित व्यवहार के निम्न प्रधान कारण होते हैं—

प्रसवकाल की विषम परीक्षा (Ordeal of birth) में भोगी गयी वेदनाएँ और उस अवधि में अल्परूप में विकसित कपाल के कारण मस्तिष्क पर पड़ा दबाव (Pressure on the brain) तथा अविकसित स्वचालित तंत्रिका-तंत्र (Autonomic nervous system) के कारण शरीर में साम्य स्थिति या धातुसाम्य (Homestasis) को बनाये रखने वाली रच-

नाओं की अपूर्णता। जन्म के पूर्व माता के शरीर का धातुसाम्य गर्भ में भी धातुसाम्य वनाये रखता है। गर्भनाल के कट जाने के वाद यह उत्तरदायित्व भी नवजात को स्वयं वहन करना होता है।

(३) बाल-मृत्युदर (Infant mortality)—समायोजनकालीन कठिनाइयों की गम्भीरता का सवसे वड़ा साक्ष्य है—वालक-मृत्युदर। बाल्यावस्था में मरने वाले वच्चे का एक वड़ा प्रतिशत जन्म के पहले दिन ही काल के कराल गाल में समा जाता है। इसके पश्चात् दूसरे और तीसरे दिन का नम्वर आता है। जन्म से एक महीने के अन्दर मरने वाले वच्चों में से करीव ७५ प्रतिशत प्रसवपूर्व अथवा प्रसवोत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले जिन कारणों का अधिक शिकार होते हैं, वे हैं—अपरिपक्व अथवा अकालप्रसव (Pre-maturity), जन्मजात दौर्वल्य (Congenital debility), प्रसवकालीन आघात (Injury at birth), कुरचनाएँ या रचनागत दोष (Malformations), बालातिसार, सर्दी-जुकाम, न्यूमोनिया, ऑक्सीजन की कमी या प्रसवकाल में माता द्वारा वेदनाशामक औषधियों का अत्यधिक मात्रा में सेवन।

समायोजन को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Influencing Adjustment)

समायोजन को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित प्रमुख कारक हैं—

१. जन्मपूर्व वातावरण (Prenatal environment)।
२. जन्म का प्रकार (Type of birth)।
३. कालपूर्व प्रसव या अपक्वता (Pre-maturity)।
४. अभिभावकों की अभिवृत्तियाँ (Parental attitudes)।
५. प्रसवोत्तर देख-भाल (Post-natal care)।

इन सभी की चर्चा यथास्थान की जायेगी।

नवजात शिशु की विशेषताएँ
(Characteristics of the Newborn)

जन्म के समय शिशु का औसत भार ३ किलोग्राम या ६½ पौंड और लम्बाई ५० सेन्टीमीटर के लगभग होती है। यदि उसका भार २·३ कि० ग्रा० या ५ पौंड से कम हो तो उसकी विशेष देख-रेख की आवश्यकता होती है। लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक भारी और लम्बे होते हैं। नवजात शिशु की त्वचा जन्म के समय अत्यधिक कोमल होती है। उस पर एक हल्का चिपचिपा पनीर जैसा पदार्थ दिखलाई पड़ता है जो स्वतः लुप्त हो जाता है। कुछ वच्चों की त्वचा जन्म के ४८ घण्टे पश्चात् कुछ पीताभ हो जाती है। यह

पीलापन तीन-चार दिन में स्वत: दूर हो जाता है। हाँ, जिन बच्चों की त्वचा ४८ घण्टे के अन्दर पीली पड़ जाये या उनकी त्वचा का पीलापन बढ़ता हुआ मालूम हो तो उन्हें उपचार की आवश्यकता पड़ सकती है।

जन्म के समय बच्चों के शरीर के कुछ अनिश्चित भागों पर कुछ विशेष चिह्न पाये जाते हैं, जिन्हें जन्म-चिह्न (Birth mark) कहते हैं। इनमें से अधिकांशतः जैसे-जैसे बच्चे की उम्र बढ़ती जाती है, स्वतः लुप्त होते जाते हैं। कुछ बच्चों की पीठ और कूल्हे के चारों ओर नीले या काले रंग के चकत्ते जैसे पाये जाते हैं। इनको भी जन्म-चिह्न कहते हैं। इनमें से भी अधिकांश धीरे-धीरे स्वतः लुप्त हो जाते हैं। कुछ सदा के लिए बने भी रहते हैं। नवजात शिशु का कपाल बेडौल-सा दिखाई पड़ता है। वह कहीं-कहीं उभरा या चपटा तथा कहीं-कहीं सपाट होता है। दो-तीन दिन में यह भी अपने स्वाभाविक रूप में आ जाता है। इस अवधि में सोने की हालत में बच्चों को बार-बार करवट बदलवा देनी चाहिए या पालने में डाल देना चाहिए। पालने में डाल देने से भी बच्चे के सिर के सभी हिस्सों पर समान दबाव पड़ता है। जन्म के समय कुछ नवजात शिशुओं के चेहरे बेडौल नजर आते हैं। इनका कारण गर्भ में उनकी स्थितियाँ होती हैं। धीरे-धीरे चेहरे का बेडौलपन भी स्वतः ठीक हो जाता है। कुछ बच्चों के कपाल के ऊपरी भाग तथा पीछे की ओर कुछ ऐसे कलान्तराल (Fontanelles) होते हैं जहाँ की हड्डियाँ परस्पर जुड़ी हुई नहीं होतीं। प्रायः अधिकांश बच्चों में इस प्रकार के कलान्तराल कपाल के केवल ऊपरी भाग में ही, पर कुछ में पीछे की ओर भी पाये जाते हैं। इनके ऊपर एक मजबूत झिल्ली चढ़ी होती है। झिल्ली के नीचे हड्डियाँ बढ़ती रहती हैं। कपाल के पृष्ठ भाग का कलान्तराल तो लगभग दो महीने का होते-होते भर जाता है, पर ऊपरी भाग के कलान्तराल के भरने में १२ से १८ महीने तक का समय लग जाता है। माता को इन स्थानों की सफाई का ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा इन पर मैल जमकर पपड़ी-सी पड़ जाती है। कभी-कभी हल्का शोथ भी हो जाता है। नवजात शिशु का ऊपर का भाग अपेक्षाकृत भारी होता है। उसका सिर (Head) सम्पूर्ण शरीर के अनुपात में एक चौथाई से कुछ अधिक होता है, जब कि एक औसत प्रौढ़ के सिर की लम्बाई उसके शरीर के अनुपात में उसका सातवाँ भाग होती है।

नवजात शिशु में गरदन लगभग दिखलायी ही नहीं देती। उसके कन्धे संकीर्ण तथा ढालू होते हैं। पेट बाहर को निकला होता है। स्तनपान करने के पश्चात् वह प्रायः और बाहर निकल आता है। हाथ-पैर शेष शरीर के

अनुपात में छोटे और दुबले प्रतीत होते हैं। हाथ-पैर की अंगुलियों के नाखून पूर्ण विकसित होते हैं। इनका विकास गर्भावस्था के सातवें-आठवें महीने में ही हो जाता है। नवजात के सिर, पीठ और भुजाओं पर घने व चमकीले रोयें होते हैं। इन गर्भकालीन बालों में से अधिकांश जन्म लेने के पश्चात् शीघ्र ही स्वतः लुप्त हो जाते हैं।

नवजात शिशुओं की अस्थियाँ अधिकांशतः उपास्थि (Cartilage and gristle) की बनी होती हैं। वे कोमल और लचीली होती हैं। मांसपेशियाँ कोमल और छोटी होती हैं। उन पर बालक का कोई नियन्त्रण नहीं होता। हाथ की अपेक्षा पैरों की मांसपेशियाँ कम विकसित होती हैं। बच्चे प्रायः मोटे-ताजे और माँसल होते हैं। उनके शरीर का अधिकांश भाग कोमल मेद से ढँका रहता है।

नवजात शिशुओं की मांस-पेशियाँ कोमल और तन्त्रिका-तन्त्र अविकसित होता है। इसीलिए उनका अपनी गतियों पर नियन्त्रण नहीं होता। वे पूर्णतः असहाय-से होते हैं। हाथों में उठाने पर उनके शरीर को सम्हालना कठिन होता है। वे न तो करवट बदल सकते हैं, न बैठ सकते हैं और न किसी चीज की ओर बढ़ सकते हैं। नवजात शिशु अधिकांश समय आँखें बन्द किये रहते हैं। प्रकाश के प्रति आँखें झपकती भर हैं। उनकी आँखों की गतियों में भी परस्पर सामंजस्य नहीं होता। कभी-कभी एक आँख एक दिशा में घूमती है तो दूसरी आँख दूसरी दिशा में घूमती है। इसी कारण से वे साफ देख नहीं सकते।

नवजात शिशु जब अपने शरीर के एक हिस्से को गति देने का प्रयास करता है तो उसका सम्पूर्ण शरीर गतिमान हो जाता है। इससे शक्ति का अपव्यय होता है। यहाँ तक कि चूसने जैसी सरलतम क्रिया में भी जब वह माँ का स्तनपान कर रहा होता है तो उसके हाथ-पैर भी गतिमान होते हैं। सिर और उसके साथ शरीर भी इधर-उधर डोलता रहता है। उनकी यह असहायावस्था अल्पकालीन होती है। जन्म के पश्चात् कुछ ही सप्ताह में जैसे-जैसे उनका तंत्रिका-तंत्र विकसित होने लगता है, पेशियों में दृढ़ता आने लगती है और अस्थियाँ कठोर होने लगती हैं, वैसे-वैसे उन्हें अपनी गतियों पर नियन्त्रण प्राप्त होने लगता है।

नवजात शिशु का जन्म-रुदन (Birth cry) श्वास-प्रश्वास की क्रिया के आरम्भ का एक अनिवार्य अंग है। उसके बाद का उसका रोना वास्तविक रोना होता है। हर बच्चे के रोने का ढंग अलग-अलग होता है। कोई जोर से रोता है, कोई धीरे से; कोई चीखता है, कोई सुबकता है। वे अपने रोने

की टोन (Tone) बदल नहीं सकते। इसलिए अभिभावकों को कभी-कभी उनके रोने का कारण समझने में कठिनाई होती है। थके होने की हालत में उनका स्वर हल्का तथा विश्रामावस्था में भारी या ऊँचा होता है।

आकृति और व्यवहार दोनों में नवजात शिशु में अनेक व्यक्तिगत विभिन्नताएँ (Individual differences) पायी जाती हैं। कुछ शिशु छोटे और दुबले-पतले होते हैं, कुछ बड़े और थुलथुले। कुछ के सर लम्बे होते हैं, कुछ के गोल। एकाधिक प्रसवों (Multiple birth) में भी एक बच्चा बड़ा होता है तो अन्य छोटे। शारीरिक विशेषताओं में अन्तर के समान ही उनके व्यवहार में भी व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। कुछ कम सक्रिय होते हैं, कुछ अधिक। कुछ शान्त और सन्तुष्ट नजर आते हैं, कुछ चिड़चिड़े और भुक्खड़। कुछ जब देखो रोते ही रहते हैं; कुछ बहुत ही कम रोते हैं। कुछ ऊँघते रहते हैं और कुछ बराबर चौकन्ने-से नजर आते हैं।

नवजात शिशुओं में पायी जानेवाली व्यक्तिगत भिन्नताओं (Individual differences) के अनेक कारण हैं। इनमें से प्रमुख हैं—

१. वंशानुक्रम (Heredity),

२. प्रसवपूर्व वातावरण (Prenatal environment),

३. प्रसव के प्रकार (Types of birth),

४. गर्भ में रहने की अवधि (Gestational period)।

वंशानुक्रम की चर्चा गर्भ नामक प्रकरण में की जा चुकी है। जो पाठक इसकी विशेष जानकारी चाहते हैं, उन्हें आनुवंशिकी (Genetics) का अध्ययन करना चाहिए। इस शाखा का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है और अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ रहे हैं।

प्रसवपूर्व वातावरण भी बालक के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करता है। वंशानुक्रम से प्राप्त विशेषताओं को अपने-आप में संजोयी संसेचित-कोशिका (Fertilized cell) गर्भ के परिवेश में ही विकसित होती है। वहाँ उसे अनेक प्रकार के तत्त्व प्रभावित करते हैं। इनमें से प्रमुख हैं—

१. माता का कुपोषण (Malnutrition of the mother);

२. विटामिन तथा ग्रन्थीय-स्रावों की कमी (Vitamin & glandular deficiencies);

३. मादक द्रव्यों का अत्यधिक व्यवहार (Excessive use of alcohol)

४. अत्यधिक धूम्रपान (Excessive smoking);

५. वेदनानाशक तथा शामक औषधियों का व्यवहार (Excessive use of narcotics and tranquilizers);

६. बराबर बने रहनेवाले रोग, यथा—मधुमेह, यक्ष्मा, कैन्सर आदि (Diseases of constant nature, viz—Diabetes, Tuberculosis, Cancer etc.);

७. संक्रामक एवं रतिज रोग, यथा—चेचक, सूजाक, उपदंश आदि (Infections and Venereal diseases, viz—Rubella, Gonorrhoea, Syphilis etc);

८. लगातार बना रहनेवाला गम्भीर मानसिक तनाव (Constant acute mental tension),

९. प्रतिकूल संवेग, यथा—भय, क्रोध, द्वेष आदि (Unfavourable emotions, viz—Fear, Anger, Jealousy etc.)।

यदि माता शरीर और मन दोनों से स्वस्थ है और उसे उस अवधि में जो भोजन दिया जा रहा है उसमें पोषकतत्त्व पर्याप्त मात्रा में उपस्थित हैं तो गर्भस्थ शिशु का विकास सामान्य होगा। वह स्वस्थ रहेगा। अन्यथा माता के भोजन में जिस तत्त्व की कमी होगी, बालक में भी उसी की कमी हो जायेगी। उसी कमी से सम्बन्धित रोग उसे हो जा सकते हैं। माता के भोजन में लौहतत्त्व की कमी से बालक रक्ताल्पता का शिकार हो सकता है। कैल्शियम की कमी से उसकी अस्थियाँ कमजोर, अविकसित एवं टेढ़ी-मेढ़ी हो सकती हैं।

गर्भस्थापन के बाद गर्भस्थ शिशु के प्रथम तीन महीने अधिक खतरनाक होते हैं। इस बीच उसके अंग-प्रत्यंगों का स्फुरण एवं विकास होता है। अतः इस बीच उत्पन्न होनेवाले प्रतिकूल कारक उसके विकास को अवरुद्ध कर सकते हैं, उसमें अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए जब गर्भस्थ शिशु में आँख तथा कान का अंकुरण हो रहा होता है, उस समय यदि माता को चेचक हो जाय तो बालक में आँखों एवं कानों का विकास अवरुद्ध हो सकता है। उसकी देखने-सुनने की शक्ति समाप्त हो जा सकती है। कुछ समय बाद हो तो आँख-कान तो सुरक्षित रहेंगे पर हृदय को क्षति पहुँच सकती है। गर्भस्थ शिशु के जिस समय जिस अंग या जिन अंगों का विकास हो रहा होता है उस अवधि में माता में उत्पन्न प्रतिकूल कारक उसी अंग को विशेषरूप से प्रभावित करता है।

समय रहते ध्यान न दिया जाय तो इन्हीं में से कुछ कारक गर्भस्राव (Miscarriage) का भी कारण बन सकते हैं। बालक आंगिक कुरचनाओं (Malformations) का शिकार हो जा सकता है।

अध्याय ७

जातमात्र बालक की परिचर्या : जात-कर्म

(Care of the New-born Child)

जैसा कि हमने गत पृष्ठों में देखा, जातमात्र बालक उस बालक को कहा जाता है जो तत्काल उत्पन्न हुआ हो। जातमात्र बालक के माता के जरायु से बाहर आने के समय से लेकर उसकी नाभिनाल (Umbilical cord) के काटे जाने के समय तक जो भी कर्म किये जाते हैं उन्हें जात-कर्म कहते हैं।

हिन्दू-संस्कृति में जीव के विकास-क्रम में उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन को एक आध्यात्मिक महत्व दिया गया है। जो बालक अभी तक माता के गर्भ में पल रहा था, उसका गर्भ से बाहर आकर इस संसार में पहले-पहल आँखें खोलना, बाहर की हवा में साँस लेना, उसके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। ऐसे प्रत्येक परिवर्तन को हमारे यहाँ विधि-विधान के साथ समारोहपूर्वक मनाने की प्रथा है। बालक के उत्पन्न होने पर जो वैदिक कर्म, यज्ञ-यागादि किये जाते हैं, उन्हें जातकर्म-संस्कार कहा जाता है। अब चूँकि अधिकांश बच्चे प्रशिक्षित दाइयों-नर्सों आदि के द्वारा या अस्पतालों में पैदा कराये जाते हैं इसलिए इस संस्कार की नौबत ही नहीं आती। धीरे-धीरे इसका लोप होता जा रहा है। बालकों का जातकर्म तो होता है पर जातकर्म-संस्कार प्रायः नहीं होता।

जातकर्मों में प्रमुख हैं—बालक के शरीर (विशेषकर नाक, मुख, आँख, कान आदि) की सफाई, उसके गले की सफाई, प्राणवायु का संचार तथा नाभिनालोच्छेदन। आयुर्वेद की संहिताओं में इन कर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ पर इन क्रियाओं का सप्रसंग वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शरीर की सफाई
(Cleaning the Body)

बालक के माता के गर्भ से बाहर आते ही निम्न क्रियाएँ करनी चाहिए—

अथ खलु जातमात्रमेव बालमुल्वात् सैन्धवसर्पिषा मार्जयेत्। —वाग्भट

'बालक के उत्पन्न होते ही उसे उल्वा से अलग करके उसके मुख को सेंधा नमक और घी से साफ करना चाहिए।'

अथ जातस्योल्वमपनीय, मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्।

—सुश्रुत-शारीर १०।१४

'अब जन्म लिये हुए बालक के जरायु को हटाकर सैंधवयुक्त घी से मुँह को साफ कर उसके सर पर घी से भींगा हुआ फाया रखना चाहिए।

आयुर्वेद में उल्व शब्द प्राय: निम्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१. अपरा, आँवल, खेड़ी या बीजाण्डासन (Placenta);

२. जेट या गर्भावरक श्लेष्मकला (Foetal Membrane);

३. गर्भ-त्वचा पर की मलाई (Vernix Caseosa)।

प्रसव की पहली अवस्था के अन्त में जब कि गर्भाशय का मुख पूर्णरूप से फैल जाता है, गर्भ के सिर के सामने आया हुआ गर्भावरण का भाग निराधार होने के कारण फूट जाता है। गर्भावरण के फूटने से गर्भोदक बाहर निकलता है। कभी-कभी जरायु के मजबूत होने या अन्य कारणों से भी गर्भावरण नहीं फूटता। यदि उसे अंगुलियों या किसी यन्त्र से विदीर्ण न किया जाये तो गर्भ के सिर के साथ वह ज्यों-का-त्यों बाहर आकर ही फूटता है। कभी-कभी सम्पूर्ण उल्व गर्भ के साथ बाहर आ जाता है। इसे 'उल्व के साथ जन्म' (Born with a caul) कहते हैं। इसमें गर्भ का आवरण अपरा से पृथक् होकर गर्भ के साथ बाहर आ जाता है।

योनि के बाहर आते ही शिशु साँस लेने की कोशिश करता है। यदि उसके मुख पर गर्भोदक और आवरण लगा रहे तो उसे अपने ही पानी में डूबकर मरने का भय रहता है। इसलिए यदि गर्भ उल्व के साथ बाहर आ जाय तो शीघ्रातिशीघ्र जरायु को विदीर्ण कर बालक के मुख को तुरन्त उससे अलग कर देना चाहिए।

कभी-कभी सम्पूर्ण जरायु तो नहीं पर जरायु का कोई टुकड़ा बालक के सिर के साथ बाहर निकल आता है और उसके मुख पर चिपक जाता है। इससे बालक को साँस लेने में कठिनाई होती है। मुख और नासा को शीघ्र साफ न करने से बालक की श्वासावरोध से मृत्यु हो सकती है।

लेकिन उल्व के साथ बालक का जन्म प्राय: नहीं होता, ऐसा कभी-कभी ही होता है। इसलिए चरक में उल्व से बालक को अलग करने की बात नहीं कही गयी है।

कण्ठ-विशोधन
(Cleaning of Throat)

जातमात्र बालक के मुख के भीतरी भागों तथा गले में विशेष रूप से श्लेष्मा भरा रहता है। इसलिए चरक ने कण्ठ-विशोधन की विधि का विस्तार के साथ वर्णन किया है। यथा—

'अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या। प्रथमं प्रमार्जितास्यस्य चास्य शिरस्तालु कार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिसञ्छादयेत्। ततोऽस्यानन्तरं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा कार्यं प्रच्छर्दनम्।' चरक-शारीर, ८।४३

'अब बालक के तालु, ओष्ठ, कण्ठ और जिह्वा को नाखून-कटी हुई अँगुली पर स्वच्छ और सफेद रुई लपेट कर साफ करना प्रारम्भ करें। पहले कपाल पर स्नेहसिक्त फाया रख दें। इसके बाद सेंधानमक और घी चटाकर वमन करायें।'

प्रायः अँगुली से ही गले की सफाई हो जाती है और बालक को साँस लेने में सुविधा होती है। कभी-कभी जब श्लेष्मा गले में बहुत गहराई तक भरा रहता है और अँगुली से साफ नहीं होता तो उसे अन्य उपायों से निकालने की जरूरत पड़ जाती है। प्राचीनकाल में इसके लिए सेंधानमक और घी चटाकर उलटी करायी जाती थी। आजकल इसे नालशलाका (Catheter) द्वारा चूसकर बाहर निकाला जाता है अथवा बालक को पैरों से पकड़कर सिर नीचा करने से भी आप-से-आप श्लेष्मा बाहर निकल जाता है।

मुख के भीतर की सफाई के साथ-साथ बाहर की सफाई भी आवश्यक है। विशेषकर बालक की आँखों की ओर ध्यान देना बहुत जरूरी है। अपत्य-मार्ग से बाहर आते समय योनिस्राव अथवा मलमूत्र आदि का कुछ अंश आँखों में भी लग जा सकता है। यदि इनकी तत्काल सफाई न की जाय तो आँखें खुल जाने पर इनका कुछ अंश आँखों के अन्दर भी चला जा सकता है। इससे आँखों में शोथ उत्पन्न हो सकता है। अगर दुर्भाग्यवश माता सूजाक या इसी प्रकार के किसी अन्य संक्रमण का शिकार रही तो आँखों की सफाई और भी जरूरी हो जाती है। ऐसे में आँखों को रुई के फाये से साफ कर बोरिक-लोशन के घोल से धोकर उनमें एक प्रतिशत सिल्वर-नाइट्रेट की १–२ बूँदें डाल दी जाती हैं। अन्यथा वे नवजात नेत्राभिष्यन्द (Optha-lmia Neonatorum) का शिकार हो जा सकते हैं। इससे उनकी आँखों की ज्योति सदा के लिए समाप्त हो जा सकती है। इसलिए बालक की आँखों की सफाई सिर के गर्भाशय के बाहर निकलते ही और कण्ठ की सफाई जन्म लेने के तत्काल बाद करनी चाहिए।

आँख, मुँह आदि की सफाई के क्रम में हाथ, वस्त्र तथा वायु आदि के स्पर्श को न सह सकने के कारण बालक जोर से चिल्लाने लगता है। यह जन्म-रुदन उसके स्वस्थ होने का परिचायक है।

प्राणवायु का प्रत्यागमन
(Reviving Respiration)

कभी-कभी प्रसव के कष्ट से अत्यधिक श्रमित अथवा दुर्बल होने के कारण भी बालक नहीं रोता। ऐसे में उसके शरीर का बला तैल से परिषेक करने और कानों की जड़ों के पास पत्थरों के टुकड़ों से आवाज करने की बात कही गई है—

बलातैलेन परिषेकं कुर्यात् । कर्णमूले चाश्मनोः सङ्घट्टनम् । —वाग्भट

बच्चे की ज्ञान-शक्तियों में श्रवण-शक्ति ही सबसे पहले जाग्रत होती है। श्रवण-शक्ति का वाग्शक्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है।

यदि बच्चा चेष्टारहित और बेहोश हो तो उसे काली तीलियों के बने सूप से हवा करे और उसके दक्षिण कान में यह मन्त्र बोले—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदां शतम् ॥
शतायुः शतवर्षोऽसि दीर्घमायुरवाप्नुहि ।
नक्षत्राणि दिशो रात्रिरहश्च त्वाभिरक्षतु ॥

'तू अंग-अंग से उत्पन्न हुआ है। हृदय से उत्पन्न हुआ है। आत्मा का ही नाम पुत्र है। तू एक सौ वर्ष जीये। तू शतायु हो। दार्घायु प्राप्त कर। नक्षत्र, दिशाएँ, रात्रि और दिन तेरी रक्षा करें।

होश में लाने के लिए उसके मुँह पर ऋतु के अनुसार गर्म या ठण्डे पानी के छींटे दिये जाते हैं। हल्की-सी चपत लगायी जाती है। अगर इन मामूली उपायों से बच्चा होश में नहीं आता तो समझना चाहिए कि वह श्वासावरोध से पीड़ित है और तदनुकूल और तत्काल उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

नाभिनालोच्छेदन
(Cutting of Umbilical Cord)

प्रत्यागतप्राणस्य च प्रकृतिभूतस्य नाभिनालं नालाभिबन्धनाच्चतुरङ्गुलस्योर्ध्वं क्षौमसूत्रेण बध्वा तीक्ष्णेन शस्त्रेण वर्धयेत् । नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत् ।
—वाग्भट

'जब बच्चे में चेतना आ जाये और वह स्वस्थ मालूम पड़ने लगे तब नाभिनाल को नाभिबन्धन से चार अंगुल छोड़कर क्षौमसूत्र (रेशमी धागे) से बांधकर तीक्ष्ण शस्त्र से काट देना चाहिए। बचे हुए भाग को बालक के गले में बाँध देना चाहिए और नाभि को कूठ से सिद्ध किये हुए तैल से सिक्त करना चाहिए।'

'ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायस्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात्। —सुश्रुत-शारीर, १०।१४

'पश्चात् नाभि से आठ अंगुल की दूरी पर नाभिनाड़ी को वांधकर उसके आगे काट देना चाहिए। फिर उस सूत्र का दूसरा सिरा वालक के गले में ठीक से वाँध देना चाहिए।'

वालक और माता में समस्त क्रियाओं के आदान-प्रदान का माध्यम नाभि-नाड़ी है। इसका ज्ञान नाड़ीगत स्पन्दन से होता है। अपत्यमार्ग से वाहर आते ही वालक सवसे पहले श्वास-प्रश्वास की क्रिया आरंभ करता है। इससे वालक के फेफड़ों में रक्त की मात्रा अधिक और अपरा में कम जाने लगती है। कुछ ही मिनटों में रक्त-परिभ्रमण की अदला-वदली की यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है और अपरा में रक्त जाना वन्द हो जाता है। रक्त के न मिलने से नाभि-नाड़ीगत स्पन्दन मन्द होते-होते वन्द हो जाता है।

जन्म के पश्चात् मुख, आँख, नाक आदि साफ करने और पत्थर के टुकड़े वजाने आदि में जितना समय लगता है, उतने समय में नाड़ीगत रक्तप्रवाह अपने-आप वन्द हो जाता है और उसका स्पन्दन समाप्त हो जाता है। यही नाभिनालोच्छेदन का उपयुक्त समय है।

यद्यपि वाग्भट और सुश्रुत ने नाभिनाड़ी में एक ही वन्धन लगाने की बात कही है, परन्तु चरक ने दो वन्धनों का उपदेश किया है—

नाभिबन्धनात् प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्धधारेण छेदयेत्।
—चरक-शारीर ८।४४

आजकल भी छेदन करने के पूर्व नाड़ी में दो वन्धन लगाने की प्रथा है। एक वन्धन नाभि के साथ लगी हुई नाड़ी के अन्त में और दूसरा अपरा से सम्वन्धित नाड़ी के अन्त में। इनमें से पहला वन्धन तो अनिवार्य है। उसे न लगाया जाय तो गर्भ से रक्त का स्राव होने लगेगा। दूसरा वन्धन उतना आवश्यक नहीं; न भी लगाया जाय तो कोई विशेष हानि नहीं। दूसरे वन्धन का उपयोग अपरा-पातन के ज्ञान के लिए होता है। दूसरे कभी-कभी यमज (Twin) होने की स्थित में दोनों की नाभिनाड़ी का आपस में सम्वन्ध होता है। ऐसी दशा में यदि अपरा से सम्वन्धित नाड़ी में गाँठ न लगायी जाय तो दूसरे गर्भ से रक्तस्राव होने का भय रहता है। इसलिए दो वन्धनों को लगाने की परिपाटी वन गयी है।

नाड़ीकल्पन के काम में आनेवाले सूत्रों और शस्त्रों को भलीप्रकार विसंक्रमित (Sterilized) कर लेना चाहिए। इसके विसंक्रमित न होने से नाभि में पाक उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। कभी-कभी यह दोष शिशु के शरीर में फैलकर जीवाणुमयता उत्पन्न कर देता है जिससे उसकी मृत्यु तक हो जा सकती है।

नाभि से सम्वन्धित नाड़ी का हिस्सा प्रायः पाँचवें दिन सूखकर अलग हो जाता है। कभी-कभी यह १०–१५ दिनों तक भी अलग नहीं होता। जब तक नाड़ी सूखकर गिर न जाय उसकी सुरक्षा जरूरी है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह मल-मूत्र से दूषित न हो, खिंच न जाय। कल्पित नाड़ी को गले में बाँध देने से ये तीनों कार्य आसानी से सध जाते हैं। आजकल कल्पित नाड़ी को गले में बाँधने के वजाय उसकी ड्रेसिंग कर दी जाती है।

नाभिनाल को काटने के वाद उस पर निम्न औषधियों में से किसी एक को लगाने से टेटनस (Tetanus) या जीवाणुओं के संक्रमण का भय नहीं रहता—

१. नेओमाइसीन चूर्ण (Novasulf powder)।

२. जेन्शियन वायलेट का एक प्रतिशत घोल (Jenshian violet)

३. ट्रिपल डाई (Triple dye)।

इन्हें लगाने के वाद नाभि के ऊपर जीवाणुरहित गॉज तथा रुई रखकर पट्टी वाँध देना चाहिए।

अध्याय ८

नवजात बालक की परिचर्या

(Care of the Neonate)

अभ्यंग एवं स्नान

(Smearing the Body with Oil and Bath)

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्, ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्य-हेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ।' —सुश्रुत-शारीर, १०।१५

'नालच्छेदन के बाद ठण्डे जल से बालक को आश्वासित करके जातकर्म करने के उपरान्त घी और मधु से मिश्रित थोड़ा-सा स्वर्णभस्म उसे अनामिका अंगुली से चटावे। उसके बाद बलातैल से मालिश करके क्षीरीवृक्षों के हलके गर्म कषाय से, सर्वगन्धयुक्त जल से, प्रतप्त सोने-चाँदी से बुझाये जल से या कैथ के पत्तों के कषाय से दोष, काल और बालक की सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए उसे स्नान कराये।'

ततः क्षीरीवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन तप्ततपनीयरजतनिर्वापणकवोष्णेन कपित्थपत्रकषायेण वा तद्विधेन स्नापयेत् । —वाग्भट

'उसके बाद क्षीरी-वृक्षों के कषाय जल से, सर्वगन्धोदक से, सोने या चांदी को तपा कर उसे बुझाकर उस गर्म जल से या कैथ के पत्रों के कषाय जल से या इसी प्रकार तैयार किये गये किसी एक जल से बालक को स्नान कराना चाहिए।

गर्भोदक में अधिक समय तक रह जाने के कारण गर्भ के शरीर पर एक प्रकार का चिकना पदार्थ (Vernix Caseosa) बनने लगता है। कभी यह कम होता है, कभी ज्यादा। इसे केवल जल से साफ नहीं किया जा सकता। तेल से यह जल्दी निकल जाता है। इसीलिए स्नान कराने के पूर्व सम्पूर्ण शरीर पर बला तैल मलने की बात कही गयी है। आज भी बालक के शरीर पर तैल लगाकर उसे साबुन और गर्म जल से नहलाने की प्रथा है।

नहलाते समय यह जरूर देख लेना चाहिए कि पानी की गर्मी बालक के शरीर के रक्त की गर्मी के समान हो, जल बालक के लिए सह्य हो। टब में

बालक का सर पानी से ऊँचा रहे। मुँह, नाक, कान में पानी न जाने पाय। नहलाने के वाद उसके शरीर को मुलायम तौलिये से पोंछकर सुखा देना चाहिए। सुखाने के वाद वदन पर पाउडर छिड़क देना चाहिए।

स्नान से वालक की नाभि-नाड़ी भी गोली हो जाती है। स्नान के वाद अगर उसे ठीक से सुखाया न जाय तो उसमें पाक हो जाने की सम्भावना रहती है। इसी से कुछ चिकित्सकों का मत है कि जव तक नाभि-नाड़ी सूख-कर गिर न जाय वालक को नहलाना नहीं चाहिए। नाभि-नाड़ी को वचाकर उसके शरीर को भली प्रकार पोंछ देना चाहिए।

प्राशन

(Feeding the Child)

ततश्चैन्द्रीब्राह्मीशङ्खपुष्पीवचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाग्राभिमन्त्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण मेधायुर्बलजननं प्राशयेत्। तद्वत् ब्राह्मीबलानन्ताशतावर्यन्य-तमचूर्णं वा। —वाग्भट

'इसके वाद ऐन्द्री, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, वचा—इनका कल्क बनाकर मधु और घी के साथ मिलाकर मटर के बरावर मात्रा में कुशा के अग्रभाग से अभिमंत्रित करके स्वर्ण से वनाये पीपल के पत्र (चम्मच) से वालक को खिलायें। इससे उसकी आयु, बल और मेधा की वृद्धि होगी। इसी प्रकार से ब्राह्मी, बला, अनन्ता अथवा शतावरी–इनमें से किसी का भी कल्क चटायें।'

आयुर्वेद में चौथे दिन माता के स्तनों में जो दूध उतरता है, उसे ही बालक को देने का विधान है। पहले दिन मन्त्रपूत स्वर्णमिश्रित मधुसर्पि दिन में तीन बार, दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध घृत और चौथे दिन पहले बालक की हथेली में जितना अँट सके उतना असमान भाग में घी और मधु चटाने के बाद स्तनपान कराने का विधान है।

जातकर्म संस्कार

(Performing Ceremonies Concerning Birth)

अथास्य जातकर्म प्राजापत्येन विधिना कुर्यात्। —वाग्भट

'इसके पीछे बच्चे का जातकर्म संस्कार वैदिक विधि से करे।' जातकर्म संस्कार का अध्ययन संस्कारों से सम्बन्धित अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा।

स्तन-पान

(Sucking of the breast)

जातकर्म संस्कार के उपरान्त बालक को स्तनपान कराने का विधान है। इसका विस्तृत वर्णन 'बालक का आहार' नामक प्रकरण के अन्तर्गत किया जायेगा।

कानों का स्नेहन
(Applying Oil to Ears)

अहरहश्चास्य श्रोतृशृङ्गाटकं स्नेहाप्लुतेन प्लोतेन प्रच्छादयेत् । —वाग्भट

प्रतिदिन बालक के कानों में तेल का भिगोया हुआ फाया रखे ।

बच्चे को सुलाना
(Resting the Child)

प्राक्शिरसं चैनं क्षौमनिचये संवेशयेदुच्छीर्शके चास्याभिमन्त्रितमुदकुम्भं स्थापयेत्, द्वारपक्षयोश्च । —वाग्भट

वच्चे को कोमल वस्त्रों के समूह पर पूर्व की ओर सिर करके लिटाये । शैया के सिरहाने मन्त्र से पवित्र जलकलश रखे । द्वार के दोनों ओर भी जलकलश रखे ।

रक्षाकर्म
(Protecting the Child from Environmental Infections and Evil Spirits)

आदानीविदारीबदरीखदिरनिम्बपीलुपरूषकशाखाभिरेनं बीजयेत् । ताभिश्च समन्ततः सूतिकागारं परिवारयेत् । सर्षपातसीकणकाश्चान्तर्बहिः प्रकिरेत् । सायम्प्रातश्च बलिम् । —वाग्भट

'आदानी, विदारी, बैर, खैर, नीम, पीलु, फालसे की शाखाओं से बालक को हवा करे । इन वस्तुओं से सूतिकागार को चारों ओर से घेर दे । सरसों, अलसी, चावल आदि के कण सूतिकागार के अन्दर और बाहर छिड़क दे । प्रातः और सायं बलिभूतोपहार पूजा करे ।'

व्रणोक्तैश्च गुग्गुल्वादिनिर्धूपं कुर्यात् । यथा ब्राह्मणोऽथर्ववेद विद्दशाहं शान्तिकर्म कुर्यात् । मायूरी, महामायूरीमार्यारत्नकेतुधारिणीं चोभयकालं वाचयेत् । —वाग्भट

'व्रण के प्रकरण में कहे गये गुग्गुलु आदि का धूप करे । अथर्ववेद को जानने वाले ब्राह्मण दस दिनों तक शान्तिकर्म करें । मायूरी, महामायूरी, आर्या, रत्नकेतु, धारिणी का प्रातः-सायं पाठ करें ।'

हिङ्गुचातुरुष्करक्षोघ्नैः पाटलिकामुत्तरदेहल्यामासज्येत् । कुमारस्य च सह मात्रा कण्ठे उच्छीर्षके च । तद्वदार्यापर्णशबरीमार्यापराजितां च गोरोचनाभिलिखताम् । —वही

'हींग, बचा, तुरुष्कर, रक्षोघ्न (सरसों)—इनको पोटली में बाँधकर चौखट के धरण में लटका दे । इस प्रकार की पोटली बच्चे और माता के गले में तथा पलंग के सिरहाने भी लटका देना चाहिए । उसी प्रकार आर्या,

पर्ण शवरी, आर्या अपराजिता विद्यामन्त्र को भोजपत्र पर गोरोचन से लिख-कर गले और पलंग के सिरहाने बाँध देना चाहिए।'

द्वारे च देहलीमनुतिर्यङ्मुसलं निधापयेत्। कणकण्डकतिन्दुकेन्धनाग्नि नक्तं दिवं च जागृयात्। तथानुरक्ताः स्त्रियः सुहृदश्च। प्रहृष्टजनसम्पूर्णं च तद्वेश्म कार्यम्। —अ. सं. उ. १।२१

'घर के प्रवेश-द्वार पर, देहरी पर मूसल को तिरछा करके रख दे। रात-दिन घर में तिन्दुक की लकड़ियों से अग्नि को प्रज्ज्वलित रखे। इसमें सरसों या चावलों के कण डालते रहना चाहिए। बालक के प्रति अनुरक्त वन्धु-बांधव तथा स्त्रियाँ वहाँ रहें। घर सदा खुशी से भरा रहे।'

बालक के वस्त्र
(Clothing the Child)

शुचिधौतोपवानानि निर्वलीनि मृदूनि च।
शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च॥

—अ. सं. उ. १।३६

वच्चे के वस्त्र साफ, धुले हुए, सूखे, सलवटों से रहित और कोमल होने चाहिए। बिछाने, ओढ़ने या पहनने के वस्त्रों को सरसों, वच आदि से धूपित करना चाहिए।'

शयनासनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्युः, स्वेद-मलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः, असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपतानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः।

—चरक-शारीर, ८।६०

'कुमार की शैय्या, आसन, बिछौना, ओढ़ने तथा पहनने के वस्त्र मृदु, लघु, पवित्र, स्वच्छ और सुगन्धित होने चाहिए। जिन बैठने, बिछाने, ओढ़ने आदि के वस्त्रों में पसीना सूख गया हो, जो गन्दे हों, जिनमें मल-मूत्रादि लग गया हो, उन्हें बालकों के लिए व्यवहार में नहीं लाना चाहिए। ऐसे दूषित और गन्दे वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रो को ही व्यवहार में लाना चाहिए। यदि किसी कारण से नये वस्त्रों का प्रबन्ध सम्भव न हो, तो उन्हीं वस्त्रों को भली प्रकार धो-सुखा कर, धूपन-द्रव्यों से धूपित कर काम में लाना चाहिए।' धूप देने से वस्त्र सुगन्धित एवं कीटाणुरहित हो जाते हैं।

धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलु-वचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृत-युक्तानि स्युः। —चरक-शारीर, ८।६१

धूपन-द्रव्य—पहनने, बिछाने और ओढ़ने के कपड़ों को जौ, सरसों, अलसी, हींग, गुग्गुलु, वचा, चोरपुष्पी, ब्राह्मी, श्वेतदूर्वा, जटामांसी, पलंकशा, अशोक, कुटकी, साँप की केंचुल—इन द्रव्यों से धूपित करना चाहिए।

मणि-धारण
(Wearing Herbal Roots and Stones)

जीवत्खड्गादिशृङ्गेषु समासक्ताञ्छुभान् मणीन्।
धारयेद्दश चैन्द्रयादीञ्जीवकर्षभकावपि ॥
हस्ताभ्यां ग्रीवया मूर्ध्ना विशेषात् सततं वचाम्।
आयुर्मेधास्मृतिस्वास्थ्यकरीं रक्षोभिरक्षणीम् ॥

—अ. सं. उ. १।४०-४१

'जीवित गैंडे आदि के सींगों से कुछ भाग लेकर उनके साथ शुभकारी मणियों को बच्चे को धारण कराना चाहिए। ऐन्द्री, ब्राह्मी, जीवक, ऋषभक आदि औषधियों को बच्चे के गले, दोनों हाथों एवं सर में बाँधना चाहिए। इन वस्तुओं को धारण करने से आयु, मेधा, स्मृति और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। ये बालक की राक्षसों से भी रक्षा करते हैं।'

सूतिका-षष्ठी
(Sixth Day's Ceremony After Birth)

बोलचाल की भाषा में इसे छठी कहते हैं। यह बालक के पैदा होने के छठे दिन या छठी रात्रि में मनायी जाती है। वृद्धवाग्भट ने कहा है—

षष्ठीं निशां विशेषेण कृतरक्षाबलिक्रियाः।
जागृयुर्बान्धवास्तस्य दधतः परमां मुदम् ॥ —उ. सं. उ. १।२८

'छठी रात्रि में विशेषरूप से बालक की रक्षा करनी चाहिए। उसके लिए वलि देनी चाहिए। सभी बन्धु-बान्धव प्रसन्न रहकर मुदित मन से रात्रि में जागरण करें।'

छठी की रात में छठी माता की पूजा और रात्रि में जागरण कर, उन्हीं के भजन-कीर्तन करने का विधान है। काश्यप ने षष्ठी माता का वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

षण्मुखी नित्यललिता वरदा कामरूपिणी।
षष्ठी च ते तिथिः पूज्या पुण्या लोके भविष्यति ॥

'तू छः मुखों वाली, सदा प्रसन्न मुद्रा में रहने वाली, इच्छित वर को देने वाली तथा कामरूपिणी (कामनाओं की पूर्ति करनेवाली) होगी। संसार में पुण्यकारक षष्ठी तिथि को तेरी पूजा हुआ करेगी।

इत्येवं भगिनी जज्ञे षष्ठी स्कन्दस्य धीमतः ।
तस्मात् सा सततं पूज्या सा हि मूलं सुखायुषोः ।।

इस प्रकार षष्ठी बुद्धिमान् स्कन्द की बहन के रूप में उत्पन्न हुई । उसकी नित्य पूजा करनी चाहिए । वह सुख तथा आयु का मूल है ।

सूतिकाषष्ठी के बाद भी हर पक्ष की षष्ठी तिथि को षष्ठी (रेवती) माता की पूजा करनी चाहिए ।

प्रसूता का स्नानोत्सव

(Bathing Ceremony of the Women Recently Delivered)

दशमे द्वादशे वाह्नि गोत्राचारैः शुभैः शुभे ।
सूता स्नानोत्सवं कुर्यात् पितापत्यस्य नाम च ।।—अ. सं. उ. १।२९

दसवें या बारहवें दिन शुभ दिन देखकर अपने कुल और गोत्र की मर्यादा के अनुसार प्रसूता का स्नानोत्सव करना चाहिए । और उसी दिन पिता को सन्तान का नामकरण करना चाहिए ।

नामकरण-संस्कार

(Naming the Child)

दिने शततमे वाख्यां पूर्णे संवत्सरेऽथवा ।
बिभ्रतोऽङ्गैर्मनोह्वालरोचनागरुचन्दनम् ।। —अ. हृ. उ. १।३०

जन्म के सौवें दिन या वर्ष पूरा होने पर नामकरण-संस्कार करना चाहिए । उस दिन बच्चे के शरीर पर मैनसिल, हरताल, गोरोचन, अगर और चन्दन का लेप लगाना चाहिए । नामकरण-संस्कार की विशेष चर्चा संस्कार नामक प्रकरण के अन्तर्गत की जायेगी ।

सूर्य-दर्शन एवं चन्द्र-दर्शन

(Showing the Sun and the Moon)

अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्कर्मण्यभिनिर्वृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोम-मङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनोपस्थानं, प्रदोषे चन्द्रमसः ।।

—काश्यप-खिल० १२।३

शिशु के उत्पन्न होने के बाद किये जाने वाले जातकर्मों से निवृत्त हो जाने के पश्चात् पहले महीने में ही उसकी रक्षा, होम, मंगल तथा स्वस्ति-वाचन कराकर उदय होते समय सूर्य का दर्शन तथा उपस्थान एवं रात्रि में चन्द्रमा का दर्शन कराना चाहिए ।

निष्क्रमण-संस्कार

(Bringing the Child Outside of the Place of Birth for the First Time)

चौथे महीने में बच्चे को सूतिकागार से बाहर लाना चाहिए । काश्यप-संहिता में इस समारोह का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है—

चतुर्थे मासि स्नातालङ्कृतस्याहतवाससा संवीतस्य ससिद्धार्थकमधुसर्पिषा रोचनया चान्वालब्धस्या धात्र्या सहान्तर्गृहान्निष्क्रमणं देवतागारप्रवेशनं च। तत्राग्निं प्रज्ज्वलन्तं घृताक्षतैरभ्यर्च्य ब्रह्माणमीश्वरं विष्णुं स्कन्दं मातृश्चान्यानि च कुलदैवतानि गन्धपुष्पधूपमाल्योपहारैर्भक्ष्यैश्च बहुभिर्बहुविधैः सम्पूज्य, ततो ब्राह्मणवाचनं कृत्वा, तेषामाशिषो गृहीत्वाऽभिवाद्य च गुरून् पुनः स्वमागारं प्रविशेत्। —काश्यप-खिल० १२।४

चौथे महीने में शिशु को स्नान कराकर, अलंकारों से अलङ्कृत कर, नये वस्त्र पहनाकर, श्वेत सरसों, मधु तथा घृत अथवा गोरोचन से युक्त कर धात्री के साथ पहली वार घर से बाहर निकालना चाहिए तथा मन्दिर में ले जाना चाहिए। मन्दिर में प्रज्ज्वलित अग्नि की घृत तथा अक्षत के द्वारा अभ्यर्चना करनी चाहिये तथा ब्राह्मण, भगवान् विष्णु, स्कन्द, मातृकाओं तथा अन्य जो भी अपने कुलदेवता हों उनकी गन्ध, पुष्प, धूप, माला आदि उपहारों तथा नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थों द्वारा अनेक विधि पूजा करके, ब्राह्मणों को नमस्कार कर उनसे आशीर्वाद लेकर तथा गुरुओं का अभिवादन करके पुनः लौट कर अपने घर में प्रवेश करना चाहिए।

घर में प्रविष्ट होने पर वैद्य निम्न मंत्रों के द्वारा उसका अभिवादन करे—

शरच्छतं जीव शिशो ! त्वं देवैरभिरक्षितः।
द्विजैरप्याशिषा पूतो गुरुभिश्चाभिनन्दितः॥
—काश्यप-खिल० १२।५

'हे शिशु ! तुम देवताओं के द्वारा रक्षित, ब्राह्मणों के आशीर्वाद से पवित्र तथा गुरुओं के द्वारा प्रशंसित हुए सौ वर्ष तक जीवित रहो।'

बालक का उपवेशन
(Seating the Child)

पाँचवें महीने में धीरे-धीरे बालक को भूमि पर बैठने का अभ्यास कराना चाहिए—

पञ्चमे मासि पुण्येह्नि धरण्यामुपवेशयेत्। —अ. सं. उ. १।४६

काश्यप ने इसे छठे महीने में करने को कहा है। उन्होंने उपवेशन का भी निष्क्रमण के समान ही विस्तार से वर्णन किया है। इसका विस्तृत वर्णन 'संस्कार' नामक प्रकरण में प्रस्तुत किया जायेगा।

अन्न-प्राशन
(Giving Solid Food)

वाग्भट के अनुसार छठे और काश्यप के अनुसार दसवें महीने में बालक

का अन्न-प्राशन-संस्कार कराना चाहिए। काश्यप ने छठे महीने में फल-प्राशन का विधान किया है। अन्न-प्राशन-संस्कार का विस्तृत वर्णन 'संस्कार' नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

कर्णवेध
(Piercing the Ears)

वाग्भट ने छठे, सातवें या आठवें महीने में बालक के कर्णवेध की बात कही है। इसका वर्णन भी संस्कार नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

अभ्यंग, उद्वर्तन एवं स्नान
(Smearing with Oil, Rubbing and Cleaning the Body with Perfumes or Fragrant Unguents; and Bath)

बच्चे के शरीर पर नित्य तैल-मालिश कर, उबटन लगा कर स्नान कराना चाहिए। वाग्भट ने नित्य व्यवहारार्थ जिन तैल, उबटन तथा पानी में में घोलने की औषधियों का विधान किया है, उन्हें नीचे दिया जा रहा है—

तैल—सहदेवी, शालपर्णी, हरेणु, श्वेतकमल, चन्दन, बड़ी कटेरी का फल, तर्कारी, सरसों, कूट, सेंधा नमक, असगन्ध, एरण्डमूल, तिल, अपामार्ग के चावल, कौंच के फल और बकरी के दूध से सिद्ध किया हुआ तैल मालिश के लिए व्यवहार में लाये। इस तैल के अभ्यंग से बालक का शरीर पुष्ट होता है और भूत-बाधा दूर होती है।

उबटन—उक्त औषधियों का कल्क बनाकर उसमें थोड़े भुने हुए जौ को पीसकर बनाया गया आटा (कल्क से तीन गुना), दही और मधु भी मिला लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त मूर्वामूल, हल्दी, दारुहल्दी और जौ, तथा केवल कुलथी के आटे या असगन्ध के चूर्ण से भी उद्वर्तन (उबटन) किया जा सकता है।

स्नानार्थ—एलादिगण अथवा जीवनीयगण की जो भी औषधियाँ उपलब्ध हो सकें, उनका कल्क बना कर तथा पानी में घोल कर, उसी से बच्चे को स्नान कराना चाहिए।

आजकल बालक के शरीर पर मालिश के लिए सरसों, जैतून या अनेक प्रकार के पेटेन्ट बेबी-आयलों का व्यवहार किया जाता है। उनके कोमल शरीर पर लगाने के लिए विशेष प्रकार के साबुन (बेबी-सोप) भी तैयार किये जाते हैं। नहाने के पानी में डिटोल (Dettol) सैवलान (Sevlon) आदि को घोल दिया जाता है।

ऋतु के अनुसार निवारक या निरोधक औषधियाँ

(Preventive or Protective Medicines for Different Seasons)

बालक के मुँह से लार अधिक आती हो या भोजन में उसकी रुचि कम हो गई हो तो आँवला, सोंठ, मिर्च, पीपल, बड़ी कटेरी की जड़ और सेंधा नमक—इन्हें मधु में मिलाकर बालक के मुँह के अन्दर लगाना चाहिए।

शीत और वसन्त ऋतु में—आरग्वधादिगण की औषधियों के क्वाथ में वत्सकादिगण की औषधियों के कल्क को मिलाकर सिद्ध घृत बच्चे को खाने के लिए दें।

ग्रीष्म ऋतु में—बच्चे को प्रातःकाल ही जीवनीयगण की औषधियों से सिद्ध किया हुआ शीतल दूध पीने के लिए दें। अथवा घी, चीनी और सत्तू मिलाकर बच्चे को चटाएँ। बच्चे को सत्तू घोलकर नहीं देना चाहिए।

जो बच्चा पानी अधिक पीता हो उसे घी न दें। जिसे साधारण घी सात्म्य न हो, उसे काकोली, शर्करा, मेदा, वंसलोचन, मुलैठी, जीवक आदि औषधियों से सिद्ध घृत देना चाहिए।

बच्चे के सिर पर केवटीमोथा या अन्य शीतल द्रव्यों का लेप करना चाहिए।

शरद ऋतु में—पुण्डरीक, मधुयष्टी (मुलेठी), मुद्गपर्णी, घमासा, चिरौंजी, काकोली, बिदारी, कायफल, गुरुच, द्राक्षा, अजशृंगी, दुग्धिका, क्षीरशुक्ला, अश्वगंधा, काकड़ासिंगी, महुए के फूल, मेदा, ऋषभक और जीवक इनसे तैयार किया गया क्षीरघृत बच्चे को चटाना चाहिए।

सभी ऋतुओं में देय—इनके अतिरिक्त ब्राह्मी-घृत, सारस्वतघृत अथवा बच और अत्यधिक न्यून मात्रा में स्वर्णभस्म असमान भाग घी और मधु में मिलाकर देने से बालक की आयु और मेधा में वृद्धि होती है। वाणी मधुर और स्पष्ट होती है। राक्षसों (रोगोत्पादक जीवाणुओं तथा संक्रामक रोगों) से रक्षा होती है।

हरड़, पिप्पली, कूठ, हल्दी, सारिवा, बच, जटामांसी और मीठी नीम—इनको समान भाग लेकर, इन सबके चूर्ण के बराबर ब्राह्मी का चूर्ण मिलाकर घी के साथ नित्य प्रातः बच्चे को एक वर्ष तक चटायें। इससे बालक बलवान्, श्रुतसम्पन्न और दीर्घायु होता है। उसका यौवन स्थिर रहता है और वह सौ साल की आयु प्राप्त करता है।

बच्चे को मिट्टी खाने से रोकें

(Preventing the Child from Eating Soil)

कुछ बच्चों को मिट्टी खाने की आदत लग जाती है। यह आदत उनके

लिए बहुत ही हानिकारक है। इससे अनेक कठिन रोग उत्पन्न हो जाते हैं, यथा—पाण्डु, शोथ, श्वास, कास, अतिसार, कृमि, वमन, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य। स्तनपान अथवा भोजन के प्रति अरुचि, अंगों में दर्द तथा बुद्धि-भ्रम हो जाता है। इसलिये बच्चे को मिट्टी खाने से यत्नपूर्वक रोकना चाहिए। वृद्धवाग्भट के शब्दों में—

नित्यं मृद्भक्षणाद्रक्षेत्तया स्युर्नियतं गदाः।
पाण्डुत्वश्वयथुश्वासकासातीसारजन्तवः।
छर्दिमूर्च्छाग्निसदनस्तन्यद्वेषाङ्गरुग्भ्रमाः॥

—अ. सं. उ. १।१०१-२

बच्चे को दातुन देने का निषेध

भक्षयेद्दन्तपवनं नास्थिरद्विजबन्धनः।
तस्य तत्घट्टनात् क्रुद्धः कुर्याद्दन्तामयान्मरुत्॥

—अ. सं. उ. १।१०३

जब तक बच्चे के मसूढ़े मजबूत न हो जायँ तब तक उन्हें दातुन नहीं देना चाहिए। कमजोर मसूढ़ों में दातुन करने से वायु कुपित होकर दन्तरोगों की उत्पत्ति होती है और दाँत भी टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं।

इससे उन लोगों को सवक लेना चाहिए जो शौकिया अपने छोटे-छोटे बच्चों को ब्रश पकड़ा देने में अपनी शान समझते हैं।

बालक के प्रति व्यवहार
(Behaviour Towards the Child)

बोधयेत् सहसा सुप्तं नो न चैनं समुत्क्षिपेत्।
तथाह्यस्य समुत्रासो वेगरोधश्च जायते॥

—अ. सं. उ. १।३८

सोये हुए बच्चे को सहसा एकबारगी नहीं जगाना चाहिए और न ही उसे ऊपर उछालना चाहिए। ऐसा करने से बच्चे के मन में भय बैठ जाता है। अधिक डर जाने से उसका मल-मूत्र रुक जा सकता है।

त्रासयेन्नाविधेयं च त्रस्तं गृह्णन्ति हि ग्रहाः।
वस्त्रपातात् परस्पर्शात् पालयेल्लङ्घनाच्च तम्॥

—अ. सं. उ. १।७४

यदि बच्चा कहा न मान रहा हो या किसी अकरणीय कार्य को रहा हो तो उसे समझा-बुझा कर या अन्य उपाय से रास्ते पर लाने की कोशिश करनी

चाहिए। डराना कदापि नहीं चाहिए। डरे हुए बच्चे को ग्रह पकड़ लेते हैं। वह मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है।

बच्चे को मुँह ढँक कर नहीं सुलाना चाहिए। अनजान आदमियों के स्पर्श से उसे बचाना चाहिए। अधिक कूदने-फाँदने से भी उसे बचाना चाहिए।

एक वर्ष तक बालक की हर तरह से रक्षा करें
(Protect the Child for the First Whole Year)

वर्षं स्ववसतेर्बाह्यं कुमारस्य न दर्शयेत्।
दीपमातपमग्निं च रूपमन्यच्च भासुरम्॥

—अ. सं. उ. १।६५

क्षीरप अवस्था में बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही कोमल होती हैं। इसलिए उसे घर से बाहर नहीं निकलने देना चाहिए। तेज प्रकाश नहीं देखने देना चाहिए। तेज आवाज नहीं सुनने देना चाहिए। तेज गन्धों और प्रतिकूल स्पर्शों से भी उसकी रक्षा करनी चाहिए।

अध्याय ९

बालक का आहार (१)

क्षीरप अवस्था

(Period of Nursing)

'क्षीरप अवस्था' वह अवस्था है जबकि बालक केवल दूध, विशेष कर माता के दूध, पर आश्रित रहता है। दूध की महिमा का वर्णन करते हुए कश्यप ने कहा है—

यथा सर्वौषधी-सारं क्षीरोदे मथिते पुरा।
सम्भूतममृतं दिव्यममरा येन देवताः ॥
तथा सर्वौषधी-सारं गवादीनां तु कुक्षिषु।
क्षीरमुत्पद्यते तस्मात् कारणादमृतोपमम् ॥
जरायुजानां भूतानां विशेषेण तु जीवनम्।
क्षीरं सात्म्यं हि बालानां क्षीरं जीवनमुच्यते ॥

—काश्यपसंहिता-खिलस्थान २२।७-१०

प्राचीन काल में जिस प्रकार क्षीरसमुद्र के मंथन से समस्त औषधियों का सार अमृत निकला था, जिसे पीकर देवता अमर हो गए थे; उसी प्रकार सब औषधियों का साररूप बनकर दूध गाय आदि स्तनपायी जीवों के स्तनों से बाहर आता है। अतः वह भी अमृत के समान गुणकारी होता है। मनुष्य, पशु आदि जरायुज प्राणियों के लिए दूध विशेषरूप से जीवन ही माना गया है। छोटे शिशुओं के लिए तो दूध निश्चित रूप से सात्म्य है। वह उनकी प्रकृति से पूर्णतः मेल खाता है। वही उनके लिए जीवन-प्राण है।

बालक के लिए माता का दूध

(Mother's Milk for the Child)

बालक के लिए माता का दूध ही सर्वोत्तम आहार है। यह स्वभावतः माता की स्तन-ग्रन्थियों में बालक के लिए ही उत्पन्न होता है। शास्त्रों में इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण देखिए—

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्। —सु० सू० ४५।५७
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बल-वर्धनम् ॥ —वही, ४५।५८

अर्थात् 'माता का दूध मधुर, कषाय रसवाला, गुरु, स्निग्ध, स्थिरता-दायक, शीत-वीर्य, नेत्रों के लिए हितकारी और बलवर्धक होता है।'

जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः ।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम् ॥

—च० सू० २७।२२४

अर्थात् 'माता का दूध जीवनीय, बृंहण, सात्म्य, स्निग्ध और रक्तपित्त में नस्योपयोगी एवं नेत्र-रोगों में आश्च्योतन के योग्य माना गया है।'

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित् ।

—अ० हृ० सू० ५।२६

अर्थात् 'माता का दूध वातहारी, पित्तहारी तथा रक्तदोषहारी होता है। अभिघातजन्य तथा नेत्ररोगों में यह तुरन्त लाभ पहुँचाने वाला होता है।'

स्तन-पान से न केवल बालक की क्षुधातृप्ति होती है, बल्कि इससे बालक और माता दोनों को एक अपूर्व संवेगात्मक संतोष (Emotional Satisfaction) की प्राप्ति होती है। बच्चे को दूध पिलाने में माता को जो अपूर्व आनन्द मिलता है, उसका वर्णन केवल माता ही कर सकती है।

माता का दूध स्वच्छ और कीटाणुरहित होता है। हमारा देश एक गर्म देश है। यहाँ नवजात शिशु प्रायः अतिसार, प्रवाहिका, वमन आदि रोगों के शिकार हो जाते हैं। ये सभी संक्रमणजन्य रोग हैं। जिन बच्चों को ऊपर का दूध पिलाया जाता है वे प्रायः इन रोगों का अधिक शिकार होते हैं। बोतल का दूध पिलाने में बोतल को साफ करने, दूध बनाने आदि में कितनी ही सावधानी क्यों न बरती जाय, फिर भी संक्रमण की सम्भावना बनी रहती है। माता का दूध माता के स्तनों से सीधे बालक में जाता है, इसलिए इसमें संक्रमण की सम्भावना नहीं के बराबर होती है।

माता का दूध पचने में भी हलका होता है। इसमें चिकनाई की मात्रा प्रायः उतनी ही होती है जितनी बालक के लिए जरूरी होती है। माता के दूध में पायी जाने वाली प्रोटीन (Lactalbumin) गाय या भैंस के दूध में पायी जाने वाली प्रोटीन (Casein) की अपेक्षा शीघ्र पच जाती है। यहाँ तक कि अपक्व बालक (Pre-mature child) भी इसे आसानी से पचा लेते हैं।

आर्थिक दृष्टि से भी माता का दूध अन्य दूधों से कहीं अधिक लाभकारी है। डिब्बे का दूध प्रायः महंगा और गरीब आदमी की पहुँच के बाहर होता है। शहरों में गाय-भैंस का दूध भी दिन-पर-दिन दुर्लभ होता जा रहा है। वह भी साधारण आदमी की पहुँच से बाहर होता है। लेकिन माता का दूध बिना मोल ही प्राप्त होता है।

सुविधा की दृष्टि से भी देखें तो इसमें कोई झंझट नहीं होती । न तो इसमें हर बार बोतल साफ करने की जरूरत होती है और न उसे बनाने का झंझट मोल लेना पड़ता है । बालक जब भी भूखा होता है माता से उसे सही ढंग का दूध सही तापक्रम पर प्राप्त हो जाता है । कहीं सफर में जाना हो तो भी कोई परेशानी नहीं । रात में भी दूध पिलाने में कोई परेशानी नहीं ।

इससे गर्भ-निरोध में भी सहायता मिलती है । माता जब तक बच्चे को दूध पिलाती रहती है उसमें गर्भ-धारण की सम्भावना प्रायः नहीं रहती । इस परम्परागत विश्वास की आधुनिक आयुर्विज्ञान की खोजों से भी पुष्टि हो चुकी है ।

कुछ माताएँ इस भ्रम का शिकार होती हैं कि बच्चे को दूध पिलाने से उनके स्वास्थ्य और खूबसूरती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, स्तन ढलक जायेंगे आदि । लेकिन उनका ऐसा सोचना गलत है । इस बीच उनमें जो परिवर्तन होते हैं वे प्रायः अतिभोजन, निष्क्रियता या गर्भधारण के कारण ही होते हैं । वे बच्चे को दूध पिलायें या न पिलायें, उनके स्तनों के ऊतकों में जो परिवर्तन होने हैं वे तो होंगे ही । इन्हें वे अन्य उपायों से सुधार सकती हैं । स्तनपान कराने का सबसे बड़ा लाभ यह भी होता है कि इससे बढ़े हुए गर्भाशय को सिकुड़ कर अपनी वास्तविक स्थिति में आने में सहायता मिलती है ।

कुछ माताएँ बच्चे के रोने पर प्रायः यह समझती हैं कि वह भूखा है; उनके दूध से उसका पेट नहीं भरता जिससे वे उसे ऊपर का दूध भी पिलाना शुरू कर देती हैं । कुछ इसलिए भी कि कहीं बाद में बच्चा बोतल से ऊपर का दूध पीने में बेरुखी न अपना ले ।

छोटे बच्चे प्रायः पेट में अफारा, दर्द, ढीला पायखाना, कड़ा पायखाना, कब्ज, कै, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा आदि का शिकार होते हैं । ऐसी हालतों में भी कुछ माताएँ इस भ्रम का शिकार हो जाती हैं कि शायद उनका दूध बच्चे को अनुकूल नहीं पड़ रहा है । लेकिन प्रायः ऐसा नहीं होता । ठीक इसके विपरीत ऊपर का दूध पीनेवाले बच्चे ही प्रायः इन रोगों का अधिक शिकार होते हैं ।

इस मामले में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका माता की अभिवृत्ति या प्रेरक (Motivation) की होती है । यदि उसकी अभिवृत्ति बच्चे के प्रति अनुकूल है और वह उसे अपना दूध पिलाना चाहती है तो उसे कोई कठिनाई नहीं होती । ठीक इसके विपरीत यदि बच्चे के प्रति उसकी अभिवृत्ति प्रतिकूल है और वह उसे जाने या अनजाने दूध नहीं पिलाना चाहती तो उसे इसके लिए कोई-न-कोई बहाना मिल जाता है । जब माता बच्चे को दूध नहीं पिलाना

चाहती या दूध पिलाने से कतराती है तो मांग और आपूर्ति के सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप उसके स्तनों में दूध की मात्रा भी घटने लगती है।

दूध पिलाना कब शुरू करें !
(When to Start Nursing)

माता के स्तनों में प्रसवोपरान्त तीन-चार दिन वाद जो दूध उतरता है आयुर्वेद-संहिताओं में उसे ही प्रशस्त दूध या उत्तम स्तन्य माना गया है और उसे ही वालक को देने का विधान है। वृद्धवाग्भट तथा सुश्रुत के शब्दों में—

सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात् प्रसूतितः।
तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते॥

—अ० सं० उ० १।१३

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतूरात्रात्-त्रिरात्राद् वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते॥

—सु० शा० १०।१६

अर्थात् प्रसव के उपरान्त हृदयप्रदेश (स्तनों) में स्थित दुग्ध-वाहिनियों (शिराओं-धमनियों) के खुलने एवं फैलने से तीसरे या चौथे दिन स्त्रियों के स्तनों में दूध आ जाता है।

इससे पहले तीन दिनों तक जब तक माता के स्तनों में दूध नहीं उतरता शास्त्रों में पहले दिन वालक को अनन्ता से मिश्रित मधु और घृत मन्त्र से पवित्र करके और दूसरे तथा तीसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध घृत और मधु देने की बात कही गयी है। और चौथे दिन, जिस बालक को पिछले तीन दिनों से दूध नहीं दिया जा रहा है, उसकी हथेली के बराबर (जितना उसमें आ सके) घी अथवा घी और मधु असमान भाग में प्रातः और मध्याह्न चटा कर उसके बाद स्तनपान कराने का विधान है। वृद्धवाग्भट के शब्दों में—

ततः प्राङ्निवारितस्तन्यस्य स्वपाणितलसम्मितं सर्पिर्द्विकालं दापयेदनन्तरं स्तन्यमिष्टतः।

—अ० सं० उ० १।१५

लगभग इसी से मिलता-जुलता मत चरक और सुश्रुत ने भी व्यक्त किया है।

पहले तीन दिनों तक स्तनों से जो पीताभ तरल स्रवित होता रहता है, उसे 'मोरट' या 'पीयूष' (Colostrum) की संज्ञा दी गई है। यथा—

मोरटं गौर्नवे क्षीरे, प्रसूतिदिनमारभ्य सप्ताहात् परतो यावत् प्रसन्नतां न गच्छति तावन्मोरटमित्युच्यते, इति डल्हणः।

क्षीरं सद्यःप्रसूतायाः पीयूषमिति संज्ञितम्।

आयुर्वेद में पीयूष को गुरु और कफकारक माना गया है। इसलिए इसे वच्चे को देने का विधान नहीं है। हारीत ने तो स्पष्ट ही इसका निषेध किया है। उनके अनुसार—

प्रसूतासु च नारीषु बलेन सह सूयते।
तेन स्रोतोविशुद्धिः स्यात् क्षीरमाशु प्रवर्तते।
तस्मात्सद्यः प्रसूतायां जायते श्लैष्मिकं वयः॥
तेन कठिनतां याति तस्मात् तत्परिवर्जयेत्॥

—हारीतसंहिता प्र० स्था० अ० ८।११–१२

'प्रसविनी नारियों के गर्भाशय से वालक बलपूर्वक वाहर आता है। उस खिचाव के धक्के के कारण माता के शरीर के सारे स्रोत खुल जाते हैं। उनकी शुद्धि हो जाती है। उसी क्रम में स्तनों के स्रोतों के खुलने के कारण उनसे दूध वाहर आता है। किन्तु प्रसूता नारी का यह वलात् प्रवृत्त दूध कफ-दोष से भरा हुआ और अनावश्यक रूप से गाढ़ा होता है। ऐसा दूध वच्चे को नहीं पिलाना चाहिए।'

आधुनिक आयुर्विज्ञान वच्चे को पीयूष-पान कराने का समर्थन करता है। इस अवस्था में स्तन-पान कराने से न केवल दूध उतरने में सुविधा होती है, वल्कि पीयूष में कुछ ऐसे आवश्यक तत्त्व भी पाये जाते हैं जिनकी शुरू में वच्चे में कमी होती है। ये तत्त्व उसकी संक्रमणों से रक्षा करने में सहायक होते हैं। जॉली के मतानुसार—The frequency of infection with gram-negative organisms in the new-born is correlated with a lack of immunoglobulin M (1 gm.). Most of the antibacterial activity against gram-negatvie organisms is carried in this fraction which is too large to pass across the placenta from the maternal serum. Synthesis of this fraction by the baby usually commences during the first week, so that a transient deficiency exists for the first two weeks of post-natal life which is partly made good by colostrum.

—Diseases of Children by Hugh Jolly

इसलिए प्रसव और प्रारम्भिक परिचर्या के दौर से गुजरा श्रान्त-क्लान्त बालक जब कुछ स्थिरता का अनुभव करने लगे, प्रसव के लगभग ८–१० घण्टे बाद, तभी उसे स्तनपान कराना चाहिए। स्तन-पान कराने के पहले चूचुक को भली प्रकार साफ कर लें और पीयूष का कुछ अंश दबाकर निकाल दें।

हाँ, यदि किसी ऑपरेशन या कठिन-प्रसव के कारण माता स्वयं स्तन-पान कराने में अपने को असमर्थ अनुभव कर रही हो तो ३ आउंस उबाल कर ठण्डे किये हुए पानी में एक चम्मच चीनी घोलकर बच्चे को दिया जा सकता है। इसके ३–४ घण्टे बाद माता उसे अपना दूध पिला सकती है। आम धारणा है कि चीनी की अपेक्षा ग्लूकोज अधिक उपयोगी है। लेकिन यह सही नहीं है। ग्लूकोज से पेट अफर जाने की सम्भवना रहती है।

दूध कैसे पिलायें !
(How to Nurse)

दूध पिलाना शुरू करने के पहले माता निम्न बातों की ओर ध्यान दे—

१. अपने हाथों और चूचुकों की भली प्रकार सफाई कर लें।

२. दूध इतमीनान से पिलायें। दूध पिलाते समय उसका ध्यान बच्चे की ओर ही हो।

३. दूध यथासम्भव शान्त और एकान्त स्थान में ही पिलायें।

४. दूध किसी बिस्तर, सोफे या नीची कुर्सी पर आराम से बैठ या लेट कर ही पिलायें।

५. दूध पिलाते समय बच्चे को हाथों में इस प्रकार ले कि उसका सर पेट की अपेक्षा कुछ ऊपर रहे।

६. स्तन को बच्चे के मुँह पर दबायें नहीं, इससे उसे सांस लेने में असुविधा हो सकती है। उसे बीच-बीच में आराम की भी जरूरत हो सकती है।

७. चूचुक को बच्चे के मुँह में देने के लिए अनावश्यक रूप से उस पर झुकें नहीं, इससे आपकी पीठ में दर्द हो सकता है।

८. अगर करवट से लेटकर पिला रही हैं तो कोहनी पर अनावश्यक जोर न दें। इससे आपकी कोहनी में दर्द पैदा हो जा सकता है। अच्छा हो कि तकियों का सहारा ले लें।

९. बच्चे के बाहर की ओर के हाथ को स्वतन्त्र छोड़ दें। इससे बीच-बीच में उसे सक्रिय स्तनपान के क्रम में स्तनों पर मृदु आघात करने में सुविधा होगी।

अब बच्चे के गाल के अपने से निकटतम भाग पर एक हल्का-सा आघात करें, इससे बच्चे का मुँह तुरंत स्तन की ओर घूम जायेगा। और माता के वस्त्रहीन स्तनों का उसके गाल पर मृदुल स्पर्श होते ही उसमें चूसने की क्रिया जाग्रत हो जायगी।

दूध पिलाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा मात्र

चूचुक (Nipple) को ही नहीं बल्कि स्तन-मण्डन (Areola) को भी मसूढ़ों में दबाकर चूसे। मात्र चूचकों को ही दबाकर चूसने से एक तो उसे पूरा दूध नहीं मिलेगा, दूसरे उनमें दरारें पड़ सकती हैं या घाव हो जा सकता है।

दूध पिलाते समय इस बात का भी ध्यान रखें कि आपके स्तनों से बालक की नाक न रुंधने पाय अन्यथा वह दूध पीने के साथ-साथ मुँह से ही साँस लेने के लिए भी मजबूर होगा। इससे उसके पेट में काफी वायु चली जा सकती है जो उसकी बेचैनी, वमन और पेट-दर्द का कारण बन सकती है।

कभी-कभी बच्चे द्वारा स्तन मुँह में लेते ही एकबारगी काफी अधिक मात्रा में दूध आने लगता है जिससे बच्चे का गला रुंध जाता है और वह घबड़ाने लगता है। ऐसे में माता अपनी मध्यमा और तर्जनी उँगलियों को बच्चे के ओठों से ऊपर स्तन-मण्डल के दोनों ओर रखकर हलके से दबा कर दूध के प्रवाह को कम कर सकती हैं। जब स्तनपान सामान्य अवस्था में आ जाय तब उसे छोड़ दें।

स्तन-पान के शुरू के कुछ दिन बालक और नयी एवं अनुभवहीन माता दोनों के लिए कठिन होते हैं। बच्चे को दूध पीने और माता को ठीक से दूध पिलाने का अभ्यास करना पड़ता है। शुरू के दो सप्ताहों में ही कुछ माताएँ तो हताश होकर स्तनपान कराना छोड़ देती हैं।

दो-तीन दिनों में दूध का बहाव प्रायः सामान्य हो जाता है। शुरू-शुरू में बच्चे को थोड़ी-थोड़ी देर तक ही प्रत्येक स्तन का पान करने दें। धीरे-धीरे जब चूचुकों में कुछ कड़ापन आ जायेगा तब बालक को उतनी परेशानी का अनुभव नहीं होगा।

बच्चा प्रायः पहले पाँच-पाँच मिनटों में ही प्रत्येक स्तन से दूध पी लेता है। लेकिन धीरे-धीरे इसे बढ़ाकर दस से पन्द्रह मिनट तक प्रत्येक स्तन का पान करने दें। इस बात का भी ध्यान रखें कि अगर आप एक बार दाहिने स्तन से दूध पिलाना शुरू करती हैं तो अगली बार बायें स्तन से पिलाना शुरू करें। इससे स्तनों का अधिकांश दूध निकल जाता है और ग्रन्थियों में दुग्ध-निर्माण में सहायता मिलती है।

दूध पिलाने के बाद चूचुकों को साफ रूई या सूखे मुलायम कपड़े से पोंछकर साफ कर लें। अगर चूचुकों से दूध रिसता हो तो रूई के पैड्स का इस्तेमाल करें। चूचुकों को दिन में दो बार साफ पानी से धो लिया करें। उसमें कुछ हवा भी लगने दें। चूचुकों को मुलायम बनाये रखने के लिए दिन में दो बार किसी अच्छी क्रीम का इस्तेमाल करें।

दूध कितनी बार पिलायें !
(How Many Times to Feed)

इसका कोई व्यापक नियम नहीं है। कुछ चिकित्सकों का मत है कि बालक जब भी दूध मांगता है उसे दिया जाय। कुछ बच्चे दो-दो, कुछ तीन-तीन और कुछ चार-चार घंटे बाद दूध मांगते हैं। अगर माता घबड़ाये नहीं तो बच्चा स्वतः धीरे-धीरे दूध पीने में नियमित हो जाता है।

इस मामले में माता घड़ी की सूई न ताकती रहे। हो सकता है बच्चा शुरू में ३–३ घंटे बाद दूध पीता हो, बाद में ४–४ घंटे बाद पीने लगे। बच्चे को सोते से मात्र इसलिए न जगा दिया जाय कि उसका दूध पीने का समय हो गया है। दूसरी ओर यदि वह दूध माँगता है और पिलाने का समय नहीं हुआ है तो उसे प्रतीक्षा न करायी जाय।

कितनी देर तक पिलायें !
(How Long to Feed)

इसका भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसमें भी अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। कुछ बालक १०–१५ मिनट में ही पूरा दूध खींच लेते हैं। कुछ को ३०–४० मिनट भी लग जाते हैं। इसकी सीमा बच्चे की भूख और उसकी शारीरिक क्षमता पर निर्भर करती है। परिपक्व बच्चे अपरिपक्व बच्चों की तुलना में शीघ्र दूध खींच लेते हैं। औसतन दोनों स्तनों से दूध खींच लेने के लिए ३०–४० मिनट का समय पर्याप्त है।

पर्याप्त दूध-प्राप्ति का प्रमाण
(Is Your Baby Getting Enough Milk)

पहली बार माता बननेवाली प्रत्येक स्त्री शंकित रहती है कि उसके बच्चे को पर्याप्त दूध मिल रहा है या नहीं। आगे धीरे-धीरे वह अनुभव से सीख जाती है कि कब उसके बच्चे का पेट भरा और कब नहीं भरा।

कुछ माताएँ, अगर दूध पी लेने के बाद भी बच्चा रोता रहता है, तो समझती हैं कि उनके बच्चे को पर्याप्त दूध नहीं मिला। यह सच भी हो सकता है और नहीं भी। भूख के अलावा रोने के अन्य कारण भी हो सकते हैं, यथा—पेट में दर्द आदि।

माता के दूध को तो मापा नहीं जा सकता। यदि दूध पीने के बाद बच्चा २-३ घंटे तक नहीं रोता और उसका वजन जितना बढ़ना चाहिए बढ़ता जा रहा है, तो समझना चाहिए कि बच्चे को पर्याप्त दूध मिल रहा है; अन्यथा नहीं। पैदा होने के १० दिनों बाद से १०-१२ सप्ताह की अवस्था तक प्रत्येक बालक का वजन औसतन २५ ग्राम प्रतिदिन बढ़ता रहता है।

बच्चे को जितनी नींद आनी चाहिए यदि वह आती है, वह जमकर सोता है, उसका पेट ठीक है, पाखाना ठीक हो रहा है और उसकी वृद्धि सामान्य गति से हो रही है तो समझना चाहिए बच्चे को पर्याप्त दूध मिल रहा है।

स्तनपान कब और कैसे छुड़ाएँ !
(When and How to Wean)

इसका भी कोई निश्चित नियम नहीं है। यह तो माता और शिशु के बीच एक प्रकार का समझौता है। दूध छुड़ाने के सामान्य के अतिरिक्त अन्य कारण भी हो सकते हैं। इसमें किसी तरह की जोर-जबर्दस्ती नहीं होनी चाहिए।

कुछ माताओं का दूध जल्दी सूखता है कुछ का देर में। जो माता अच्छा और पुष्टिकर भोजन करती हैं, उन्हें डेढ़-दो वर्ष तक दूध आता है। शहरों में माताएँ प्रायः दूध शीघ्र छुड़ा देती हैं, देहात में अधिक समय तक पिलाती रहती हैं।

आधुनिक मतानुसार चार से छः महीने के बीच वह समय आ जाता है जब बालक को माता के दूध से वे सभी तत्त्व पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाते जो उसकी वृद्धि और विकास के लिए आवश्यक होते हैं। इसलिए इस बीच दूध के साथ-साथ अन्य पोषक आहार भी देना आरम्भ कर देना चाहिए।

स्तनपान एक-बारगी नहीं, बल्कि धीरे-धीरे छुड़ाना चाहिए। यदि आप स्तनपान के साथ-साथ पूरक खाद्य (Supplementary food) भी देते जाते हैं और उसकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाते जाते हैं तो इससे बालक स्वतः स्तन-पान करना छोड़ देता है। इस बीच यदि दूध भर जाने से स्तनों पर अधिक तनाव मालूम हो तो ३० से ६० सेकेण्ड तक बच्चे को दुग्धपान करा दें। इससे तनाव कम हो जायेगा।

यदि माता को किसी कारणवश एकाएक दूध पिलाना छुड़ाना पड़े तो दूध को सुखाने के लिए चिकित्सकीय सहायता आवश्यक हो जाती है।

वाग्भट ने दूध-छुड़ाने की प्रक्रिया का विशद वर्णन किया है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—

> अथैनं जातदशनं क्रमशोऽपनयेत् स्तनात्।
> पूर्वोक्तं योजयेत् क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम्॥
>
> —अ. सं. उ. १।६६

'जब बच्चे के दाँत निकल आयें तब धीरे-धीरे उसका दूध छुड़ा देना चाहिये। उसको लघुपंचमूल से सिद्ध दूध और हलका पौष्टिक आहार देना शुरू कर देना चाहिए।'

कुछ बच्चे दूध छुड़ाते समय माता को वहुत तंग करते हैं और जल्दी छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे बच्चों के लिए उनका निर्देश है—

कुर्यादपस्तनं स्नेहसङ्क्रान्त्या स्तनलेपनैः।
बीभत्सैर्यावकासेककृत्रिमक्षतदर्शनैः ॥

—अ. सं. उ. १।६७

'दूध छुड़ाने के क्रम में (ऊपर से दिखलाते हुए) स्नेह-प्रेम को कम करके दूध पिलाना कम करना चाहिए। इसके लिए वीभत्स लेपों का सहारा लेना चाहिए। लाख, महावर या सिन्दूर आदि से (जिनसे बालक को रक्त का भान हो) स्तन पर कृत्रिम व्रण बनाकर दिखाना चाहिए।' लेकिन इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि ये चीजें बच्चे के पेट में न जाने पाय।

माता के दूध के अभाव में
(In the Absence of Mother's Milk)

माता के दूध के अभाव में आयुर्वेद में धात्री का दूध देने की व्यवस्था है। जब इन दोनों में से कोई दूध उपलब्ध न हो तो बकरी या गाय का दूध लघुपंचमूल (बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू, शालपर्णी तथा पृष्ठपर्णी) अथवा केवल शालपर्णी और पृष्ठपर्णी से सिद्ध करके देना चाहिए।

अध्याय १०

बालक का आहार (२)

धात्री का दूध

(Wet Nurse or a Foster Mother)

यों तो माता का दूध सर्वोत्तम होता है। उसकी बराबरी कोई दूध नहीं कर सकता। पर कभी-कभी माता में स्तन्य की कमी या अभाव, माता के दूध के सात्म्य न होने, माता के किसी ऐसे रोग या विकृति से पीड़ित होने के कारण जिससे वह शिशु को अपना दूध पिलाने में असमर्थ हो या माता के अभाव के कारण बच्चे को दूध पिलाने की वैकल्पिक व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। माता के अभाव में जो स्त्री बालक को अपना दूध पिलाती है या जिसे दूध पिलाने के लिए रखा जाता है उसे धात्री या धाय कहते हैं। अष्टांगसंग्रह में ऐसे में दो धात्रियों के रखने का परामर्श दिया गया है। यथा—

स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पति वत्सले।

धात्री-परीक्षा

(Examination of a Wet Nurse)

धात्री का दूध सही अर्थों में माता के दूध का स्थानापन्न हो सके, इसके लिए धात्रियों के चुनाव में अधिक सतर्कता बरतनी चाहिए। धात्री कैसी होनी चाहिए, उसमें कौन-कौन-सी विशेषताएँ होनी चाहिए, इसका आयुर्वेद की वृहत्त्रयी में विस्तार से वर्णन किया गया है—

'अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्यामः। अथ ब्रूयात्—धात्रीमानय समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातां वत्सलामरोगां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामनुच्चारशायिनीमनन्त्यावसायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति। —चरक-शारीर ८।५२

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यं बलवृद्धये बालस्य। —सुश्रुत-शारीर, १०।२५

'अथास्य समानवर्णा मध्यमवयाः शुचिरलोलुपा निभृतानातुरा जीवद्वत्सा वत्सला दक्षिणा ब्रह्मचारिण्यव्यङ्गा बहुक्षीरा शुक्लाम्बराचारा दीर्घह्रस्वादिदेह-

दोषाष्टकरहिता अलम्बोर्ध्वचूचुकातिपीनहीनस्तनदोषमुक्ता युक्तचूचुका धात्री स्यात् तस्यैव स्तन्यं पिबेत् । —अ. सं. उ. १।२२

इनमें धात्री में निम्न गुण बतलाये गये हैं—

१. धात्री को समान वर्ण का होना चाहिए। यदि बालक ब्राह्मण है तो उसके लिए ब्राह्मण, यदि क्षत्रीय है तो उसके लिए क्षत्रीय, यदि वैश्य है तो उसके लिए वैश्य और शूद्र है तो उसके लिए शूद्र वर्ण की धात्री होनी चाहिए।

२. मध्यम वय की अर्थात् प्रौढ़ा होनी चाहिए। अल्पवय की होगी तो बच्चे की न तो ठीक से देखभाल कर सकेगी और न उसे उतना प्यार ही दे सकेगी। ज्यादा उम्र की होगी तो एक तो उसका स्तन्य पुष्ट नहीं होगा और दूसरे वह कष्ट भी नहीं सह सकेगी। जो अपना ही आराम देखेगी वह बच्चे की क्या सेवा करेगी।

३. धात्री को उच्च कुल का होना चाहिए। उच्च कुल का होने से उसके आचार-विचार भी उच्च होंगे। उसका व्यवहार प्रशस्त होगा। ये ही संस्कार वह बालक को भी देगी।

४. धात्री को उसी देश का होना चाहिए, जिस देश का बालक है। भिन्न देश होने से रहन-सहन भिन्न होगा, संस्कार भिन्न होंगें। रहन-सहन भिन्न होने से हो सकता है कि धात्री के लिए जो सात्म्य हो, बालक के लिए सात्म्य न हो। भाषा और संस्कारों की भिन्नता भी बालक के लिए परेशानी पैदा कर सकती है।

५. धात्री में कोई दुर्व्यसन नहीं होना चाहिए, यथा—मद्यपान, धूम्रपान आदि। उससे बालक के संस्कार बिगड़ सकते हैं। दूसरे, अपने दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिए वह गलत रास्ते भी अपना सकती है।

६. धात्री को बालक की रक्षा और उपचार में कुशल होना चाहिए। धात्री बालक को मात्र दूध पिलानेवाली ही नहीं, उसकी परिचारिका भी होती है। बालक के बीमार पड़ने पर उसकी तीमारदारी का भार उसी पर होता है। उसके खान-पान आदि का ध्यान उसी को रखना पड़ता है। इसलिए उसमें एक कुशल उपचारिका के सभी गुण होने चाहिए। उसे अपने कर्तव्य का पूरा बोध होना चाहिए।

७. धात्री को पूर्णतः स्वस्थ और निरोग होना चाहिए। स्वस्थ न होने से उसका मन शान्त नहीं रहेगा और वह बालक की सेवा-सुश्रूषा ठीक से नहीं कर सकेगी। दूसरे, उसके रोग का प्रभाव बालक पर भी पड़ सकता है।

८. धात्री को अजुगुप्सिता होना चाहिए। हो सकता है जिस बालक के लिए उसे रखा जा रहा है वह बीमार हो, चिड़चिड़ा हो, विकृत हो, अतिसार-

प्रवाहिका आदि रोगों से पीड़ित रहने के कारण वस्त्रादि गंदे करते रहता हो। ऐसी दशा में यदि धात्री नाक-भौं सिकोड़ने वाली हुई तो वह बालक की सेवा ठीक से नहीं कर सकेगी।

९. धात्री को स्वभाव से ही स्वच्छताप्रेमी होना चाहिए। उसे आदतन साफ-सुथरा रहनेवाला होना चाहिए। अन्यथा घर में तो वह मालिक के डर से सफाई का ध्यान रखेगी, परन्तु घर से बाहर निकलते ही गंदे लोगों से मिलेगी, बच्चे को गंदी जगह पर खेलने के लिए छोड़ देगी।

१०. धात्री को सतत जागरूक और अपने कर्तव्य के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। उसे आलसी एवं निद्रालु स्वभाव का नहीं होना चाहिए; अन्यथा बालक भूख से रोता रहेगा, गंदगी में पड़ा रहेगा और वह खर्राटे भरती रहेगी।

११. धात्री को विश्वासपात्र एवं स्वामिभक्त होना चाहिए; अन्यथा वह थोड़े से लाभ के लिए बालक को कुछ भी हानि पहुँचा सकती है। उसे हीन प्रवृत्ति की एवं नीचकर्मवाली नहीं होना चाहिए।

१२. धात्री को अलोलुप होना चाहिए। लोभी, लालची या चटोर नहीं होना चाहिए; अन्यथा वह बालक के खाद्य-पदार्थों को स्वयं चट कर जायेगी। उसका ध्यान बराबर खाने की चीजों की ओर लगा रहेगा। विषम, अपवित्र, अपथ्य, कुपथ्य आदि के सेवन से उसका पेट बराबर खराब रहेगा और उसका दुष्प्रभाव उसके स्तन्य पर पड़ेगा।

१३. धात्री को शान्त, गंभीर, वत्सल, अनातुर एवं शुद्ध आचार-विचार वाला होना चाहिए।

१४. धात्री को जितेन्द्रिय अर्थात् अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाला होना चाहिए। कामातुरा एवं व्यभिचारिणी स्त्रियाँ स्वभाव से ही चंचल एवं अविश्वसनीय होती हैं। वे ठीक से बालक की सेवा-सुश्रूषा नहीं कर सकतीं। बीच में ही गर्भवती हो जाने से उनके दूध पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

१५. धात्री को पुत्रवती होना चाहिए। जिसका पुत्र मर गया हो या होकर मर जाते हों, उसे रखना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक नहीं होता। तुरंत भावनात्मक प्रश्न आ खड़ा होता है। हो सकता है बच्चे की मृत्यु का कारण उसका कोई रोग, उसकी लापरवाही या उसका दूषित दूध रहा हो। ऐसे में इस बच्चे को भी हानि पहुँचने की आशंका हो सकती है। माता के दूध का संगठन बालक की आयु-वृद्धि के साथ बदलता रहता है। इसलिए

श्रेयस्कर तो यही होगा कि धात्री के बालक की वय भी वही हो, जो उस बालक की है, जिसको दूध पिलाने के लिए वह रखी गयी है।

१६. धात्री को स्तनदोष से रहित होना चाहिए। उसके स्तनों को न अधिक पीन होना चाहिए और न अधिक शिथिल; ऐसा होने पर उनसे बालक के नाक-मुँह दब या ढँक जायेंगे और उसे दूध पीने में असुविधा होगी। मुँह-नाक के एक साथ बंद हो जाने के कारण दम घुटने से बालक की मृत्यु भी हो सकती है। उसके चूचुक न तो अन्दर धँसे हुए हों और न अधिक उठे हुए। अन्दर धँसे हुए होने से भी बालक को दूध पीने में कठिनाई होगी तथा उठे होने से भी बालक को दूध पीते समय बराबर ऊपर देखते रहना होगा। यह उसकी आदत बन सकती है। उसके निकलते हुए दाँतों की समरूपता बिगड़ सकती है। सुश्रुत ने भी कहा है—**ऊर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्।** —शारीर १०।२६

१७. धात्री के स्तनों में दूध प्रचुर मात्रा में होना चाहिए। तभी वह अपने और स्वामी के बच्चे को पर्याप्त दूध पिलाने में समर्थ हो सकेगी।

१८. धात्री को आठों प्रकार के शारीरिक दोषों से रहित होना चाहिए। उसे अति लम्बा, अति नाटा, अति श्वेत, अति कृष्ण, अतिलोमा (जिसके शरीर पर अधिक रोएँ हों), अलोमा (रोमहीन), अति स्थूल अथवा अति कृश नहीं होना चाहिए।

१९. उसे सम्पूर्ण अंगों वाला होना चाहिए। कोई अंग कम या अधिक न हो। वह विकलांग या विकृतांग न हो।

धात्री के व्यक्तित्व का भी बालक पर प्रभाव पड़ता है। एक तरह से वह स्थानापन्न माता होती है। उसे धाय-माँ कहा भी जाता है। इसलिए वह माता के समान जितना ही अधिक शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से युक्त होगी, बालक के लिए उतना ही अधिक आकर्षण का केन्द्र बनेगी। बालक चाव से उसका स्तनपान करेगा। इसलिए धात्री का चुनाव करते समय उक्त गुणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जिसमें उक्त गुणों में से अधिकांश गुण अधिक से अधिक मात्रा में पाये जायँ वही बालक की सफल धात्री हो सकती है।

धात्री के दूध की परीक्षा
(Examination of the Milk of a Wet Nurse)

उक्त गुणों से युक्त धात्री का चुनाव कर लेने के बाद भी बालक को स्तन-पान कराने के पहले उसके दूध की परीक्षा कर लेना आवश्यक है। यह परख

लेना चाहिए कि उसका दूध बालक के लिए सात्म्य होगा या नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्यों का मत ध्यान देने योग्य है—

स्तन्यसम्पत् तु प्रकृतिवर्णगन्धरसस्पर्शम्, उदकपात्रे च दुह्यमानमुदकं व्येति प्रकृतिभूतत्वात्। तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति। —चरक-शारीर ८।५४

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सुन्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात् तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति। —सुश्रुत-शारीर १०।३५

धात्री के दूध का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सभी कुछ प्रकृति-शुद्ध अवस्था में होने चाहिए। उसके दूध की धार को शुद्ध पात्र में रखे शुद्ध एवं निर्मल जल में डालकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि दूध—

१. स्वच्छ, पतला एवं शीतल है।

२. उसका वर्ण शंखवत् है।

३. उसका रस मधुर है।

४. जल में डालने पर वह घुल-मिल जाय। न तो उतराय, न डूब जाय। जल पर फेन या बुदबुदे न आयँ।

५. वह तन्तु-रहित हो।

तो उसे प्रशस्त दूध मानना चाहिए। ऐसा दूध बालक के लिए सात्म्य, आरोग्यदायक एवं पुष्टिकारक होता है। उसे पीने से बालक को आरोग्य प्राप्त होता है, अंग-प्रत्यंगों की पुष्टि होती है और बल की वृद्धि होती है।

धात्री बच्चे को दूध कैसे पिलाये!

(How to Start Nursing the Child)

अथ धात्री स्नातानुलिप्ता नित्यमहतवासाः सुमनाः प्रजास्थापनौषधीः शिरसा बिभ्राणा प्राङ्मुखी स्तनं प्राग्दक्षिणं धौतमीषत्परिस्रुतं पाययेत्।

—अ. सं. उ. १।२४

धात्री को स्नान करके, शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों (चन्दन आदि) का लेप करके, साफ और धुले हुए वस्त्र पहनकर, प्रसन्न मन से, ऐन्द्री-दूर्वा आदि प्रजास्थापनी औषधियों को सिर पर धारण करके, पूर्व की ओर मुख करके पहले दाहिने स्तन से दूध पिलाना चाहिए।

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चोपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्।

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः।
भवन्तु सुभगे! नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥

पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा॥

—सुश्रुत-शारीर १०।२९-३१

'अच्छे मुहूर्त में बालक को सिर से नहलाकर, अच्छे नये वस्त्र पहनाकर उत्तर की ओर बैठाये। धात्री को पूर्व की ओर मुँह करके बैठाये। फिर धात्री दाहिने स्तन को धोकर, थोड़ा-सा दूध बाहर निकाल कर निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बालक को पिलाये।'

'हे सुभगे! तुम्हारे स्तनों में दुग्ध का वहन करनेवाले चारों समुद्र बालक के बल की वृद्धि के लिए हों।'

'शुभानने! जिस प्रकार देवता अमृत का पान करने से दीर्घायु हुए, उसी प्रकार अमृतस्वरूप तुम्हारे दूध का पानकर बालक भी दीर्घायु हो।'

धात्री द्वारा बालक को दुग्धपान का आरम्भ एक शुभ कार्य है। इसलिए पवित्रता एवं सफाई का पूरा ध्यान रखते हुए मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित कर इसके आरम्भ करने का विधान है।

दूध पिलाना शुरू करने के पहले स्तनों को धोना और उनसे थोड़ा दूध निकाल देना आवश्यक होता है। दूध पिलाने के बाद यदि तत्काल स्तनों की सफाई न की गई तो चूचुकों पर लगा दूध सूख जाता है। वह खराब भी हो सकता है। इसलिए हर बार दूध पिलाने के पहले तथा बाद में चूचुकों को धो लेना चाहिए।

देर तक रुके रहने से स्तन दूध से भर जाते हैं। चूचुकों के छिद्र अवरुद्ध हो जाते हैं। ऐसी हालत में यदि बालक उनपर एकाएक मुँह मारता है तो वेगभरे घूँटों के कारण बालक का कण्ठ और श्वासनली अवरुद्ध हो सकती है, उसे कै हो सकती है, खाँसी आ सकती है, श्वास अवरुद्ध हो सकती है। इसी लिए बालक को दुग्धपान कराना आरम्भ करने के पूर्व थोड़ा-सा दूध गिरा देना आवश्यक है। इसीलिए सुश्रुत ने कहा है—

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमिप्रादुर्भावः। तस्मादेवंविधं स्तन्यं न पाययेत्। सुश्रुत-शारीर, १०।३३

धात्री को दूध कब नहीं पिलाना चाहिए
(When not to Nurse)

न च क्षुधित-शोकार्त-श्रान्त-क्रुद्ध-प्रदुष्टधातु, गर्भिणीज्वरिता-ऽतिक्षीणा-ऽतिस्थूल-विदग्धभक्ष्य-विरुद्धाहार-तर्पितायाः स्तन्यं पाययेद्, नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात्। —सु. शा. १०।३६

धात्री को निम्न स्थितियों में बालक को दूध नहीं पिलाना चाहिए—

१. जब वह भूखी हो।
२. शोकाकुल हो।
३. काम, क्रोध आदि प्रतिकूल संवेगों से पीड़ित हो।
४. थकी हुई हो।
५. उसकी रस, रक्तादि धातुएँ दूषित हों।
६. उसकी ली हुई औषधि जीर्ण न हुई हो।
७. उसने विरुद्ध अन्नपान किया हो।
८. वह गर्भवती हो।

इन स्थितियों में धात्री का दूध प्रायः दोषपूर्ण हो जाता है और उस दूषित दूध को पीने से बालक अनेक प्रकार के विशेष कर पेट के रोगों का शिकार हो सकता है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है—

भवन्ति चात्र—
धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्य प्रदुष्यति॥
मिथ्याऽऽहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः॥
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत्॥

—सुश्रुत-शारीर० १०।३७-३८

अर्थात् 'धात्री के गुरु, विषम एवं दोषयुक्त आहार के फलस्वरूप उसके शरीर में दोष प्रकुपित होते हैं। दोषों के प्रकोप से दूध भी दूषित हो जाता है। मिथ्या आहार-विहार करनेवाली स्त्रियों के वातपित्तादि दोष कुपित होकर दूध को भी दूषित कर देते हैं। इस दूध को पीने से बालक में अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। कुशल वैद्य इनको भली प्रकार जाने।'

धात्रियों को बार-बार बदलना नहीं चाहिए
(Change of Nurses Frequently Not Desirable)

बालक के हक में यह अच्छा है कि उसे माता के समान ही शुरू से अन्त तक एक ही धात्री का दूध मिले। वह दूध उसके लिए सात्म्य हो जाता है। बार-बार दूध बदलने से असात्म्य होने के कारण बालक अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो जा सकता है।

यदि बालक को माता और धात्री दोनों में से किसी का दूध भी उपलब्ध न हो तो उसे ऊपर का या कृत्रिम दूध देना चाहिए। इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

अध्याय १२

स्तन्य-विकृति

(Deviation of Lactation)

स्तन्य की विकृतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्तन्य की वृद्धि या क्षय तथा स्तन्य-दोष। स्तन्य का आवश्यकता से अधिक होना उसकी वृद्धि और कम होना या न होना क्षय कहलाता है।

स्तन्य-वृद्धि

(Excessive Lactation)

जब माता के स्तनों में इतना दुग्ध होता है कि बालक को पिलाने के बाद भी शेष रह जाता है, उसके स्तन खाली नहीं होते तो उसे स्तन्य-वृद्धि की संज्ञा दी जाती है। स्तन्यवृद्धि के लक्षणों को बतलाते हुए सुश्रुत ने कहा है—

स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च।

अर्थात् 'स्तन्य की वृद्धि से स्तनों का आकार बढ़ जाता है। उनमें शोथ हो जाता है। बार-बार दूध की प्रवृत्ति (स्राव) होने लगती है। उन पर तनाव आ जाता है। पीड़ा होने लगती है।'

स्तन्य-वृद्धि का कारण

(Causes of Excessive Lactation)

धातुओं की वृद्धि के सामान्य सिद्धान्त की विवेचना करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

पूर्वं पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेति परं परम्।

अर्थात् प्रत्येक पूर्व धातु के बढ़ने पर वह अपनी समीपवर्ती उत्तर धातु को बढ़ा देती है। रस के बढ़ने पर रक्त, रक्त के बढ़ने पर मांस, मांस के बढ़ने पर मेदा, मेदा के बढ़ने पर अस्थि, अस्थि के बढ़ने पर मज्जा और मज्जा के बढ़ने पर शुक्र या आर्तव की वृद्धि हो जाती है। आर्तव धातु के बढ़ने से स्तन्य की वृद्धि होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रसवर्धक पदार्थों के अति सेवन से ही स्तन्य की वृद्धि होती है।

स्तन्य-वृद्धि की चिकित्सा

(Treatment of Excessive Lactation)

चिकित्सा का पहला सिद्धान्त है निदान का परिवर्जन अर्थात् रसवर्धक या कफवर्धक पदार्थों के सेवन में कमी। आनुषंगिक चिकित्सा के रूप में ब्रीस्ट-

पम्प (Breast pump) की सहायता से बढ़े हुए दूध को निकाल दिया जा सकता है। लेकिन दूध को उतना ही निकालना चाहिए जितने से स्तनों की पीड़ा एवं तनाव शान्त हो जाय।

स्तन-शोथ को दूर करनेवाले लेप भी इसमें उपयोगी होते हैं। हल्दी और धतूरे के पत्तों का कल्क बनाकर लेप करने से भी अति स्तन्यवृद्धि के कारण बढ़ी हुई पीड़ा शान्त हो जाती है और तनाव कम हो जाता है।

स्तन्यक्षय या स्तन्यनाश
(Lack of Lactation)

सन्तानोत्पादन के उपरान्त स्तनों में दूध की प्रवृत्ति एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी से सन्तान का पोषण होता है। लेकिन कभी-कभी किसी-किसी स्त्री में दूध नहीं उतरता या उतरता भी है तो कम। कुछ में उतरता तो ठीक है पर बाद में उसमें कमी आ जाती है या वह सूख जाता है। इसी को स्तन्यनाश या स्तन्यक्षय (Failure of Lactation) कहते हैं।

स्तन्यनाश के कारण
(Causes of Failure of Lactation)

इस सम्बन्ध में निम्न दो बातें विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं—

१. सभी स्त्रियों में दूध समान मात्रा में नहीं उतरता। इसमें अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। किसी में कम उतरता है, किसी में अधिक, किसी-किसी में तो इतना कम उतरता है कि उससे बालक का पेट भी नहीं भरता।

२. दूध सभी अवसरों पर समान मात्रा में नहीं आता। कभी कम आता है, कभी अधिक। प्रायः प्रातःकाल सबसे पहली बार दूध की मात्रा सबसे अधिक होती है। फिर कम होते-होते रात में सबसे कम हो जाती है। इसी प्रकार खान-पान तथा माता की मनःस्थिति के कारण भी दूध की मात्रा घट-बढ़ जाती है। यह स्वाभाविक घटा-बढ़ी मानी जाती है।

स्तन्यनाश के निम्न प्रधान कारण हैं—

१. सामान्य स्वास्थ्य में गिरावट।

२. सगर्भावस्था अथवा प्रसवोत्तरकाल में स्त्री की देख-भाल में कमी एवं कुपोषण।

३. प्रसवकाल में या प्रसव के पश्चात् अत्यधिक रक्तस्राव के कारण उत्पन्न गम्भीर रक्ताल्पता (Anaemia)।

४. दुग्ध-ग्रन्थियों में दुग्धोत्पादन को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करनेवाले रोग या विकृतियाँ।

५. मानसिक तनाव या प्रतिकूल मनःस्थितियाँ, यथा—वात्सल्य का अभाव, भय, चिन्ता, शोक आदि। आयुर्वेद में स्तन्यनाश के कारणों में मानसिक कारणों को ही अधिक प्रधानता दी गयी है। सुश्रुत ने कहा है—

क्रोधशोकवात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति।

—सु. शा. १०।४३

स्तन्यनाश की चिकित्सा
(Treatment of Failure of Lactation)

स्तन्यनाश का कारण अगर कोई अन्य रोग या कुपोषण है, तो सबसे पहले वही दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। जैसे-जैसे मूल रोग में कमी आयेगी, दूध की मात्रा स्वतः बढ़ती जायेगी। दूध पिलानेवाली माता या धात्री का भोजन भी उचित मात्रा में एवं पर्याप्त पोषकतत्त्वों से युक्त होना चाहिए। मूँग की दाल का यूष, दूध तथा मांसरस विशेषरूप से दुग्धवर्धक माने गये हैं। धात्री को दिन भर में कम से कम साढ़े तीन लीटर दूध या तरल पदार्थ लेना चाहिये।

आयुर्वेद की संहिताओं में अनेक दुग्धवर्धक योग दिये गये हैं। चरक ने दुग्धोत्पादक पदार्थों में विशेष रूप से निम्न पदार्थों की गणना की है—

१. सीधु नामक मदिरा को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के मद्य।

२. ग्राम्य, आनूप एवं औदक शाक-सब्जियाँ, फल, धान्य एवं मांसरस।

३. मधुर, अम्ल एवं लवण रसवाले पदार्थ।

४. दूध एवं दूध से बने पदार्थ।

५. क्षीरी या दूधवाली औषधियाँ।

६. पूर्ण विश्राम।

सुश्रुत ने जौ, गेहूँ, साठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर, तिल-कल्क, लहसुन, मछली, कसेरू, सिंघाड़ा, कमलकन्द, बिदारीकन्द, मुलेठी, शतावर, नाड़ीशाक, कद्दू एवं कालशाक की दुग्धवर्धक पदार्थों में गणना की है।

योगरत्नाकर एवं भैषज्यरत्नावली में स्तन्यवर्धन के लिए निम्न योग बतलाये गये हैं—

१. जंगली कपास और ईख—इन दोनों की जड़ों को काँजी के साथ पीसकर पिये।

२. बिदारीकन्द के चूर्ण को सुरा में घोलकर पिये।

३. शालि-चावलों को दूध के साथ पीस करके पानी में घोलकर पिये। दूध-भात का भोजन करे।

४. हरिद्रादिगण अथवा वचादिगण की औषधियों का क्वाथ।

५. भारंगी, दारुहरिद्रा, वच, पाठा, और अतीस का क्वाथ।

६. विदारीकन्द या शतावर को गोदुग्ध के साथ पीसकर छान ले, फिर शर्करा मिलाकर पिये।

७. पीपल का चूर्ण किंचित् उष्ण शर्करा-मिश्रित गो-दुग्ध में मिलाकर पीने से भी स्तन्यवृद्धि होती है। पेटेंट औषधियों में अलार्सिन का लेप्टाडन (Leptaden), चरक का गेलाकोल (Galakol) तथा झण्डु का शतावरेक्ष भी अच्छा काम करता है।

स्तन्यनाश में युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा से कहीं अधिक सत्त्वावजय-चिकित्सा (Psychotherapy) का महत्त्व है। माता को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध, शोक, भय, चिन्ता आदि को उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों से उसकी रक्षा करनी चाहिए। नवजात शिशु के प्रति अनुकूल मनोभावों को उत्पन्न कर वात्सल्य में वृद्धि करनी चाहिए। सच पूछिये तो दुग्धोत्पादक कारणों में सबसे प्रधान कारण वात्सल्य ही है। जिस स्त्री में वात्सल्य की जितनी ही अधिकता होती है, उसमें दूध भी उतनी ही अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। देहाती क्षेत्रों की सीधी और सरल हृदय वात्सल्य से भरपूर माताएँ, जिनको प्रायः पेट भरने के लिए पर्याप्त भोजन भी नहीं मिलता, शायद ही कभी दूध की कमी की शिकायत करती हों। वे जानती हैं कि उनकी सन्तान को मात्र उनके दूध का ही सहारा है। वही उनकी वृद्धि और जीवन-रक्षा का प्रधान स्रोत है।

स्तन्य-दुष्टि
(Deformation of Milk)

स्तन्य के दोषपूर्ण हो जाने को स्तन्य-दुष्टि कहते हैं। इसमें दूध अपने स्वाभाविक गुणों को खोकर विकृत रूप धारण कर लेता है।

प्रशस्त दूध देखने में स्वच्छ, पतला एवं शंखवत् श्वेत होता है। उसका स्पर्श शीतल एवं रस मधुर होता है। पानी में डालने पर वह उसी में घुल-मिल जाता है। उसके पृथक् अस्तित्व का कोई चिह्न अवशेष नहीं रह जाता।

दूध के विकृत रूप धारण कर लेने पर उसके रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सभी में परिवर्तन आ जाता है। उसका भौतिक संगठन एवं उसके रासायनिक गुण बदलने लगते हैं। आयुर्वेद में स्तन्य के दोषों की चर्चा विस्तार से की गयी है।

चरक ने दूध के दोषों को आठ प्रकार का बतलाया है—**'अष्टौ क्षीरदोषाः इति—वैवर्ण्यं, वैगन्ध्यं, वैरस्यं, पैच्छिल्यं, फेनसङ्घातो रौक्ष्यं गौरवमतिस्नेहश्चेति'**। अर्थात् दूध का बदरंग होना, दुर्गन्धयुक्त होना, स्वाद का बदल

जाना, पिच्छिल होना, फेनयुक्त होना, रूक्ष होना, भारी होना तथा अत्यधिक स्नेह से युक्त हो जाना—दूध के ये आठ दोष कहलाते हैं।

पुनः उन्होंने इन आठ प्रकार के विकारों को उत्पत्ति के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा है—वातज, पित्तज और कफज। विरसता, फेनयुक्तता और रूक्षता—ये वातज स्तन्य-दुष्टि के लक्षण हैं। विवर्णता और दुर्गन्धयुक्तता—ये पित्तज स्तन्य-दुष्टि के लक्षण हैं। स्नेहयुक्तता, पिच्छिलता और भारीपन—ये कफज स्तन्य-दुष्टि के लक्षण हैं।

उन्होंने वातज, पित्तज और कफज स्तन्य-दुष्टि के लक्षणों की भी चर्चा विस्तार से की है।

वातज स्तन्य-दुष्टि के लक्षण
(Signs of Milk Deformed by Vata)

श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनालक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवं फेनिलं लघ्व-तृप्तिकरं, कर्शनं वातविकाराणां कर्तृ वातोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥

च. शा. ८।५५

जो दूध श्याव या अरुण वर्ण का हो, पीने पर अन्त में कषाय रस का अनुभव हो, विशद (स्वच्छ) हो, जिसकी गन्ध स्पष्ट न हो, जो रूक्ष हो, अधिक पतला हो, फेनयुक्त हो, लघु हो, जिसके पीने से बालक की तृप्ति न होती हो, जिसके पीने से बालक और भी कृश एवं दुर्बल होता जाय, जो इसी प्रकार के अन्य वात-विकारों को उत्पन्न करनेवाला हो, उसे वात से दूषित समझना चाहिए। वाग्भट के अनुसार वात से दूषित दूध बच्चे में दूध के प्रति अरुचि एवं आध्मान उत्पन्न करता है। मल-मूत्र का अवरोध करता है।

पित्तज स्तन्य-दुष्टि के लक्षण
(Signs of Milk Deformed by Pitta)

कृष्ण-नील-पीत-ताम्रावभासं तिक्ताम्लकटुकानुरसं कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णं पित्तविकाराणां कर्तृ च पित्तोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥ च. शा. ८।५५

जो दूध काला, नीला, पीला या ताम्रवर्ण का हो, पीने में तिक्त, अम्ल एवं कटु मालूम हो, जिसमें सड़े मुरदे या रक्त की-सी गन्ध आती हो, जिसका स्पर्श अधिक उष्ण हो, जो अनेक पित्त विकारों को उत्पन्न करता हो, उसे पित्त से दूषित समझना चाहिए। ऐसा दूध दाह उत्पन्न करनेवाला होता है।

कफज स्तन्य-दुष्टि के लक्षण
(Signs of Milk Deformed by Kapha)

अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैलवसामज्जगन्धि पिच्छिलं तन्तुमदुदकपात्रेऽवसीदच्छ्लेष्मविकाराणां कर्तृ श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥

च. शा. ८।५५

जो दूध देखने में अत्यधिक श्वेत हो, पीने में अत्यन्त मधुर हो, अन्त में नमकीन लगे; जो घी, तेल, मज्जा अथवा वसा की-सी गन्धवाला हो, पिच्छिल (चिपचिपा) एवं तन्तुयुक्त हो, जलभरे पात्र में डालते ही उसमें बैठ जाए, अनेक प्रकार के कफज रोगों को उत्पन्न करनेवाला हो, उसे कफ से दूषित समझना चाहिए।

स्तन्य-दुष्टि के कारण
(Causes of Deformation of Milk)

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात्।
लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात्॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात्।
प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि-मन्दकम्॥
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात्।
अनायासादभीघातात् क्रोधाच्चातङ्ककर्षणैः॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च।
कुर्युरष्टविधं भूयो दोषतस्तन्निबोध च॥ च. चि. ३०।२३२-३६

चरक ने स्तन्य-दुष्टि के प्रधानतया निम्न कारण वतलाये हैं—

१. अजीर्णता।
२. असात्म्य, विरुद्ध, विषम तथा अत्यधिक भोजन से।
३. लवण, अम्ल, कटु, क्षार तथा सड़े-गले द्रव्यों के अत्यधिक सेवन से।
४. मन और शरीर के अत्यधिक दुखी होने से।
५. क्रोध, भय, शोकादि मनोविकारों के अधिक समय तक बने रहने से।
६. आये हुए वेगों को रोकने से।
७. अनुत्पन्न वेगों को बलात् त्याग करने के प्रयास से।
८. मालपुआ, खीर, हलुआ आदि घृत-भृष्ट मिष्ठान्नों के सेवन से।
९. गुड़, गुड़ के बने हुए पदार्थ, खिचड़ी, अधजमे दही तथा इसी प्रकार के अन्य कफकारक पदार्थों के सेवन से।
१०. ग्राम्य, आनूप तथा जलीय प्राणियों का मांस खाने से।
११. मादक पदार्थों के अत्यधिक सेवन से।
१२. दिन में सोने से।
१३. परिश्रम न करने से एवं आलसी जीवन बिताने से।
१४. चोट लगने से।
१५. रोगों से पीड़ित होने पर।

१६. स्वास्थ्य के अत्यधिक गिर जाने से तथा दुबले और कमजोर हो जाने से।

स्तन्य-दुष्टि का उपचार
(Treatment of Deformed Milk)

वातज स्तन्य-दुष्टि में—

पहले तीन दिन तक देवदारु, सरल काष्ठ, कुटकी, वच, कूठ, पाठा, भारंगी, पिप्पली, बिच्छू-बूटी, चित्रक, अजवायन, सोंठ तथा काली मिर्च का क्वाथ या दशमूल का क्वाथ पिलायें।

इसके बाद स्नेहन के लिए वात-व्याधि में उपयोग में आनेवाले या वातहर औषधियों से सिद्ध घृतों का मदिरा के अनुपान से सेवन करायें।

ठीक से स्नेहन हो जाने पर मृदु विरेचन दें।

वस्तिकर्म के बाद वातनाशक अभ्यंग, स्वेदन तथा प्रलेप का प्रयोग करें। साथ ही लक्षणों की प्रधानता का ध्यान रखते हुए औषधि का सेवन करायें।

तिक्त अनुरस की प्रधानता वाले दूध में—मूँग, उड़द, ढाक, काकोली, तथा क्षीरकाकोली अथवा प्रियंगु, धाय के फूल, पद्माख, देवदारु और मधु से सिद्ध क्वाथ दें।

कषाय अनुरस की प्रधानता वाले दूध में—हींग, सेंधा नमक और घी।

फेनवाले, फुदकियों वाले तथा पानी पर तैरनेवाले दूध में—बेल, अग्निमन्थ से सिद्ध दूध और घी। अथवा माषपर्णी, काकोली, बड़ी कटेरी तथा बावची से सिद्ध दूध और घी।

पित्तज स्तन्य-दुष्टि में—

निम्न औषधियों से सिद्ध कोई एक क्वाथ दें।

१. गुरुच, परवल का पत्ता, अनन्तमूल, शतावरी, नीम की छाल और चन्दन।

२. त्रिफला, चिरायता, कुटकी और मोथा।

३. जीवक, ऋषभक, काकोली, मुलेठी, कायफल और काकड़ासिंगी।

क्वाथ के सेवन के बाद पटोलादि, पद्मकादि, सारिवादि या न्यग्रोधादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत से स्नेहन करायें।

तत्पश्चात् पित्तनाशक विरेचन दें। शीतल अभ्यंग तथा प्रलेपादि का व्यवहार करें।

फिर लक्षणों की प्रधानता का ध्यान रखते हुए निम्न औषधियों का सेवन करायें।

ताम्र या रक्त वर्ण की झाँई वाले दूध में—प्रियंगु, मुस्ता, शाबर और लोध्र का क्वाथ।

अम्ल अनुरस वाले दूध में—द्राक्षा, मुलेठी, बिदारी और गम्भारी का क्वाथ।

कटु अनुरसवाले दूध में—काकोली, विदारी और जीवन्ती या गुरुच का क्वाथ।

अधिक उष्ण दूध में—चन्दन, श्वेतकमल और रक्तकमल का क्वाथ।

कफज स्तन्य-दुष्टि में—

कफ से दूषित दूध में पहले वमन कराने का विधान है। बच्चे को वमन कराने के लिए पिप्पली युक्त घृत अथवा सेंधा नमक, मुलेठी और मैनफल के चूर्ण को मधु में मिलाकर बच्चे के ओठों पर लगायें। इससे सुखपूर्वक वमन हो जाता है। धात्री को तीव्र वमन दें।

वमन के पश्चात् पेयादि का क्रम पूरा कर लेने पर वृहत् पंचमूल, मुस्ता, वच और अतीस, अथवा तगर, इन्द्रदारु, इन्द्रजौ, कलौंजी तथा बिच्छूबूटी अथवा आरग्वधादि या मुस्तादि गण की औषधियों से सिद्ध क्वाथ का सेवन करायें।

रुक्ष-उष्ण नस्य, धूम, गण्डूष, प्रलेप तथा परिषेक का प्रयोग करें।

अविरोधी तथा कफनाशक खान-पान दें।

लवणरस की प्रधानता वाले दूध में—नीम, परवल और बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के क्वाथ से सिद्ध दूध का सेवन करायें।

तन्तुवाले दूध में—सोंठ का चूर्ण असमान भाग मधु और घृत के साथ दें।

भारी दूध में—त्रिकटु, पाठा या पंचकोल का चूर्ण असमान भाग घी और मधु के साथ दो-दो दोषों तथा त्रिदोष से दूषित दूध में तदनुरूप मिली-जुली चिकित्सा करें। ऊपर शास्त्रीय योगों का वर्णन किया गया है। चिकित्सक अपने विवेक से लक्षणानुरूप अन्य योगों का भी प्रयोग कर सकते हैं।

त्रिदोषज स्तन्य-दुष्टि—

त्रिदोषज स्तन्य-दुष्टि में भी सबसे पहले धात्री और बालक दोनों को वमन कराने का विधान है। वमन कराने के पश्चात् निम्न क्वाथों में से किसी एक का सेवन करायें—

१. मुस्ता, पाठा, अतीस, कूठ और कुटकी।

२. रास्ना, प्रियंगु, अजवायन, पाठा, तेजबल, पुनर्नवा तथा बिच्छू बूटी।

३. चिरायता, गिलोय, इन्द्रजौ तथा अनन्तमूल।

४. वचादि, हरिद्रादि अथवा पाठादि गण की औषधियों से सिद्ध क्वाथ या महाकषाय।

५. जामुन, आम, तिन्दुक और कैथ के पत्तों का क्वाथ।

६. बेल के गूदे का क्वाथ।

इसके बाद भी रोग के लक्षण बने रहें, तो उनकी चिकित्सा दोषानुरूप तथा रोगानुरूप करें।

स्तन्य-दुष्टि प्रदर्शक तालिका

निम्न तालिका में शुद्ध और अशुद्ध स्तन्य के लक्षणों-भावों को संक्षेप में

दर्शाया गया है। इस तालिका के आधार पर आसानी से धात्री के दूध की परीक्षा की जा सकती है—

विशेषता का नाम	शुद्ध दूध के लक्षण	अशुद्ध दूध के लक्षण		
		वातज-दुष्टि	पित्तज-दुष्टि	कफज-दुष्टि
आकृति	स्वच्छ पतला एवं तन्तुरहित	अधिक पतला झागदार एवं रूक्ष		गाढ़ा, पिच्छिल एवं तन्तुयुक्त
वर्ण	शंखवत् श्वेत	श्याव या अरुणाभ	काली, नीली, पीली या ताम्र-वर्णीय आभा से युक्त	अधिक श्वेत
गंध		अव्यक्त एवं अनिश्चित	शव या रक्तगंधी	घी, तेल, मज्जा या वसा की-सी
रस	मधुर	हल्का कसैला	हलका तिक्त	मधुर
अनुरस	कषाय	कषाय	तिक्त, अम्ल एवं कटु	नमकीन
स्पर्श	शीतल	अनुष्णाशीत	उष्ण	अधिक शीतल
जल में डालने पर	मिलकर एकाकार हो जाता है।	फैलता एवं टुकड़े-टुकड़े होकर तैरने लगता है।	पीली-पीली रेखाओं से युक्त।	नीचे बैठ जाता है।
सात्म्यता	सात्म्य	असात्म्य	असात्म्य	असात्म्य
बालक पर प्रभाव	रुचि, तृप्ति, आरोग्य एवं बलदायक। वृद्धि एवं विकास में सहायक	अरुचि, अतृप्ति, कृशता, बल-हानिकारक। मलमूत्र एवं अपानवायु अवरोधक। शिरोरोग पीनस एवं वात रोगों का उत्पादक।	विवर्णता, स्वेद, उष्णता एवं तृषा-वर्धक। दाहकारक। पतला फटा-फटा मल लाने वाला। पाण्डु, कामला आदि का जनक।	वमन, मलत्याग के समय कुन्थन (काँखना) लालास्राव, नाक, मुख आदि स्रोत कफ से भरे। निद्रा, आलस्य, जड़ता, कास, श्वास, प्रसेक, तमकश्वास, मुख तथा नेत्रों में सूजन, हृदय-रोग आदि को उत्पन्न करने वाला।

अध्याय १२

बालक का आहार (३)

ऊपर का दूध

(Other Than Mother's Milk)

कृत्रिम दूध मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं—

१. ताजा दूध (Fresh Milk)।

२. सूखा या पाउडर के रूप में (Powdered Milk)।

३. संघनित दूध (Condensed Milk)।

हमारे यहाँ प्रायः ताजे या सूखे दूध को ही व्यवहार में लाया जाता है। संघनित दूध प्रायः बच्चों को देने के लिए व्यवहार में नहीं लाया जाता। यह उनके लिए हानिकारक भी होता है। इसलिए यहाँ प्रथम दो प्रकार के दूधों की ही चर्चा की जायेगी।

ताजा दूध

(Fresh Milk)

ताजे दूध के रूप में हमारे यहाँ प्रायः गाय, भैंस या कहीं-कहीं बकरी का दूध भी बालकों को दिया जाता है। आयुर्वेद में भी माता या धात्री के दूध के अभाव में बकरी या गाय के दूध को लघुपंचमूल से सिद्ध करके चीनी या मिश्री मिलाकर बालक को देने का विधान है—

स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्‌गुणं पिबेत्।
मूलैः सिद्धं बृहत्याद्यैः स्थिराभ्यां वा सितायुतम्॥

—अ. सं. उ. १।४४

आयुर्वेद में इन दूधों की विशेषताओं का जो वर्णन प्रस्तुत किया गया है उसे पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिया जा रहा है—

गाय का दूध

(Cow's Milk)

चरक ने गाय के दूध के दस प्रधान गुण बतलाये हैं :—

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दश गुणं पयः॥

—च० सू०, २७।२१७

'गाय का दूध सुस्वादु यानि मधुर, शीत, मृदु, चिकना (माता के दूध की अपेक्षा किंचित्), घना, श्लक्ष्ण (फिसलनेवाला), पिच्छिल, गुरु, मन्द एवं पीने में मन को प्रसन्न करने वाला होता है।'

इसके फायदों का वर्णन करते हुए वाग्भट ने कहा है—

प्रायः पयोऽत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ।
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम् ॥
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः ।
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥

—अ० सं० सू०, ६।५२-५३

'गाय का दूध जीवन का धारक, रसायन, क्षतक्षीण के लिए हितकारी, मेधा को बढ़ाने वाला, बल-कारक, माता के दूध को बढ़ाने वाला, मृदु, रेचक, थकान, चक्कर, मद, अलक्ष्मी (सौन्दर्यहीनता), श्वास, कास, अति तृषा, भूख, जीर्णज्वर, मूत्रकृच्छ्रता एवं रक्तपित्त को नष्ट करने वाला होता है ।'

गाय के वर्ण आदि के अनुरूप उसके दूध की विशेषताओं का वर्णन करते हुए भावप्रकाश में कहा गया है—

कृष्णाया गोभवं दुग्धं वातहारिगुणाधिकम् ।
पीताया हरते पित्तं तथा वातहरं भवेत् ॥
श्लेष्मलं गुरु शुक्लाया रक्तचित्राच्च वातहृत् ॥
बालवत्सविवत्सानां गवां दुग्धं त्रिदोषकृत् ।
बष्कयिण्यास्त्रिदोषघ्नं तर्पणं बलकृत्पयः ॥

—भा० प्र०, दुग्धवर्ग, ९-१०

'काली गाय का दूध विशेष रूप से वातनाशक होता है । पीली गाय का दूध वात और पित्त दोनों का शमन करने वाला होता है । श्वेत गाय का दूध कफकारक एवं भारी होता है । लाल या चितकबरी गाय का दूध भी वातनाशक होता है । जिस गाय का बच्चा मर जाता है, उसका दूध त्रिदोष-कारक होता है । बाखरी या बकैन गाय का दूध त्रिदोषहर, तृप्तिकारक और बलप्रद होता है ।'

बकरी का दूध
(Goats Milk)

बकरी पानी कम पीती है । कटु-तिक्त आहार करती है और प्रायः कूद-फाँद करती रहती है । इसलिए उसका दूध हलका और अधिक गुणकारक माना गया है ।

छोटी बकरियों का दूध गुण तथा वीर्य दोनों में ही गाय के दूध से श्रेष्ठ होता है । वह सभी प्रकार के दाह का हरण करने वाला होता है । किन्तु बड़ी एवं स्थूल बकरियों का दूध अपेक्षाकृत कम गुणकारी होता है ।

वकरी के दूध की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम् ।
दीपनं लघु सङ्ग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत् ॥

—सुश्रुत-सूत्र० ४५।५१

छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु ।
रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम् ॥ —चरक-सूत्र० २७।२२२

बकरी का दूध कषाय, मधुर, शीतल, ग्राही एवं हल्का होता है। वह अग्निदीपक, पचने में हलका और शोष या राजयक्ष्मा के रोगियों के लिए विशेष रूप से हितकारी होता है। पाखाने को बाँधता है। रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, कास, श्वास तथा ज्वर का नाश करता है।

भैंस का दूध
(Bufallow's Milk)

भैंसें कृमि, कीट, पतंगों से भरे नाना प्रकार के हीन एवं तुच्छ चारों का सेवन करती हैं। कीचड़-भरे गड़हों या जलाशयों में बैठती या लौटती रहती हैं। इसलिए उनका दूध गाय एवं बकरी के दूध की अपेक्षा हीनगुणवाला एवं दुष्पाच्य होता है। उनके दूध की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए आचार्यों ने कहा है—

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ।
निद्राकरं शीतकरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु ॥ —सुश्रुत-सूत्र० ४५।५५
महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः ।
स्नेहान्न्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत् ॥ —चरक-सूत्र०२७।२१९

भैंस का दूध गाय के दूध से अधिक भारी, अधिक ठण्डा, अधिक स्निग्ध एवं मधुर होता है। यह महा-अभिष्यन्दी होता है। जिसकी अग्नि तीव्र हो वही इसको पचा सकता है।

यह आलस्य एवं निद्राकारक है। जो पचा ले उसके लिए बलवर्धक, पुष्टिदायक एवं वृष्य या वीर्य-वर्धक है। इसे जीर्ण-ज्वर-नाशक, मूत्रकृच्छ्रता में उपयोगी एवं रक्तपित्त को शमन करनेवाला माना जाता है। यह सभी प्रकार के दाह को नष्ट करता है।

अतः गुण एवं उपयोगिता की दृष्टि से माता एवं धात्री के दूध के बाद बालक के लिए सबसे अधिक उपयोगी बकरी का दूध है। उसके बाद क्रमशः गाय और भैंस का दूध है।

गधी का दूध
(Ass's Milk)

बल्यं स्थैर्यकरं सर्वमुष्णं चैकशफं पयः ।
साम्लं सलवणं रूक्षं शाखावातहरं लघु ॥ —चरक-सूत्र० २७।२२१

उष्णमैकशफं बल्यं शाखावातहरं पयः ।
मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं लघु ॥— सुश्रुत-सूत्र० ४५।५६

गधी का दूध उष्ण प्रकृति का, बलवर्धक, स्थिरतादायक, रस में मधुर एवं अम्ल, अनुरस में नमकीन, शाखागत वायुविकारों में उपयोगी तथा सुपाच्य होता है ।

उँटनी का दूध
(Camel's Milk)

रूक्षोष्णं लवणं किञ्चिदौष्ट्रं स्वादुरसं लघु ।
शोफगुल्मोदरार्शोघ्नं कृमिकुष्ठविषापहम् ॥ —सुश्रुत-सूत्र० ४५।५३

उँटनी का दूध रूक्ष, उष्ण, किंचित् खारा किन्तु स्वादिष्ट और लघु होता है । यह शोथ, गुल्म, उदर-रोग, अर्श, कृमिरोग, कुष्ठ तथा विषदोष-नाशक है ।

आधुनिक मतानुसार दूध के घटक

आधुनिक दृष्टि से बालक के सामान्य विकास के लिए उसे उचित मात्रा में प्रोटीन (Protein), वसा (Fat), शर्करा (Carbohydrate), खनिज लवण (Mineral) तथा विटामिनों (Vitamins) की आवश्यकता होती है । दूध में ये सभी तत्त्व पाये जाते हैं । अन्तर यही है कि किसी में कुछ कम या किसी में कुछ अधिक । नीचे इन तत्त्वों की उपस्थिति से सम्बन्धित पीयूष, मानुषी, गाय, बकरी, भैंस और गधी के दूध की तुलनात्मक तालिका दी जा रही है । इसमें यह दिखलाया गया है कि १०० मिलीलीटर दूध में किन-किन घटकों की मात्रा कितने प्रतिशत पायी जाती है ।

दूध के घटक
(Components of Different Types of Milk)

दूध का नाम	आर्द्रता या जल	प्रोटीन	वसा	शर्करा	ऊष्मांक
पीयूष	८७·०	२·७	२·९	५·३	५८
मानुषी दुग्ध	८७·१	१·१	४·५	६·८	७५
गाय का दूध	८७·२	३·५	३·७	४·९	६६
बकरी का दूध	८६·८	३·३	४·५	४·६	७२
भैंस का दूध	८१·०	४·३	८·८	५·१	११७
गधी का दूध	८९·९	२·१	१·५	६·२	६८

ऊष्मांक (Calorie) माप की वह इकाई है, जिसके द्वारा प्राणी भोजन के रूप में जो कुछ भी लेता है उससे उसके शरीर में उत्पन्न होनेवाली शक्ति या ऊर्जा (Energy) की माप की जाती है। एक ऊष्मांक या कैलोरी ऊष्मा की वह मात्रा है जो एक ग्राम पानी के तापक्रम को एक डिग्री सेन्टीग्रेड उठा देने के लिए पर्याप्त होती है। चिकित्सा-जगत् में खाद्यान्न के घटकों की ऊर्जा को किलो-ऊष्मांक (Kilo-calorie) या ऊष्मांक के द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक किलो-कैलोरी १००० कैलोरी के बराबर होती है।

किसी भी प्राणी को शक्ति की कितनी मात्रा की आवश्यकता होगी, यह उसकी वय, शारीरिक गठन और सक्रियता पर निर्भर करता है। शक्ति का अधिक भाग सक्रियता की अवस्था में मांसपेशियों द्वारा या शरीर की स्वतः संचालित चयापचय की क्रियाओं में व्यय होता है। एक कठोर परिश्रम करने वाले व्यक्ति को प्रतिदिन ४००० से ६००० तक ऊष्मांकों की आवश्यकता हो सकती है। बड़ी उम्र के या कमजोर व्यक्तियों के लिए २००० ऊष्मांक प्रतिदिन पर्याप्त हो सकते हैं। यदि व्यक्ति ऐसा खाद्यान्न ग्रहण करता है जो उसमें आवश्यकता से अधिक ऊष्मांकों को उत्पन्न करता है तो वे अतिरिक्त ऊष्मांक वसा या मेद के रूप में उसके शरीर में जमा होने लगेंगे। ३५०० अतिरिक्त ऊष्मांक लगभग २ पाउण्ड वजन बढ़ा देते हैं।

आरम्भ में जब बच्चे का विकास शीघ्रता से होता है उस समय उसे अधिक ऊष्मांकों की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे उसकी वय बढ़ती जाती है और विकास की गति मन्द होती जाती है, उसे अपेक्षाकृत कम ऊष्मांकों की आवश्यकता रह जाती है। जन्म के पहले वर्ष में बच्चे को १०० से लेकर १२० ऊष्मांक प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से प्रतिदिन आवश्यक होते है। फिर जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है, यह अनुपात घटता जाता है। परिपक्वावस्था तक पहुँचते-पहुँचते इसका अनुपात लगभग ४० ऊष्मांक प्रति किलोग्राम शरीर-भार प्रतिदिन रह जाता है।

किसी भी बच्चे के लिए इसकी अन्तिम कसौटी खाद्यान्नों की उपलब्धता, उसकी भूख, रुचि, पाचन-शक्ति और वृद्धि एवं विकास के प्रतिमानों पर निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिक कारक एवं बालक का वातावरण भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। बच्चे का भोजन ऐसा संतुलित होना चाहिए कि उसे १५ प्रतिशत ऊष्मांक प्रोटीन से, ५० प्रतिशत शर्करा से और ३५ प्रतिशत वसा या चिकनाई से प्राप्त हो सके। यदि बच्चे को आवश्यकता से अधिक ऊष्मांकों की प्राप्ति होती है, तो उसके शरीर में मेद की वृद्धि होगी और आवश्यकता से कम ऊष्माकों की प्राप्ति होती है तो वह न्यूनपोषण (Under

neutrition) का शिकार हो जायेगा । वह सूखा आदि रोगों से ग्रस्त हो सकता है ।

गत पृष्ठों में दी गई तालिका से स्पष्ट है कि माता के दूध के बाद पशुओं के दूध में सबसे अधिक सुपाच्य गधी का दूध और सबसे अधिक दुष्पाच्य भैंस का दूध होता है । भैंस के दूध में चिकनाई की मात्रा सबसे अधिक पायी जाती है । गधी के दूध के बाद क्रमशः बकरी और गाय के दूध सुपाच्य हैं ।

गधी का दूध बहुत ही कम मिलता है । यह प्रायः रोगी शिशुओं को ही दिया जाता है । बकरी का दूध भी कम मिलता है और इसमें एक प्रकार की ऐसी गंध पायी जाती है जिससे बच्चे इसे पसन्द नहीं करते । व्यवहार में प्रायः गाय या भैंस का दूध ही अधिक लाया जाता है । इनमें भी बच्चों के लिए गाय के दूध को ही वरीयता दी जाती है ।

घटकों की मात्रा की दृष्टि से देखने पर माता के दूध और गाय के दूध में विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता, पर उनके घटकों की गुणात्मकता में महत्त्व-पूर्ण अन्तर पाया जाता है ।

प्रोटीन (Protein)—बच्चे के शारीरिक विकास में प्रोटीन महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करती है । इसके अभाव में बच्चे प्रायः सूखा रोग, जिसे क्वाशियोरकर (Kwashiorkor) कहते हैं, का शिकार हो जाते हैं ।

जहाँ तक प्रोटीन का प्रश्न है, माता के दूध में गाय के दूध की अपेक्षा लगभग एक-तिहाई प्रोटीन पायी जाती है । पर गुणात्मकता की दृष्टि से माता के दूध में पायी जानेवाली प्रोटीन बड़ी ही उच्चकोटि की होती है ।

प्रोटीन के मुख्य अवयव हैं—कैसीन (Casein), लैक्टएल्ब्युमिन (Lact-albumin) तथा लैक्टग्लोबुलिन (Lactglobulin) ।

कैसीन अपेक्षाकृत अधिक दुष्पाच्य होती है । गाय के दूध में पायी जाने वाली प्रोटीन में इसी की मात्रा अधिक होती है । यह बच्चे के पेट में जाकर दही के समान पदार्थ में परिवर्तित हो जाती है । बच्चे का कोमल पाचन-संस्थान इसे आसानी से नहीं पचा पाता । इसका अधिक भाग दस्त के रूप में बाहर निकल जाता है । फलतः बालक एक महत्त्वपूर्ण पोषकतत्त्व से वंचित रह जाता है । माता के दूध में पायी जानेवाली कैसीन अपेक्षाकृत हलकी एवं अधिक घुलनशील होती है । वह बच्चे के पेट में जाकर अनेक छोटे-छोटे कणों में विभक्त हो जाती है और दूध के रूप में ही विद्यमान रहती है । बच्चे उसे आसानी से पचा लेते हैं । कम प्रोटीन में ही उनका काम चल जाता है । इसलिए माता के दूध पर निर्भर रहनेवाले बच्चों के लिए प्रोटीन की निर्धा-रित आवश्यकता २·५ ग्राम प्रति किलोग्राम वजन और गाय के दूध पर निर्भर

रहने वाले बच्चों के लिए ३ से ३·५ ग्राम प्रति किलोग्राम वजन प्रतिदिन होती है।

वसा (Fat)—दूध में पायी जानेवाली वसा का दो-तिहाई भाग विभिन्न प्रकार के अम्लों का संयुक्त परिणाम होती है। इन अम्लों में प्रमुख हैं—पामिटिक एसिड (Palmitic acid), स्टीयेरिक (Steariac) तथा ओलेइक एसिड (Oleic acid) इन अम्लों में ओलेइक एसिड अन्य अम्लों की तुलना में अधिक सुपाच्य होती है। माता के दूध की वसा में ओलेइक एसिड का ही अनुपात अधिक होता है। इसलिए वह गाय के दूध की अपेक्षा अधिक सुपाच्य होता है।

गाय के दूध से पाचन-सम्वन्धी विकारों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। बच्चे का मल सफेदी लिये हुए एवं दुर्गन्धयुक्त हो जाता है।

किन्तु, यदि दूध की मलाई हटाकर (Skimmed milk) उसे दिया भी जाय तो मलाई के साथ दूध में वर्तमान विटामिन 'ए' और 'डी' के निकल जाने से बालक अपनी वृद्धि और विकास के लिए अनिवार्य इन विटामिनों से वंचित रह जाता है।

शर्करा (Carbohydrate)—दूध में पायी जानेवाली शर्करा को दुग्ध-शर्करा (Lactose) कहते हैं। शर्करा बच्चे के लिए शक्ति का प्रमुख स्रोत होती है। यदि खाद्यतत्त्वों में उसे यह उचित मात्रा में न मिले तो शरीर अपने में संचित प्रोटीन को ही जलाने लगता है। फलतः बच्चा एक विशेष प्रकार के सूखा रोग, जिसे मरास्मस (Marasmus) कहते हैं, का शिकार हो जाता है।

दुग्ध-शर्करा बच्चे की आँतों में अम्ल बनाने वाले जीवाणुओं का भी विकास करती है। ये जीवाणु पेट के फूलने की परेशानी से उसे बचाते हैं।

माता के दूध में गाय के दूध की अपेक्षा दुग्ध-शर्करा की मात्रा कहीं अधिक पायी जाती है। इसलिए वह अधिक सुस्वादु एवं सुपाच्य होता है। जो बच्चे गाय के दूध पर ही पलते हैं, उनको इस कमी को पूरा करने के लिए ऊपर से कुछ चीनी देना जरूरी हो जाता है।

विटामिन ए और डी (Vitamins A & D)—बच्चे को १५०० यूनिट विटामिन-ए और ४०० यूनिट विटामिन-डी की प्रतिदिन आवश्यकता होती है। माता के दूध और गाय के दूध में विटामिन-ए की मात्रा क्रमशः २३०० यूनिट और १५०० यूनिट प्रति लीटर होती है। आरम्भ के कुछ महीनों में बच्चे के लिए एक लीटर दूध प्रतिदिन पचा पाना कठिन होता है। अतएव बच्चों के देने के लिए इसमें पानी मिलाना भी जरूरी होता है। फल यह

होता है कि बच्चे को विटामिन-ए निर्धारित मात्रा में नहीं मिल पाता। उसे ऊपर से विटामिन-ए देना जरूरी हो जाता है। माता का दूध पीने वाले बच्चों को इस विटामिन को अलग से नहीं देना पड़ता।

विटामिन-डी दोनों में ही कम मात्रा में पाया जाता है। इसकी मात्रा माता और गाय के दूध में क्रमशः २२ और १४ यूनिट प्रति लीटर होती है। शरीर पर पड़ने वाला सूर्य का प्रकाश यद्यपि इस कमी को बहुत हद तक पूरा करता है; फिर भी बालक के समुचित विकास के लिए इसकी कुछ मात्रा ऊपर से देना ही श्रेयस्कर होता है।

विटामिन-सी (Vitamin C)—बालक को अपनी वृद्धि और विकास के लिए प्रतिदिन ३० मिलीग्राम विटामिन-सी की आवश्यकता होती है। माता के दूध में यह ४३ मिलीग्राम प्रति लीटर और गाय के दूध में ११ मिलीग्राम प्रति लीटर पाया जाता है। गाय का दूध बच्चे को देने के पहले उबालना भी आवश्यक होता है। उबालने से भी विटामिन-सी का कुछ अंश नष्ट हो जाता है। फलतः गाय के दूध पर पलने वाले बच्चों को यह निर्धारित मात्रा से बहुत कम मिल पाता है। जब तक वे फलों का रस आदि न लें, उन्हें ऊपर से विटामिन-सी देना जरूरी हो जाता है।

विटामिन-बी-समूह (Vitamin B-complex)—विटामिन-बी$_1$ को छोड़कर इस समूह के अन्य विटामिनों की मात्रा दोनों के दूध में पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। इसे ऊपर से देने की आवश्यकता नहीं होती।

निम्न तालिका में माता तथा गाय के एक लीटर दूध में इस समूह के महत्त्वपूर्ण विटामिनों की मात्रा को आसानी से देखा जा सकता है—

विटामिन का नाम	माता के दूध में	गाय के दूध में
१. थायामिन (Thiamin Mg)	१६०	४४०
२. राइबोफ्लेविन (Riboflavin Mg)	३६०	१७५०
३. नियासीन (Niacin Mg)	१४७०	९४०
४. पिरीडाक्सिन (Pyridoxine Mg)	१००	६४०
५. पैन्टोथिनेट (Pantothenate Mg)	१·८४	३·४६
६. फोलेसिन (Folacin Mg)	५२	५५
७. बी$_{१२}$ (B_{12} Mg)	०·३	४
८. विटामिन-सी (Vitamin C Mg)	४३	११
९. विटामिन-डी (Vitamin D I. U.)	२२	१४
१०. विटामिन-ई (Vitamin E Mg)	१·८	०·४
११. विटामिन-के (Vitamin K Mg)	१५	६०

उक्त सभी दूधों में लौह (Iron) की मात्रा कम होती है। इसलिए मात्र दूध पर ही पलने वाले बच्चों में लौह की कमी से उत्पन्न होने वाली रक्ताल्पता हो जाती है।

दूध में पानी की मात्रा
(Proportion of Water in the Milk)

बच्चे के लिए दूध तैयार करते समय गाय के दूध में पानी मिलाना चाहिए या नहीं; इस सम्बन्ध में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। कुछ चिकित्सकों का मत है कि यदि बच्चा सामान्य है तो उसमें पानी मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हो सकता है आरम्भ में उसकी कुछ प्रतिक्रिया मालूम हो, पर धीरे धीरे वह सात्म्य हो जायेगा।

पर अधिकांश का मत पानी मिलाने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार पानी मिला देने से वह माता के दूध के समान पतला हो जाता है और आसानी से पच जाता है। गाय के दूध में नमक (Sodium) और फॉस्फेट (Phosphate) की मात्रा अधिक होती है। पानी न मिलाने से ये दोनों ही तत्त्व बालक के पेट में आवश्यकता से अधिक पहुचेंगे। इससे उन्हें आक्षेप (Convulsions), अपतानिका (Tetany) आदि रोगों के होने का भय रहेगा।

लेकिन दूध में कितना पानी मिलाया जाय ? आरम्भ में या कमजोर बच्चे के लिए अधिक पानी मिलाने की आवश्यता होती है। पर जैसे-जैसे उसकी वय बढ़ती जाती है, उसमें कम पानी की आवश्यकता होती है। यद्यपि यह बात बहुत कुछ बालक के स्वास्थ्य और उसकी पाचनशक्ति पर निर्भर करती है; फिर भी इस सम्बन्ध में निम्न सामान्य विधि को अपनाया जा सकता है—

जन्म से लेकर प्रथम पाँच दिनों तक	एक भाग दूध	दो भाग पानी
छठे दिन से एक महीने की वय तक	आधा भाग दूध	आधा भाग पानी
दूसरे से चौथे महीने तक	दो भाग दूध	एक भाग पानी
चार से छः महीने तक	तीन भाग दूध	एक भाग पानी

छठे महीने के बाद पानी मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं। गर्मी को छोड़कर अन्य मौसमों में इससे बच्चे की पानी की आवश्यकता की भी पूर्ति हो जाती है।

दूध में चीनी की मात्रा
(Amount of Sugar in Milk)

दूध में चीनी देना आवश्यक है। लेकिन कितनी दी जाय, इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। चीनी इतनी ही देनी चाहिए जिससे दूध हलका

मीठा हो जाय और बच्चा उसे सरलता से पी ले। साधारणतया १२५ ग्राम दूध में एक चम्मच चीनी पर्याप्त होती है। बच्चे की रुचि के अनुसार इसे घटाया-बढ़ाया जा सकता है। यदि कब्ज हो तो चीनी की मात्रा कुछ बढ़ा देनी चाहिए, यदि मल पतला हो रहा हो तो चीनी की मात्रा कम कर देनी चाहिए। चीनी के स्थान पर गुड़ का भी उपयोग किया जा सकता है, परन्तु ग्लूकोज का नहीं। ग्लूकोज से पेट के फूलने का भय रहता है।

दिन भर में कितना दूध दिया जाय
(How Many Times in a Day)

यह बच्चे की वय, भार और पाचनशक्ति पर निर्भर करता है। स्वस्थ बच्चा कमजोर बच्चे की अपेक्षा अधिक दूध पचा सकता है। साधारणतया बच्चे के भार के अनुरूप २½ औंस दूध प्रति पौंड भार के हिसाब से देना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि बच्चे का भार दस पौंड है तो उसे दिन भर में १० × २½ अर्थात् २५ औंस दूध की आवश्यकता होगी।

कितनी देर बाद दिया जाय
(After What Interval)

इस सम्बन्ध में भी कोई निश्चित नियम नहीं है। यह भी बच्चे के स्वास्थ्य, उसकी आवश्यकता और आदत पर निर्भर करता है। आरम्भ में जल्दी-जल्दी दूध देने की आवश्यकता होती है। यह अन्तराल ३ या ४ घण्टे का हो सकता है। कमजोर बच्चे जो कम मात्रा में दूध लेते हैं, उन्हें २-२ घण्टे बाद भी दिया जा सकता है।

स्वभाववश भी कुछ बच्चे जल्दी-जल्दी दूध माँगते हैं तथा कुछ देर से। यदि बच्चा एकबार पेट भर कर दूध पी ले, तो उसे प्रायः चार घण्टे तक भूख नहीं लगती। लेकिन यदि बच्चे को बीच में ही भूख लग जाय और वह दूध माँगने लगे, तो उसे दूध देने में कोई हानि नहीं।

यदि बच्चा रात में भी दूध माँगता है तो उसे देना चाहिए। जैसे-जैसे उसकी वय बढ़ती जायेगी, समय का अन्तराल भी बढ़ता जायेगा। और धीरे-धीरे अपने-आप रात में दूध पीने की आदत छूट जायेगी।

प्रत्येक बार कितनी मात्रा में दिया जाय
(Amount in Each Feed)

यह बच्चे की भूख तथा खेलने-सोने आदि पर निर्भर करता है। कभी कम ले सकता है, कभी ज्यादा। यदि कभी कम भी लेता है तो उससे चिन्तित नहीं होना चाहिए। या पीते-पीते बीच में कुछ दूध छोड़ देता है तो उसे बल-

पूर्वक पिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। हमें दिन भर में दूध की मात्रा देखनी चाहिए, न कि किसी समय विशेष की।

दूध के साथ विटामिन
(Supplementing the Milk with Vitamins)

इस सम्वन्ध में भी चिकित्सक एकमत नहीं हैं। कुछ अलग से विटामिनों को दिये जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। कुछ के अनुसार, चूँकि गाय के दूध में सभी विटामिन आवश्यकता के अनुरूप नहीं पाये जाते, इसलिए बाहर से उनकी पूर्ति आवश्यक है। १५ दिन की उम्र के बाद इन्हें बच्चे को देना आरम्भ कर देना चाहिए।

गाय के दूध में विटामिन ए और डी की मात्रा कम होती है। इन्हें किस बच्चे को कितनी मात्रा में और किस रूप में दिया जाय, इस सम्वन्ध में किसी योग्य चिकित्सक से परामर्श कर लेना चाहिए। चिकित्सक उपलब्ध न हो तो विटामिन ए और डी के तरल यौगिक को ५-६ बूंद प्रतिदिन दिया जा सकता है। सामान्य बच्चों के लिए इतनी मात्रा पर्याप्त होती है।

दूध के साथ पाचक औषधियाँ
(Digestive Medicines Along with Milk)

कुछ लोग दूध के साथ बच्चे को ग्राइप-वाटर (Gripe-water) आदि देने की सिफारिश करते हैं। अगर बच्चा स्वस्थ है तो सामान्यतया इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। बच्चे की अपनी पाचनशक्ति को प्राकृतिक ढंग से काम करने देना चाहिए।

चूर्णित दुग्ध या पाउडर-मिल्क
(Powdered Milk)

तरल दूध को ही वैज्ञानिक पद्धति से सुखाकर चूर्णित दूध तैयार किया जाता है। इसमें दूध के सभी तत्त्व तो रहते ही हैं, साथ ही बच्चों की आवश्यकता के अनुरूप विटामिन (Vitamins) तथा खनिज (Minerals) आदि भी मिला दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए अमूल-स्प्रे (Amul-spray) के तत्त्वों को नीचे दिया जा रहा है। १०० ग्राम दूध में विभिन्न तत्त्व किस मात्रा में रहते हैं, इसे नीचे की तालिका में देखा जा सकता है—

प्रोटीन	२२ ग्राम	कैल्शियम	१ ग्राम
वसा	१८ ग्राम	फॉस्फोरस	०८ ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	५० ग्राम	लौह	४ मिलीग्राम

विटामिन-ए	१५०० यूनिट	विटामिन-बी$_2$	१ मि०ग्रा०
विटामिन-डी	४०० यूनिट	विटामिन-बी$_6$	०·३ मि०ग्रा०
विटामिन-बी$_1$	०·६ मि० ग्रा०	नियासिमाइड	६० मि०ग्रा०
		विटामिन-सी	३० मि०ग्रा०

बाजार में बच्चों के लिए अनेक प्रकार के पाउडर-मिल्क मिलते हैं, यथा—अमूल-स्प्रे (Amul-spray), ग्लैक्सो (Glaxo), लैक्टोडेक्स (Lactodex), लैक्टोजेन (Lactogen), लीवर्स बेबी फूड (Liver's baby food), अमूल बेबी फूड (Amul baby food) आदि। इनके घटकों में प्रायः थोड़ा ही अन्तर होता है। कुछ दूध विशेष प्रकार के (कमजोर, अपक्व आदि) बच्चों के लिए भी तैयार किये जाते हैं।

ये दूध प्रायः जीवाणु-रहित (Sterile) और विटामिनयुक्त होते हैं। अतः आसानी से पच जाते हैं। इनके प्रति असात्म्यता या एलर्जी (Allergy) की संभावना भी कम ही रहती है। यात्रा में इन्हें सरलता से ले जाया जा सकता है। ये सरलता से उपलब्ध भी हो जाते हैं।

दूध को तैयार करने की विधि
(Preparing the Milk)

हर प्रकार के दूध को तैयार करने की प्रायः एक ही विधि होती है। दूध को तैयार करने से सम्बन्धित निर्देश डिब्बे या पैक पर ही दिये रहते हैं। उदाहरण के लिए अमूल-स्प्रे को तैयार करने की विधि नीचे दी जा रही है—

१. दूध तैयार करने और पिलाने के बर्तनों को भली प्रकार धोकर कीटाणुरहित (Sterilized) कर लें।

२. पहले से ही उबाल कर रखे गये पानी को सही मात्रा में ग्लास या जग में निकाल लें। सामान्यतया एक चम्मच दूध के लिए एक औंस या ३० मिलीलीटर पानी की आवश्यकता होती है।

३. दूध को डिब्बे में उपलब्ध प्लास्टिक ने नपने या चम्मच से ठीक से नापें। हर चम्मच में दूध ठीक उसके ऊपरी सतह तक रहे। अम्बार लगा कर नहीं।

४. दूध को पानी में धीरे-धीरे डालें और साफ चम्मच से हिलाते जायँ; जब तक कि वह पानी में भलीभाँति घुल न जाय।

कुछ लोग दूध में पहले थोड़ा-सा पानी डालकर उसका पेस्ट जैसा बना लेते हैं। फिर धीरे-धीरे पानी डालकर हिलाते हैं।

१. अब दूध को पिलाने की बोतल में भर लें। दूध का ताप बच्चे के शरीर के तापक्रम (Temperature) के समान ही रहना चाहिए।

जैसे-जैसे बालक की उम्र बढ़ती जाती है उसे प्रति बार दिये जाने वाले दूध में चूर्णित दूध की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए और पानी का अनुपात कम करते जाना जाहिए। किस उम्र और कितने शारीरिक भार के बच्चे के दूध में विचूर्णित दूध और पानी की कितनी मात्रा होनी चाहिए और इस प्रकार तैयार किया गया दूध उसे दिन में कितनी बार देना चाहिए, यह निम्न तालिका में देखा जा सकता है—

बच्चे की उम्र	भार		प्रतिबार दूध की मात्रा	पानी की मात्रा		प्रतिदिन कितनी बार
	किलोग्राम	पौंड		मिलीलीटर	औंस	
नवजात	३·२	७	२॥	७५	२॥	६
प्रथम सप्ताह	३·२	७	२॥	७५	२॥	६
द्वितीय सप्ताह	३·३	७।	३	९०	३	६
तृतीय सप्ताह	३·५	७॥।	३॥	१०५	३॥	६
पहला महीना	३·६	८	४	१२०	४	६
दूसरा महीना	४·३	९॥	५	१५०	५	५
तीसरा महीना	५·२	११॥	६	१८०	६	५
चौथा महीना	५·९	१३	७	२१०	७	५
पाँचवाँ महीना	६·४	१४	७॥	२२५	७॥	५
छठा महीना	६·८	१५	८	२४०	८	५
सातवें से बारहवें महीने तक	७·३ से ९·१ तक	१६ से २० तक	८-९	२४० से २७० तक	८-९	५

दूध के साथ फलों का रस
(Fruit-Juice Along With Milk)

इन दूधों के साथ पहले महीने के बाद से ही फलों का रस देना शुरू कर देना चाहिए। फलों के रस में संतरे का रस सर्वोत्तम है। इसमें विटामिन सी की प्रचुर मात्रा होती है। यह बच्चों के लिए सुस्वादु भी होता है। हो सकता है आरम्भ में बच्चा कुछ आनाकानी करे, पर ४-५ दिन में ठीक से लेने लगेगा। आरम्भ में एक चम्मच रस में एक चम्मच उबाल कर ठण्डा किया हुआ पानी मिलाकर देना चाहिए। उसके बाद धीरे-धीरे बढ़ाते हुए इन दोनों को

मिलाकर एक औंस प्रतिदिन तक ले जाना चाहिए। बाद में केवल संतरे का रस ही दिया जा सकता है। संतरे के अभाव में ताजे मीठे टमाटर का रस भी दिया जा सकता है। फलों का रस मीठा न हो तो उसमें थोड़ी चीनी मिलायी जा सकती है। फलों के रस के साथ विटामिन-सी को अलग से देने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

ऊपर का दूध देते समय बरती जाने वाली कुछ सामान्य सावधानियाँ

(Cares to be Taken While Giving Artificial Milk)

१. दूध को रखने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। यदि घर में रेफ्रीजिरेटर न हो तो हर बार ताजा दूध ही तैयार करना चाहिए।

२. दूध को रखने, तैयार करने और पिलाने के लिए अलग-अलग वर्तन होने चाहिये। दूध को रखने के लिए ढक्कनदार बर्तन, दूध पिलाने के लिए बोतलें, उन पर ठीक से आने वाले निपुल, दूध नापने का गिलास, नपना-चम्मच, निपुल उबालने के लिए बर्तन तथा बोतल साफ करने के लिए ब्रुश।

३. दूध तैयार करने के पहले और दूध पिलाने के बाद वर्तनों को भली प्रकार साफ एवं कीटाणुरहित कर लें।

४. दूध तैयार करने के पहले अपने हाथों को साबुन से भली प्रकार साफ कर लें।

५. दूध और पानी को सही अनुपात में मिलायें।

६. दूध में मिलाने के लिए सदा उबला हुआ पानी लें।

७. बच्चे को दिया जाने वाला दूध न अधिक गर्म हो, न अधिक ठण्डा। उसे बच्चे के शरीर के तापक्रम के अनुसार होना चाहिए।

८. दूध पिलाते समय बच्चे को गोद में सीधा रहना चाहिए। माँ का एक हाथ बच्चे के सर के नीचे रहना चाहिए। इससे दूध आसानी से उसके पेट में चला जाता है।

९. दूध की बोतल को सीधा न रखकर थोड़ा तिरछा रखना चाहिए। इससे दूध निपुल में भरा रहता है और बच्चे को पीने में आसानी होती है। बोतल के सीधा रहने से बच्चा दूध के साथ-साथ हवा को भी अन्दर खींच लेता है। इससे वह पेट भर दूध नहीं पी पाता। साथ ही उदर-विकार होने की आशंका भी रहती है।

१०. यदि असावधानीवश दूध के साथ-साथ हवा भी पेट में चली जाय तो बच्चे को कन्धे से लगाकर हलकी-हलकी थपकियाँ देनी चाहिए। इससे उसे डकार आ जाती है और पेट की वायु बाहर निकल जाती है।

११. दूध पिलाने के निपुल पर बराबर ध्यान रखना चाहिए। वह बोतल पर ठीक से कसा होना चाहिए। उसका छेद न अधिक छोटा होना चाहिए और न अधिक बड़ा। छोटा होगा तो दूध कम मात्रा में निकलेगा। जिससे बच्चे को अधिक जोर लगाना पड़ेगा। वह शीघ्र थक जायेगा। उसका ठीक से पेट नहीं भरेगा। भूख से रोने लगेगा। रोते समय हवा भी अन्दर जा सकती है। छेद बड़ा होने पर आवश्यकता से अधिक दूध निकलेगा जिससे बच्चा घबरा जायेगा। अधिक दूध पी जाने से वह पाचन सम्बन्धी विकारों से ग्रस्त हो सकता है। कभी-कभी मुँह में एकाएक अधिक दूध भर जाने से उसकी श्वासनली भी अवरुद्ध हो सकती है।

१२. गाय का दूध कभी कच्चा न दें। दूहने के समय हम लोगों के यहाँ प्रायः सफाई का पूरा ध्यान नहीं रखा जाता। फलतः दूध जीवाणुओं से दूषित हो जाता है। इसे पिलाने से बच्चे को अनेक प्रकार की घातक बीमारियाँ हो सकती हैं। यक्ष्मा आदि रोग प्रायः दूध से ही बच्चे में आरोपित होते हैं। दूध को एक निश्चित तापक्रम पर निश्चित समय तक गर्म कर लेने से वह बहुत हद तक जीवाणुरहित हो जाता है।

१३. इस बात का बराबर ध्यान रखें कि जो दूध बालक को दिया जा रहा है, वह उसके लिए सात्म्य है या नहीं। सात्म्य होने पर ही दूध ठीक से पचेगा और बच्चे का स्वास्थ्य-संवर्धन होगा। अन्यथा वह अनेक प्रकार के उदर-विकारों से ग्रस्त हो जायेगा।

१४. क्षीरप अवस्था में यथासम्भव बालक का वजन बराबर लेते रहें। वजन का यथाक्रम बढ़ते जाना उसके स्वस्थ रहने का प्रतीक है। शुरू के तीन महीनों में प्रायः एक औंस प्रतिदिन के हिसाब से और उसके बाद एक पौंड प्रति महीने के हिसाब से बढ़ता है। कुछ कमजोर बच्चे जो पूरा दूध नहीं पी पाते उनकी वृद्धि कुछ कम भी हो सकती है। इससे घबड़ाना नहीं चाहिए।

अध्याय १३

बालक का आहार (४)

क्षीरान्नाद तथा अन्नाद-अवस्था

माता का दूध धीरे-धीरे कम करते हुए छुड़ाने का विधान है। जैसे-जैसे माता का दूध कम किया जाय उसकी पूर्ति के लिए ऊपर का दूध या अन्य आहार देना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का कथन है—

प्रियालमज्जमधुकमधुलाजसितोपलैः ।
अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥
दीपनो बालबिल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः ।
सङ्ग्राही धातकीपुष्पशर्करालाजतर्पणैः ॥ —अ. सं. उ. १।६८-६९

'दूध छुड़ाने के वाद बच्चे को चिरौंजी, मुलेठी, मधु, लाजा (खील), मिश्री आदि वस्तुओं को या इनसे बने लड्डू देना चाहिए। ये वस्तुएँ सुपाच्य और पुष्टिकारक हैं। कच्ची बेलगिरी, इलायची, शर्करा और धान की खील या उससे बनाया सत्तू अग्नि को दीप्त करता है। धातकीपुष्प, शर्करा और लाजा से वना सत्तू या उससे बना खाद्य संग्राही है।

क्षीरान्नाद अवस्था

(Giving Solid Food Alongwith Milk)

एक वर्ष से लेकर दो वर्ष तक के वालक को क्षीरान्नाद कहा जाता है। क्षीरान्नाद का अर्थ है क्षीर और अन्न दोनों खाने वाला। एक वर्ष का होते-होते वालक को दूध के साथ-साथ अन्न भी खिलाना शुरू कर दिया जाता है। धीरे-धीरे अन्न की मात्रा बढ़ाई जाती है। जैसे-जैसे अन्न की मात्रा बढ़ती जाती है, दूध की मात्रा स्वतः घटती जाती है। दो वर्ष का होते-होते प्रायः सभी बालक माँ का दूध पीना छोड़ देते हैं।

खाद्यान्न देना कब शुरू किया जाय !

(When to Start Giving Solid Food)

बालक को अन्न खिलाना कव से शुरू करना चाहिए, इस सम्बन्ध में आयुर्वेद के मनीषियों में मतभेद है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट के अनुसार छठे महीने से, परन्तु काश्यप के अनुसार एक वर्ष का हो जाने पर ही बालक को अन्न खिलाना शुरू करना चाहिए। काश्यप ने छठे महीने में फल-प्राशन में फलों का रस देने और दसवें महीने में अन्नप्राशन करने की वात कही है। दसवें

महीने में रस्म-अदायगी के लिए अन्न चटाने मात्र के लिए और एक वर्ष का हो जाने पर उसे विधिवत अन्न खिलाने को कहा है—

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च। —सु० शा० १०।५२

छठे महीने से उसको हलका एवं हितकर अन्नप्राशन कराना चाहिए—

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत्।
चिरान्निषेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते॥
भजेद्यथा यथाचान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा।

—अ० सं० उ० १।५०

छठे महीने में बच्चे को अन्नप्राशन कराना चाहिए। अन्न की मात्रा धीरे धीरे बढ़ानी चाहिए। जैसे-जैसे अन्न की मात्रा बढ़ायी जाय उसी अनुपात में दूध की मात्रा घटाते जाना चाहिए। बालक को देर से अन्न देने से उसके रोग-ग्रस्त होने की सम्भावना नहीं रहती।

अन्य शास्त्र भी प्रायः छठे महीने में ही अन्नप्राशन के पक्ष में हैं।—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ —मनुस्मृति २।३४

कुल में मंगल की कामना करने वाले व्यक्तियों को चौथे महीने शिशु को घर से बाहर निकालना चाहिए और छठे महीने में उसका अन्नप्राशन करना चाहिए।

षष्ठे मास्यन्नप्राशनां। दधिमधुघृतमन्नं प्राशयेत्। —गृह्यसूत्र

छठे महीने में दधि, मधु और घृतयुक्त अन्न से बालक का अन्नप्राशन करना चाहिए।

तस्मिन्नेव मासि विविधानां फलानां प्राशनं, भिषगनुतिष्ठेत्। तद्धि दन्त-जातस्यान्नप्राशनं दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि···। —काश्यप : जातकर्मोध्याय

वैद्य उसी (अर्थात् छठे) महीने में बालक को विविध प्रकार के फलों का सेवन कराये। दाँत निकलने पर दसवें महीने में किसी शुभ दिन अन्न-प्राशन कराये।

वर्ष पूरा हो जाने पर काश्यपसंहिता में जो अन्न-सेवन की मर्यादा बतलायी गयी है वह **'तेषु संवत्सरपराः क्षीरादाः'** से मेल खाती है। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार और अष्टांगसंग्रहकार भी वस्तुतः अन्नप्राशन का काल एक वर्ष का ही मानते हैं। सुश्रुत ने भी स्पष्ट कहा है कि बालक को जितनी देर से अन्न दिया जाय उतना ही अच्छा है।

दन्तोद्भवन और अन्नप्राशन का गहरा सम्बन्ध है। अन्न दाँतों से ही चबाया जाता है। दाँत प्रायः छठे महीने निकलना प्रारम्भ हो जाते हैं। इसी

लिए छठे महीने से ही बहुत ही अल्प मात्रा में मृदु अन्न को अर्धतरल रूप में देने का विधान किया गया है। जैसे-जैसे दाँतों की संख्या बढ़ती जाती है, अन्न की मात्रा भी बढ़ायी जाती है।

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रियों का मत है कि कि बालक को ३-४ महीने की अवस्था से ही दूध के साथ-साथ ठोस आहार भी देना शुरू कर देना चाहिए। इसके तीन मुख्य लाभ हैं—पहला, बच्चा शुरू से ही दूध के अतिरिक्त अन्य स्वादों का अभ्यस्त होने लगता है। थोड़ा बड़ा होते ही जहाँ उसकी समझ और स्वाद की संवेदना कुछ विकसित होती है, वह नये पदार्थ लेने में आनाकानी करने लगता है। दूसरा, उसका पाचनतन्त्र भी अन्य पदार्थों को स्वीकार करने लगता है। वे पदार्थ उसके लिए सात्म्य होते जाते हैं। तीसरे, दूध सर्वोत्तम खाद्य होते हुए भी सर्वांगपूर्ण खाद्य नहीं होता। उसमें भोजन के सभी तत्त्व उतनी मात्रा में नहीं पाये जाते जितने की बालक को उसकी वृद्धि एवं विकास के लिए आवश्यकता होती है। इसलिए ३-४ महीने का होते ही उसे पूरक खाद्य की आवश्यकता पड़ने लगती है।

बालकों को खाद्यान्न देने के सम्बन्ध में कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जिनकी जानकारी प्रत्येक चिकित्सक तथा अभिभावक के लिए आवश्यक है। संक्षेप में इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

आधारभूत सिद्धान्त
(Basic Principles)

१. नया खाद्य देना जितनी जल्दी शुरू किया जा सके उतना ही अच्छा है। कुछ चिकित्सक तो एक सप्ताह के बाद ही खाद्यान्न देने की वकालत करते हैं, परन्तु अधिकांश ३-४ महीने के बीच ही खाद्यान्न देने के पक्ष में हैं। यदि बच्चा कमजोर या रोगी है तो उसका अन्नप्राशन कुछ देर में भी किया जा सकता है।

नया खाद्य जितनी ही जल्दी दिया जायेगा बच्चे द्वारा उसे स्वीकारने की सम्भावना अधिक रहेगी। बच्चे स्वभावतः रूढ़िवादी होते हैं। वे परिवर्तन पसन्द नहीं करते। शुरू में उनकी रस की संवेदना (Sense of taste) उतनी अधिक विकसित नहीं होती, इसलिए नये खाद्य को स्वीकारने में वे उतनी आना-कानी नहीं करते। पर जहाँ जरा बड़े हुए और स्वाद के अन्तर को समझने लगे, वे नये पदार्थ को आसानी से ग्रहण नहीं करते।

२. एक समय में केवल एक ही नया पदार्थ देना चाहिए। इससे यह भी पता लग जायेगा कि कौन-सा पदार्थ बच्चे के लिए सात्म्य है और कौन-सा असात्म्य। जो खाद्य उसके अनुकूल न हो उसे उसको नहीं देना चाहिए।

३. शुरू में जो नया खाद्य दिया जाय वह बहुत ही कम मात्रा में होना चाहिए। धीरे-धीरे और जैसे-जैसे वह बालक को सात्म्य होने लगे उसकी मात्रा बढ़ानी चाहिए।

४. कोई भी नया खाद्य तभी देना आरम्भ करना चाहिए जब बालक शरीर और मन दोनों से स्वस्थ हो, सामान्य हो। उसकी मनोदशा ठीक हो।

५. नये खाद्यों को शुरू करने में पेया-विलेपी आदि क्रम का पूर्णरूप से पालन करना चाहिए। तरलता से घनता की ओर धीरे-धीरे ही जाना चाहिए।

६. जल्द ही उसे कप, प्लेट, कटोरी आदि में चम्मच से खाने का आदी बनाना चाहिए। इससे उसकी बोतल की आदत छुड़ाने में सुविधा होगी। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उसे जिस चम्मच से खिलाया जा रहा है, उसे उसके मुख के अनुरूप छोटा होना चाहिए।

७. सामान्यतया ठोस खाद्य स्तन-पान के पहले दिया जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम अपनाने की आवश्यकता नहीं है। हो सकता है अत्यधिक भूख होने की स्थिति में बालक शुरू में स्तन-पान की ही जिद करे परन्तु स्तन-पान के बीच में उस खाद्य को आसानी से ले ले। ऐसे अवसरों पर माताओं को अपने विवेक का ही अधिक सहारा लेना चाहिए।

८. यदि प्रारम्भ में नया खाद्य लेने में बच्चा आनाकानी करे तो माता को उसका सामना धैर्यपूर्वक करना चाहिए। घबड़ाना नहीं चाहिए। शुरू में उस खाद्य को बहुत ही अल्प मात्रा में दें। जब वह उसके स्वाद का अभ्यस्त हो जायेगा तो स्वतः ग्रहण करने लगेगा।

९. कभी-कभी बच्चा किसी चीज को खाते-खाते एकबारगी उसके प्रति अरुचि प्रकट करने लगता है। ऐसे में जबर्दस्ती न करें। उसे वह वस्तु देना बन्द कर दें। हो सकता है कुछ दिनों के बाद वह स्वतः उसे खाने लगे।

आरम्भ में खाद्यान्न के रूप में क्या देना चाहिए!
(What to Introduce First as a Solid Food)

यह बहुत-कुछ देश-काल और परम्पराओं पर आधारित है। अपने यहाँ प्रायः चावल या सूजी की खीर देने की परम्परा है। चावल की खीर बनाना हो तो उसे साफ करके बारीक पीस लेना चाहिए। सूजी की बनानी हो तो उसे किसी बर्तन में बिना घी डाले हुए हलकी आँच पर बादामी रंग का भून लेना चाहिए। खीर पतली ही बनानी चाहिए।

क्षीरान्नाद बालकों को देने के लिए बाजार में कुछ पके-पकाये तैयार खाद्यान्न भी मिलते हैं—यथा सिरीलैक (Cerelac), फेरेक्स (Farex),

नेस्ट्रम, (Nestrum), बाल-अमूल (Bal Amul) आदि । इनमें से प्रत्येक के डिब्बे पर इन्हें बनाने और बच्चे को देने के निर्देश दिये होते हैं। इन्हें आसानी से तैयार करके बच्चों को दिया जा सकता है। लेकिन ये किसी प्रकार भी ताजे खाद्यान्न से अच्छे नहीं होते। मंहगे भी काफी पड़ते हैं। ये उन माताओं के लिए हैं जो कामकाजी हैं। जिनके पास अपने बच्चों के लिए ताजा खाद्य तैयार करने का समय नहीं होता।

गेहूँ, चावल के अतिरिक्त अन्न में जौ, ओट-मील, बाजरा, मकई, चना आदि भी हैं, जिन्हें बच्चों को दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि बच्चे को अधिक भूँसीवाला खाद्य न दिया जाय। इससे पेट खराब होने का डर रहता है।

कितनी मात्रा में देना चाहिए !
(In What Amount)

आरम्भ में यदि बच्चा उक्त विधि से बनायी हुई खीर आधे से एक चाय के चम्मच तक स्वतन्त्र न ले तो दूध में मिलाकर दें। जैसे-जैसे बच्चा उसे ग्रहण करने लगे धीरे-धीरे उसकी मात्रा बढ़ाते हुए दो बड़े चम्मच (टेबुल स्पून) दोनों समय तक ले जायँ। मात्रा के बढ़ाने के साथ-साथ बच्चे की पाचनशक्ति का ध्यान रखते हुए उसे गाढ़ा भी करते जायँ।

आरम्भ में हो सकता है बच्चा नये खाद्य को उगल दे। इससे घबड़ायें नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि वह बच्चे के लिए रुचिकर नहीं है। हो सकता है यह एक स्वाभाविक प्रतिवर्त (Reflex) हो जो एकाध बार के बाद अपने आप ठीक हो जाय। लेकिन यदि २-३ दिन लगातार ऐसा ही हो तो उस नये खाद्य को देना बन्द कर दें। एकाध सप्ताह बाद इसे पुनः देना प्रारम्भ करें। हो सकता है अब वह उसे खुशी-खुशी ग्रहण करने लगे।

कितनी बार देना चाहिए !
(How Many Times)

क्षीरान्नाद अवस्था में जब कि बालक साथ-साथ दूध भी ले रहा है, उसे प्रातः और सायं दो बार से अधिक अन्न नहीं देना चाहिए। बीच में उसे फल सब्जियाँ आदि दी जा सकती हैं।

फल
(Fruits)

खाद्यान्न के कुछ दिन बाद ही फलों को देना शुरू किया जा सकता है। फलों में सबसे उपयोगी केला है। पके हुए केले को खूब मीसकर थोड़े दूध में

मिला पतला कर बच्चे को दिया जा सकता है। शुरू में इसे चाय के एक चम्मच के बराबर देना चाहिए। धीरे-धीरे बढ़ाते हुए एक केला तक प्रतिदिन दिया जा सकता है। कुछ बच्चों को जिन्हें स्वभावतः मलबन्ध (Constipation) की शिकायत रहती हैं, केले के साथ-साथ कोई अन्य मृदु-रेचक प्रकृति का फल भी देना चाहिए।

सेव भी दिया जा सकता है लेकिन इसका पोषक-मूल्य केले से कम होता है। सेव देना हो तो उसे भी समूचा उबालकर, छीलकर और गूदे को मीसकर ही देना चाहिए। ऋतु के अनुसार रसदार आम, पपीता, आलूबुखारा, अंगूर आदि भी दिये जा सकते हैं। लेकिन जो भी दिये जायँ मीसकर ही दिये जायँ।

आलूबुखारा और पपीता मलावरोध को दूर करते हैं। यदि बच्चा पचा सके तो इन फलों को एक से अधिक बार भी दिया जा सकता है।

फलों का रस या जूस
(Fruit Juice)

फलों में संतरे या मौसम्मी का रस सर्वोत्तम है। कुछ चिकित्सक तो एक-डेढ़ महीने की अवस्था से ही बच्चे को संतरे का रस देने की शिफारिस करते है। इसका रस विटामिन-सी का सबसे बड़ा श्रोत होता है। लेकिन यदि बच्चे को दूध के साथ-साथ सामूहिक विटामिन (Multi-vitamin) का कोई अन्य योग दिया जा रहा है तो तीन महीने से पहले संतरे या मौसम्मी का रस नहीं देना चाहिए। इससे उसके पेट में पीड़ा या अन्य गड़बड़ी हो सकती है। यदि बच्चे को फलों के रस से एलर्जी मालूम हो तो उसे ५-६ महीने के पहले नहीं देना चाहिए।

फलों का रस भी पहले समभाग उबला हुआ जल मिलाकर कम से कम, लगभग एक चम्मच की मात्रा में देना आरम्भ करना चाहिए। धीरे-धीरे ही इसकी मात्रा बढ़ानी चाहिए। इसे बढ़ाते हुए दो आउन्स रस और दो आउन्स पानी तक ले जाना चाहिए।

फलों का रस लेने की अवधि में यदि इत्तिफाक से बालक को सर्दी-खाँसी हो जाय तो माताएँ प्रायः समझ बैठती हैं कि यह सर्दी-खाँसी फलों का रस देने के कारण हुई है। लेकिन उनका ऐसा सोचना गलत है। ऐसे में कुछ माताएँ फलों के रस को गर्म करके भी देने लगती हैं। ऐसा करना हानिकारक है। गर्म रस आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करता है।

सब्जियाँ
(Vegetables)

सब्जियों को फलों की अपेक्षा कुछ और देर से देना शुरू करना चाहिए। बालक सब्जियों को लेने में प्रायः आनाकानी करते हैं। लेकिन ये स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। इनमें प्रोटीन और ऊष्मांक भले ही कम मात्रा में पाये जायँ पर विटामिन और खनिज प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। ये पेट को साफ रखती हैं। इनमें सेल्युलोज और शर्करा की मात्रा बहुतायत से होती है। सेल्यूलोज पेट को साफ रखने और शर्करा-शक्ति प्रदान करने में सहायक होती है।

सब्जियों में पालक, सीताफल, मटर, टमाटर तथा गाजर विशेषरूप से उपयोगी हैं। सब्जी देने की शुरूआत गाजर, आलू या मटर से ही करनी चाहिए। जो भी सब्जी देनी हो उसे उबालकर मसल लें। मसलने के बाद छन्नी से छान लें। उसमें हलका-सा नमक डाल दें। घी-तेल आदि का प्रयोग इसमें न करें। सब्जी को भी शुरू में एक चाय का चम्मच भर मात्रा में दें। धीरे-धीरे बढ़ाते हुए दो बड़े चम्मच प्रतिदिन तक ले जायँ।

सब्जी जब भी देनी हो ताजी पकाकर ही देनी चाहिए। रखी हुई सब्जी बच्चे को नहीं देनी चाहिए। तीखे स्वाद और कड़े छिलके वाली सब्जियाँ भी बच्चों को नहीं देनी चाहिए।

कुछ बच्चे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सब्जी अधिक पसन्द करते और अधिक मात्रा में खाने लगते हैं। इससे उनके मल में सब्जियों के अनपचे टुकड़े या रेशे आने लगते हैं। इससे घबड़ाना नहीं चाहिए। अगर पतला पाखाना होने लगे तो सब्जी की मात्रा कुछ कम कर देनी चाहिए।

अण्डा
(Eggs)

बच्चों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी खाद्य है। इसमें प्रोटीन, विटामिन तथा लौह प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इसे कच्चा, पका, उबला, अध-उबला किसी भी रूप में दिया जा सकता है। इनमें अध-उबला देना ज्यादा सुरक्षित है। इससे किसी प्रकार की एलर्जी होने की संभावना नहीं रहती। शुरू में बच्चे को मात्र जर्दी (पीला अंश) ही देनी चाहिए। इसे चने बराबर मात्रा से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे बढ़ाते हुए पूरे एक अण्डे की जर्दी तक ले जायँ। स्वाद के लिए उसमें हलका नमक मिलाया जा सकता है। बच्चा यूं न ले तो उसे दूध या खाद्यान्न के साथ मिलाकर भी दिया जा सकता है।

अण्डे की जर्दी सामान्यतया ४ महीने की वय से दी जा सकती है।

जिन परिवारों में किसी प्रकार की एलर्जी, दमा, एक्जिमा आदि हो, उन्हें अण्डा देर से देना चाहिए। उसकी सफेदी आठवें महीने से दी जा सकती है।

मांस
(Meat)

मांस में प्रोटीन, लौह तथा विटामिन-बी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। मांस में पायी जानेवाली प्रोटीन को प्रथम श्रेणी की प्रोटीन कहा जाता है। प्रत्येक १०० ग्राम मांस में १४ से २६ ग्राम तक प्रोटीन और २०० से २२५ तक ऊष्मांक पाये जाते हैं। हमारे यहाँ प्रायः बकरे, मुर्गी, सुअर आदि के मांस खाये जाते हैं। बच्चे के लिए मेमने या मुर्गी का मांस श्रेष्ठ है।

मांस आठ-नौ महीने की अवस्था के पहले नहीं देना चाहिए। बच्चे के लिए जो भी मांस लें वह अधिक चर्बी वाला या रेशेदार न हो। उसे कीमे के रूप में या पीस लें। बहुत ही थोड़ी मात्रा में घी या मक्खन और नमक लें। ध्यान रखें कि मांस ठीक से पक गया हो। अधपके मांस से पेट में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। आजकल बाजार में पके मांस और चिकेन-सूप के तैयार पैकेट भी मिलने लगे हैं। इनकी उपयोगिता प्रायः संदिग्ध रहती है। इन्हें बच्चों को कभी नहीं देना चाहिए। बच्चे को जब भी मांस देना हो, ताजा बनाकर ही दें।

मछली
(Fish)

मछली को सबसे अधिक एलर्जी उत्पन्न करने वाला खाद्य माना गया है। इसलिए इसे भी ८–९ महीने के पहले नहीं देना चाहिए। मांस के समान ही मछली में भी प्रोटीन अधिक मात्रा में पायी जाती है। विटामिन ए, बी, डी, और $बी_{१२}$ भी यथेष्ठ मात्रा में पाये जाते हैं। खनिजों में फासफोरस (Phosphorus), आयोडीन (Iodine), फ्लोरिन (Fluorine) आदि भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

बच्चे को देने के लिए कम चर्बीवाली मछली का एक टुकड़ा लेकर उसे उबाल लें। उसके काँटे पूरी तौर पर निकाल कर अच्छी तरह मीस लें और उसमें हलका नमक मिलाकर दें। ध्यान रहे सभी बच्चे मछली का स्वाद पसंद नहीं करते। यदि बच्चा उसे पसन्द न करे तो न दें।

अन्य खाद्य पदार्थ
(Other Edibles)

पावरोटी, बिस्कुट आदि को भी छठे-सातवें महीने से, जबकि बच्चे को दाँत निकलना शुरू हो जाते हैं, दिया जा सकता है। आरम्भ में इन वस्तुओं

को देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इनका टुकड़ा गले में न अटकने पाये। बाद में बच्चा इनका अभ्यस्त हो जाता है। इनमें पोषकतत्त्व कम ही मात्रा में पाये जाते हैं।

पुडिंग, आइसक्रीम, मक्खन, पनीर, आदि गरिष्ठ खाद्य हैं। इन्हें एक वर्ष से पहले नहीं देना चाहिए। आइसक्रीम में चर्बी और शर्करा ही मुख्य हैं। इसे बच्चे को यथासंभव न दें। खाली पेट तो कभी नहीं देना चाहिए।

दाल अकेले या खिचड़ी के रूप में दी जा सकती हैं। लेकिन देने के पहले दाल को अच्छी तरह मसल लें। अन्य अन्नों की अपेक्षा यह थोड़ी दुष्पाच्य होती है।

दही दूध का स्थानापन्न है। जिन बच्चों को यह अनुकूल पड़े उन्हें इसे दूध के अतिरिक्त नहीं, प्रत्युत दूध के स्थान पर उसे मथ कर देना चाहिए।

क्या नहीं देना चाहिए !
(What Not to Feed ,

बच्चों को तली-भुनी हुई, गरिष्ठ यथा—खोया, खोया की बनी मिठाई, रवड़ी आदि, अधिक मिर्च-मसाले, घी-तेल आदि से युक्त वस्तुएँ तथा अचार, चटनी आदि नहीं देना चाहिए। एक तो इनमें पोषकतत्त्व न्यूनतम मात्रा में पाये जाते हैं तथा दूसरे ये पेट को खराब करती हैं। इनसे बच्चे तरह-तरह के पाचन सम्बन्धी विकारों से ग्रस्त हो जाते हैं।

ठोस आहार दूध के पहले दिया जाय या बाद में !
(Solid Food : Before Milk or After Milk)

ठोस आहार प्रायः सुबह-शाम दूध के पहले देना चाहिए। भूख की हालत में उसे ग्रहण किये जाने की सम्भावना अधिक रहती है। फिर भी यदि बच्चा जिद करे तो उसे थोड़ा दूध पिलाकर उसके बाद ठोस आहार देना चाहिए। दूध के साथ या दूध में मिलाकर भी दिया जा सकता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हाँ, मिलाते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि परस्पर-विरोधी आहार एक-दूसरे के साथ न मिलाये जायँ।

क्या ठोस आहार दाँत निकलने के पहले दिया जा सकता है !
(Can Solid Food Be Introduced Before Teething)

ठोस आहार दाँत निकलने के पूर्व भी दिया जा सकता है। लेकिन देने के पहले उसे अर्ध-तरल या पेस्ट जैसा बना लें जिससे बच्चा उसे आसानी से निगल सके। वह उसके गले में फँसे नहीं।

अतिरिक्त विटामिन कब से और कब तक दिये जायँ !
(When to Start Supplementary Vitamins & How Long)

मल्टी-विटामिन (Multi-vitamin) की बूँदें आवश्यकतानुसार एक-दो सप्ताह की उम्र से दी जा सकती हैं। इन्हें तब तक देते रहना चाहिए जब तक बच्चा संतुलित आहार न लेने लगे—लगभग एक साल की उम्र तक। उसके बाद तो उसे सभी आवश्यक तत्त्व भोजन से ही प्राप्त होने लगते हैं।

बच्चे को विटामिन और खनिज लवणों के अतिरिक्त २ से ३·५ ग्राम प्रोटीन तथा १० ग्राम शर्करा प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से प्रतिदिन मिलनी चाहिए। वसा या चर्बी की अलग से आवश्यकता नहीं होती। जिस खाद्य में प्रोटीन और शर्करा रहते हैं, उसी से उसे वसा की भी प्राप्ति हो जाती है। ऊष्मांकों की १०० से १२० तक प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से जरूरत होती है। वृद्धि की अवस्था में उसे विटामिन-डी (४०० यूनिट प्रतिदिन ऊपर से) मिलना अनिवार्य है।

इन सभी तत्त्वों की पूर्ति के लिए ४–६ महीने के बाद बच्चे को ठोस आहार देना जरूरी हो जाता है। मात्र दूध से इनकी पूर्ति नहीं हो पाती। ठोस आहार के अभाव में बच्चे का उचित शारीरिक विकास नहीं हो पाता।

एक वर्ष के बच्चे के लिए संतुलित आहार
(Balanced Diet for a Year Old Child)

हमारा देश एक विशाल और विविधताओं से पूर्ण देश है। न तो सभी की आर्थिक स्थिति समान है और न सभी चीजें सभी स्थानों पर मिलती हैं। खाने-पीने की आदतों-परम्पराओं में भी पर्याप्त विविधता है। उत्तर और दक्षिण भारतीय भोजन एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होते हैं। बच्चों के शारीरिक गठन एवं स्वास्थ्य में भी भिन्नताएँ पायी जाती हैं। इसीलिए सभी बच्चों के लिए भोजन का कोई एक मापदण्ड उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता। कभी-कभी भोजन के चार्ट, खासकर संवेदनशील मां-बाप के लिए परेशानी का कारण भी बन जाते हैं। उनके मन में बच्चे के स्वास्थ्य और आहार को लेकर तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। इस सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टिकोण ही सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। बच्चा जो कुछ भी ले रहा है, यदि उससे उसका स्वास्थ्य ठीक है, वृद्धि और विकास की क्रिया सामान्य गति से हो रही है तो उस भोजन को उसके लिए उपयोगी मानना चाहिए।

सबसे पहले यह देखना चाहिए कि बच्चा दूध कितनी मात्रा में ले रहा है। यदि वह ७५० से लेकर १२५० मिलीलीटर तक दूध ले रहा है तो

चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि वह १२५० मिलीलीटर से अधिक दूध ले रहा है तो निश्चय ही अन्य खाद्यान्न कम लेगा। ऐसी स्थिति में उसके दूध की मात्रा घटाकर अनाज, सब्जी, फल आदि की मात्रा बढ़ावें। यदि वह ७५० मिलीलीटर से कम दूध ले रहा है और उसकी जगह दूध से तैयार सामान यथा—दही, पनीर, पुडिंग आदि ले रहा है तो भी कोई चिन्ता का विषय नहीं।

जो बच्चा ५०० मिलीलीटर से कम दूध ले रहा है और दूध से बना कोई अन्य पदार्थ नहीं लेता, तो पोषण सम्बन्धी उसकी अधिकांश आवश्यकताएँ अनाज, फल, सब्जी, मांस, अण्डे आदि से पूरी तो हो सकती हैं, पर उनके लिए ऊपर से टेबलेट या सीरप आदि के रूप में अतिरिक्त कैल्शियम लेना जरूरी हो जाता है। इसलिए बच्चे के शरीर में दूध की एक निश्चित मात्रा का पहुँचना जरूरी है। यदि बच्चा सादा दूध पसन्द नहीं करता तो उसमें इलायची, कोकोमाल्टीन आदि मिलाकर दिया जा सकता है। रसगुल्ले, पनीर या हल्की चीनी से बने सन्देश भी इस कमी को पूरा कर सकते हैं।

बच्चे के लिए २ से ४ बड़े चम्मच पकी हुई सब्जी प्रतिदिन जरूरी है। यदि बच्चा सब्जी लेने में आनाकानी करे तो उसकी जगह उसे फल दिये जा सकते हैं। फलों में भी पोषकतत्त्व पर्याप्त मात्रा में होते हैं। वे भी पेट को साफ रखते हैं।

जहाँ तक अनाज का सम्बन्ध है, उसे ४ से ८ बड़े चम्मच खाद्यान्न या कम से कम दो रोटी प्रतिदिन अवश्य लेनी चाहिए। इतना ही अनाज अन्य रूपों में भी दिया जा सकता है। अधिकांश बच्चे दाल-भात लेना पसन्द करते हैं। शाकाहारी बच्चों के लिए दाल लेना जरूरी है। मांसाहारी बच्चों को एक अण्डा और थोड़ा मांस प्रतिदिन देना चाहिए। यदि खाने में घी आदि का प्रयोग किया जा रहा है तो अण्डा नहीं देना चाहिए।

गुठली वाले फल, अंगूर, चेरी आदि २–३ वर्ष की उम्र के पहले नहीं देना चाहिए। वे उसके गले में फँस सकते हैं।

बच्चों के लिए खाद्यान्न तैयार करने में निम्न बातों का विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए। सब्जियाँ बासी, सड़ी-गली या कीड़ों की खायी हुयी न हों। उन्हें भली प्रकार साफ कर लें। पानी में अधिक देर तक न भिगोयें। उसे बहुत छोटा न काटें। ऐसा करने से उनके पोषकतत्त्व नष्ट हो जाते हैं। सब्जियों को यथासंभव कच्चा न दें। पकाने से उनमें वर्तमान परजीवी या

कीटाणु नष्ट हो जाते हैं तथा उनकी पचनशीलता और स्वाद भी बढ़ जाता है। लेकिन उन्हें बहुत अधिक न पकायें। अधिक देर तक या अधिक तेज आँच पर रहने से उनके बहुत से पोषकतत्त्व, विशेषकर विटामिन-सी और बी$_1$ नष्ट हो जाते हैं। ढँककर पकाने से विटामिन-सी नष्ट नहीं होता। प्रेशर-कुकर का उपयोग इस कार्य के लिये सबसे अच्छा होता है। सब्जियों को अधिक उबालने या भाप देने से भी उनके पोषकतत्त्व निकल जाते हैं।

अन्नाद-अवस्था

दो वर्ष से बड़े बच्चों के लिए आहार

(Diet For a Two-Years Old Child)

२ वर्ष के बाद से १६ वर्ष की वय तक का काल मुख्यरूप से अन्नाद-अवस्था मानी जाती है। इसका विस्तार काफी लम्बा है। इस बीच बालक में वृद्धि का अनुपात और गति यद्यपि पहले जैसी तीव्र नहीं रहती, फिर भी उसमें अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। उसे विकास के अनेक स्तरों को पार करना पड़ता है। उसकी आदतों और रुचियों में भी परिवर्तन आते हैं। खाने की आदतें और रुचियाँ भी बदलती हैं तथा मात्रा भी घटती-बढ़ती है। इस सम्बन्ध में अभिभावकों को अनावश्यक रूप से चिन्तित नहीं होना चाहिए। बालक का विकास अपनी स्वाभाविक गति से होने देना चाहिए। मात्र इतना ध्यान रखना चाहिए कि बालक जो भोजन ले रहा है, वह संतुलित हो तथा बढ़ती उम्र के अनुरूप उसको जिन पोषकतत्त्वों की जरूरत है, वे उसे पर्याप्त मात्रा में मिलते रहें। संतुलित भोजन में मुख्यतया तीन बातों का होना आवश्यक है—

१. भोजन से बच्चे को आवश्यक ऊष्मांकों (Calories) की प्राप्ति हो। सामान्यतया बच्चे को ५० ऊष्मांक प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से आवश्यक होते हैं। मान लें बच्चे की वय ३ वर्ष और उसका भार ३० किलोग्राम है तो उसे ३० × ५० = १५०० ऊष्मांकों की प्रतिदिन आवश्यकता होगी। अतः बच्चे को भोजन में इतनी और ऐसी वस्तुएँ दी जानी चाहिए, जिससे उसकी क्षुधा-तृप्ति के साथ-साथ उसे प्रतिदिन १५०० ऊष्मांकों की प्राप्ति हो सके। इसी तरह यदि बच्चे का शारीरिक भार ५० पौंड है तो उसे प्रतिदिन २५ × ५० = १२५० ऊष्मांकों की आवश्यकता होगी।

२. भोजन से प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, चर्बी, खनिज लवण तथा विटामिनों की प्राप्ति उचित मात्रा में हो।

शरीर की वृद्धि और उसके ऊतकों के पुनर्निर्माण में प्रोटीन की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जैविक प्रोटीन दूध, पनीर, अण्डा, मांस तथा मछली से और वानस्पतिक प्रोटीन मुख्यरूप से अनाजों (यथा—गेहूँ, चावल, दाल, मूँगफली, चना आदि) से प्राप्त होती । सोयाबीन में तो ४० प्रतिशत प्रोटीन होती है। अधिक प्रोटीन वाले खाद्यान्नों में खनिज लवण और विटामिन भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए कलेजी में प्रचुर मात्रा में प्रोटीन के साथ-साथ विटामिन ए, बी और लौह भी प्रचुरता से पाया जाता है।

कार्बोहाइड्रेट तथा चर्बी से शक्ति या ऊर्जा की प्राप्ति होती है। अनाज, फल, शाक-सब्जी तथा शर्करा कार्बोहाइड्रेट के मुख्य स्रोत हैं। घी, तेल, मक्खन, मलाई आदि चर्बी के मुख्य स्रोत हैं।

शारीरिक क्रियाओं के सुचारु रूप में संचालन के लिए विटामिनों की आवश्यकता होती है। नेत्रों की ज्योति को बनाये रखने, आँत, मूत्र-संस्थान तथा श्वसन-संस्थान की श्लैष्मिककलाओं की रक्षा में विटामिन-ए का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हरी-पीली सब्जियाँ, मक्खन, घी, वनस्पति, अण्डे की जर्दी तथा पनीर इसके प्रधान स्रोत हैं। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र, पाचन-संस्थान तथा श्रवण-प्रणाली के कार्यों के संचालन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नारियल, मूँगफली, दाल, ढेकी का कुटा चावल, गेहूँ, बाजरा, सब्जी, दूध, मांस तथा मछली इसके प्रधान स्रोत हैं। गाजर में भी यह प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। हड्डी, दाँत, रक्तवाहिनियों तथा शरीर के कुछ अन्य भागों के निर्माण, विकास तथा उनके सुचारु रूप से संचालन के लिए विटामिन-सी की बड़ी आवश्यकता है। शरीर को कम से कम ५० मिलीग्राम विटामिन-सी प्रतिदिन चाहिए। यह मुख्यतः सन्तरा, नींबू, अंगूर, टमाटर तथा कच्ची पत्तागोभी में पाया जाता है। दाँतों के विकास के लिए और विशेष रूप से ऐसे ऊतकों की जिन्हें कैल्शियम की आवश्यकता होती है, विटामिन-डी की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता होती है। इसकी कमी से बच्चे सूखारोग का शिकार हो जाते हैं। इसका मुख्य स्रोत धूप है। दूध, मछली और कलेजी में भी यह पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

विटामिनों के समान ही खनिज लवण भी शरीर की क्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण लौह (Iron) है। यह हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) के निर्माण में सहायक होता है। आहार में लौह की

कमी बाल्यावस्था में होनेवाली रक्ताल्पता (Anaemia) का प्रधान कारण है। हरी पत्तीवाली सब्जियाँ, माँस और अण्डा इसके प्रमुख स्रोत हैं। कैल्शियम (Calcium) दूसरा आवश्यक खनिज लवण है। यह हड्डियों के निर्माण में सहायक होता है। दन्तक्षय (Tooth decay) और शोष (Rickets) को रोकता है। कैल्शियम प्रधानरूप से दूध, मछली और दाल में पाया जाता है। थाइरायड ग्रन्थि (Thyroid gland) के लिए थोड़ी आइडीन (Iodine) भी जरूरी है। हरी सब्जी, मछली और लिवर-एक्स्ट्रैक्ट (Liver Extract) में यह प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

यद्यपि बालक के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए तथा उसकी वृद्धि और विकास के लिए सभी पोषकतत्त्वों की आवश्यकता होती है, परन्तु प्रोटीन और विटामिन उसके लिए सबसे अधिक आवश्यक हैं। यदि बच्चे को संतुलित भोजन दिया जाता है, तो उसके लिए सभी आवश्यक पोषकतत्त्व उसे भोजन से ही प्राप्त होते रहेंगे। उन्हें अलग से देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

३. भोजन परिवार की आर्थिक स्थिति और भोजन सम्बन्धी आदतों के अनुरूप हो। हमने ऊपर देखा कि जीवन के लिए आवश्यक अधिकांश पोषकतत्त्व हमें अनाज, सब्जी, फल, दूध, अण्डा, मांस, मछली आदि से प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ वस्तुएँ सस्ती होती हैं, कुछ मँहगी। कुछ सरलता से मिलती हैं, कुछ कठिनाई से। पोषकतत्त्व सस्ती वस्तुओं में भी होते हैं और मँहगी में भी। बल्कि बहुत-सी सस्ती वस्तुएँ पोषकतत्त्वों की दृष्टि से अधिक मूल्यवान् होती हैं, यथा—मौसमी फल, सब्जियाँ, दालें आदि। सोयाबीन एक सस्ता पदार्थ है, पर उसमें प्रोटीन सबसे अधिक मात्रा में पायी जाती है।

आगे के पृष्ठों में दैनिक जीवन में व्यवहार में आनेवाले अनाजों, दालों, फलों, सब्जियों तथा मांस, मछली, अण्डा आदि की ऐसी तुलनात्मक तालिकाएँ दी जा रही है, जिसमें दिखलाया गया है कि किसमें कौन-कौन से पोषकतत्त्व, कौन-कौन से विटामिन, कितनी मात्रा में पाये जाते हैं। इनकी मदद से हर आर्थिक स्थिति वाला व्यक्ति अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुरूप पदार्थों का चयन कर भोजन की ऐसी संतुलित तालिका बना सकता है जिससे उसे सभी आवश्यक पोषकतत्त्वों और ऊष्मांकों की प्राप्ति हो सके।

नीचे की तालिका में यह दिखलाया गया है कि सामान्यतः १ से लेकर १८ वर्ष तक के बच्चों को कौन-कौन से प्रमुख पोषकतत्त्व कितनी मात्रा में चाहिएँ—

बालक की आयु	ऊष्मांक प्रतिदिन	प्रोटीन ग्राम	कैल्शियम ग्राम	लौह मि० ग्रा०	विटामिन-ए इकाई
एक वर्ष	११००	१७	०·४–०·५	१५–२०	२५०
दो वर्ष	१२००	१८	,,	,,	,,
तीन वर्ष	१२००	२०	,,	,,	,,
चार से छः वर्ष	१५००	२२	,,	,,	३००
७ से ९ वर्ष	१८००	३३	०·४–०·५	१५–२०	४००
१० से १२ वर्ष	२१००	४१	०·६–०·७	२५	७५०
१३ से १५ वर्ष लड़का	२५००	५५	,,	२५	७५०
लड़की	२२००	५०	,,	३५	,,
१६ से १८ वर्ष लड़का	३०००	६०	०·५–०·६	२५	,,
लड़की	२२००	५०	,,	३५	,,

अध्याय २४

विहार

कुमारागार

(Children's Ward or Room)

प्राचीन भारत में बच्चों के व्यक्तित्व को कितना प्रशस्त माना जाता था, उसे कितना महत्त्व दिया जाता था, यह इसी बात से प्रकट है कि आयुर्वेद की संहिताओं में कुमारों के लिए अलग घर या वार्ड की कल्पना की गयी है। यह कैसे होने चाहिए, इनमें क्या-क्या होना चाहिए, इनका रख-रखाव कैसे होना चाहिए, बालक की सेवा-सुश्रूषा के लिए इनमें किस-किस को रहना चाहिए आदि बातों की चर्चा विस्तार से की गयी है। देखिये—

अथोऽनन्तरं कुमारागारविधिमनुव्याख्यास्यामः—वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतङ्गं सुविभक्त-सलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसम्पन्नं कुर्यात्; तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमङ्गलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्त-जनसम्पूर्णम्। इति कुमारागारविधिः। —चरक-शारीर, ८।५९

प्रशस्तवास्तुशरणं सज्जोपकरणं शुचि।
निर्वातं च प्रवातं च वृद्धस्त्रीवैद्यसेवितम्॥
निर्मत्कुणाखुमशकमतमस्कं च शस्यते। —अ० सं० उ० १।३५

इन उद्धरणों में कुमारागार की निम्न विशेषताएँ बतलायी गयी हैं—

१. कुमारागार का निर्माण वास्तुकला (Architecture) में कुशल व्यक्तियों के द्वारा कराया जाना चाहिए।

२. वह देखने में सुन्दर एवं आकर्षक होना चाहिए।

३. वह अन्धकाररहित होना चाहिए। उसका रुख ऐसा होना चाहिए, जिसमें सूर्य का प्रकाश पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके।

४. वह हवादार होना चाहिए। परन्तु साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि हवा के तेज झोंके सीधे बालक को न लगें।

५. वह ऐसा बनाया जाना चाहिए जिसमें कीट, पतंग, मच्छर, चूहे आदि न हों। साथ ही उसमें कुत्ते, बिल्ली या अन्य हिंसक जीवों का भी प्रवेश न हो सके।

६. वह भलीप्रकार सज्जित होना चाहिए। वहाँ बच्चों के लिए आवश्यक एवं उनकी सेवा-सुश्रूषा में काम आनेवाली सभी वस्तुएँ हों। प्रत्येक वस्तु उनकी रुचि के अनुकूल हो।

७. प्रत्येक वस्तु के रखने का अलग-अलग स्थान हो, यथा—जल रखने का स्थान, ऊखल रखने का स्थान इत्यादि।

८. उसमें उनके लिए अलग स्नानघर, शौचालय, रसोईघर आदि की व्यवस्था हो।

९. उसमें प्रत्येक ऋतु के अनुरूप बच्चे के लिए सुखकारी शैय्या, आसन, बिस्तर आदि का सुन्दर प्रबन्ध हो।

१०. उस घर में विधिपूर्वक रक्षा-विधान—बलि, मंगल, होम, प्रायश्चित आदि का अनुष्ठान हो चुका हो।

११. उसमें बालक की देख-रेख करने के लिए कुशल वैद्य, वयस्क परिचारिकाएँ तथा बालक के प्रति अनुराग रखनेवाले लोग हों।

कुमाराधार
(Male Nurses For the Child)

कुमाराधार का अर्थ है—कुमारों के आधार अर्थात् कुमारों के सेवक। कुमारागारों में कुमारों की सेवा के निमित्त किस प्रकार के व्यक्तियों को रखा जाना चाहिए, इसकी चर्चा करते हुए वृद्ध वाग्भट ने कहा है—

अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः।
कुमारधारः कर्तव्यस्तत्राद्यो बालचित्तवित्॥
अधार्मिकं दुराचारः स्थूलो विकटगामिनम्।
करोति लोलुपो बालं घस्मरत्वेन रोगिणम्॥

—अ० सं० उ० १।७१-७२

उक्त उद्धरण में सेवक के निम्न प्रधान गुणों की ओर संकेत किया गया है—

१. सेवक को सदाचारी होना चाहिए। सदाचारी होने से वह बालक की सेवा ईमानदारी और निष्ठा के साथ करेगा। साथ ही उसके आदर्शों की छाप लेकर बालक स्वयं भी सदाचारी बनेगा।

२. सेवक को अतिस्थूल नहीं होना चाहिए। अतिस्थूल होने से वह स्वभावतः आलसी होगा। आलसी सेवक बालक की सेवा कभी पूरी निष्ठा के साथ नहीं कर सकता। कहा भी गया है कि दूध का उबालना और बालक का पालना सतत सावधानी चाहता है। थोड़ी-सी चूक से जैसे दूध उबलकर गिर जायेगा वैसे ही थोड़ी-सी असावधानी बालक के कुछ-न-कुछ अनिष्ट का कारण बन जायेगी।

३. सेवक को लोलुप नहीं होना चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों पर निय-

न्त्रण होना चाहिए। लोलुप होने से वह बच्चे के हिस्से की बहुत-सी चीजों को स्वयं हड़प जायेगा। बालक जो कुछ भी खाये-पियेगा उसपर बराबर उसकी कुदृष्टि रहेगी।

४. सेवक को कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। बालक की सेवा में नियुक्त व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा रखने वाला और उसका उचित रूप में अनुपालन करने वाला होना चाहिए।

५. बालक के सेवक को बाल-मन को समझने वाला एक सफल एवं अनुभवी बालमनोवैज्ञानिक होना चाहिए। बालक की अभिवृत्तियों, अभिरुचियों, भावनाओं, मनोवेगों, संवेगों, वयानुरूप उसकी जरूरतों को समझने वाला व्यक्ति ही उसकी देखभाल में, उसके लालन-पालन में सफल हो सकता है। बालक के साथ बालक बनकर ही उनकी मनोभावनाओं को उचित रूप में समझा-जाना जा सकता है।

वृद्धवाग्भट ने कहा है कि अधार्मिक, दुराचारी, मोटा (मेदस्वी) एवं कुमार्गगामी सेवक स्वयं बालक को भी कुमार्गगामी बना देता है। उसके संस्कारों को भ्रष्ट कर देता है। तरह-तरह के दुर्व्यसनों का आदी बना देता है। जबान का लोभी सेवक स्वयं बालक को भी लोभी, लालची एवं रोगी बना देता है।

बालकों के जीवन में खेल का स्थान
(Place of Play in the Life of Children)

खेल बालक के जीवन का एक अनिवार्य अंग है। उसका अधिकांश समय खेलने, खाने और सोने में ही बीतता है। खेल-खेल में ही बालक जीवन के लिए आवश्यक बहुत-सी बातों को सीख लेता है। खेल उसके शारीरिक एवं मानसिक विकास में सहायक होते हैं। उसे गति एवं दिशा देते हैं। उसके संवेगों को अभिव्यक्ति देते हैं। सामाजिकता की वृद्धि करते हैं।

आयुर्वेद के मनीषियों ने बच्चों के जीवन के इस पक्ष की ओर भी समुचित ध्यान दिया है। बच्चे खेलें भी, लेकिन खेलों से उनको किसी तरह की हानि न पहुँचने पाये। उनके शरीर और मन का समुचित विकास हो। इसके लिए उन्होंने बतलाया है कि बालक जिस भूमि का खेलने के लिए उपयोग करते हैं, उसे कैसा होना चाहिए, उसे कैसे बनाना एवं तैयार करना चाहिए। बालक जिन खिलौनों से खेलते हैं उन्हें कैसे आकार-प्रकार का होना चाहिए इत्यादि।

क्रीड़ाभूमि
(Play-Field)

क्रीडाभूमिः समा कार्या निश्शस्त्रोपलशर्करा ।
वेल्लोषणकणाम्भोभिः सिक्ता निम्बोदकेन वा ।।–अ० सं० उ० १।७५

इसमें दो बातों की ओर विशेषरूप से ध्यान दिया गया है । बच्चों के खेलने का स्थान समतल और साफ-सुथरा होना चाहिए । समतल नहीं होगा तो बच्चे के ठोकर खाकर गिरने का तथा हाथ-पैर मुरकने का डर रहेगा । खेलने में बच्चे गिरते हैं और उन्हें चोट भी लगती है । चोट ऐसी भी हो सकती है जिससे रक्तस्राव होने लगे । ऐसी स्थिति में यदि खेलने का मैदान गंदा है, वहाँ कील-काँटे, रोड़ा-पत्थर आदि हैं तो बालक को टिटनस आदि हो जाने का भय हो सकता है । इसलिए वृद्धवाग्भट ने कहा है कि खेल के मैदान के समतल होने के साथ-साथ उसे लोहा, धातु, रोड़े, पत्थर, मिट्टी, धूल, बालू आदि से रहित होना चाहिए । उसे कीटाणुरहित बनाया जाना चाहिए । युग के अनुरूप उसे कीटाणुरहित बनाने के लिए उन्होंने उस पर विडंग, काली मिर्च आदि क्रृमिहर द्रव्यों के चूर्ण को पानी में घोलकर या नीम के पानी को छिड़कने की सलाह दी है ।

क्रीड़नक या खिलौने
(Toys for the Children)

बच्चों के लिए खिलौने कैसे होना चाहिए, इस सम्बन्ध में चरक ने कहा है—

क्रीडनकानि खलु कुमारस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चागुरूणि चातीक्ष्णाग्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराणि चावित्रासनानि स्युः ।

—चरक-शा०, ८।६३

इसमें चरक ने बच्चों के लिए निर्माण किये जाने वाले खिलौनों की निम्न विशेषताओं की ओर संकेत किया है—

१. खिलौनों को विचित्र अर्थात् विविध प्रकार का एवं विविध रंगों वाला होना चाहिए । विविधता न केवल बच्चों को आकर्षित करती है बल्कि खेलों में उनकी रुचि को बनाये रखती है तथा उनकी जिज्ञासा को जगाती है ।

२. उन्हें आवाज करने वाला होना चाहिए । आवाज करने वाले खिलौने बच्चों को जल्दी और अधिक आकर्षित करते हैं । उनमें उन्हें अधिक जीवन्तता प्रतीत होती है ।

३. उन्हें सुन्दर एवं सुखप्रद होना चाहिए। खिलौने जितने ही अधिक सुन्दर और सुखप्रद होंगे, बच्चे उनसे उतना ही अधिक खेलना चाहेंगे।

४. उन्हें अधिक भारी नहीं होना चाहिए। इतना हल्का होना चाहिए कि बालक उन्हें आसानी से उठा सकें, लेकर घूम सकें। यदि वह उनके किसी अंग पर गिर भी जायँ तो उन्हें चोट न लगे।

५. उनके अग्र भाग को (या किसी भी हिस्से को) नुकीला नहीं होना चाहिए। नुकीला होने से वह बालक को चुभ सकता है।

६. उन्हें ऐसा होना चाहिए जिससे बच्चे उसे निगल न सकें। वह उनके गले में न फँस सकें।

७. वे उनके लिए प्राणहर न हों। उनके बनाने में ऐसी धातुओं या रंगों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए जिसको चाटने से बच्चों पर विषाक्त प्रभाव पड़े।

८. वे उनमें भय उत्पन्न करने वाले न हों। वे न तो देखने में भयानक हों और न उनका स्पर्श पीड़ादायक हो। उनसे उत्पन्न होने वाली आवाज भी डराने वाली नहीं होनी चाहिए।

९. उन्हें उनकी वय के अनुरूप उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास में सहायक होना चाहिए।

वृद्धवाग्भट ने खिलौनों के उक्त गुणों के अतिरिक्त निम्न बातें और बतलायी हैं—

> **जातुषं घोषवच्चित्रमत्रासं रमणं बृहत्।**
> **अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादिमङ्गल्यमथ वा फलम्॥**
>
> —अ० सं० उ० १।७६

१०. खिलौनों को लाख का बना होना चाहिए। लाख को आयुर्वेद में शीतल, रक्तपित्तघ्न, ज्वरनाशक, दाहशामक, बल्य एवं वर्ण्य माना गया है। बच्चे लाख के बने खिलौनों को यदि मुँह में भी डालेंगे तो उससे उनको लाभ ही होगा।

११. उनका आकार कल्याणकारी पशु या फल के समान होना चाहिए। गाय, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु; तोता, मैना आदि पक्षी; आम, अमरूद, केला आदि फल जिन्हें बच्चे प्रायः देखते रहते हैं, उनके आकर्षण का केन्द्र होते हैं। उनकी आकृति में बने खिलौने स्वाभावतः उन्हें अधिक आकर्षित करते हैं। उनसे उनकी जानकारी भी बढ़ती है।

काश्यप ने तो खिलौनों की जितनी आकृतियों का वर्णन किया है उससे न केवल उनकी विविधता का, बल्कि यह भी पता चलता है कि प्राचीन भारत

में बच्चों के लिए कितने-कितने, कैसे-कैसे चित्र-विचित्र, आकर्षक और ज्ञान-वर्धक खिलौनों का निर्माण किया जाता था। उस जमाने में खिलोने वनाने की कला कितनी विकसित थी। इन खिलौनों का वर्णन बालक के उपवेशन तथा फलप्राशन विधि के सन्दर्भ में आया है। वालक इन्हें उठा सकता है, मुँह में रख सकता है, इसलिए उन्हें पीसे हुए अन्न या खोए का वनाया जाता था। स्वयं काश्यप के शब्दों में—

बालक्रीडनकानि पिष्टमयानि, तद्यथा—गोगजोष्ट्राश्वगर्दभमहिषमेषच्छाग-मृगवराहवानररुरुशरभसिंहव्याघ्रकपितरक्षुवृककूर्ममीनशुकसारिकाकोकिलकल-विङ्कचक्रवाकहंसक्रौञ्चसारसमयूरकर्कटचकोरकपिञ्जलचरणायुधवर्तकाकाराणि, शैलकगृहरथकयानकस्यन्दनकशल्लिकाजिज्झिरिकाखैरिकेशीकातुम्बीकादुष्प्रवाहक-भद्रकसंचोल्लकपीठप···न्दिकादुहितृकाकुमारकगोलगन्दुकादीन्यन्यानि च स्त्रीकौतु-कानीति······।
—काश्यप-खिलस्थान : जातकर्मोत्तराध्याय १२

गाय, हाथी, ऊँट, घोड़ा, गधा, भैंस, मेढ़ा, वकरी, मृग, सुअर, वन्दर, रुरु तथा शरभ जाति के मृग, सिंह, व्याघ्र, कपि, चीता, भेड़िया, कछुआ, मछली, तोता, मैना, कोयल, कलविंक (गौरैया), चक्रवाक, हंस, क्रौंच, सारस, मोर, केकड़ा, चकोर, कपिञ्जल, चरणायुध तथा बत्तख के आकार के तथा शिला, गृह, रथ, यान, स्यन्दन, शल्लिका, झज्झर, खैरिका, सरकण्डा, तुम्बी, दुष्प्रवाह, भद्र, संचोल्ल, पीठप, ननद, दुहिता, कुमार, गेंद इत्यादि तथा अन्य भी स्त्रियों की पसन्दवाले खिलौने······

अध्याय २९

निद्रा

(Sleep)

अच्छी नींद अच्छे स्वास्थ्य की निशानी है। जो बच्चे स्वस्थ होते हैं, वे रोते कम, सोते अधिक हैं। ठीक इसके विपरीत जो बच्चे अस्वस्थ होते हैं वे रोते अधिक व सोते कम हैं। नींद बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का जनक है।

यदि बच्चा बिना कठिनाई के सो जाता है, गहरी नींद सोता है, देर तक सोता है और सोकर उठने के बाद तरोताजा मालूम होता है तो समझना चाहिए कि वह भली प्रकार सोताहै।

यदि बच्चा अपने आप को सुरक्षित अनुभव करता है, उसका पेट ठीक से भर जाता है, जो खाता है पच जाता है, आराम अनुभव करता है, उसके सोने की जगह ठीक है, जहाँ पर्याप्त मात्रा में स्वच्छ वायु उपलब्ध है, बिछावन आरामदेह है तो कोई कारण नहीं कि बच्चे को ठीक से नींद न आये।

बच्चे को कितना सोना चाहिए

(How Much a Child Should Sleep)

खेलने और खाने के समान ही सोने के मामले में भी बच्चों में व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। कोई कम सोते हैं, कोई अधिक। शुरू में उनके पास दो ही काम होते हैं—खाना और सोना। उनका पेट भर गया और पेट में कोई तकलीफ नहीं हुई तो वे खाने के बाद सो जाते हैं। और भूख लगने पर पुनः जगते हैं। जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती जाती है, उनकी सोने की मात्रा घटती जाती है। शुरू में वे दिन में भी सोते हैं और रात में भी। लेकिन उम्र के बढ़ने के साथ-साथ उनमें दिन में सोने की मात्रा भी घटती जाती है। औसतन किस उम्र का बच्चा कितना सोता है, इसे नीचे की तालिक में दिखलाया गया है—

बच्चे की आयु	२४ घंटे में कितना सोता है	दिन में	रात में
पहला दिन	२० से २२ घंटे तक		
पहला सप्ताह	२० से २१ घंटे तक		
पहला महीना	१८ से २० घंटे तक	८ से १० घंटे तक	१० घंटे के लगभग
चार महीने तक	१६ से १८ घंटे तक	६ से ८ घंटे तक	१० घंटे ,,

छः महीने तक	१५ से १७ घंटे तक	५ से ७ घंटे तक	१० घंटे	,,
नौ महीने तक	१४ से १६ घंटे तक	४ से ६ घंटे तक	१० घंटे	,,
एक वर्ष तक	१३ से १५ घंटे तक	४ से ६ घंटे तक	९ घंटे	,,
सवा साल तक	१२ से १४ घंटे तक	३ से ५ घंटे तक	९ घंटे	,,
डेढ़ साल तक	११ से १३ घंटे तक	२ से ४ घंटे तक	९ घंटे	,,
दो वर्ष तक	१० से १२ घंटे तक	१ से ३ घंटे तक	९ घंटे	,,
तीन वर्ष तक	१० से १२ घंटे तक	मात्र झपकियाँ	९ घंटे	
चार से पांच वर्ष तक	१० घंटे		१० घंटे	
६ से ८ वर्ष तक	९½ घंटे		९½ घंटे	
८ से १० वर्ष तक	८½ घंटे		८½ घंटे	
११ से १५ वर्ष तक	८ घंटे		८ घंटे	

बच्चा कहाँ सोये !
(Where to Sleep)

बच्चा कितना सोये; इसके बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या है—बच्चा कहाँ सोये। शुरू में तो जरूरी है कि बच्चा माँ के साथ ही उसी विस्तर पर या माँ की खाट के पास ही किसी पालने-खटोले (बेबी-काट) पर सोये। इस अवस्था में उसे बार-बार दूध पिलाने और मल-मूत्र त्याग करने पर कपड़े-बिछावन आदि बदलने की जरूरत पड़ती है। कुछ महीने का हो जाने पर उसकी खाट उसी कमरे में माँ की खाट से दूर किसी कोने में या अलग कमरे में डालनी चाहिये। लेकिन उसकी देखरेख में कमी नहीं आनी चाहिये। यही वह समय है जबकि बच्चे में सोने से सम्बन्धित अच्छी या बुरी जैसी भी चाहें, आदतें डाली जा सकती हैं। इस समय उसकी जो भी आदतें पड़ जायेंगी आजीवन बनी रहेंगी। दो साल का होते-होते उसके स्वभाव में अनेक जटिलताएँ घर करने लगती हैं, यथा—उत्तेजना, चिन्ता, डरावने सपने, अकेलेपन का भय, अँधेरे का भय, भाई-बहनों के प्रति ईर्ष्या, उनसे प्रतिस्पर्धा आदि। ये तत्त्व स्वभावतः एक सीमा तक उसकी नींद में व्यवधान डालते हैं। इसलिए यदि अभी तक उसमें अलग सोने की आदत नहीं डाली गयी है तो बाद में वह जल्दी अलग सोने के लिये तैयार नहीं होगा। बाद में उसका विरोध और भी मुखर होगा।

बच्चा कैसे सोये !
(How to Sleep)

अधिकांश बच्चे शुरू से ही पेट के बल लेटते हैं। इसमें उन्हें ज्यादा आराम मिलता है। खासकर जिन बच्चों के पेट में वायु भर जाती है, पट

लेटने से पेट पर दवाव पड़ने के कारण उसका अधिकांश भाग निकल जाता है। जिन बच्चों में पेट-गैस के कारण पीड़ा होती है उन्हें मात्र पट लिटा देने से ही काफी आराम मिल जाता है।

कुछ बच्चे चित भी लेटते हैं। चित लेटने में दो मुख्य हानियाँ हैं। यदि बच्चे को कै होती है तो उसका गला अवरुद्ध हो जा सकता है। दूसरे, चित लेटने की स्थिति में उसकी गर्दन प्रायः एक ओर ही अधिक घूमी रहती है। इससे उसके सिर का उधर का भाग कुछ चिपटा हो जा सकता है। हालाँकि इससे उसके मस्तिष्क को कोई हानि नहीं पहुँचती, फिर भी सिर को सामान्य स्थिति में आने में कुछ समय लग जाता है। इससे बचने का सबसे सरल उपाय है कि सोते समय बच्चे का सिर एक बार एक दिशा में रखें और दूसरी वार ठीक उसकी विपरीत दिशा में। कुछ ही सप्ताहों का हो जाने पर वह चित या पट जैसा भी हो, अपने सोने की आदत विकसित कर लेता है। उसके वाद आदत बदलना कठिन होता है। अच्छा हो शुरू में उसे पट लिटाने की आदत डाल दी जाय; उसके वाद तो वह जैसी चाहेगा अपनी आदत विकसित कर लेगा।

नींद की गड़बड़ी
(Disturbed Sleep)

बच्चे में नींद की गड़वड़ी के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से प्रमुख निम्न हैं—

१. सोने से सम्वन्धित गलत आदतें।
२. ध्यान का कहीं और लगा होना।
३. अन्यमनस्कता, व्याकुलता, उद्विग्नता, चित्त-विक्षेप आदि।
४. कोई शारीरिक या मानसिक रोग।
५. स्थान या परिवेश में परिवर्तन।

प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः भूख, पेट में पीड़ा, कपड़ों की अधिकता या उसे अधिकतर गोद में रखने की आदत से नींद में व्यवधान पड़ता है। जो बच्चा भूखा हो या जिसके पेट में पीड़ा हो वह कभी ठीक से नहीं सो सकता। कभी-कभी सर्दी लग जाने के अकारण एवं अनावश्यक भय से माताएँ बच्चों को ज्यादा-से-ज्यादा कपड़े पहना देती हैं, ओढ़ा देती हैं। परिणामस्वरूप गर्मी के कारण बच्चे की नींद में बाधा पड़ती है। कसे कपड़े भी उसके लिए परेशानी का कारण बन जाते हैं। कुछ माताएँ बच्चा जरा-सा रोया नहीं कि उसे गोद में उठा लेती हैं, टहलाने-थपथपाने लगती हैं। फल यह होता है कि बच्चे की गोद में ही सोने की आदत पड़ जाती है। बाद में इस आदत को छुड़ाने में परेशानी होती है।

दो-तीन वर्ष का होते-होते बच्चे में आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति जगने लगती

है। अब यदि उसे कोई बात जोर देकर कही जाती है तो स्वभावतः वह उसका विरोध करता है; यही बात सोने पर लागू होती है। माता उसे सोने को कहती है परन्तु वह नहीं सोता। ऐसे में समझदारी से काम लेने की जरूरत होती है। बच्चे का विश्वास जीतना होता है। उसे आवश्यक प्यार एवं सुरक्षा प्रदान करनी होती है। बच्चों के विस्तर पर जाकर अभिभावकों को उससे ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये, उसके साथ ऐसे खेल नहीं खेलने चाहिये जिससे उनमें उद्विग्नता पैदा हो।

इस उम्र के बच्चों में कभी-कभी एक अजीब आदत भी देखी जाती है। इधर माँ उन्हें सुला कर आयी नहीं कि वे उठकर माँ के पास चले आते हैं। कभी पानी माँगते हैं, कभी पेशाब कराने को कहते हैं, हालाँकि हो सकता है माता ने उसे पानी पिलाकर या पेशाब कराकर ही सुलाया हो। उस समय उसके चेहरे पर भोलापन होगा, मांग में स्वाभाविकता होगी। कभी-कभी अभिभावक कितना ही क्यों न नाराज हो वह बार-बार उठकर आ जाता है। हर बार उसके चेहरे पर वही भोलापन होता है, जैसे यह सब उसके लिये स्वाभाविक हो।

ऐसे में बच्चे पर झुंझलाने-बिगड़ने या उससे ऊबकर अपने पास सुला लेने पर बात बिगड़ती ही है, बनती नहीं। अभिभावकों के हठ पकड़ने पर वह भी हठ पकड़ लेता है। अपने पास सुला लेने पर उसकी आदत बराबर के लिये बिगड़ जा सकती है। ऐसी घटना प्रायः पहले या अकेले बच्चे के साथ ही अधिक घटती है। हो सकता है वह डर गया हो, अकेलेपन से घबड़ाता हो। ऐसे में उसके साथ बड़ी नर्मी से पेश आने और उसे आश्वस्त करने की जरूरत होती है। मन से भय के निकल जाने पर वह स्वतः रास्ते पर आ जाता है।

छः साल का होते-होते जब वह स्कूल जाने लगता है तो उसे स्कूल के काम की चिन्ता सताने लगती है। अत्यधिक काम और खेल उसके शरीर और मन दोनों को बुरी तरह थका देते हैं। उसे सोने में कठिनाई होती है। कुपोषण, रक्ताल्पता एवं स्कूल या घर की किसी बात को लेकर मानसिक रूप से उलझे बालक भी जल्द सो नहीं पाते।

कुछ बच्चे कोई खिलौना आदि लेकर, लैम्प जला रखकर या दरवाजा आदि खुला रखकर सोने की जिद करते हैं तो उन्हें ऐसा करने दें। उनके सोने के बाद रोशनी एवं दरवाजे को बन्द किया जा सकता है। माता-पिता इतना ध्यान अवश्य रखें कि बच्चे समय पर सोयें। जो बच्चे समय से सोयेंगे वे समय से उठेंगे भी।

अध्याय १६

क्षीरान्नाद अवस्था : प्राकृत अवस्था एवं परिचर्या

क्षीरान्नाद अवस्था छः महीने से लेकर सामान्यतया दो वर्ष की वय तक मानी जाती है। इस अवस्था के पूरा होते-होते बालक बहुत से कार्य, जिन्हें पहले अभिभावक करते थे या वह उनकी सहायता से करता था, अब स्वयं करने लगता है। पर-निर्भरता से आत्मनिर्भरता की ओर बालक का विकास शारीरिक वृद्धि तथा अंग-प्रत्यंगों पर प्राप्त नियन्त्रण का परिणाम होता है। दो वर्ष का होने पर वह बैठने लगता है, खड़ा होने लगता है, चलने लगता है और बहुत से कार्य अपनी इच्छानुसार अपने हाथ से करने लगता है। भाषा का विकास उसे अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाने और दूसरों की बातों को समझने में समर्थ बनाता है। अब उसे अपनी अभिरुचियों, अपनी योग्यताओं के अनुरूप अपने को विकसित करने का अवसर मिलने लगता है। उसके व्यक्तित्व की अपनी विशेषताएँ उभरने लगती हैं।

इस अवधि में उसे बैठना, खड़ा होना, चलना, ठोस भोजन लेना, मल-मूत्र की क्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करना आदि का अभ्यास करना होता है। भूख, प्यास, नींद आदि पर किसी हद तक उसे नियन्त्रण प्राप्त करना होता है। बोलना सीखना पड़ता है, भाषा सीखनी पड़ती है। अपने अभिभावकों, भाई-बहनों तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित करना तथा उचित व्यवहार करना सीखना पड़ता है। यह सच है कि इस अवधि के पूरा होते-होते इन क्रियाओं पर पूर्ण निपुणता तो नहीं प्राप्त हो पाती पर इनमें से अधिकांश की नींव इसी समय में पड़ जाती है। इसके दो महत्त्व-पूर्ण परिणाम निकलते हैं। पहला, जितना ही शीघ्र बालक अपने शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करता है उतना ही शीघ्र उसमें आत्मनिर्भरता की भावना का विकास होता है। दूसरे, वह इस अवधि के विकास-कार्यों में जितनी कुशलता प्राप्त कर लेता है उतना ही उसका आगे का मार्ग सरल हो जाता है। नींव जितनी ही दृढ़ होगी उसपर उतना ही अच्छा भवन खड़ा किया जा सकता है।

सम्पूर्ण जीवनावधि में दो अवस्थाएँ शारीरिक विकास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं—१. गर्भ में आने के समय से लेकर जन्म लेने के बाद भी छः से नौ महीने तक की अवस्था और २. वयःसन्धिकाल (Puberty)। इस बीच जितनी शीघ्रता से उसका शारीरिक विकास होता है उतना किसी

दूसरी अवस्था में नहीं होता। क्षीरान्नाद अवस्था के शारीरिक विकास की झलक निम्न तालिका में देखी जा सकती है—

उम्र	ऊँचाई	भार
जन्म के समय	५०-५१ सेंटीमीटर	३.२ किलोग्राम
चौथा महीना	६०-६१ ,, ,,	६.४ ,,
एक वर्ष	७१-७६ ,, ,,	९.५ ,,
दो वर्ष	८४-९४ ,, ,,	११.३-१२.७ ,,

शारीरिक एवं मानसिक विकास
(Physical and Mental Development)

बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। जब शारीरिक विकास तेजी से हो रहा होता है तब मानसिक विकास भी तेजी से होता है और जब शारीरिक विकास मन्द होता है तो मानसिक विकास भी मन्द पड़ जाता है। स्वास्थ्य और पोषण दोनों ही प्रकार के विकासों को प्रभावित करते हैं। बीमारियाँ और कुपोषण शरीर के अन्य भागों के साथ-साथ मस्तिष्क के विकास को भी प्रभावित करते हैं। फलतः बालक की बौद्धिक शक्तियाँ भी मन्द होने लगती हैं।

मानसिक विकास की अपेक्षा शारीरिक विकास पर ध्यान देना सरल होता है। रोगों से बचाव और पोषक आहार की व्यवस्था अपने वश की बातें हैं। अभिभावकों को इस अवधि में इनकी ओर अधिक से अधिक ध्यान देना चाहिए। इस अवधि का स्वास्थ्य आगे आनेवाली अवस्थाओं के स्वास्थ्य का सूचक है।

वृद्धि के प्रतिरूप
(Patterns of Growth)

वृद्धि कभी एकरूप और निरन्तर नहीं होती। हो सकता है जब बच्चा लम्बाई में बढ़ रहा हो तो भार-वृद्धि की गति मन्द हो; जब आन्तरिक अंग (उदर हृदय आदि) तेजी से बढ़ रहे हों तो बालक ऊपर से ज्यों-का-त्यों दिखलायी दे। विकास का प्रतिरूप एक होते हुए भी विकास की गति में बच्चों में अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जा सकती हैं। ये भिन्नताएँ लड़के और लड़कियों में जन्म के तुरन्त बाद से ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। जन्म के बाद प्रसवकालीन कठिनाइयों के कारण लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का भार अधिक घट जाता है, लेकिन जन्मोत्तर बालक-परिचर्या की सुव्यवस्था कर लेने के बाद उनका भार और लम्बाई दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जाते हैं।

क्षीरान्नाद अवस्था के आरम्भ में भार का बढ़ना अधिकांशतः मेद-ऊतकों (Fat tissues) की वृद्धि पर निर्भर है। मेद-ऊतकों का बढ़ना बालक को दिये जानेवाले दूध में वर्तमान वसा की न्यूनाधिकता पर निर्भर है। बाद में जब वह दूध के साथ-साथ अन्न भी खाने लगता है तब उसके भार की वृद्धि अस्थि एवं पेशी-ऊतकों की वृद्धि से अधिक प्रभावित होती है।

शरीर में मेद की वृद्धि और स्वास्थ्य दो अलग-अलग बातें हैं। आवश्यक नहीं कि जो बच्चे मोटे हों वे स्वस्थ भी हों। जितनी और जैसी बीमारियाँ दुबले बच्चों को होती हैं, वे ही मोटे बच्चों को भी होती हैं। बल्कि मोटे बच्चों में मेदस्विता के कारण क्रियावाही विकास की गति कुछ मन्द होती है।

विकास के प्रतिरूप
(Patterns of Development)

जन्म के समय शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा सिर बड़ा होता है। जन्म के बाद भी सिर बढ़ता है, पर शेष शरीर की तुलना में उसकी वृद्धि की गति मन्द हो जाती है। दो वर्ष के बाद उसका सिर, शेष शरीर की तुलना में अधिक बड़ा नहीं दिखलायी पड़ता। शरीर के अन्य अंग जो जन्म के समय कम विकसित थे, इस अवधि में तेजी के साथ बढ़ते हैं। धड़ लम्बा होता है। कन्धे चौड़े होते हैं। पेट सपाट होने लगता है। अब शरीर के अंग-उपांग अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और सामान्य आकृति ग्रहण करने लगते हैं।
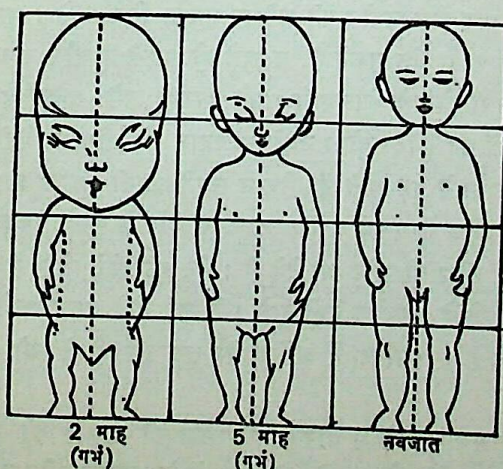
चित्र ८—विकास-क्रम में अंग-प्रत्यंगों के अनुपात में परिवर्तन (१)
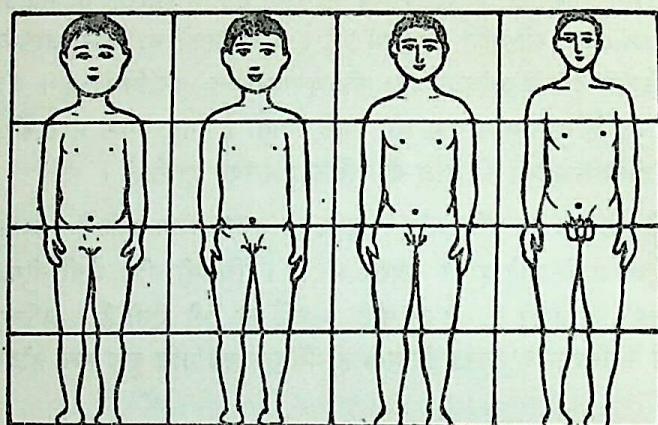
चित्र ८६—विकास-क्रम में अंग-प्रत्यंगों के अनुपात में परिवर्तन (२)

शरीर के आयाम
(Dimentions of Physical Growth)

सभी नवजात शिशु एक समान नहीं होते। उनका शारीरिक गठन भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कुछ लम्बे और दुबले होते हैं, कुछ नाटे और स्थूल होते हैं। लेकिन जब तक उनकी शारीरिक स्थिति बदलती नहीं, तब तक उनकी आकृति अपनी वास्तविक अवस्था में नहीं आ पाती। इस अवधि के समाप्त होते-होते उनके शारीरिक आयाम वहुत कुछ स्पष्ट होने लगते हैं।

बच्चों के शारीरिक आयामों में परिवर्तन का उन पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है। जब तक शेष शरीर की अपेक्षा उनका सिर अधिक भारी रहता है तब तक न वे ठीक से बैठ सकते हैं, न खड़े हो सकते हैं और न चल ही सकते हैं। सिर के भारी होने के कारण वे अपने शरीर को सन्तुलित नहीं कर पाते। हाथ-पैरों का छोटा होना उनके व्यवहार को और भी वेढंगा बना देता है। हाथ न तो इतने बड़े होते हैं और न उनमें इतनी शक्ति होती है कि वे किसी वस्तु को ठीक से पकड़ सकें। इसलिए यदि वे कुछ पकड़ने का प्रयत्न भी करते हैं तो शीघ्र ही छोड़ भी देते हैं। पैर भी छोटे होने के कारण शेष शरीर के भार को वे सम्भाल नहीं पाते। वे खड़े होने तथा चलने के प्रयत्न में प्रायः गिर जाते हैं। इसलिए वे अधिक देर तक इन कामों को नहीं करना चाहते।

शारीरिक समानुपातों में परिवर्तन बालक की आकृति को भी एकरूपता प्रदान करते हैं। जैसे-जैसे उनके अंग-प्रत्यंगों के आकार और रूप बदलते हैं, वे पहले की अपेक्षा अधिक अच्छे और सुडौल दिखलायी पड़ने लगते हैं।

दाँत एवं अस्थियाँ
(Teeth and Bones)

नवजात शिशु की अस्थियाँ तरुणास्थियों या उपास्थियों (Cartilage or Gristle) के समान कोमल होती हैं। जैसे-जैसे शिशु की अवस्था बढ़ती जाती है, उनमें कड़ापन आता जाता है। यह अस्थिभवन (Ossification) की क्रिया जन्म से लेकर ११-१२ वर्ष की वय तक चलती रहती है।

बच्चों की अस्थियों की कोमलता का अनुभव उनके कपाल में वर्तमान कलान्तरालों (Fontanels) में आसानी से किया जा सकता है। कपाल के ऊपरी भाग में वर्तमान सबसे बड़े कलान्तराल में इसे आसानी से देखा जा सकता है। कपालास्थि के चारों बड़े टुकड़े जो बढ़कर परस्पर मिल जाते हैं तथा सिर की हड्डी का निर्माण करते हैं, वे अभी तक पूर्णरूप से विकसित नहीं होते हैं। वे विकास की प्रक्रिया में होते हैं।

कलान्तरालों के माध्यम से प्रकृति मस्तिष्क की वृद्धि में सहायता पहुँचाती है। आरम्भ में जब तक बच्चा खड़ा होने या चलने नहीं लगता, तब तक दुर्घटनाओं की आशंका कम होती है। इसलिए उस समय तक मस्तिष्क को सुरक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि बड़े होने पर होती है। जन्म से १८ महीने के बीच सामान्यतया कलान्तराल बन्द हो जाते हैं। कपालास्थियाँ न केवल मिलकर एकरूप हो जाती हैं, बल्कि उनमें कड़ापन भी आ जाता है।

बच्चों की अस्थियों के सम्बन्ध में दो बातें विशेषरूप से ध्यान देने की हैं—१. टूटने पर वे जल्दी और आसानी से जुड़ जाती हैं और २. दबाव आदि पड़ने से उनकी आकृति बिगड़ जाती है। जो बच्चे अधिकांश चित पड़े रहते हैं, उनके सिर नीचे से कुछ चपटे हो जाते हैं। आवश्यक परिपक्वता आने के पूर्व यदि बालक बैठने या खड़ा होने लगे तो उसकी रीढ़ आगे की ओर झुक जाती है। यदि इस विकृति को समय रहते ठीक न किया गया तो वह स्थायित्व ग्रहण कर लेती है।

दाँत दो प्रकार के होते हैं—अस्थायी या दूध के दाँत और स्थायी दाँत। अस्थायी दाँतों के निकलने और गिर जाने के बाद ही उनके स्थान पर स्थायी दाँत निकलते हैं। अस्थायी दाँतों की संख्या २० होती है—१० ऊपर और १० नीचे। ये लगभग ६ महीने की वय से निकलना आरम्भ करते हैं और दो वर्ष का होते-होते लगभग १६ दाँत निकल आते हैं। अस्थायी और स्थायी दाँतों के निकलने का तथा उनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओं का विस्तृत वर्णन दन्तोद्भवन नामक अध्याय में किया जायेगा।

स्नायु-संस्थान
(Nervous System)

गर्भधारण के बाद शीघ्र ही स्नायु-संस्थान या तंत्रिका-तन्त्र (Nervous System) का विकास शुरू हो जाता है। लेकिन जन्म के समय भी यह पूर्ण रूप से विकसित नहीं होता। नवजात शिशु की असहायावस्था का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण होता है। जन्म के बाद बड़ी तीव्र गति से इसका विकास होने लगता है। इसी के सहारे वह अपने शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में स्थित मांसपेशियों पर नियंत्रण प्राप्त करता है। मांसपेशियों पर नियन्त्रण उसके क्रियावाही विकास (Motor development) को गति देता है। उसमें सीखने की क्षमता प्रदान करता है।

चूंकि बच्चों का सिर देखने में बड़ा होता है, इसलिए कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि बच्चों का मस्तिष्क पूरी तौर से विकसित और उच्च-स्तरीय मानसिक क्रियाओं को करने में सक्षम होता है। लेकिन ऐसा होता नहीं। मस्तिष्क शेष शरीर की अपेक्षा देखने में अवश्य बड़ा लगता है, परन्तु उसका आन्तरिक ढाँचा पूरी तरह से विकसित नहीं होता। जन्म के बाद ही विकास की यह प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है।

प्रमस्तिष्क (Cerebrum) मस्तिष्क (Brain) का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग होता है। यही मस्तिष्क की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण क्रियाओं का नियन्ता होता है। संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, सीखना, स्मरण, चिन्तन आदि सभी क्रियाएँ इसी के द्वारा सम्पादित होती हैं। शरीर की समस्त गतियाँ इसी के द्वारा संचालित होती हैं। इसके संवेदनात्मक क्षेत्र संवेदनाओं का, गतिवाही-क्षेत्र गतियों का तथा साहचर्य-क्षेत्र उच्चस्तरीय मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण करते हैं। प्रमस्तिष्क का गतिवाही क्षेत्र अपेक्षाकृत पहले विकसित होता है। जीवन के पहले वर्ष में बच्चा रेंगने और चलने लगता है। बोलना उसके बाद ही सीखता है।

अनुमस्तिष्क (Cerebellum) प्रमस्तिष्क से छोटा होता है। यह शारीरिक मुद्राओं और संतुलन का नियन्त्रण करता है। यह भी जीवन के पहले वर्ष में ही विकसित होता है और बैठने, खड़े होने तथा चलने आदि की क्रियाओं में संतुलन बनाये रखने में बच्चे की सहायता करता है।

विकास की गति
(Pace of Development)

बच्चों में विकास की गति सिर से पैरों की ओर तथा केन्द्र से छोरों (Extremities) की ओर होती है। इसे शीर्ष-पुच्छक अनुक्रम (Cephalo-

caudal sequence) कहते हैं। जन्म के पूर्व और जन्म के बाद भी बालक का विकास इसी क्रम का अनुगमन करता है।
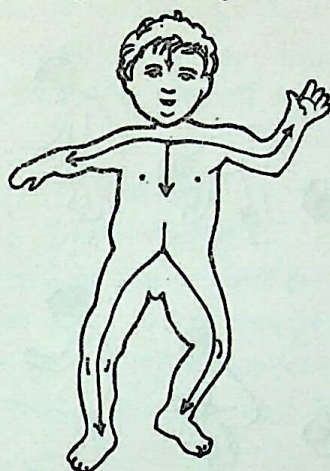
चित्र १०—बालक के विकास की दिशाएँ

नीचे बच्चों के क्रियावाही विकास की एक संक्षिप्त तालिका दी जा रही है। किस वय में बच्चा कौन-सी क्रियावाही शक्ति अर्जित करता है, यह इस तालिका में देखा जा सकता है—

अवस्था	क्रियावाही शक्ति
एक महीना	कभी-कभी सिर को उठाना।
दो महीना	चित पड़े हुए दोनों हाथ चलाना।
साढ़े तीन महीना	गर्दन को सीधा तानना।
पाँच महीना	सहारे से बैठने का प्रयास करना।
छः महीना	बिना सहारे के लगभग ३० सेकेण्ड तक बैठना।
सात महीना	चित से पट हो जाना।
साढ़े सात महीना	कुछ समय तक बैठे रहना।
साढ़े दस महीना	कोई सहारा लेकर खड़ा होना।
एक वर्ष	बिना सहारे के खड़ा होना।
एक वर्ष से डेढ़ वर्ष के बीच	चलना।

विकास को प्रभावित करनेवाले कारक
(Factors Affecting the Development)

बच्चे के शारीरिक या क्रियावाही विकास को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण कारक हैं—बालक की बुद्धि, सेक्स, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रस,

पोषण, खुली हवा, धूप, दुर्घटनाओं तथा रोगों से सुरक्षा, आनुवंशिकता, परिवेश तथा संस्कृति। इनमें बच्चों को इस अवधि में दिया जानेवाला आहार,
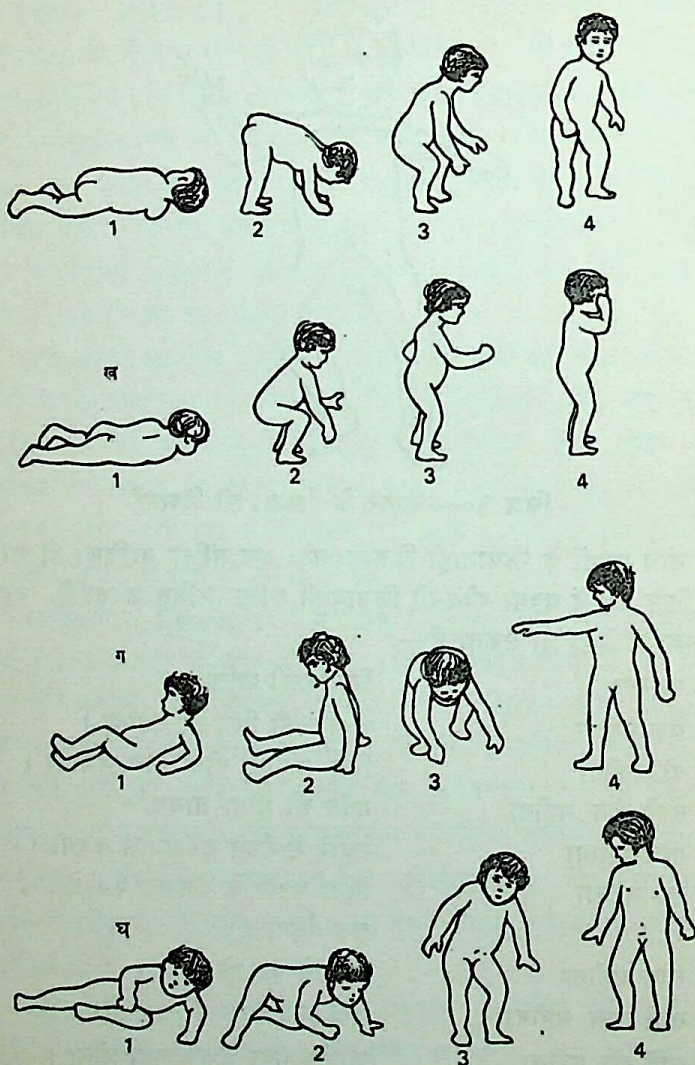
चित्र ११—बालक के खड़े होने के अलग-अलग ढंग

पोषण तथा उनका सामान्य स्वास्थ्य विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। ये कारक जितने अधिक अनुकूल होंगे, बालक के विकास की गति उतनी ही तीव्र तथा संतुलित होगी।

बालक के व्यक्तित्व की विशेषताओं, प्रतिरूपों के विकास में उनकी तथा उनके प्रति अभिभावकों तथा परिवार के सदस्यों की अभिवृत्तियों की अन्य

सामाजिक सम्बन्धों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । अभिवृत्तियों की अनुकूलता (Favourable attitudes) बालक के व्यक्तित्व के विकास को सही दिशा देती है । प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ (Unfavourable attitudes) आरम्भ से ही उसमें अनेक प्रकार की कुण्ठाओं का कारण बन जाती हैं ।

ज्ञानेन्द्रियाँ
(Sense Organs)

बच्चा जब पैदा होता है तो उसमें सभी ज्ञानेन्द्रियाँ रहती तो हैं पर सभी न तो एक-समान विकसित होती हैं और न एक-समान कार्यक्षम ही होती हैं । लेकिन जन्म के बाद शुरू के ही महीनों में उनका विकास तेजी से आरंभ हो जाता है । नीचे ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

देखना (Vision)—जन्म के समय बच्चे की आँखें पूर्णरूपेण विकसित होती हैं । लेकिन अक्षिगोलकों को संचालित करनेवाली मांसपेशियाँ अभी ठीक से विकसित नहीं होतीं । जब तक इनमें शक्ति नहीं आ जाती, बच्चा अपनी आँखों को अपनी इच्छानुसार घुमाने और स्थिर करने में समर्थ नहीं हो पाता । परिणामतः वह वस्तुओं को ठीक से देख भी नहीं पाता । इस शक्ति को अर्जित करने में उसे २–३ महीने का समय लग जाता है । जन्म के एक या दो महीने बाद ही उसे रंगों की भी संवेदना होने लगती हैं ।

सुनना (Hearing)—गर्भावस्था में बच्चे का कान गर्भाशय में स्थित तरल से भर जाता है । जन्म के समय बाहर का कान तो साफ कर दिया जाता है पर मध्य कान में स्थित तरल को निकलने में कई सप्ताह लग जाते हैं । जब तक यह पूर्णतः निकल नहीं जाता, बच्चे को साफ-साफ सुनाई नहीं देता ।

सूँघना (Smelling)—बच्चे के नासारन्ध्रों में भी उतने ही गन्ध के ग्राहककोश होते हैं जितने किसी प्रौढ़ व्यक्ति में होते हैं । परन्तु बाल नहीं होते । फलतः गन्ध के कण बड़ी आसानी से उसकी नाक के अन्दर प्रवेश कर ग्राहककोशों पर अपना प्रभाव डालने लगते हैं । इसलिए बालक गन्ध के प्रति शुरू से ही अधिक संवेदनशील होता है ।

रसानुभूति (Taste)—बच्चे की स्वाद-कलिकायें (Taste buds) जिह्वा की ऊपरी सतह पर ही होती हैं । वे कपोलों की अन्तःकला में भी होती हैं । इससे बच्चा स्वाद के प्रति अधिक संवेदनशील होता है । स्वाद में गन्ध

का भी योगदान रहता है और बच्चे की नाक शुरू से ही गन्ध के प्रति अति संवेदनशील रहती है। यह बच्चे के स्वाद की संवेदना की तीव्रता को और भी बढ़ा देती है।

स्पर्शानुभूति (Touch)—बच्चे की त्वचा पर भी स्पर्श, पीड़ा और ताप के उतने ही ग्राहककोश रहते हैं, जितने किसी प्रौढ़ व्यक्ति की त्वचा पर पाये जाते हैं। लेकिन उनकी त्वचा बहुत पतली होती है। इसलिये वे स्पर्श, ताप और पीड़ा के प्रति भी अधिक सजग एवं संवेदनशील होते हैं।

वृद्धि, विकास और रोग
(Growth, Development and Diseases)

बच्चों की वृद्धि और विकास बहुत-कुछ उनके स्वास्थ्य पर भी निर्भर करते हैं। जो बच्चे प्रायः बीमार रहते हैं या कोई लम्बी बीमारी झेलते हैं, उनकी वृद्धि और विकास पर उसका पूरा प्रभाव पड़ता है। इससे वृद्धि और विकास की गति मन्द पड़ जाती है। उनकी अधिकांश ऊर्जा रोग का प्रतिकार करने में ही खर्च हो जाती है। ठीक हो जाने पर यद्यपि वे बहुत हद तक क्षतिपूर्ति करने में समर्थ हो जाते हैं, पर उनमें बहुत से अपने विकास की चरम सीमा तक नहीं पहुँच पाते।

आधुनिक आयुर्विज्ञान की तमाम नवीनतम उपलब्धियों, प्रतिरक्षीकरण (Immunization) और नयी से नयी औषधियों के आविष्कार के बावजूद आज भी बहुत बच्चे एक वर्ष से भी कम वय में ही मर जाते हैं। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह भी प्रतीत होता है कि उनके अभिभावक बहुत से उपसर्गों के प्रति समय रहते ध्यान नहीं देते। वे अपने जैसा ही उन्हें भी समझते हैं। बच्चों में रोग के सभी लक्षण व्यक्त नहीं होते। जो हुए भी उन्हें छोटा-मोटा समझकर उपेक्षा कर देते हैं। सोचते हैं स्वयं ठीक हो जायेगा। इसी में रोग बढ़ जाता है। दूसरे, बच्चों में रोगप्रतिरोधक क्षमता की कमी के कारण उनमें रोगों का संक्रमण शीघ्र होता है और वे बढ़ते भी हैं बड़ी तेजी से। फलतः उपेक्षा करने पर बालक का रोग शीघ्र ही गम्भीर रूप धारण कर लेता है। इसलिए समझदार माताएँ जहाँ सुविधाएँ उपलब्ध हैं, पहले वर्ष में हर महीने या दूसरे महीने, तथा दूसरे वर्ष में हर तीन-चार महीने बाद बालक की स्वास्थ्य-परीक्षा कराती रहती हैं।

प्रतिरक्षीकरण
(Immunization)

क्षीरान्नाद अवस्था में होनेवाले रोगों में कुछ रोग इतने भयानक होते हैं कि चिकित्सक बालक में पहले से ही प्रतिरक्षीकरण या रोगक्षमीकरण (Imm-

unization) द्वारा ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देना ठीक समझते हैं, जिससे रोग का संक्रमण या आक्रमण होने पर बालक को विशेष हानि न पहुँच सके। ये प्रतिरक्षीकरण इस बात का विश्वास तो नहीं दे सकते कि इनसे बालक को सम्बद्ध रोग होंगे ही नहीं। रोग तो हो सकते हैं, पर ऐसे बालकों में वे उग्र रूप नहीं धारण करते। रोग से सम्बन्धित उपद्रव (Complications) भी प्रायः नहीं होते या होते भी हैं तो बहुत ही कम।

प्रतिरक्षीकरण के क्रम में बालक के शरीर में पहले से ही अल्प मात्रा में उन रोगों के जीवाणु पहुँचा दिये जाते हैं जिससे बालक के रक्त में वर्तमान रक्ताणु इनसे लड़कर इन्हें नष्ट करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। या ऐसे जीवाणु पहुँचा दिये जाते हैं जो उन रोगों के जीवाणुओं को शरीर में पहुँचते ही नष्ट कर देते हैं। इनमें से हर प्रतिरक्षीकरण की एक प्रतिक्रिया भी होती है। प्रतिक्रिया का प्रभाव कुछ घण्टों से लेकर कुछ दिनों तक हो सकता है। उदाहरण के लिए डी-पी-टी-शाट (DPT shot) के दिये जाने के बाद बालक में ज्वर, भोजन के प्रति अरुचि, अनिद्रा, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। ये लक्षण औषधि के दिये जाने के कुछ घंटे बाद शुरू होते हैं और एक-दो दिन में स्वतः शान्त हो जाते हैं। बच्चों में किस-किस रोग के क्षमीकरण की क्रिया कब-कब की जानी चाहिए, इसका वर्णन नीचे संक्षेप में किया जा रहा है।

कण्ठरोहिणी, कालीखाँसी तथा धनुस्तम्भ (Diphtheria, Pertussis and Tetanus)—बच्चे को इन तीनों रोगों के लिए एक ही सम्मिलित शाट दिया जाता है, जिसे DPT shot या Triple Antigen कहते हैं। इनमें से पहला शाट ३ महीने की अवस्था में, दूसरा ४ महीने की अवस्था में और तीसरा ५ महीने की अवस्था में दिया जाता है। जब बच्चा साल भर का हो जाता है तब रोहिणी के प्रति उसकी रोगप्रतिरोधक क्षमता की जाँच करने के लिए शिक-परीक्षा (Shick Test) की जाती है। १२ से लेकर १८ महीने के बीच और फिर ४ वर्ष की वय में उसे अनुवर्द्धक मात्राएँ (Booster doze) दी जाती हैं। ये बूस्टर-डोज़ रोहिणी और धनुस्तम्भ के लिए होती हैं, काली खाँसी के लिए नहीं।

बाल-पक्षाघात (Poliomyelitis or Infantile paralysis)—पक्षाघात की प्रतिरोधी क्षमता दो प्रकार से उत्पन्न की जाती है—एक तो साल्क-वैक्सीन (Salk Vaccine) के द्वारा जिसे इन्जेक्शन के रूप में बच्चे के रक्त में पहुँचा दिया जाता है, दूसरे सैबिन-वैक्सीन (Sabin Vaccine) द्वारा जो तरल या गोली के रूप में बच्चे को खिला दी जाती है। अधिकांश चिकित्सक सैबीन

देना ही अधिक पसन्द करते हैं। एक तो बच्चे इसे आसानी से ले लेते हैं, दूसरे इससे उत्पन्न प्रतिरोधी क्षमता उच्चकोटि की और अधिक समय तक प्रभावी रहती है। इसकी पहली मात्रा बच्चे को दो महीने की वय में, उसके बाद दो और मात्राएँ ६ से लेकर ८ सप्ताह के अन्तर पर दी जाती हैं। उसके बाद पुनः १५ महीने और ४ वर्ष की वय में अनुवर्द्धक मात्राएँ दी जाती हैं।

खसरा या रोमान्तिका (Measles)—पहले ८-९ महीने की वय में, फिर उसके बाद १२ वर्ष की वय में बालक के शरीर में खसरे की प्रतिरोधी क्षमता उत्पन्न की जाती है। बीच में यदि कभी पास-पड़ोस में यह रोग फैल जाता है या परिवार के किसी सदस्य को हो जाता है तो बालक में पुनः प्रतिरोधी क्षमता उत्पन्न करना जरूरी हो जाता है। इसके बाद बहुत सम्भव है बालक को खसरा हो ही नहीं, या यदि होता भी है तो उसका प्रभाव साधारण होगा।

चेचक (Small-pox)—प्रायः एक वर्ष के अन्दर ही बालक को चेचक का टीका दे दिया जाता है।

पाषाणगर्दभ या गलसुआ (Mumps)—इसके लिए पहली बार एक वर्ष की वय में और उसके बाद पुनः १२ वर्ष की वय में बालक में प्रतिरोधी क्षमता उत्पन्न की जाती है। यह लड़कों के लिए अधिक आवश्यक है। यदि किसी लड़के को किशोरावस्था में यह रोग हो जाय तो उसके शुक्राणु नष्ट या कमजोर हो सकते हैं।

इनके अतिरिक्त आवश्यक होने पर कुछ बच्चों में किसी वस्तु के प्रति एलर्जी होने पर भी रोग-प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न की जाती है।

क्षीरान्नाद अवस्था के अन्य उपसर्ग
(Other Complications)

क्षीरान्नाद अवस्था में प्रकट होनेवाले कुछ सामान्य उपसर्ग हैं—प्रत्यूर्जताएँ (Allergies), पाण्डुजन्य रक्ताल्पता (Anemia), जन्म के दाग (Birth marks), त्वचा की श्यावता, कम सुनना, दन्त-क्षय, गलतुण्डिका (Tonsils), दृष्टि की कमी, कान का दर्द, कण्ठशालूक की वृद्धि (Enlarged adenoids), अत्यधिक मेदस्विता (Excessive fat), कृशता (Excessive thinness), आँख के संक्रमण (Eye infections), श्वास की कठिनाइयाँ, अस्थियों के दोष या विकृतियाँ (Orthopedic defects)। इन रोगों की विस्तृत चर्चा विकृति-खण्ड में यथास्थान की जायेगी।

अध्याय २७

दन्तोद्भवन

(Teething)

बच्चों के दाँत जन्म लेने के कई मास पूर्व से ही मसूढ़ों के अन्दर बीजरूप में वर्तमान रहते हैं। धीरे-धीरे इनमें अस्थिनिर्माण (Ossification) की प्रक्रिया आरम्भ होती है। एक निश्चित सीमा तक विकसित होने के बाद वे मसूड़ोंको चीरकर बाहर निकल आते हैं। इसी को दन्तोद्भेद या दन्तोद्भवन (Teething) कहते हैं।

काश्यपसंहिता का 'दन्तजन्मिक अध्याय' इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि प्राचीन भारत में दन्तोद्भेद और उससे सम्बन्धित क्रियाओं का ज्ञान काफी विकसित था। इस अध्याय में दन्तोद्भेद सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कितनी गहराई के साथ किया गया है; यह अध्याय के प्रारम्भ में ही महर्षि काश्यप से पूछे गये प्रश्नों से प्रकट होता है—

'अथ खलु भगवन् देहिनां जातानामभिवर्धमानानां कतिषु मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते, निषिक्ताश्च कियता कालेन मूर्तीभवन्ति, मूर्तीभूताश्च कदोद्भिद्यन्ते, कानि चैषां पूर्वरूपाणि, के चोपद्रवाः, कश्चैषामुपक्रमः, किञ्च दन्तजन्म प्रशस्त-मप्रशस्तं च किं, कस्माच्च स्वमङ्गमभिवर्धमानं प्राणसंशयाय भवति, कियन्तश्च दन्ताः, कति चैषां द्विजाः, कियता च कालेन पतन्ति, पतिता च जायन्ते, दन्त-सम्पदसम्पच्च कीदृशीति।' —काश्यप-सूत्रस्थान, २०।३

अर्थात् 'हे भगवन् ! प्राणियों के उत्पन्न होकर बढ़ते हुए दाँतों का कितने महीनों में निषेचन होता है ? निषेचन के कितने समय बाद वे मूर्तरूप धारण करते हैं ? मूर्तरूप धारण करने के बाद वे कब प्रकट होते हैं ? दन्तोद्भेद के पूर्वरूप क्या हैं ? उस समय कौन-कौन से उपद्रव होते हैं ? इन उपद्रवों की चिकित्सा क्या है ? कौन-सी दन्तोत्पत्ति प्रशस्त मानी जाती है और कौन-सी अप्रशस्त ? क्यों दाँत अपने निश्चित परिणाम से अधिक बढ़कर प्राणों के लिए संकट उत्पन्न कर देते हैं ? दाँतों की संख्या कितनी होती है ? इनमें से कितने द्विज होते हैं ? ये कितने समय में गिरते हैं और गिरकर पुनः कब निकलते हैं ? कौन से दन्त सम्पत् और कौन से असम्पत् होते हैं ?

महर्षि कश्यप ने उपर्युक्त सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए दन्तोद्भेद की जो विस्तृत व्याख्या की है, वह आज भी उतनी ही सत्य है, जितनी उस काल में थी।

दाँतों के भेद
(Kinds of Teeth)

मनुष्य में दाँतों की संख्या ३२ होती है—१६ नीचे के जबड़े में और १६ ऊपर के जबड़े में। ये कड़े कैल्सीकृत ऊतकों (Hard calcified tissues) के बने होते हैं। इन्हें दो वर्गों में बाँटा गया है—सकृज्जात तथा द्विज।

सकृज्जात दाँत वे हैं जो केवल एकबार उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने के बाद उसी रूप में बढ़ते जाते हैं। इनकी संख्या आठ होती है।

द्विज उन दाँतों को कहते हैं जो दो बार निकलते हैं। एक बार तो दूध के दाँत (Milk teeth) के रूप में और दुबारा स्थायी दाँतों (Permanent teeth) के रूप में। इनकी संख्या २४ होती है। आधुनिक आयुर्विज्ञान की भाषा में दूध के दाँतों के निकलने की प्रक्रिया को प्राथमिक दन्तोद्भवन (Primary Dentition) और स्थायी दाँतों के निकलने की प्रक्रिया को द्वितीयक दन्तोद्भवन (Secondary Dentition) कहते हैं।

दाँतों के नाम
(Names of Teeth)

ऊपर और नीचे के जबड़ों में अर्धचक्राकार रूप में एक-दूसरे के समानान्तर स्थापित दाँतों की दो पंक्तियाँ चार चतुर्थकों या पादों में विभक्त होती हैं। इनमें से प्रत्येक पाद में ८ दाँत होते हैं। इनमें चार दाँत विशेष प्रकार के होते हैं। इन चार प्रकार के दाँतों की आकृति में भिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक पाद को सामने से देखने पर सबसे पहला दाँत केन्द्रीय कृन्तक (Central incisor) दिखलायी देता है, जिसका मुख्य कार्य काटना होता है। उसके बाद पार्श्व कृन्तक (Lateral incisor) होता है। यह केन्द्रीय कृन्तक से कुछ छोटा होता है। इसका भी काम काटना ही होता है। पार्श्व कृन्तक के बाद रदनक या कीलक (Canine or cuspids) और रदनक के बाद दो अग्र चर्वणक (Bicuspids or pre-molar) होते हैं। अन्त में प्रत्येक पाद में ३–३ चर्वणक और होते हैं। कृन्तक और रदनक का मुख्य काम भोज्य पदार्थों को काटना और टुकड़े करना तथा चर्वणक का काम चबाना या पीसना होता है।

काश्यपसंहिता में ऊपर की पंक्ति में स्थित बीच के दाँतों को राजदन्त (Central incisor) की संज्ञा दी गयी है। इनको पवित्र माना जाता है। इसलिए इनके खण्डित हो जाने पर मनुष्य श्राद्ध करने के योग्य नहीं माना जाता। राजदन्त के पार्श्व में दोनों ओर के दाँतों को वस्त (Lateral inci-

sor) की संज्ञा दी गयी है। वस्त के दोनों ओर के दाँतों को दंष्ट्रा (Canine or eye teeth) और दंष्ट्रा के दोनों ओर के दाँतों को हानव्य (Bicuspids or molars) कहा गया है। यही बात नीचे की दन्त-पंक्ति पर भी लागू होती है।

दन्तोद्भेद की अवस्थाएँ
(Stages of Teething)

दन्तोद्भवन एक सतत किन्तु अत्यन्त मन्द प्रक्रिया है। इसका आरम्भ गर्भावस्था में चौथे महीने में होता है जब भ्रूण के मसूढ़ों में उसके दाँत दन्तांकुरों के रूप में अंकुरित होने लगते हैं; और इसका अन्त १७ से २१ साल की अवस्था के बीच तीसरे चर्वणक या ज्ञानदन्त (Wisdom teeth) के निकलने के साथ होता है।

काश्यप ने दन्तोद्भेद की तीन अवस्थायें बतलायी हैं—निषिक्त होना, मूर्तिमान होना और उद्भेदन। गर्भावस्था में ही बालक के मसूढ़ों में दन्तांकुरों के रूप में दाँतों के अस्तित्व में आने को निषिक्त होना (Formation of tooth buds), मसूढ़ों के अन्दर ही अन्दर दन्तांकुरों के बढ़कर दाँतों का रूप धारण करने को मूर्तिमान् होना (Formation of tooth) तथा मूर्तमान् दाँतों के मसूढ़ों को विदीर्ण कर बाहर निकल आने को उद्भेदन (Actual eruption) कहते हैं।

काश्यप के अनुसार जितने महीनों में दाँतों का निषेचन होता है उतने ही दिनों में वे फूटकर बाहर निकलते हैं। उदाहरण के लिए यदि दाँत चार महीनों में निषिक्त होते हैं तो चार दिन में फूटकर बाहर निकलते हैं और बच्चे के जन्म लेने के बाद जितने मास में दाँत फूटते हैं उतने ही वर्षों में वे गिरकर पुनः बाहर निकल आते हैं। यदि दूध के दाँत छठे महीने में निकलते हैं तो छठे वर्ष में गिर कर स्थायी दाँतों के रूप में पुनः बाहर निकल आते हैं।

दाँतों की उत्पत्ति का क्रम
(Sequence of Eruption)

दूध के दाँत
(Primary Teeth)

दूध के दाँत बालक के जन्म के बाद प्रायः पाँचवें से दसवें महीने के बीच निकलना आरम्भ होते हैं और ढाई वर्ष की वय तक प्रायः सभी दाँत निकल आते हैं। इनके निकलने का क्रम प्रायः निम्न होता है—

दाँतों के नाम	निकलने का समय
१. निचले मध्य कृन्तक (Lower central incisors)	५ से १० मास के बीच
२. ऊपर के चारों कृन्तक (Upper central & lateral incisors)	८ से १० मास
३. निचले पार्श्व के कृन्तक (Incisors) तथा निचले और ऊपर के चर्वणक (First molars)	१२ से १४ मास
४. निचले तथा ऊपर के रदनक या कीलक (Canine or eye teeth)	१६ से २२ मास
५. निचले तथा ऊपर के दूसरे चर्वणक (Second molars)	२४ से ३० मास
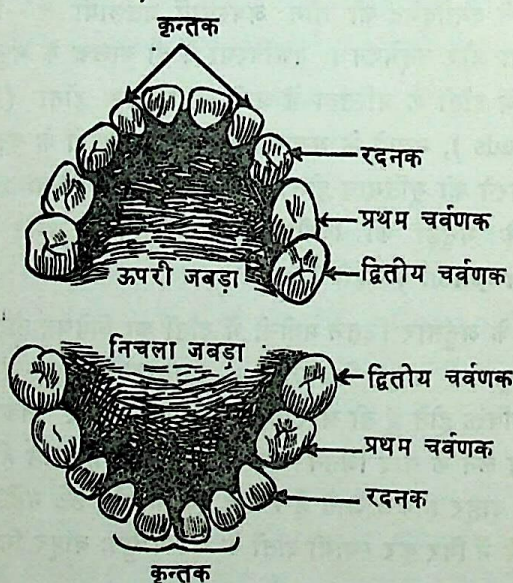
चित्र १२—अस्थायी दाँत

इस प्रकार २० दाँतों के निकलने के बाद प्राथमिक दन्तोद्भवन (Primary dentition) की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

स्थायी दाँत
(Permanent Teeth)

प्रथम दन्तोद्भवन के पूरा हो जाने के बाद स्थायी दाँतों के निकलने का सिलसिला शुरू होता है। पहले सेट के दाँतों के समान ही दूसरे सेट के दाँत

भी जन्म के पूर्व ही मसूढ़ों में बीजरूप में स्थित होते हैं। इनकी जड़ें प्राथमिक दाँतों की अपेक्षा अधिक गहरी होती हैं। इनके निकलने का क्रम प्रायः निम्न होता है—

दाँतों के नाम	निकलने का समय
१. प्रथम पश्चात् चर्वणक तथा त्रिमूली (First molars)	५ से ७ वर्ष के बीच
२. मध्य के क्रन्तक या त्रोटक (Central incisors)	६ से ८ वर्ष
३. पार्श्व के क्रन्तक या त्रोटक (Lateral incisors)	७ से ९ वर्ष
४. प्रथम चर्वणक या द्विमूली (First bicuspids)	७ से ११ वर्ष
५. द्वितीय चर्वणक या द्विमूली (Second bicuspids)	१० से १२ वर्ष
६. रदनक या कीलक (Canine or eye teeth)	११ से १४ वर्ष
७. द्वितीय पश्चात् चर्वणक या त्रिमूली (Second molars)	११ से १४ वर्ष
८. तृतीय पश्चात् चर्वणक, त्रिमूली या ज्ञानदन्त (Third molars or wisdom teeth)	१६ से २१ वर्ष या उसके बाद भी

ज्ञानदन्तों के निकलने के साथ ही दाँतों की संख्या ३२ हो जाती है। इसी के साथ दन्तोद्भवन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।
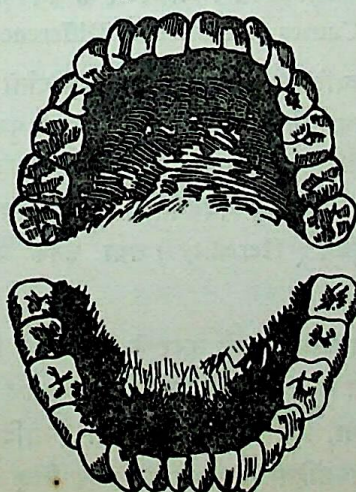
चित्र १३—स्थायी दाँत

दन्तोद्भवन में व्यक्तिगत भिन्नताएँ
(Individual Difference in Teething)

दन्तोद्भवन में अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। लोगों के दाँत रंग, रूप एवं आकार में प्रायः एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ में दाँत जल्दी निकलते हैं कुछ में देर से। कुछ में तो जन्मकाल ही में दो दाँत मौजूद रहते हैं। किसी-किसी में ३२ से कम या अधिक भी होते हैं। कुछ के दाँत समरूप तथा कुछ के विषम या बाहर को निकले हुए भी होते हैं।

लड़कियों के दाँत लड़कों की अपेक्षा न केवल जल्दी निकलते हैं, बल्कि उन्हें दन्तोद्भेद काल में कष्ट भी कम होता है। इसका कारण काश्यप ने उनके दाँतों का सुषिर (सछिद्र) एवं मृदु होना बतलाया है। उन्हीं के शब्दों में—

'तत्र कुमारीणामाशुतरमल्पाबाधकरं च दन्तजन्म, सुषिरत्वाद्दंशानां मृदुस्वभावाच्च।'

—काश्यप-सूत्रस्थान, २०।५

लड़कों के दाँत लड़कियों अपेक्षा न केवल देर से निकलते हैं, बल्कि उन्हें कष्ट भी अधिक होता है। इसका कारण उन्होंने उनके दाँतों का घन (ठोस) तथा स्थिर (कड़ा) होना बतलाया है, यथा—

'प्रकृष्टकालमाबाधाबहुलं तु कुमाराणामाचक्षते, घनत्वाद्दंशानां स्थिरस्वभावाच्च।'

—काश्यप-सूत्रस्थान २०।५

व्यक्तिगत भिन्नताओं के कारण
(Causes of Individual Differences)

दन्तोद्भवन में व्यक्तिगत भिन्नताओं के कारण दाँतों का निषेचन, मूर्तमान् होना, प्रकट होना तथा उनकी वृद्धि, पतन, गिरकर पुनः न निकलना, स्थिर रहना, क्षीण होना, हिलना, गिरना, मजबूत होना, कमजोर होना आदि सभी उनकी जाति (Species) की विशेषता, निषेक, स्वभाव, माता-पिता के अनुकरण या वंशानुक्रम (Heredity) तथा उनके प्राक्तन या पूर्वजन्म के कर्मों पर निर्भर होता है।

दाँतों के सहित जन्म, पहले ऊपर के दाँतों का निकलना, दाँतों का विरल होना, बत्तीस से कम या अधिक होना, कराल अर्थात् भयंकर या लम्बे होना, मैले होना, स्फुरित होना (हिलना) आदि दाँतों के अशुभ लक्षण माने गये हैं। काश्यपसंहिता में इनकी शान्ति के लिए मारुति-इष्टि (यज्ञ) का निर्देश किया गया है।

दाँतों की उत्पत्ति के प्रकार
(Kinds of Eruption of Teeth)

दाँतों की उत्पत्ति चार प्रकार की मानी गयी है—सामुद्ग, संवृत, विवृत तथा दन्तसम्पत्। काश्यप-सूत्रस्थान २०।७

सामुद्ग—इसमें दाँत क्षय की अवस्था में होते हैं। वे बराबर टूट-टूटकर गिरते रहते हैं।

संवृत—इसमें दाँत मैले होते हैं।

विवृत—इसमें दाँत ओठों से पूर्णतः ढँके हुए नहीं होते। इसी कारण मैले और रोगग्रस्त होते हैं। बच्चे के मुँह से बराबर लार बहती रहती है।

दन्तसम्पत्—काश्यप ने चौथे से सातवें महीने के बीच निकलने वाले प्रथम दो दाँतों को दोषपूर्ण माना है। आठवें महीने में निकलनेवाले दाँतों को श्रेष्ठ कहा है।

उनके अनुसार चौथे मास में निषिक्त हुए दाँत दुर्बल, शीघ्र गिरनेवाले तथा अनेक रोगों से ग्रस्त होते हैं। पाँचवें महीने में निषिक्त हुए दाँत हिलने वाले, शीत-उष्ण-वात-अम्ल आदि के स्पर्श के प्रति संवेदनशील तथा अन्य अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होते हैं। छठे महीने में निषिक्त हुए दाँत टेढ़े, मैले, विवर्ण और कीड़ों के खाये हुए होते हैं। सातवें महीने में निकलने वाले दाँत दोपुट जड़वाले, चटकनेवाले, रेखायुक्त, टूटे हुए, रूक्ष, विषम तथा आगे को उभरे हुए होते हैं। आठवें मास में निषिक्त हुए दाँत सर्वगुणसम्पन्न होते हैं।

दन्तसम्पत् तथा असम्पत्
(Good Teeth and Bad Teeth)

'पूर्णता समता घनता शुक्लता स्निग्धता श्लक्ष्णता निर्मलता निरामयता किञ्चिदुत्तरोन्नतता, दन्तबन्धनानां च समता रक्तता स्निग्धता बृहद्घनस्थिर-मूलता चेति दन्तसम्पदुच्यते।' —काश्यप-सूत्रस्थान अ० २०

दाँतों की पूर्णता, समानता या समरूपता, सघनता, उज्ज्वलता, स्निग्धता, चिकनापन, निर्मलता, आरोग्यता तथा दाँतों का कुछ ऊपर की ओर उठा होना प्रशस्त माना गया है। दन्तबन्धनों या मसूढ़ों की समरूपता, रक्तता, स्निग्धता, सघनता तथा स्थिरमूलता को दन्तसम्पत् की संज्ञा दी गयी है।

ठीक इसके विपरीत दाँतों का कम होना, अधिक होना, एकदम सफेद होना या काला होना तथा मसूढ़ों का अलग-अलग न होना अप्रशस्त माना गया है। इसी को 'असम्पत्' की संज्ञा दी गयी है।

दन्तोद्भवनकालीन व्याधियाँ
(Diseases During the Period of Teething)

वाग्भट ने इस अवधि को सभी रोगों का आयतन कहा है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—

दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम्। विशेषेण तु तन्मूला ज्वरशिरोभितापतृष्णा-भ्रमाभिष्यन्दकुकूणकपोथकीवमथुकासश्वासातिसारविसर्पाः।

—अ० सं० उ० २।१९

बच्चों में दाँतों का निकलना सभी रोगों का आयतन है। विशेष रूप से दाँत निकलने के समय बच्चा ज्वर, सिरदर्द, प्यास, चक्कर, आँखों की पीड़ा, कुकूणक, पोथकी, वमन, कास, श्वास, अतिसार, विसर्प आदि से पीड़ित होता है।

कुछ टीकाकारों ने आयतन का अर्थ कारण कर दिया है जो उचित नहीं प्रतीत होता। आयतन का शाब्दिक अर्थ है घर, मन्दिर या ठहरने का स्थान। वृद्धवाग्भट के अनुसार इस अवधि में बालक का मनोदैहिक तन्त्र ऐसा हो जाता है, जबकि उपर्युक्त रोग आसानी से उसमें अपना घर बना लेते हैं। आगे उन्होंने स्पष्ट कहा है—

पृष्ठभङ्गे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे।
दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दूयते॥

—अ० सं० उ० २।२५

बिल्लियों में पृष्ठभंग होने के समय, मयूरों में शिखा निकलने के समय तथा बच्चों में दाँत निकलने के समय ऐसी कोई दोष-धातु नहीं होती जो दूषित न हो जाती हो अर्थात् सारा शरीर ही दूषित हो जाता है। उसकी रोगप्रतिरोधक क्षमता घट जाती है।

कुछ लोग दाँतों के निकलने की अवधि में होने वाले प्रायः सभी रोगों को दन्तोद्भवन के कारण उत्पन्न मान लेते हैं। यह एक खतरनाक प्रवृत्ति है। इस मान्यता के कारण वे इस अवधि में उत्पन्न होने वाले इन रोगों के सही कारण को खोजने की कोशिश नहीं करते। सही कारण के अभाव में सही उपचार नहीं हो पाता।

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान में भी कुछ समय पूर्व तक दो अतिवादी सिद्धान्त पाये जाते थे। एक की मान्यता थी कि दन्तोद्भेदकाल में उत्पन्न होने वाले सभी रोग दन्तोद्भवन के कारण ही होते हैं। दूसरे के अनुसार दन्तोद्भवन केवल दन्तोद्भवन के लिए ही उत्तरदायी है। अन्य किसी व्याधि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

अब लोग दूसरे सिद्धान्त को ही अधिक मान्यता प्रदान करते हैं। जॉली के शब्दों में—Teething is normal. It does not cause any illness. The greatest danger is that symptoms are incorrectly ascribed to teething so that a serious underlying disease is overlooked.

—Diseases of Children, p. 260.

दन्तोद्भवन बालक के विकासक्रम की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह अपने आप में किसी रोग को उत्पन्न करने का कारण नहीं होती। अब तो दन्त-चिकित्सक यहाँ तक कहने लगे हैं कि यदि बालक अन्य सभी प्रकार से स्वस्थ एवं सामान्य है तो उसे दाँतों के निकलने के समय कोई विशेष कष्ट या पीड़ा की अनुभूति नहीं होगी। प्रायः जिस ओर के दाँत निकलने को होते हैं उस ओर का गाल कुछ लाल हो जाता है। मसूढ़ों में भी लाली आ जाती है। वे कुछ सूज भी जाते हैं। लार-ग्रन्थियों में लार का अधिक निर्माण होने के कारण मुँह से लालास्राव होने लगता है। कभी-कभी अधिक लालास्राव के कारण बच्चे के गले में घरघराहट या खाँसी की-सी आवाज आने लगती है।

विकास के सिद्धान्त (Developmental principle) के अनुसार जब बच्चे में किसी विशेष प्रकार की क्षमता का विकास हो रहा होता है तो उसकी अधिकांश ऊर्जा उसी ओर लग जाती है। दन्तोद्भवन-काल में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। ऐसी स्थिति में यदि बच्चा पहले से दुर्बल है और उसकी उपलब्ध ऊर्जा का अधिकांश दन्तोद्भवन की क्रिया में लग जाता है तो निश्चय ही उसकी रोगप्रतिरोधक क्षमता में कमी आ जायेगी। रोगों के प्रति ग्रहणशीलता बढ़ जायेगी। ऐसे में वह तरह-तरह के रोगों का शिकार हो सकता है।

दन्तोद्भवन काल में उसके पूर्वरूप की स्थिति में उत्पन्न लक्षण यदि अधिक प्रबल नहीं होते तो किसी उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। दाँतों के निकल आने के बाद वे स्वतः शान्त हो जाते हैं। वृद्धवाग्भट का कथन है—

दन्तोद्भेदोत्थरोगेषु न बालमतियन्त्रयेत्।
स्वयमप्युपशाम्यन्ति जातदन्तस्य यद् गदाः॥

—अ० सं० उ० २।६१

अर्थात् दाँत निकलने के समय उत्पन्न रोगों में वैद्य बालक पर अधिक नियन्त्रण न रखे। न तो औषधियों की भरमार करे और न आहार-विहार के मामले में अधिक रोकथाम करे। जैसे-जैसे उसके दाँत निकलते जायेंगे, ये रोग स्वतः शान्त होते जायेंगे। इनके लिए अनिवार्य रूप से किसी स्वतंत्र

चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती।' इन्दु ने भी अपनी टीका में इसी बात को दुहराया है—

दन्तोद्भेदोत्थेषु च रोगेषु बालं वैद्यो नातियन्त्रयेत् कुल इत्याह। स्वयमित्यादि। यस्माद्दन्तोद्भेदोत्था रोगा जातदन्तस्य स्वयमपि विनापि चिकित्सां शाम्यन्ति।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि दन्तोद्भवन-काल में यदि बालक के स्वास्थ्य-संरक्षण, आहार एवं विहार का पूरा ध्यान रखा जाय तो उसके दाँत बिना किसी कष्ट के सरलता से भलीभाँति निकल आते हैं।

अध्याय २८

कुमार : प्राकृत अवस्था एवं परिचर्या

क्षीरप और क्षीरान्नाद अवस्थाओं का विगत अध्यायों में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। अन्नाद अवस्था की अवधि क्षीरान्नाद अवस्था के बाद से लगभग सोलह वर्ष की वय तक मानी गयी है। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—१. वय:सन्धि (Puberty) या किशोरावस्था के पूर्व की अवस्था और २. किशोरावस्था (Adolescence)।

वय:सन्धि या किशोरावस्था के पूर्व की अवस्था की अवधि क्षीरान्नाद की अवस्था (दो वर्ष की वय तक) के बाद से लगभग ११-१२ वर्ष की वय तक, जब तक कि बालक-बालिकाओं में कैशोर्य के लक्षण प्रकट नहीं होने लगते, मानी जाती है। इसी को हम कुमार की संज्ञा देते हैं। यद्यपि आयुर्वेद में यह शब्द अनेकार्थवाची है, परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए इसके क्षेत्र को सीमित करना आवश्यक है।

वय:सन्धिकाल (Puberty) वय:विस्तार (Life-span) की वह अवस्था है जब बालक-बालिकाएँ बाल्यावस्था से निकलकर युवावस्था में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था में प्रवेश करने के साथ ही उनकी यौन-ग्रन्थियों (Sex glands) में सक्रियता आती है और उनकी सोयी हुयी कामचेतना जागृत होती है। उनमें गौण यौन-विशेषताओं (Secondary sex characteristics) का विकास होता है। उनकी शारीरिक आकृति बदलती है। अनुभूतियों के संसार में एक नयी उथल-पुथल आती है। संवेगात्मक जीवन (Emotional Life) में एक तूफान-सा आता है।

वय:सन्धिकाल से ही किशोरावस्था का आरम्भ होता है, जो लगभग अट्ठारह वर्ष की वय तक चलती है। इस अवस्था के पूरा होते-होते बालक-बालिकाओं में लगभग सभी महत्त्वपूर्ण शारीरिक एवं मानसिक विकास की प्रक्रियाएँ पूरी हो जाती हैं। बाद में यदि कुछ परिवर्तन होते भी हैं तो वे नगण्य होते हैं। शक्तियाँ एवं क्षमताएँ विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं; अर्जन एवं उपलब्धियों का क्रम तो आजीवन चलता रहता है। इस अध्याय में हम किशोरावस्था के पूर्व के जीवन में होनेवाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे। इनकी एक झलक नीचे की तालिका में देखी जा सकती है। इसमें लम्बाई सेन्टीमीटर में और भार किलोग्राम में दिया गया है—

अवस्था	लम्बाई (सें. मी.)		भार (कि. ग्रा.)		महत्त्वपूर्ण व्यवहारगत परिवर्तन
	लड़के	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ	
३ वर्ष	८८·८	८७·२	११·८	११·२	अनुकरणात्मक खेलों का प्रारम्भ, लड़कों का पिता की तरह और लड़कियों का माता की तरह बनने की कोशिश। खेलों में वही अन्तर लक्षित।
४ वर्ष	९६·०	९४·५	१३·५	१२·९	साहसिक खेलों में रुचि, झूलना, दौड़ना, कूद-फाँद करना आदि। दिन में सोना लगभग समाप्त।
५ वर्ष	१०२·१	१०१·४	१४·८	१४·५	स्कूल जाना प्रारम्भ। खेलों में रचनात्मकता के संकेत। बालकों में आक्रामकता का उदय। लड़कियाँ अभी भी माँ की तरह।
७ वर्ष	११३·९	११२·८	१८·०	१७·६	गत्यात्मक खिलौनों यथा—लट्टू, पतंग, चाभी से चलनेवाले खिलौने, कूदनेवाली रस्सी, सायकिल आदि में विशेष रुचि, विवेकशीलता का उदय। औचित्य का बोध।
९ वर्ष	१२३·७	१२२·९	२१·५	२१·३	व्यवहार में अधिक नियन्त्रण एवं कुशलता का आभास। बरावर किसी-न-किसी काममें व्यस्त। अथाह शक्ति एवं ऊर्जा। अच्छी भूख लगना।

१० वर्ष	१२९·३	१२८·४	२३·५	२३·६	कपड़ों के मामले में लापरवाह। नये कपड़ों में विशेष रुचि नहीं। समूह में रहने की ओर झुकाव। निरुद्देश्य चीजों को एकत्रित करने की प्रवृत्ति।

दो से तीन वर्ष के बीच
(Between Two to Three Years)

इस अवधि में बच्चा अत्यधिक गतिशील एवं सक्रिय होता है। उसके हाथ-पैर बराबर कुछ करने को उतावले रहते हैं। वह सब कुछ अपने से करना चाहता है। वह अपने भाई-बहनों के साथ खेलता है; फिर भी उसका अधिक ध्यान अपने पर ही केन्द्रित रहता है। वह लोगों से भरे कमरे के एक कोने में बैठकर खेलता रहेगा, लेकिन अकेला रहना पसन्द नहीं करेगा।

इसी बीच उसमें एक नकारात्मकता का भाव उत्पन्न होता है। उससे जो कुछ भी करने को कहा जायेगा, वह नहीं कर देगा। आप कपड़े पहनने को कहिये, वह नहीं कर देगा। खाना खाने को कहिये, वह नहीं कर देगा। रात में सोने को कहिये, वह नहीं सोयेगा। वह अनुभव करता है कि वह परम स्वतन्त्र है। इस बीच माँ-बाप को अधिक सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता होती है। डाँट-फटकार का असर प्रायः उलटा होता है। उससे जो कुछ भी कराना है बहला-फुसला कर कराइये। यह मान कर चलिये कि यह अवस्था अधिक दिनों तक नहीं रहेगी। वह अपने आप रास्ते पर आ जायेगा।

इस बीच वह प्रायः अपनी माँ से चिपका रहेगा। जहाँ भी वह जायेगी उसके पीछे लगा रहेगा। उसका पल्लू नहीं छोड़ेगा। वह चाहता है कि उसकी माँ उसको छोड़कर किसी दूसरी ओर ध्यान न दे। जिसकी ओर भी उसका रुझान देखेगा, उससे ईर्ष्या करने लगेगा। कभी-कभी क्रोध या आक्रोश के दौरे-से आयेंगे। लेकिन थोड़ी ही देर के बाद वह सामान्य दिखलायी पड़ने लगेगा।

इस बीच उसके भाषा-विकास की गति भी बड़ी तीव्र होती है। बोलेगा तो बोलता ही चला जायेगा। प्रश्न पर प्रश्न पूछेगा। आप घबड़ायें नहीं, बिगड़ें नहीं। बिगड़ने से बात और बिगड़ जायेगी।

उसमें कुछ करने, सीखने की अदम्य इच्छा होती है। यही वह अवस्था है जबकि आप उसमें अच्छे व्यवहार, अच्छे आचरण का बीज बो सकते हैं। आप उसकी स्वतःस्फूर्ति, बढ़ती हुई आत्म-निर्भरता की भावना में अवरोध न डालिये, बाधक न बनिये। उसे कार्यों को अपने से करने दीजिये। खायेगा, तो गिरायेगा भी। अपने को, टेबुल को गन्दा करेगा। कपड़े पहने की कोशिश में उन्हें उलटा-सीधा पहनेगा। आप उसके प्रयासों में सहायक बनिये। गलती करते-करते ही वह सही करना सीखेगा।

तीन से छः वर्ष के बीच
(Between Three to Six Years)

अब वह छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगता है। आचरण में स्थिरता का आभास मिलने लगता है। अब वह आस-पास की वस्तुओं के बारे में, लोगों बारे में तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगता है। कभी-कभी स्वयं ही ऐसे विचित्र उत्तर देगा कि आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे। हँसे बिना नहीं रह सकेंगे।

खेलने में मिट्टी, खल्ली, कोयला आदि ऐसी ही वस्तुएँ प्रायः उसे अच्छी लगती हैं जिनसे वह कुछ बना सके या उन्हें खींच सके। भारी-भरकम मँहगे खिलौनों में उसकी कोई रुचि नहीं होती।

मल-मूत्र की क्रियाओं पर उसे पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। अधिकांश बच्चे अब रात में बिस्तर पर पेशाब नहीं करते।

चार वर्ष का होते-होते वह और भी आत्मनिर्भर हो जाता है। अब वह दौड़ सकता है, कूद सकता है, सीढ़ियों पर चढ़-उतर सकता है। कहानियों में उसकी विशेष रुचि होती है। वह कहानियाँ सुनना चाहता है, स्वयं भी कुछ सुनाना चाहता है। किसी-किसी कहानी को वह बार-बार सुनना चाहता है। सीधे-सादे कपड़ों को वह स्वयं पहन एवं उतार सकता है। उसमें बटन लगा सकता है। जूते की डोरियाँ बाँध सकता है। फिर भी गलतियाँ संभव है।

अब उसकी वृद्धि और विकास की गति में मन्दता आ जाती है। पर अन्दर से उसमें ऊर्जा की कमी नहीं होती। छोटे-मोटे कामों में वह घरवालों की सहायता करने में रुचि लेने लगता है। आप कुछ उठाने को या लाने को कहिये वह तुरन्त ला देगा। फेंकने को कहिये, फेंक आयेगा। लेकिन करेगा तभी तक, जब तक उसकी इच्छा होगी। इससे अधिक उससे आशा न कीजिये। अपनी वय के बच्चों के साथ उसे अधिक से अधिक खेलने दीजिये। उसे मनोरंजन का पर्याप्त अवसर दीजिये।

सात से आठ वर्ष के बीच
(Between Seven to Eight Years)

इस अवधि में एक से दो किलोग्राम तक भार बढ़ जाता है। लम्बाई भी बढ़ती है। स्वभाव में व्यग्रता या व्याकुलता के लक्षण प्रकट होते हैं। लड़कियों में यह बात अधिक देखी जाती है। आवेगपूर्ण व्यवहार एवं उग्रता में कमी आती है। पहले की अपेक्षा कम उधम मचाते हैं।

स्कूल के खेलों में प्रतियोगिता की भावना बढ़ती है। अपने साथियों की तरह पहनने-ओढ़ने एवं व्यवहार करने की भावना बढ़ती है। साथियों के चुनाव में सामाजिक या आर्थिक स्तर का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। वह अपनी इच्छानुसार स्वयं कुछ खर्च करना चाहता है। अभिभावकों के बिगड़ने पर कभी-कभी उसमें यह भाव आता है कि शायद वह उनकी सन्तान नहीं। अपने और दूसरों के प्रति भेद में सजगता बढ़ती है।

आठ से नौ वर्ष के बीच
(Between Eight to Nine Years)

दस या ग्यारह स्थायी दाँत निकल आते हैं। जटिल एवं रचनात्मक खेलों में रुचि बढ़ती है। पेशियों पर अपेक्षाकृत अधिक नियन्त्रण प्राप्त होता है। तैरने की सुविधा हो तो आसानी से तैरना सीख लेता है। सायकिल चलाने लगता है।

व्यवहार में विनम्रता लक्षित होने लगती है। समूह में खेलना या मिल-कर किसी काम को करना अधिक पसन्द करता है। फिर भी अभी तक दल-गत भावना पूर्णरूप से विकसित नहीं होती। अधिकारों के प्रति सजगता बढ़ती है। घर से बाहर व्यवहार अपेक्षाकृत अधिक संयत होता है। साथियों के चुनाव में थोड़ी सतर्कता दिखलायी पड़ती है। खेलों में पारिवारिक जीवन की परिस्थितियों की झलक मिलती है।

नौ से दस वर्ष के बीच
(Between Nine to Ten Years)

लम्बाई में वृद्धि की गति मन्द होती है। स्वयं स्नान कर सकता है एवं कपड़े पहन सकता है। कंघा कर सकता है। चीजों को ठीक से उपयोग में ला सकता है। अत्यधिक सक्रियता एवं दौड़-धूप के कारण कुछ बच्चों को अतिरिक्त विश्राम की आवश्यकता पड़ सकती है। खतरों की अवहेलना करते हैं, परन्तु उनसे घबड़ाते नहीं।

अब उनके खेलों में यौन-भिन्नताएँ होने लगती हैं। लड़के और लड़कियाँ अलग-अलग खेलों में रुचि लेने लगते हैं। तरह-तरह के खेल खेलना चाहते हैं। अगले कुछ वर्षों तक लड़के-लड़कियों का विरोध-भाव बढ़ता जाता है। लड़कों में यह अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होता है। समूहों में परस्पर विरोध बढ़ता है, लेकिन स्थायी नहीं होता।

दस से ग्यारह वर्ष के बीच
(Between Ten to Eleven Years)

लड़कियों का भार अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ना आरम्भ होता है। १४ से १६ तक स्थायी दाँत निकल आते हैं। कार्य सीख लेने पर कठिन परिश्रम में रुचि बढ़ती है। अपनी कुशलता प्रदर्शित करने में आनन्दित होते हैं। खतरनाक खेलों या कार्यों में लगना अधिक पसन्द करते हैं। लड़कों के खेल अधिक गतिशील, उग्र एवं प्रचण्ड होते हैं।

संगठित एवं प्रतियोगिता-प्रधान खेलों में रुचि बढ़ती है। दलगत भावना का विकास होता है। खेलों के नियम-कानून मानने की ओर झुकाव होता है। कभी-कभी अकेले में भी रहना चाहता है। अपनी जगह, अपना कमरा तथा अपनी चीजों की कामना करता है।

ग्यारह से बारह वर्ष के बीच
(Between Eleven to Twelve Years)

लड़कियाँ शारीरिक शक्ति एवं सहनशीलता के मामले में लड़कों से पीछे पड़ने लगती हैं। अब वे उनकी बराबरी नहीं कर सकतीं। वयःसन्धिकाल में प्रवेश आरम्भ हो जाता है। कुछ लड़कियाँ इसी अवधि में रजस्वला हो जाती हैं। रुचि एवं पसन्द में दृढ़ता आ जाती है। वैयक्तिकता झलकने लगती है।

लड़कों में सामूहिकता से लगाव बढ़ता है। स्कूल, पड़ोस तथा समुदाय के कार्यों में अधिक रुचि लेने लगते हैं। दलगत खेलों की ओर अधिक झुकाव होता है। यदि संकोच का भाव है, तो वह बढ़ने लगता है।

परिचर्या
(Care of the Child)

३ वर्ष से ११-१२ वर्ष की वय के बीच बच्चे शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही दृष्टियों से तीव्र एवं मन्द वृद्धि-विकास की अनेक स्थितियों से गुजरते हैं। उन्हें बहुत-कुछ सीखना पड़ता है, करना पड़ता है। अनेक कष्टकर परिस्थितियों को पार करना होता है। वे विद्यालय भी जाने लगते हैं।

यदि बच्चा पढ़ाई में अरुचि प्रदर्शित करता है, स्कूल जाने से घबड़ाता

है तो पता लगाना चाहिए कि कहीं वह कम तो नहीं सुनता, कहीं उसकी आँख तो कमजोर नहीं है, बोलने में तो वह कठिनाई अनुभव नहीं करता या उसमें कोई अन्य शारीरिक विकृति या दोष तो नहीं है। उसकी पूर्ण स्वास्थ्य-परीक्षा होनी चाहिए। जब भी बच्चा स्कूल जाने से या पढ़ने से घबड़ाये, तो इसका कोई न कोई कारण अवश्य ही होगा। अभिभावकों को उस कारण का पता लगा कर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए। बच्चे के साथ बल-प्रयोग कभी भी लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकता।

इस अवधि में दूध के दाँत निकल रहे होते हैं, गिर रहे होते हैं तथा साथ ही स्थायी दाँत भी आ रहे होते एवं विकसित हो रहे होते हैं। यदि आप चाहते हैं कि आपके बच्चे के दाँत सुन्दर हों, सुडौल हों तो इसी समय उनकी देख-रेख आवश्यक है। यही वह समय है जब अधिकांश बच्चे दन्त-क्षय का शिकार होते हैं। यदि इस बीच उनके खाने-पीने पर ध्यान रखा जाय और उन्हें दाँतों की उचित रूप से सफाई करने की शिक्षा दी जाय तो उनके दाँतों को क्षय से बचाया जा सकता है।

दिन में कम-से-कम दो बार और सोने के पहले तो अवश्य ही दाँतों की सफाई की शिक्षा बच्चे को दी जानी चाहिए। चीनी और कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थ जरूरत से ज्यादा नहीं देने चाहिए। अधिक गर्म, अधिक ठण्डी चीजें नहीं देनी चाहिए। भोजन के बीच में लेमनड्राप, टाफी, बिस्कुट आदि देते रहना उसके दाँतों के साथ दुश्मनी करना है। आवश्यक हो तो बीच-बीच में दन्त-चिकित्सक की भी राय लेते रहना चाहिए। ३–४ वर्ष का हो जाने पर वर्ष में दो बार उसके दाँतों का परीक्षण आवश्यक है। जो अस्थायी दाँत समय के पूर्व क्षयग्रस्त होकर गिर जाते हैं, उनके स्थान पर निकलनेवाले स्थायी दाँतों को भी मजबूत नींव नहीं मिलती। अतः वे भी दुर्बल ही होते हैं।

इस अवधि में बच्चे का आहार पूर्णरूप से सन्तुलित होना चाहिए। उन्हें ऊष्मांक, विटामिन और खनिजों की उचित मात्रा में प्राप्ति होनी चाहिए। दाँतों और हड्डियों के निर्माण के लिए आवश्यक कैल्शियम मिलना चाहिए। एक प्रौढ़ की तुलना में सात साल के बच्चे को कैल्शियम की तीन गुना मात्रा चाहिए। उसे दूध, पनीर, फल, सब्जियाँ आदि पर्याप्त मात्रा में दी जानी चाहिए। मछली, अण्डे आदि विशेष लाभदायक हैं। उसे विटामिन-डी की पर्याप्त मात्रा देनी चाहिए।

बाल्यावस्था जीवन का निर्माण-काल है। खेलने और मनोरंजन की पर्याप्त सुविधा के साथ उसे सद्वृत्त पालन की भी उचित शिक्षा दी जानी चाहिए। अनुशासन की ओर उसमें झुकाव पैदा करना चाहिए। उनके संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास को उचित दिशा दी जानी चाहिए।

———

अध्याय २९

किशोर : प्राकृत अवस्था एवं परिचर्या

जैसा कि गत अध्याय में बतलाया गया कि ११-१२ वर्ष से लेकर १८ वर्ष की वय तक की अवधि को किशोरावस्था (Adolescence) माना जाता है। १८ वर्ष का हो जाने पर बालक को युवा और बालिका को युवती कहा जाता है। इस बीच होने वाले शारीरिक विकास एवं व्यवहारगत विशेषताओं को अतिसंक्षेप में निम्न तालिका में दिखलाया जा रहा है। इसमें लम्बाई सेंटीमीटर और भार किलोग्राम में दिया गया है। ध्यान रखना चाहिए कि ये संख्याएँ औसत लम्बाई एवं भार को प्रदर्शित करती हैं। इनमें अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। इसलिए यदि किसी बच्चे की लम्बाई या भार कुछ कम या अधिक है तो इससे अभिभावकों को चिन्तित नहीं होना चाहिए।

अवस्था	लम्बाई लड़के	लम्बाई लड़कियाँ	भार लड़के	भार लड़कियाँ	महत्त्वपूर्ण व्यवहारगत परिवर्तन
११-१२ वर्ष	१३३·४ से १३८·३	१३३·६ से १३९·२	२५·९ से २८·५	२६·४ से २९·८	वृद्धि की गति तीव्र होती है। कन्धे चौड़े होते हैं, छाती फैलती है। शिश्न की लम्बाई मोटाई बढ़ती है। आवाज भारी होती है। खेलों में गम्भीरता आती है।
१३-१४ वर्ष	१४४·६ से १५०·१	१४३·९ से १४७·५	३२·१ से ३५·७	३३·३ से ३६·८	वृद्धि की गति तीव्र। वयःसन्धि का आरम्भ। जघन-प्रदेश में बाल। आवाज मोटी। कभी-कभी स्वप्न-दोष। पुराने सम्बन्धों का टूटना। नये सम्बन्धों का आरम्भ। बालकों का माता की ओर विशेष झुकाव।

१५-१६ वर्ष	१५५·५ से १६९·५	१४९·६ से १५१·०	३९·६ से ४३·२	३८·८ से ४१·१	गौण यौन विशेषताएँ भी स्पष्ट, त्वचा के वर्ण, चमक में परिवर्तन। रोमकूप और भी बड़े एवं गहरे। तरुणाई की झलक। मुँह पर मुँहासे। नये फैशनों की ओर झुकाव। काम में रुचि।
१७-१८ वर्ष	१६१·४ से १६३·५	१५१·५ से १५१·७	४५·७ से ४७·४	४२·४	गौण यौन विशेषताओं का विकास पूर्ण। विपरीत यौन की ओर झुकाव, प्रेम-प्रसंग। अधिकांश समय घर से बाहर दोस्तों के साथ। अपने जीवन के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय करने की ओर झुकाव तथा उस पर अड़ना। कभी-कभी अभिभावकों से विरोध।

किशोरावस्था अभिभावक और बालक दोनों के लिए एक कठिन काल होता है। इस बीच बालक-बालिकाओं को दो कठिन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है—(१) शारीरिक आकर्षण एवं काम-सम्बन्धी इच्छाओं का उदय तथा (२) अभिभावकों के प्रति संवेगात्मक निर्भरता से मुक्ति।

वय:सन्धि (Puberty) बालक को पूर्ण पुरुष और बालिका को पूर्ण स्त्री बनने की ओर अग्रसर करती है। बालकों में पुरुषोचित और बालिकाओं में स्त्रियोचित शारीरिक परिवर्तन होते हैं। यौन-ग्रन्थियों की सक्रियता उनमें गौण यौन विशेषताओं का विकास करती है। उनके जननांग सन्तानोत्पादन के लिए तैयार होते हैं। सोती हुई कामेच्छाएँ जागती हैं। बालक का बालिकाओं के प्रति और बालिकाओं का बालक के प्रति यौनाकर्षण बढ़ता है। अब वे दोनों एक दूसरे को भिन्न दृष्टि से देखते हैं। लालसाएँ तथा कामनाएँ जगती हैं। प्रेम-प्रसंग घटित होते हैं। उनकी इन सभी चेष्टाओं को अभिभावकों की स्वीकृति नहीं मिलती। परिणाम कभी-कभी विरोध या विद्रोह के रूप में सामने आता है।

इसी तरह किशोरावस्था के पूर्व जब तक उनमें काम सुप्तावस्था में होता है, वे संवेगात्मक दृष्टि से पूर्णतः अपने अभिभावकों पर ही निर्भर रहते हैं। अभिभावक ही उन्हें प्यार देते हैं, सुरक्षा देते हैं एवं उनकी सभी आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। वय के साथ ही उनमें आत्मनिर्भरता का भाव

बढ़ता है। जैसे-जैसे बाहर के मित्रों के साथ सम्बन्ध बढ़ते हैं, अभिभावकों के साथ सम्बन्ध ढीले होने लगते हैं। अब उन्हें बात-बात पर रोक-टोक अच्छे नहीं लगते। वे अपनी समस्याओं के बारे में स्वयं निर्णय करना चाहते हैं। कड़े अनुशासन को मानने के लिए तैयार नहीं होते। फलतः यहाँ भी विरोध पनपता है। कभी-कभी यह विरोध खुले संघर्ष का रूप ले लेता है। इसलिए अपने यहाँ कहा गया है—**'प्राप्ते च षोडशे वर्षे पुत्रमित्रवदाचरेत्।'**

सामान्यतया लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा शीघ्रता से यौन-परिपक्वता की ओर अग्रसर होती हैं। उनमें से अधिकांश में १० से १४ साल की वय के बीच वयःसन्धि की सारी विशेषताएँ प्रकट हो जाती हैं। बालकों में ये परिवर्तन ११ साल की वय में शुरू होते हैं और १७–१८ वर्ष की वय तक परिपक्व हो जाते हैं।

किशोरावस्था की शारीरिक समस्याएँ
(Physical Problems of Adolescence)

बालक को पुरुष में बदलने का काम प्रधान रूप से टेस्टोस्टेरान (Testosterone) नामक वृषणग्रन्थियों का रस करता है और बालिका को स्त्री बनाने का काम ईस्ट्रोजेन (Oestrogen) नामक डिम्बग्रन्थियों का रस करता है। प्रत्येक बालक-बालिका में दोनों ही प्रकार की ग्रन्थियाँ वर्तमान रहती हैं। बालकों में वृषणग्रन्थियाँ सक्रिय रहती हैं और डिम्ब निष्क्रिय अवस्था में रहता है। ठीक इसके विपरीत बालिकाओं में डिम्बग्रन्थियाँ सक्रिय और वृषणग्रन्थियाँ निष्क्रिय अवस्था में रहती हैं। फलतः दोनों के रक्तप्रवाह में कुछ-न-कुछ दोनों ही ग्रन्थियों का रस रहता है।

पुरुषों में वर्तमान ईस्ट्रोजेन का सामान्यतया उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन किसी कारण से उनमें से किसी में अन्तःस्रावी-ग्रन्थियों के स्राव में असंतुलन पैदा हो जाय और ईस्ट्रोजेन की मात्रा बढ़ जाय तो उसके स्तन स्त्रियों के समान फूल जाते हैं। लेकिन ऐसा प्रायः होता बहुत कम है और यदि हो भी तो उसे आसानी से ठीक किया जा सकता है। यही बातें स्त्रियों में भी घटित हो सकती हैं। स्त्रियों में वर्तमान पुरुष-स्राव, जिसे एन्ड्रोजेन (Androgen) कहते हैं, वयःसन्धिकाल में अनेक परिवर्तनों में सहायक होता है।

किशोरावस्था में बालक-बालिकाओं की लम्बाई कभी-कभी बेतरतीब तथा बड़ी तेजी के साथ बढ़ती है। कोई-कोई तो एक ही वर्ष में ६ इंच या १५ सेंटीमीटर तक बढ़ जाते हैं। हाँलाकि इससे कोई हानि नहीं होती। मात्र

कोई-कोई देखने में भद्दे लग सकते हैं। उनकी लम्बाई की वृद्धि का क्रम ११–२० वर्ष की वय तक चलता रहता है।

इसी प्रकार कभी-कभी कोई लड़की बीच ही में एकबारगी तेजी से इतनी लम्बी हो जाती है कि माँ-बाप देखकर घबड़ा जाते हैं। लम्बाई धीरे-धीरे बढ़े या झटकों में, अन्ततोगत्वा वह प्रायः सामान्यरूप ग्रहण कर लेती है। इससे अभिभावकों को घबड़ाना नहीं चाहिए।

बहुत से किशोर किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों को देखकर घबड़ा जाते हैं। उन्हें अपना शरीर और आकृति विचित्र लगने लगती है। कुछ तो इसी से घर के बाहर भी नहीं निकलते। अभिभावकों को न तो उनके परिवर्तनों का मजाक उड़ाना चाहिए और न उन्हें बाहर जाने के लिए ही मजबूर करना चाहिए।

संवेग सम्बन्धी समस्याएँ
(Emotional Problems)

किशोरावस्था में शरीर के समान ही संवेगों की दुनिया में एक तूफान-सा आ जाता है। वे अजीब उथल-पुथल का अनुभव करने लगते हैं। प्रायः अपनी दुनिया में ही खोये रहते हैं। चिन्ता और लज्जा दोनों उन पर हावी हो जाते हैं। अपरिचितों के सामने उनकी जबान में ताला-सा लग जाता है। उन्हें लगता है सबकी निगाहें उन्हीं की ओर उठी हुई हैं। इससे उनका संकोच, उनकी व्याकुलता और भी बढ़ जाती है। वे सोचने लगते हैं, दूसरे उनके बारे में क्या सोच रहे होंगे। उनकी अभद्रता और उद्दण्डता कभी-कभी इन्हीं परि-स्थितियों की उपज होती है। वे इसके द्वारा बड़ों पर अपने प्रभाव को अंकित करना चाहते हैं।

किशोरावस्था में व्यवस्था से टकराव एक सामान्य बात होती है। वे अभिभावक, शिक्षक, शासक किसी से भी भिड़ सकते हैं। किसी भी नियम-बंधन को तोड़ सकते हैं। व्यवस्था के प्रति उनका यह विद्रोह अपने 'स्व' की स्थापना का एक प्रयास होता है। वे दिखलाना चाहते हैं कि वे भी कुछ हैं, उनका भी अपना पृथक् अस्तित्व है।

कुछ अभिभावक किशोरों के इस विद्रोह एवं विरोध से घबड़ा जाते हैं। वे अनावश्यक रूप से अपना संतुलन खोकर परिस्थिति को और भी बिगाड़ देते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि किशोर का यह विरोध-भाव सामयिक है। कुछ समय के बाद वह अपने आप रास्ते पर आ जायेगा। सब कुछ सामान्य हो जायेगा। उसे समझाइये मगर प्यार से, धैर्य से।

यौन-सम्बन्धी समस्याएँ
(Sex Problems)

कामांगों की परिपक्वता के कारण उनमें कामेच्छाएँ भी बाँध तोड़कर वहने लगती हैं। विपरीत लिंगियों के प्रति यौन-आकर्षण के कारण वे एक दूसरे के शारीरिक सम्पर्क में आने के लिए छटपटाते हैं। प्रेम-प्रसंग घटित होते हैं। वैर-विरोध होता है। हताशा होती है।

इनमें से अनेक हस्थमैथुन (Masturbation), स्वप्नदोष (Nocturnal emission), समलिंगी-मैथुन (Homosexuality) आदि यौन-विमार्गन (Sexual perversions) के शिकार होते हैं। तरह-तरह की गलत धारणाएँ बनती हैं। ग्लानि, अपराध-भावनाएँ (Feeling of guilt) तरह-तरह की कुण्ठाओं (Complexes) को जन्म देती हैं। कितनों की कुण्ठाएँ उन्हें सदा-सदा के लिए पूर्ण या आंशिक रूप से असमर्थ बना देती हैं। उनका यौन-जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है। वरदान अनजाने अभिशाप में बदल जाता है।

हमारे यहाँ के किशोर इस प्रकार की कुंठाओं का विशेष रूप से शिकार होते हैं। यौन-जीवन के प्रति सर्वथा एक विपरीत दृष्टिकोण के कारण वे अपनी बातें किसी से कह नहीं पाते। यहाँ तक कि माँ-बाप से भी नहीं। चिकित्सकों से भी नहीं। अपने आप में घुटते रहते हैं या गलत हाथों में पड़कर अनावश्यक रूप से ठगे जाते हैं।

किशोरों का विपरीत-लिंगी यौनाकर्षण प्रायः अवास्तविक एवं काल्पनिक आदर्शों की भित्ति पर टिका होता है। उनकी कल्पनाएँ कथा-कहानियों में सुनी, फिल्मों में देखी घटनाओं के समान ही दुस्साहसिक एवं रोमांटिक होती हैं। उनकी नजरों में उनकी प्रेमिका शारीरिक सौन्दर्य एवं संवेगात्मक पूर्णता का आदर्श होती है, जिसके लिए वे आकाश के तारे भी तोडकर ला सकते हैं। अपने प्रेमपात्र के प्रति आत्मवंचक आधारों पर टिका उनका यह अपक्व प्रेम प्रायः स्थायी नहीं होता। ऐसे में यदि दोनों विवाह-बन्धन में बँध जायँ तो बड़ी जल्दी उनकी आशाएँ निराशाओं में बदलने लगती हैं। जिस पूर्णता की उन्होंने एक-दूसरे में कल्पना की थी, वह उन्हें नहीं मिलती। सम्भवतः यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में २० वर्ष से कम वय के लोगों के बीच होनेवाले विवाहों में ही सम्बन्ध-विच्छेद का औसत सबसे अधिक है।

किशोरों को यौन-जीवन में उभरी समस्याओं के लिए उचित निर्देशन (Appropriate guidance) की आवश्यकता होती है। इस क्षेत्र में

जितना अज्ञान, दुराव-छिपाव और अन्धविश्वास फैला है, उतना शायद किसी अन्य क्षेत्र में नहीं। स्वप्नदोष एवं हस्थमैथुन जिनका प्रायः इस वय में सभी सामान्य व्यक्ति शिकार होते हैं, किशोरों के मन को अनावश्यक रूप से आक्रान्त किये रहते हैं। इन क्रियाओं की अपेक्षा इनसे उत्पन्न भय एवं अन्धविश्वास उन्हें कहीं अधिक हानि पहुँचाते हैं।

वृद्धि एवं विकास की अन्य अवस्थाओं के समान ही किशोरावस्था में भी बालक को भरपूर संतुलित एवं पौष्टिक आहार चाहिए। दीर्घ भोजन और अल्प भोजन से उनकी रक्षा की जानी चाहिए।

उनके जीवन को सक्रिय एवं स्वस्थ मनोरंजन से भरपूर होना चाहिए। सद्वृत्त के पालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। सत्साहित्य में उनकी रुचि उत्पन्न की जानी चाहिए।

अध्याय २०

संस्कार

'संस्कार' शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। संज्ञा के रूप में इसका अर्थ है प्राणी के मनोदैहिक तन्त्र (Psychophysical organism) पर पड़ी उसके कर्मों की छाप। मनुष्य जो कुछ भी करता है, उससे उसमें वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रत्यक्षतः लगता है कि कर्म की समाप्ति के बाद वृत्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं; परन्तु वस्तुतः ऐसा होता नहीं है। वे सूक्ष्मरूप में प्राणी के चित्त में बनी रहती हैं। चित्त में निहित वृत्तियों के इन्हीं अवशेषों को संस्कार कहते हैं।

वृत्तियों से संस्कारों की उत्पत्ति होती है और पुनः संस्कारों से वृत्तियों का उदय। संस्कार वृत्तियों के प्रेरक (Motives) के रूप में काम करते हैं।

संस्कार अव्यक्त रूप में प्राणी में वर्तमान रहते हैं। इनकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। ये प्राणी में अनजाने ही उसके चेतन और अचेतन व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। अनुकूल अवसर के मिलते ही उपयुक्त उद्‌बोधक हेतुओं (Appropriate stimulus) का सहयोग पाकर ये सूक्ष्म संस्कार पुनः स्थूल वृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं और प्राणी के व्यवहार में व्यक्त होने लगते हैं। जैसा जिसका संस्कार होगा वैसा ही उसका आचरण होगा, व्यवहार होगा। संस्कार ही व्यवहार के नियन्त्रक एवं आचरण के निर्माता होते हैं। इसीलिए हिन्दू-संस्कृति में संस्कारों के सुधारने की ओर अत्यधिक ध्यान दिया गया है।

संस्कार पूर्वजन्म के भी हो सकते हैं और इस जन्म के भी। पूर्वजन्म के संस्कारों को पूर्वजन्म का संस्कार या संचित संस्कार कहा जाता है। आयुर्वेद में पूर्वजन्म के संस्कारों को 'दैव' और इस जन्म के संस्कारों को 'पुरुषकार' की संज्ञा दी गयी है। मानव-जाति के एक सदस्य के रूप में मनुष्य युग-युग से जिन संस्कारों को अर्जित करता चला आ रहा है, उन्हें मानव-जातीय-संस्कार कहते हैं। ये वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते जाते हैं।

क्रिया के रूप में संस्कार का अर्थ है सुधारना, संवारना, परिष्कार करना, पवित्र करना, शरीर और मन की सफाई करना, स्वभाव का शोधन करना, मानसिक शिक्षण आदि। अन्य चीजों के समान मनुष्य अपने जीवन को भी

सुधारता-सँवारता है। उसका शोधन करता है। जीवन-शोधन की यह प्रक्रिया जन्म से मृत्यु तक बराबर चलती रहती है। यह व्यक्ति और वातावरण के घात-प्रतिघातस्वरूप विकसित होती है। इसमें व्यक्ति का भी योग होता है और समाज का भी। आरम्भिक अवस्था में यह कार्य उसके पालन-पोषण के लिए उत्तरदायी व्यक्ति ही करते हैं। जैसे-जैसे वह समर्थ होता जाता है वह धीरे-धीरे स्वयं आत्मनिर्भर होने लगता है।

मनुष्य की सम्पूर्ण जीवनावधि (Life-span) सौ वर्ष और कहीं-कहीं एक-सौ-बीस वर्ष की मानी गयी है। अपनी इस सम्पूर्ण जीवनावधि में गर्भाव-क्रान्ति से मृत्युपर्यन्त वह वृद्धि और विकास के अनेक स्तरों से गुजरता है—गर्भ में आता है, जन्म लेता है, नवजात से शिशु, शिशु से कुमार, कुमार से किशोर, किशोर से तरुण, तरुण से प्रौढ़, प्रौढ़ से वृद्ध और वृद्ध से जरा-जीर्ण अवस्था को प्राप्त होता है। जीवन का हर परिवर्तन उसके सामने नये रूप में आता है। वह अभियोजन सम्बन्धी नयी समस्याओं को खड़ा करता है। उसे उनकासामना करने के लिए नये सिरे से तैयार होना पड़ता है। अपने को नये ढंग से ढालना होता है।

हिन्दू-संस्कृति में सम्पूर्ण जीवनावधि को चार आश्रमों में बाँटा गया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इनमें से प्रत्येक का विस्तार पच्चीस वर्ष का है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में उसे अनेक महत्त्वपूर्ण स्तरों से गुज-रना पड़ता है। अनेक परिवर्तनों का सामना करना पड़ता है।

हिन्दू-संस्कृति में जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को समारोहपूर्वक एक धार्मिक कृत्य के रूप में मनाया जाता है। इन्हें संस्कार की संज्ञा दी गयी है। ये संस्कार उसे स्मरण दिलाते हैं कि वह जीवन के एक महत्त्वपूर्ण स्तर को सफलतापूर्वक पार कर दूसरे में प्रवेश कर रहा है। जीवन के अगले स्तर में समाज को उससे क्या अपेक्षाएँ हैं। उन्हें उसे किस प्रकार पूरा करना है। अपने कर्त्तव्यों का किस प्रकार निर्वाह करना है। जीवन में सम्पन्न किया जाने वाला प्रत्येक संस्कार एक मील का पत्थर है, जहाँ उसे रोककर उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराया जाता है। अगले स्तर को भी वह उसी सफ-लता के साथ पार कर सके, इसके लिए भगवान् से प्रार्थना की जाती है। मंगल-कामनाएँ की जाती हैं।

संस्कारों की संख्या

संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में इनकी संख्या १३ से लेकर ४० तक बतलायी गयी है। इनमें से

१६ प्रमुख हैं। महर्षि दयानन्द ने अपनी 'संस्कार-विधि' में इनका विस्तार के साथ विवेचन किया है। नीचे संक्षेप में इनका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. गर्भाधान-संस्कार—जब विवाह-बन्धन में बन्धा परिपक्व आयु का स्वस्थ पुरुष (आयुर्वेद की दृष्टि से कम से कम २५ वर्ष) शुभ दिन, शुभ वार, शुभ नक्षत्र में एवं शुभ मुहूर्त में अपनी परिपक्व आयु की स्वस्थ पत्नी (कम से कम सोलह वर्ष) के पास प्रसन्न मन से, सन्तानोत्पादन के लिए जाता है, उसे गर्भाधान-संस्कार कहते हैं। इसमें पुरुष का वीर्य (पुंबीज) और स्त्री के आर्तव (स्त्रीबीज) का शुद्ध होना एक आवश्यक शर्त है।

२. पुंसवन-संस्कार—गर्भ की स्थिति का निश्चय हो जाने पर दूसरे या तीसरे माह पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से यह संस्कार किया जाता है। इस अवसर पर पति और पत्नी दोनों इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से वे कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे जिससे गर्भ को क्षति पहुँचे और अकाल में ही उसका प्रसव हो जाय। इसी समय से गर्भवती के लिए गर्भ के विकास में सहायक आहार-विहार की विशेष व्यवस्था की जाती है।

३. सीमन्तोन्नयन-संस्कार—यह संस्कार गर्भस्थापन के बाद चौथे महीने के (कभी-कभी छठे या आठवें में भी) शुक्ल पक्ष में जिस दिन नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, उसी दिन किया जाता है। यह संस्कार बालक की बौद्धिक शक्तियों की वृद्धि की कामना के लिए किया जाता है। इसमें ऐसे साधनों की व्यवस्था की जाती है जिससे गर्भिणी का मन प्रसवकाल तक हर तरह से प्रसन्न रहे।

४. जातकर्म-संस्कार—सन्तान के उत्पन्न होने पर उसे जीवित एवं स्वस्थ रखने के लिए उस समय जो भी आवश्यक कर्म किये जाते हैं, उन्हें जातकर्म-संस्कार कहते हैं।

५. नामकरण-संस्कार—जन्म के प्रायः ग्यारहवें (१०१वें या दूसरे वर्ष के आरम्भ में भी) दिन यह संस्कार किया जाता है। इसमें बालक को एक नाम दिया जाता है जिससे आगे चलकर वह संसार में जाना जाता है। आज से उसके रूप के साथ यह नाम भी जुड़ जाता है।

६. निष्क्रमण-संस्कार—यह संस्कार चौथे महीने में, जिस तिथि को बालक उत्पन्न हुआ हो, उसी तिथि को किया जाता है। इस अवसर पर बालक को पहली बार घर से बाहर देवस्थान तक ले जाया जाता है। बाह्य सृष्टि से उसका यह प्रथम परिचय होता है।

७. अन्नप्राशन-संस्कार—जन्म के प्रायः छठे या आठवें महीने में बालक को पहली बार अन्न चटाया जाता है। इसे अन्न-प्राशन-संस्कार कहते हैं। अब वह तरल पदार्थ के साथ-साथ अन्न का भी ग्रहण करने लगता है।

८. चूड़ाकर्म या मुण्डन-संस्कार—जन्म के तीसरे या पाँचवें वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इस अवसर पर बालक के सिर के जन्म के बाल पहली बार काटे जाते हैं।

९. कर्णवेध-संस्कार—जन्म से तीसरे या पाँचवें वर्ष में बालक की कर्ण-पाली का छेदन किया जाता है। इसी को कनछेदन या कर्णभेद-संस्कार भी कहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कर्णपाली का छेदन कर देने से बालक कुछ विशेष रोगों से बचा रहता है।

१०. उपनयन-संस्कार—'उपनय' का अर्थ है पास ले जाना। इस संस्कार के साथ बालक का आध्यात्मिक जीवन में प्रथम प्रवेश होता है। इसे दूसरा जन्म माना जाता है।

११. वेदारंभ-संस्कार—उपनयन के ही दिन या उसके एक वर्ष के भीतर बालक गुरुकुल में गुरु के निकट रहकर विद्याध्ययन आरम्भ करता है। इसी को वेदारम्भ-संस्कार कहते हैं। वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है।

१२. समावर्तन-संस्कार—पच्चीस वर्ष की वय तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन का कार्य सम्पन्न करने के उपरान्त शिष्यों का जो विदाई-समारोह होता है, उसे समावर्तन-संस्कार कहते हैं। इसके उपरान्त गुरु का आशीर्वाद लेकर शिष्य अपने घर आकर गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता है।

१३. विवाह-संस्कार—यह संस्कार गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश का प्रथम सोपान है। इसके द्वारा एक स्वस्थ एवं परिपक्व पुरुष एक स्वस्थ एवं परि-पक्व स्त्री के साथ प्रजोत्पादन के लिए प्रणय-सूत्र में आबद्ध होता है।

१४. वानप्रस्थ-संस्कार—पच्चीस से पचास वर्ष की वय तक गृहस्थ-आश्रम का सफल जीवन व्यतीत कर लेने के उपरान्त जब उसकी भी सन्तान विद्या-ध्ययन कर घर आ जाती है और उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है, तब अपने पुत्र और पुत्र-वधू को घर का सारा दायित्व सौंपकर वह सपत्नीक पारिवारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसके साथ ही वह अपने ही सीमित परिवार के छोटे दायरे को छोड़कर एक बड़े दायरे में आ जाता है और अपना शेष जीवन आध्यात्म-चिन्तन और समाज की सेवा में व्यतीत करता है। बानप्रस्थ-संस्कार के साथ ही वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है।

१५. सन्यास-संस्कार—पचास से पचहत्तर वर्ष की वय तक वानप्रस्थ आश्रम का जीवन व्यतीत करते हुए निरंतर अभ्यास द्वारा समस्त मोह-माया का त्याग कर व्यक्ति पूर्णरूपेण आध्यात्मिक साधना में लग जाता है। अब उसका एकमात्र उद्देश्य होता है ज्ञान एवं भक्ति के प्रकाश में मोक्ष की प्राप्ति, सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा अन्तिम रूप में उसी के साथ एकाकार हो जाना।

१६. अन्त्येष्टि-संस्कार—यह मरणोपरान्त किया जाता है। इसी को दाह-संस्कार भी कहते हैं। यह प्राणी के पार्थिव शरीर के अन्त का प्रतीक है। इसी के साथ उसकी आत्मा को नया जीवन प्राप्त होता है।

उपर्युक्त संस्कारों में गर्भाधान मानव के भौतिक जीवन के आदि और अन्त्येष्टि उसके अन्त का द्योतक है। शेष संस्कार जीवन में आने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर संकेत करते हैं।

गर्भाधान प्राणी के अस्तित्व में आने के पूर्व; पुंसवन तथा सीमन्तोनयन संस्कार गर्भावस्था में तथा जातकर्म से लेकर समावर्तन तक के संस्कार उसकी बाल्यावस्था में किये जाते हैं। समावर्तन के बाद विवाह-संस्कार से वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। पचीस वर्ष के सफल वैवाहिक जीवन के बाद वह अपनी सन्तानों का विवाह-संस्कार करके घर के सारे उत्तरदायित्व उनको सौंपकर स्वयं पत्नी सहित वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता है। यह भौतिक जीवन के त्याग की पहली सीढ़ी है। अब उसका पारिवारिक जीवन पूर्णरूप से समाज के लिए हो जाता है। २५ वर्ष तक पति-पत्नी मिलकर समाज की सेवा करते हैं। उसके बाद वे समस्त भौतिक जीवन से पूर्णतः मुक्त होकर तथा समस्त तृष्णाओं को त्याग कर सन्यास का व्रत लेते हैं। सन्यास की अवधि भी सामान्यतया २५ वर्ष की मानी गयी है। इस प्रकार अपने सौ वर्ष के सांसारिक जीवन को बिताने के बाद वे मृत्यु का वरण करते हैं। मरण के बाद अन्त्येष्टि-संस्कार होता है।

आयुर्वेद आयु का वेद है। उसका चरम उद्देश्य मनुष्य को आयुष्मान् बनाना तथा जीवन के प्रत्येक स्तर पर उसे स्वस्थ एवं सुखी बनाना है। यह आयु को हितायु एवं सुखायु बनाने का विज्ञान है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से गर्भ में मनुष्य के अस्तित्व में आने के समय से लेकर विवाहपर्यन्त का समय विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। इस बीच स्वास्थ्य की जो नींव पड़ जाती है वह बाद में भी प्रायः स्थिर रहती है। इसलिए इस बीच होनेवाले संस्कारों को आयुर्वेद में विशेष महत्त्व दिया गया है। विशेष-कर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर उनके चिकित्सात्मक

पक्ष का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आयुर्वेद में कौमारभृत्य का यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आगे के पृष्ठों में विशेष कर आयुर्वेद को केन्द्र मानकर इन संस्कारों का वर्णन किया जायेगा।

आगे के पृष्ठों में विशेष रूप से बाल्यावस्था से सम्बन्धित संस्कारों का वर्णन आयुर्वेद की संहिताओं में उपलब्ध सामग्री के आधार पर किया जायेगा। ये संस्कार हैं—जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध तथा वेदारम्भ। इनमें से जातकर्म सम्बन्धी क्रिया-कलापों की चर्चा पहले की जा चुकी है। शेष की चर्चा आगे पृष्ठों में की जा रही है। इनके धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्ष तथा तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड के लिए स्मृतियों को या स्वामी दयानन्द कृत वैदिक-संस्कार-पद्धति को देखें।

नामकरण-संस्कार

नाम और रूप व्यक्ति के साथ सदा बने रहने वाले उपकरण हैं। ये बालक को अनेक प्रकार से प्रभावित करते और उसके व्यक्तित्व को बनाते और निखारते हैं।

रूप तो परिवर्तनशील है। वह बदलता रहता है। पर 'नाम' एक बार स्थिर हो गया तो वह प्रायः बदलता नहीं। वह व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही पक्षों को प्रभावित करता है। नाम का उचित चुनाव नहीं हुआ तो वह बालक को चिढ़ाने, उसका मजाक उड़ाने का कारण भी बन सकता है। उससे उसमें हीनता की भावना उत्पन्न हो सकती है। नाम अनुकूल हुआ तो वह बालक में सुख, सन्तोष और आत्मविश्वास भी पैदा कर सकता है। इसलिए हिन्दू-संस्कृति में 'नामकरण' को एक धार्मिक कृत्य या संस्कार का रूप दिया गया है।

नामकरण-संस्कार प्रायः दसवें या बारहवें दिन किया जाता है। कुछ लोग सौवें दिन या एक वर्ष पूरा होने पर भी करते हैं। यह संस्कार समारोह पूर्वक किया जाता है। इसी के माध्यम से पास-पड़ोस वालों या अपने सगे-सम्बन्धियों को बालक की उत्पत्ति की सूचना दी जाती है। वृद्धवाग्भट के शब्दों में—

दशमे द्वादशे वाह्नि गोत्राचारैः शुभैः शुभे।
सूता स्नानोत्सवं कुर्यात् पितापत्यस्य नाम च॥

दिने शततमे वाख्यां पूर्णे संवत्सरेऽथवा ।
बिभ्रतोऽङ्गैर्मनोह्वालरोचनागरुचन्दनम् ॥

—अ० सं० उ० १।२९–३०

इसी दिन अपने कुल-गोत्र की मर्यादा के अनुसार प्रसूता का स्नानोत्सव होता है। बालक को स्नान कराकर उसके शरीर पर सुरक्षात्मक एवं सुगन्धित पदार्थों का लेप किया जाता है। वृद्धवाग्भट ने इन पदार्थों में मैनसिल, हरताल, गोरोचन, अगरु और चन्दन का विशेष रूप से उल्लेख किया है। और पिता खूब सोच-समझकर अपनी भावनाओं के अनुरूप सन्तान को एक नाम देता है।

नामकरण करते समय पिता को किन विशेष बातों का ध्यान रखना चाहिए, वृद्धवाग्भट ने इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है—

पूज्यं त्रिपुरुषानूकमादौ घोषवदक्षरम् ।
अवृद्धं कृतमूष्मान्तमनरातिप्रतिष्ठितम् ॥
नक्षत्रदेवतायुक्तं तदेव तु न केवलम् ।
मङ्गल्यमन्तरन्तस्थं न दुष्टं न च तद्धितम् ।
पुंसो विसर्जनीयान्तं समवर्णं स्त्रियाः पुनः ।
विषमाक्षरमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोरमम् ॥
सुखोद्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ।

—अ० सं० १।३१–३३

उक्त उद्धरण में निम्न बातों को स्पष्ट किया गया है—

१. नाम को पूज्य एवं उत्कृष्ट होना चाहिए।

२. उसे पिता, पितामह या प्रपितामह के नाम के समान या उनसे मिलता-जुलता होना चाहिए।

३. नाम का प्रथम अक्षर घोष होना चाहिए। इससे पुकारने से सुविधा होती है। कवर्ग-चवर्ग आदि वर्गों के तीसरे और चौथे वर्ण घोष कहलाते हैं।

४. नाम बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। इससे पुकारने में असुविधा होती है। आजकल छोटे और पुकारने में सुविधाजनक नाम अधिक पसन्द किये जाते हैं।

५. नाम के अन्त में ऊष्मवर्ण आना चाहिए। श, ष, स, ह—ये ऊष्मवर्ण कहलाते हैं।

६. अपने शत्रु के नाम से मिलता-जुलता या उनके बीच प्रतिष्ठित नाम नहीं रखना चाहिए।

७. नाम नक्षत्र या देवता के नाम पर या उनसे युक्त होना चाहिए। नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम निम्न प्रकार हैं—अश्विनी के नासत्य, भरणी के यम, कृत्तिका के अग्नि, रोहिणी के प्रजापति, मृगशीर्ष के सोम, आर्द्रा के रुद्र, पुनर्वसु के अदिति, पुष्य के बृहस्पति, आश्लेषा के सर्प, मघा के पितृ, पूर्वा-फाल्गुनी के भग, उत्तराफाल्गुनी के अर्यमन्, हस्त के सूर्य, चित्रा के त्वष्टा, स्वाति के वायु, विशाखा के शक्राग्नी, अनुराधा के मित्र, ज्येष्ठा के इन्द्र, मूल के निर्ऋति, पूर्वाषाढा के अप्, उत्तराषाढा के विश्वेदेव, श्रवण के विष्णु, धनिष्ठा के वसु, शतभिषा के वरुण, पूर्वाभाद्रपद के अजपात्, उत्तराभाद्रपद के अहिर्बुध्न्य तथा रेवती के पूषन् ।

८. नाम मंगलवाचक अन्तस्थ वर्णवाला होना चाहिए । य, र, ल और व अन्तस्थ वर्ण कहलाते हैं ।

९. नाम को दूषित या तद्धित प्रत्ययवाला नहीं होना चाहिए ।

१०. पुत्र का नाम विसर्गान्त होना चाहिए ।

११. पुत्र का नाम सम अक्षरों वाला और कन्या का नाम विषम अक्षरों वाला होना चाहिए । कन्या का नाम रखते समय निम्न बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए ।

१२. नाम को क्रूर नहीं होना चाहिए ।

१३. उसे सुन्दर होना चाहिए । उसका अर्थ स्पष्ट होना चाहिए ।

१४. उसे ऐसा होना चाहिए जिसका सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सके ।

१५. उसके अन्त का वर्ण दीर्घ होना चाहिए ।

१६. उसमें संयुक्त वर्ण नहीं होने चाहिए ।

१७. नाम से आशीर्वाद की झलक मिलनी चाहिए । उच्चारण करने पर आशीर्वाद जैसा प्रतीत होना चाहिए ।

इनके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ और भी बातें हैं जिनकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है ।

१८. बच्चे अपने लिए प्रायः वे ही नाम पसन्द करते हैं जो उनके साथियों के नाम से बहुत भिन्न या विचित्र न हों ।

१९. बच्चे प्रायः एक-दूसरे के नाम को बिगाड़कर बोलने, उसका मजाक उड़ाने में रस लेते हैं । इसलिए बच्चे का नाम या उपनाम ऐसा रखना चाहिये जो सरलता से बिगाड़ा न जा सके ।

२०. कुछ नाम ऐसे होते हैं जो बचपन में तो अच्छे लगते हैं, पर बाद में भद्दे लगने लगते हैं । बड़े होने पर बच्चे के लिए समस्या बन जाते हैं । अतः

ऐसे नाम नहीं रखने चाहिए। नाम ऐसा हो जिसकी सुन्दरता सदा एक समान बनी रहे।

अतएव नामकरण करते समय पिता या अभिभावक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वे नाम बच्चे का रख रहे हैं, अपना नहीं। बच्चे की प्रसन्नता के लिए रख रहे हैं, अपनी नहीं। उनका दिया हुआ नाम बच्चे की सम्पूर्ण जीवनावधि में उसके व्यक्तित्व तथा भविष्य को प्रभावित करता है। नामकरण ऐसा करना चाहिए, जिससे कि वह सचमुच नाम कमाये।

निष्क्रमण-संस्कार

चौथे महीने में शुभ दिन तथा नक्षत्रादि की शुभ स्थिति देखकर बालक को स्नान कराकर, नये वस्त्र पहना कर यज्ञ एवं ईश्वर की अर्चना के बाद सूतिकागृह से पहली बार बाहर लाया जाता है। इसीलिए इस संस्कार को निष्क्रमण-संस्कार कहते हैं। इसे भी समारोहपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। वृद्धवाग्भट ने इसका वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

चतुर्थे सूतिकागारादग्निस्कन्दपुरोगमान्।
मासे निष्क्रामयेद्देवान् नमस्कर्तुं स्वलङ्कृतम्॥

—अ० सं० उ० १।४५

चौथे महीने में बच्चे को भली प्रकार अलंकृत कर, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाकर देवताओं को नमस्कार कराने के लिए सूतिकागृह से बाहर लाना चाहिए। इस अवसर पर अग्नि एवं स्कन्द को लेकर उसके आगे-आगे चलना चाहिए।

काश्यपसंहिता में इसका और भी विस्तार से वर्णन किया गया है—

चतुर्थे मासि स्नातालङ्कृतस्याहतवाससा संवीतस्य ससिद्धार्थकमधुसर्पिषा रोचनया चान्वालब्धस्य धात्र्या सहान्तर्गृहान्निष्क्रमणं देवतागारप्रवेशनं च। तत्राग्निं प्रज्वलन्तं घृताक्षतैरभ्यर्च्य ब्रह्माणमीश्वरं विष्णुं स्कन्दं मातृश्चान्यानि च कुलदैवतानि गन्धपुष्पधूपमाल्योपहारैर्भक्ष्यैश्च बहुभिर्बहुविधैः सम्पूज्य, ततो ब्राह्मणवाचनं कृत्वा, तेषामाशिषो गृहीत्वाऽभिवाद्य च गुरून् पुनः स्वमागारं प्रविशेत्। प्रविष्टं चैनमनेन मन्त्रेणाभ्युक्ष्य भिषग्वर्तेत।

—काश्यप-खिलस्थान, १२।४

चौथे महीने में उस शिशु को स्नान कराकर, नये वस्त्र पहनाकर, आभूषणों से अलंकृत कर, श्वेत सरसों, मधु और घृत अथवा गोरोचन से युक्त कर

धात्री के साथ पहले-पहल घर से बाहर निकालें तथा मन्दिर में ले जायँ। मन्दिर में प्रज्वलित अग्नि की घी तथा अक्षत के द्वारा अभ्यर्चना करके ब्राह्मण, भगवान् विष्णु, स्कन्द, मातृकाओं एवं अपने कुल-देवताओं की गन्ध, पुष्प, धूप तथा माला आदि के उपहारों तथा नाना-प्रकार के भक्ष्य पदार्थों द्वारा अनेक-विध पूजा करके, ब्राह्मणों को नमस्कार कर तथा उनसे आशीर्वाद लेकर, अन्य सभी गुरुजनों का अभिनन्दन करके पुनः लौटकर अपने घर में प्रवेश करना चाहिए। घर में प्रविष्ट होने पर वैद्य निम्नलिखित मन्त्र से बालक की अभ्यर्चना करे—

शरच्छतं जीव शिशो ! त्वं देवैरभिरक्षितः।
द्विजैरप्याशिषा पूतो गुरुभिश्चाभिनन्दितः॥ —का० खि० १२।५

'हे शिशु ! तुम देवताओं के द्वारा रक्षित, ब्राह्मणों के आशीर्वाद से पवित्र तथा गुरुओं द्वारा प्रशंसित होते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहो।'

उपवेशन

उपविश् का अर्थ है बैठना। बालक का पहले-पहल बैठना या बैठने लगना उसके क्रियावाही विकास (Motor Development) में एक महत्त्वपूर्ण प्रगति का बोधक है। सामान्यतया औसत बालक पाँच महीने की वय में सहारे से और ६.२ माह की वय में बिना किसी सहारे के ३० सेकेण्ड तक बैठने लग जाता है। फिर धीरे-धीरे उसके बैठने के समय में वृद्धि होती जाती है।

आयुर्वेद में उपवेशन को भी संस्कारों जैसा महत्त्व प्रदान किया गया है। यह पहला अवसर होता है जब बालक माँ-धरित्री की गोद में स्वतन्त्ररूप से बैठता है। वृद्धवाग्भट ने इसे पाँचवें महीने में और काश्यप ने छठे महीने में मनाने का विधान किया है—

पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि धरण्यामुपवेशयेत्।
द्विकिष्कुमात्रं लिप्तायां बलिं दत्वा चतुर्दिशम्॥

—अ० सं० उ० १।४६

पाँचवें महीने में बच्चे को भूमि पर बिठाना आरम्भ करें। दो हाथ भूमि को गोबर से लीपकर, चारों दिशाओं में पूजा करके तब बच्चे को उस पर बिठावें। पूजा करते समय यह मन्त्र बोले—

धरण्यशेषभूतानां माता त्वमसि कामधुक्।
अजरा चाप्रमेया च सर्वभूतनमस्कृता॥

चराचराणां लोकानां प्रतिष्ठास्यव्ययासि च।
कुमारं पाहि मातेव ब्रह्मा तदनुमन्यताम्।

—अ० सं० उ० १।४७-४८

'हे धरती माता ! तुम सब प्राणियों को धारण करनेवाली हो। इच्छाओं-कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो। वृद्धावस्था से रहित हो। सबसे अतीत हो। चर-अचर सब वस्तुओं की प्रतिष्ठा धारण करनेवाली हो। निर्विकार हो। सब प्राणी तुमको नमस्कार करते हैं। तुम माता की भाँति इस बच्चे की रक्षा करो। ब्रह्मा इसका अनुमोदन करें।

बच्चे को बैठने का अभ्यास कराने के पूर्व प्रतिदिन इस मन्त्र से स्वाहा पूर्वक हवन करें। आरम्भ में उपवेशन बच्चे के लिए एक नयी और थकाने वाली क्रिया है। उसकी कमर और सम्बद्ध अंगों पर जोर पड़ता है। इसलिए वृद्धवाग्भट ने इस सम्बन्ध में निम्न सावधानी बरतने को कहा है—

साश्रयं सावलम्बं च कट्यादीन् मर्दयेदनु। —अ० सं० उ० १।४९

बच्चे को आरम्भ में अल्प समय के लिए और वह भी बिछावन-तकिये आदि का सहारा देकर या हाथों से पकड़कर बैठावें, ताकि वह गिरने न पाये या आगे अधिक झुक न जाय। बाद में उसकी पीठ, कमर और पैरों की मालिश करें।

अब इसके आगे काश्यप के अनुसार उपवेशन का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

छठे महीने में किसी शुभ दिन, देवता की पूजाकर, ब्राह्मणों को भोजन और दक्षिणा से सन्तुष्ट कर, स्वस्तिवाचन कराकर बड़े गृह के मध्य आँगन में अथवा कमरे के मध्य में पवित्र स्थान पर गोबर से लीपकर चार हाथ प्रमाण की गोल या चौकोर वेदी बनायें। उस वेदी के पास सुन्दर तथा ऐश्वर्य युक्त सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे, सीसे और लोहे के टुकड़े, सभी प्रकार की मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि, साबुत चावल तथा सभी प्रकार के अन्न, दूध, दही, घी, गोबर, कपास आदि रखें। पुनः उस स्थान पर पिष्ट अन्न या खोए के बने चित्र-विचित्र पशु-पक्षी, फल, सब्जी आदि की आकृति के बने खिलौने रखे। शिला, गृह, रथ, यान, स्यन्दन, शल्लिका, झज्झर, खैरिका, ईषिका, तुम्बी, दुष्प्रवाह, भद्र, संचोलक, पीठप, नन्दिका, दुहिता, कुमार, गालगन्दुक आदि के आकार के बने और स्त्रियों को पसन्द आनेवाले खिलौने रखकर निम्न मन्त्र से पृथ्वी को अर्घ्य देवे—

त्वमग्रजा त्वं प्रभवाऽव्यया च
लोकस्य धात्री सचराचरस्य।

त्वमीज्यसे त्वं यजसे महीह
मात्रेऽव नः हि कुमारमेनम् ।
तं ब्रह्मा अनुमन्यतां स्वाहा । —काश्यप-खिल० १२।७

अर्थात् 'हे पृथ्वी ! तू सबसे पहले उत्पन्न हुई है। तू प्रभवा (प्रकृष्ट उत्पत्तिवाली) तथा अव्यथा (कभी न क्षीण होनेवाली) है। तू सम्पूर्ण जड़ एवं चेतन जगत् की धात्री (धारण तथा पोषण करनेवाली) है। हम तेरी पूजा एवं यज्ञ करते हैं। तू हम सबकी माता के समान है। तू इस बालक की रक्षा कर। ब्रह्मा इसका अनुमोदन करे।'

इसके बाद उस बालक को उसी प्रकार स्नान कराकर, अलंकार एवं नवीन वस्त्रों से भूषित करके उस मण्डल के बीचोबीच पूर्वाभिमुख करके थोड़ी देर के लिए बिठा दें। थोड़ी देर बैठने के बाद वह बालक वहाँ उपस्थित पदार्थों में से जिस पदार्थ का सर्वप्रथम स्पर्श, ग्रहण या कर्षण करेगा वह उसी का भागी होगा। उसके बाद उस बालक को गोद में उठाकर प्रमादरहित धात्री अन्य बच्चों के साथ उसे खिलावे, उसका मनोरंजन करे। इसी प्रकार नित्य विधि-विधान से बच्चे को थोड़ा-थोड़ा बैठने का अभ्यास कराना चाहिये।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। उपवेशन की क्रिया कटि, पीठ और पैरों की मांस-पेशियों की परिपक्वता (Moturation) पर निर्भर है। उसके अंगों में यह परिपक्वता पाँचवें महीने के लगभग ही आती है। अतः इसी समय से उसे बैठाने का अभ्यास कराने का विधान किया गया है। इससे पहले बालक को उपवेशन का अभ्यास कराने से कोई लाभ नहीं होगा। बल्कि हानि हो सकती है।

अधिक देर तक बैठे रहने से बालक में उत्पन्न होनेवाली विकृतियों का वर्णन करते हुए काश्यप ने कहा है—

स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः श्रमो ज्वरः ।
विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चात्युपवेशनात् ॥ —का० खि० १२।१०

लगातार बहुत देर तक बैठे रहने से बालक के शरीर में स्तिमितता (गतिहीनता या शून्यता), कटि में दुर्बलता, पृष्ठभंग (पीठ का टेढ़ा होना या झुक जाना) श्रम, ज्वर, मल-मूत्र एवं वायु का अवरोध तथा आध्मान हो जाते हैं।

आसीनस्यातिबालस्य सततं भूमिसेवनात् ।
आसन्नान्येव दुःखानि निर्घातं गात्रभेदनम् ॥
निर्घाताज्जर्जराङ्गत्वं वेदना ज्वरसम्भवः ।
ततो न वृद्धिर्बालस्य कठोराङ्गत्वमेव च ॥
—का० खि०, १२।११-१२

अत्यन्त छोटा बालक यदि लगातार बहुत देर तक भूमि पर बैठा रहे तो शीघ्र ही वह दुःखदायी 'निर्घात' एवं 'अंगभेद' नामक रोगों का शिकार हो जाता है। 'निर्घात' में शरीर के बहुत अधिक हिलने से सम्पूर्ण अंग जर्जर हो जाते हैं। शरीर में पीड़ा होने लगती है तथा ज्वर आ जाता है। बालक के शरीर की वृद्धि रुक जाती है और अंगों में दृढ़ता नहीं आ पाती।

मक्षिकाक्रिमिकीटानां वेलाझञ्झानिलस्य च।
सर्पाखुनकुलादीनां गम्यो भवति नित्यशः॥—का० खि०, १२।१३

अधिक देर तक बैठे रहने से मक्खी, कीड़े-मकोड़े साँप, बिच्छू, नेवले आदि के काटने का तथा तेज हवा के झोकों के लगने का भी भय बना रहता है।

अन्नप्राशन-संस्कार

जीवन में पहली बार अन्न का प्राशन बालक के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना होती है। इसके बाद वह धीरे-धीरे क्षीरप की अवस्था से निकल कर क्षीरान्नाद की अवस्था में प्रवेश करता है। इसी अवधि में अधिकतर बच्चों के दाँत भी निकलने लगते हैं।

अन्नप्राशन-संस्कार प्रायः छठे महीने में किया जाता है। गृह्यसूत्रों में ऐसा ही विधान है। सुश्रुत ने भी इसी का समर्थन किया है। पर काश्यप ने छठे महीने से फलों का रस देने की बात कही है। दसवें महीने अन्नप्राशन और बारहवें महीने से धीरे-धीरे अन्न देने का विधान किया है। काश्यप ने अन्नप्राशन-संस्कार का वर्णन विस्तार से किया है—

वैद्य को चाहिए कि वह छठे महीने में बालक को विविध प्रकार के फलों का सेवन कराये। उसके बाद दाँत निकल आने पर दसवें महीने में प्राजापत्य (रोहिणी) नक्षत्र के समय किसी शुभ दिन में देवताओं तथा ब्राह्मणों की अभ्यर्चना करके मांसयुक्त अन्न की दक्षिणा सहित स्वस्तिवाचन करके गोवर से लिपी हुई वेदी पर दर्भ डालकर तथा उसपर चमेली के फूल बिखेर कर, चारों ओर गन्धयुक्त द्रव्य एवं मालाओं से अलंकृत जलपूर्ण घड़े तथा स्वस्तिक आदि मांगलिक चिह्नों को स्थापित करके, उपवेशन के समय बनाये गये सम्पूर्ण उपकरणों को पूर्ववत् तैयार करके लवा, बटेर, तीतर, मुर्गी आदि में से किसी एक के मांस तथा अन्य नाना प्रकार के सुसंस्कृत और मन को भाने वाले व्यंजनों से सिद्ध किया हुआ अन्न-पान बीच में रख दे। उसके बाद वैद्य को

चाहिए कि वह पूरब की ओर मुँह करके आभूषणों से अलंकृत, नवीन वस्त्र धारण किये हुए तथा रक्षाविधान से अभिरक्षित बालक को पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके बैठा दे। फिर अग्नि को प्रज्वलित करके उसमें सम्पूर्ण व्यंजनों से युक्त अन्न की निम्न मन्त्रों द्वारा आहुति दे—

यथा सुराणाममृतं नागेन्द्राणां यथा सुधा।
तथाऽन्नं प्राणिनां प्राणा अन्नं चाहुः प्रजापतिम् ॥
तदुद्भवस्त्रिवर्गश्च लोकाश्चैव यथा ह्यमी।
जुहोमि तस्मात्त्वय्यन्नमग्नेऽमृतसुखोपगम् ॥
प्रजापतिरनुमन्यतां स्वाहा। —का० खिल० १३।१६-१७

'जिस प्रकार देवताओं के लिए अमृत है, श्रेष्ठ हाथियों के लिए सुधा (मद) है, उसी प्रकार प्राणियों के लिए अन्न है। अन्न को ही प्रजापति कहते हैं। जिस प्रकार त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) तथा लोक की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अन्न की भी उत्पत्ति होती है। इसीलिए हे अग्नि ! अमृत के सदृश्य सुख देनेवाले इस अन्न की मैं तुझमें आहुति देता हूँ। इसे तू ग्रहण कर। प्रजापति इसका अनुमोदन करें।'

अग्नि में आहुति देने के बाद बचे हुए अन्न में से थोड़ा-सा अन्न लेकर उसे भली प्रकार मीसकर नरम करके बालक के मुख में तीन या पाँच बार देवें। अन्न खिलाने के बाद उसे जल से आचमन करावें। इसके बाद बारह महीने का हो जाने पर अन्न की इच्छा करने पर उसे निम्न खाद्य पदार्थ अत्यल्प मात्रा में दें।

पुराने, छिलकारहित तथा भुने हुए शालि एवं षष्टिक चावलों को भली प्रकार धोकर साफ करके, खूब गलाकर स्नेह एवं लवण मिलाकर अवलेह जैसा बनाकर बालक को दे। यह बालकों के लिए सुपाच्य एवं पुष्टिकारक होता है। जैसे-जैसे यह सात्म्य होता जाय, जौ या गेहूँ के नरम व्यंजन भी दिये जा सकते हैं। विडंग लवण और घी मिलाकर पकाया हुआ अवलेह बालकों के लिए पुष्टिकारक होता है। यदि इससे बालक को पतला पाखाना होने लगे तो इसी में थोड़ा कोदो मिलाकर दें। यदि पित्त की अधिकता मालूम हो तो मुनक्का, मधु और घी मिलाकर देना चाहिये। वात की अधिकता में बिजौरा नींबू का रस और नमक मिलाकर देना चाहिये। बालक को कौन-सा अन्न दिया जाय, कितनी मात्रा में दिया जाय तथा कितनी बार दिया जाय इसमें देश-काल, बालक की जठराग्नि, उसके बलाबल आदि का ध्यान रखना आवश्यक है।

कर्णवेध-संस्कार

कर्णवेध-संस्कार जन्म के छठे या सातवें महीने में करने का विधान है। सुश्रुत ने छठे-सातवें और वाग्भट ने छठे-सातवें या आठवें महीने में कर्णवेधन की बात कही है। डल्हण ने छठा-सातवाँ महीना जन्म से न मानकर भाद्रपद से माना है। उसके अनुसार माघ या फाल्गुन का महीना आता है। माघ-फाल्गुन के महीनों में शिशिर ऋतु होती है। इस ऋतु में न केवल वालक का स्वास्थ्य उत्तम होता है, प्रत्युत व्रण के पकने की आशंका भी कम होती है। पक भी जाता है तो घाव शीघ्र भर जाता है। आज भी आपरेशन चाहे छोटा हो या वड़ा लोग जाड़ों में कराना ही अधिक पसन्द करते हैं।

कर्णबेधन के हेतु एवं विधि

सुश्रुत ने कर्णबेध की विधि और उससे होने वाले उपद्रवों की विस्तृत चर्चा की है—

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग्वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्र आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिणहस्तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया, पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः, ततः पिचुवर्ति प्रवेशयेत्।

—सुश्रुत-सूत्र० १६।३

कर्णबेध रक्षाकर्म के अंग के रूप में और आभूषणों को धारण करने के लिए किया जाता है। (एक्युपंक्चर की दृष्टि से इसका चिकित्सात्मक महत्त्व भी है।) छठे या सातवें महीने के शुक्लपक्ष में शुभ दिन, करण, नक्षत्र, मुहूर्त आदि देखकर मंगलाचारपूर्वक स्वस्तिवाचन करके बालक को धात्री या कुमाराधार की गोद में बैठा दें। ध्यान बँटाने के लिए उसे खिलौने आदि भी दे दें। फिर वैद्य अपने बायें हाथ से कान को खींचकर जहाँ सूर्य की किरणें चमके, वहाँ देवकृत छिद्र (कर्णपाली का मध्य भाग) में धीरे-धीरे बेधन करे।

वृद्धवाग्भट ने बेध्य-स्थान पर महावर का निशान लगाकर एक बार में ही सीधा और त्वरित बेधने की बात कही है। उनके अनुसार बेधन न तो ऊपर हो, न नीचे और न पार्श्व में; वह सुनिश्चित स्थान पर तथा सीधा होना चाहिए।

पुत्र का पहले दाहिने कान और कन्या के बायें कान का बेधन करे। बेधने के बाद उसमें तेल में भींगा हुआ धागा डाल दें।

सही बेधन की पहचान

सही स्थान पर विंधने से न तो रक्तस्राव होगा और न वेदना। अनुचित स्थान पर विंध जाने से रक्तस्राव और वेदना होने लगती है। कर्णपाली या कान की लोर के ठीक बीचोबीच, जिसे दैवकृत छिद्र कहा गया है, शिरा-धमनी आदि नाड़ियों का अभाव होता है, अतः वहाँ विंधने से रक्तस्राव नहीं होता। अन्य स्थानों पर रक्तस्रावी नाड़ियों के होने से तुरन्त रक्तस्राव और वेदना होने लगती है।

शिराबिद्ध के कारण

आयुर्वेद के अनुसार कर्णपाली में तीन शिराएँ होती हैं–कालिका, मर्मरिका और लोहितिका। इनमें से कालिका के विंध जाने से ज्वर, शोथ, दाह और वेदना होती है। मर्मरिका में बेध हो जाने से ज्वर, वेदना और गाठें पड़ जाती हैं। तथा लोहितिका में वेध होने से मन्यास्तम्भ, अपतानक, शिरोग्रह, कर्णशूल आदि के हो जाने का भय होता है। ऐसी स्थिति के उपस्थित हो जाने पर लक्षणों के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिए।

गलत वेध के कारण

वेदनाओं का कारण खुरदरी, वक्र, मोटी तथा गन्दी सूई, मोटे सूत्र का उपयोग, वालक का हिलडुल जाना तथा अयोग्य वैद्य भी हो सकता है।

चिकित्सा

यदि कान में शोथ या वेदना हो तो तुरन्त डोरा निकाल कर मुलेठी, एरण्डमूल, मजीठ, यव और तिल को पीसकर तथा मधु और घी में मिलाकर तव तक लगाना चाहिए जब तक कि घाव भर न जाय। ठीक हो जाने पर पुनः उपर्युक्त विधि से उपयुक्त स्थान पर बेधन करना चाहिए।

यदि वेधन ठीक हुआ हो तो तिल के अपक्व तेल से परिषेक करना चाहिए। प्रति तीसरे दिन पहले से मोटा तागा डालते हुए तिल के तेल से ही परिषेक करते रहना चाहिए।

जब सब दोष और उपद्रव शान्त हो जायँ तब छेद को अपनी इच्छा के अनुसार बढ़ाने के लिए छोटे-छोटे वर्धनकों का उपयोग करना चाहिए।

वेदारम्भ-संस्कार

'वेद' ज्ञान के प्रतीक हैं। जब बालक पढ़ने योग्य (School going age) हो जाता है तब गुरु के द्वारा ही उसका वेदारम्भ-संस्कार किया जाता

है। प्राचीन काल में ज्ञानार्जन-योग्य अवस्था को प्राप्त होने पर गुरुकुल में बालक का प्रवेश कराया जाता था। विधान के अनुसार वह कौपीन, कटिवस्त्र और उत्तरीय धारण करके दण्ड हाथ में लेकर संसार के आकर्षणों से दूर गुरुकुल के पवित्र एवं शान्त वातावरण में रहकर पच्चीस वर्ष की वय तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्यनन करता था। वेदारम्भ-संस्कार के बारे में वृद्धवाग्भट ने कहा है—

शक्तिमन्तं यथावर्णं विद्यामध्यापयेत् ततः।
अनुशिष्यात् सदा चैनं धर्माय विनयाय च॥
यथा नेन्द्रियदुष्टाश्वैर्ह्रियते यौवनागमे।

—अ० सं० उ० १।७७

जब बालक शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से विद्याध्ययन के लिए समर्थ हो जाय, तब अपने-अपने वर्ण के अनुसार उसे विद्याध्ययन कराना चाहिए। उसके व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास के लिए उसे धर्म एवं सदाचार की व्यापक शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे वह यौवनावस्था में दुष्ट इन्द्रियों रूपी घोड़ों के वशीभूत न होकर, स्वयं उनपर नियन्त्रण प्राप्त कर अपने मनोनुकूल उनका संचालन कर सके।

अध्याय २१

बालरोग-परीक्षा-विधि

(Examination of Children)

रोग के सही निदान में दो बातें सर्वाधिक सहायक होती हैं—रोगी का व्यक्तिवृत्त (Case history) और उसका नैदानिक परीक्षण (Clinical Examination)। ये दोनों कार्य समय और श्रमसाध्य हैं।

यदि रोगी बालक है तो चिकित्सक की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। वह बोल कर अपनी पीड़ा नहीं बतला सकता। अपरिचित परिवेश और अपरिचित व्यक्ति की उपस्थिति उसकी घबराहट को और बढ़ा देती है। वह सहम जाता है तथा अपना शारीरिक परीक्षण कराने को तैयार नहीं होता। ऐसी स्थिति में चिकित्सक को क्या करना चाहिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

बालरोग-निदान में रोगी का सहयोग पाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की होती है कि चिकित्सक बालक को अपने प्रति आकर्षित करे, उसमें अपने प्रति विश्वास पैदा करे, मैत्री भाव जगाये। बालरोग-निदान में बालक और चिकित्सक के बीच का पारस्परिक सौहार्द (Rapport) सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। बालचिकित्सक को अपने क्लीनिक का परिवेश कुछ ऐसा बनाकर रखना चाहिए, जो बालक के लिए आकर्षक एवं मनोरंजक हो।

व्यक्ति-वृत्त
(Case History)

बालरोग-निदान में रोगी का व्यक्ति-वृत्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए क्लीनिक में बालक का स्वागत करने के उपरान्त सबसे पहले यही काम होना चाहिए। इससे बहुत-सी ऐसी जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं जो नैदानिक-परीक्षण (Clinical Examination) से सामान्यतया नहीं प्राप्त होतीं। व्यक्ति-वृत्त लेना नैदानिक-परीक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन एवं परिश्रमसाध्य होता है। इसमें अपेक्षाकृत अधिक कुशलता और सावधानी की आवश्यक होती है। धैर्यवान् श्रोता होना वक्ता होने से कहीं अधिक कठिन है।

बालक के सम्बन्ध में सबसे अधिक जानकारी उसकी माता या पिता से ही प्राप्त हो सकती है। बहुत-सी बातें माता बालक की उपस्थिति में बतला

सकती हैं; किन्तु कुछ बातें बालक की उपस्थिति में सम्भवतः न बतलाना चाहे। ऐसी स्थिति में चिकित्सक को चाहिए कि वह बालक को कमरे के के बाहर किसी मनोरंजक काम या खेल में बहला दे, जिससे बालक अपने को तिरस्कृत या एकाकी भी न अनुभव करे और चिकित्सक को माता से बालक के सम्बन्ध आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का अवसर भी मिल जाय। दादा-दादी आदि अन्य लोगों से भी कभी-कभी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है। चिकित्सक यदि कुशल निरीक्षक है तो वह इस बीच इन लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों और बालक के प्रति इनकी अभिवृत्तियों (Attitudes) को भी भाँप लेता है।

चिकित्सक माता, पिता या अभिभावक को इसका पूरा अवसर दे कि वे अपने बच्चे की समस्याओं के बारे में स्वयं अपने ढंग से अपने शब्दों में ठीक-ठीक बतला सकें। प्रश्नोत्तरी के ढंग का इतिवृत्त (Questioner type of case history) प्रायः बालक की कठिनाई अथवा उसके रोग का सही चित्र नहीं उपस्थित करता। माता से सारी जानकारी प्राप्त कर लेने के उपरान्त जहाँ-जहाँ कमी मालूम होती हो, उसकी पूर्ति के लिए प्रश्नोत्तरी का उपयोग किया जा सकता है।

सामान्यतया रोगी का इतिवृत्त लेते समय प्रमुख रोग की जानकारी पहले और अन्य जानकारियाँ बाद में लेनी चाहिए। फिर भी बालक का इतिवृत्त लेते समय प्रमुख रोग की जानकारी प्राप्त करने के पहले उसके वैयक्तिक एवं पारिवारिक इतिवृत्त को जान लेना अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। किसी प्रौढ़ा माँ की अपने इकलौते बच्चे और उसके रोग के प्रति चिन्ता या घबराहट किसी अनेक बच्चों की माँ की अपेक्षा कहीं भिन्न और अधिक होगी।

बच्चे का वैयक्तिक इतिवृत्त (Personal history of the child)—बच्चे के वैयक्तिक इतिवृत्त में बालक का नाम, पिता का नाम, पता, जन्मतिथि, जन्मस्थान, जन्मक्रम (Birth order), गर्भ में रहने का समय (पूर्णकालिक, अपक्व या अतिपक्व), प्रसव की प्रकृति (सामान्य, कठिन, उपकरणज या शल्यज), प्रसवकालीन आघात, प्रसव के समय बालक का भार तथा उसका स्वास्थ्य, सगर्भावस्था में तथा प्रसवोत्तरकाल में माता का स्वास्थ्य, नवजात (शिशु) अवस्था में बालक की अभियोजनशीलता, अभियोजन में उत्पन्न कठिनाइयाँ, प्रारम्भिक पोषण—बालक को स्तनपान कराया गया था या वह ऊपर के दूध पर पला है; स्तनपान माता ने कराया था या किसी अन्य ने; माता ने स्तनपान नहीं कराया तो क्यों, बालक को ठोस आहार कब से दिया

जा रहा है इत्यादि प्रश्नों के साथ-साथ उसके विकासात्मक इतिवृत्त (Developmental history) को भी जानना आवश्यक होता है ।

नवजात से शिशु, शिशु से बालक, बालक से किशोर आदि अवस्थाएँ उसने कैसे पार कीं ? उसने विकास के महत्त्वपूर्ण स्तरों, यथा—दन्तोद्भवन, बैठना, खड़ा होना, चलना, बोलना, मल-मूत्रादि क्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करना, वय:सन्धि का आगमन (Onset of puberty), गौण यौन-विशेषताओं (Secondary sex characteristics) का विकास, मनोलैंगिक विकास (Psychosexual development) के विभिन्न स्तरों को समय पर सामान्य ढंग से पार किया या नहीं ? यदि नहीं तो उसे किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ? उसका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सांवेदनिक एवं क्रियात्मक विकास औसत गति से हुआ या नहीं ? उसमें कहीं कोई बाधा तो नहीं पड़ी, कोई अवरोध तो नहीं हुआ । समय पर आवश्यक प्रतिरक्षण उपायों (Immunization) का सहारा लिया गया या नहीं, यदि नहीं तो क्यों ?

बालक को आरम्भिक अवस्था में कौन-कौन-सी बीमारियाँ हुईं, इसकी भी जानकारी आवश्यक है । उसे कोई संक्रामक रोग (यथा—खसरा, चेचक, बीजदोषज फिरंग आदि) अथवा चर्मरोग (यथा—एक्जिमा, विचर्चिका, विसर्प आदि) तो नहीं हुआ । उसके जीवन में कोई दुर्घटना तो नहीं घटी । कोई आघात तो नहीं लगा । कोई आपरेशन तो नहीं करना पड़ा । किसी खाद्यपदार्थ, औषधि या अन्य किसी पदार्थ के प्रति किसी प्रकार की प्रत्यूर्जता या असात्म्यता (Allergy) तो नहीं है ।

बालक के वर्तमान रोग का इतिवृत्त (History of present illness)—बालक के वर्तमान रोग का ब्यौरा उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम में अंकित करना चाहिए । उसके मुख्य रोग का स्वरूप क्या है, वह कब और कैसे हुआ, उसका गम्भीर रूप कब से है, कौन-कौन से लक्षण (Symptoms), लक्षण-समूह (Syndrom) या उपद्रव (Complications) कब-कब या कितने दिनों के अन्तर से प्रकट हुए, कैसे विकसित हुए, यह रोग या ऐसा ही कोई अन्य रोग बालक को इससे पहले कभी हुआ था या नहीं इत्यादि ।

रोग के साथ-साथ बालक के सामान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी लक्षणों का जानना भी आवश्यक है । उसे भूख लगती है या नहीं । मल-मूत्र आदि की क्रियाएँ उचित रीति से होती हैं या नहीं । नींद ठीक आती है या नहीं । अपनी वय के अनुरूप उसमें सक्रियता है या नहीं । यदि स्कूल जाने लगा है तो वहाँ वह कैसे रहता है ? उसकी प्रगति कैसी है ? पढ़ाई में मन लगता है या नहीं ।

स्कूल के पाठ्येतर कार्यों (Extracurricular activities) में भाग लेता है या नहीं। उसकी मुख्य अभिरुचियाँ क्या हैं ? अपने सहपाठियों और शिक्षकों के साथ अपने को ठीक से अभियोजित कर रहा है या नहीं। यदि नहीं तो उसकी अध्ययन अभियोजन सम्वन्धी कठिनाइयाँ क्या हैं ? उनके सम्भावित कारण क्या हैं ?

पारिवारिक इतिवृत्त (Family history)—इसके अंतर्गत सबसे पहले माता-पिता के बारे में जानना आवश्यक होता है। वे दोनों जीवित हैं या नहीं। हैं तो क्या करते हैं ? उनका व्यवसाय क्या है ? उनकी शिक्षा कितनी है तथा उनका स्वास्थ्य कैसा है ? उनके पारस्परिक सम्वन्ध कैसे हैं ? उनमें से किसी को कोई वीमारी तो नहीं है। विशेषरूप से दमा, एक्जिमा, मधुमेह, आमवातिक ज्वर (Rheumatic fever), यक्ष्मा आदि। यदि उनमें से किसी की मृत्यु हो चुकी है तो वह कब और किस बीमारी से हुई। परिवार में किसी तरह का विच्छेद, तलाक आदि हुआ हो तो उसका भी उल्लेख होना चाहिए।

परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक स्थिति, घर का परिवेश, रख-रखाव, वालक का जन्मक्रम, अन्य भाई-वहनों का स्वास्थ्य, यदि उनमें से कोई मर गया तो कव और किस वय में मरा ? किस बीमारी से मरा ? गर्भस्राव, गर्भपात स्वाभाविक या कराया गया। परिवार में कोई प्रत्यूर्जात्मक या वंशानुगत रोग तो नहीं है। इन वातों की भी जानकारी आवश्यक है।

वालक की इतिवृत्त सम्वन्धी सूचना एकत्र कर लेने के वाद उसके नैदानिक परीक्षण का क्रम आता है।

नैदानिक परीक्षण
(Clinical Examination)

वालक की अधिकांश परीक्षा तो उसका वैयक्तिक इतिवृत्त (Case history) लेते समय ही हो जाती है। अनुभवी चिकित्सक वालक को देखकर एक दृष्टि में ही भाँप लेते हैं कि वालक स्वस्थ है या रोगी। उसका रोग सामान्य है या गंभीर। फिर भी संदेहरहित एवं निश्चयात्मक ज्ञान के लिए नैदानिक परीक्षा आवश्यक होती है।

नैदानिक परीक्षा की व्यवस्था बहुत कुछ चिकित्सक की व्यक्तिगत रुचि, रोगी और रोग के स्वरूप पर निर्भर करती है।

परीक्षा का प्रारम्भ जाँच की सामान्य विधियों–निरीक्षण (Inspection), परिस्पर्शन (Palpation), परिताड़न (Percussion) और परिश्रवण

(Auscultation) द्वारा ही शुरू किया जाना चाहिए। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि वालकों के विषय में किसी पूर्व निश्चित क्रम या चर्या का अनुगमन नहीं किया जा सकता। प्राय: उनका परीक्षण संस्थानों (Systems) की अपेक्षा क्षेत्रों (Areas) के आधार पर ही करना पड़ता है।

बालरोगी के परीक्षण में निरीक्षण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतिवृत्त लेते समय चिकित्सक की सतर्क दृष्टि वरावर बालक के व्यवहार और हाव-भाव पर रहती है। किस अंग का स्पर्श करते समय वह कैसा मुँह वनाता है, कैसे भाव प्रकट करता है, किस अंग को आसानी से छूने देता है, किसे नहीं छूने देता आदि।

बालरोगियों का परीक्षण करते समय यह बात वरावर ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रौढ़ रोगियों के समान सर से पैर तक उनके सभी अंगों का परीक्षण क्रमिक ढंग से व्योरेवार नहीं किया जा सकता। इसमें चिकित्सक को वालक के रुख का ध्यान रखना पड़ता है। जिन अंगों का परीक्षण बालक के लिए अधिक अरुचिकर और कष्ट कर हो, उन्हें वाद के लिए छोड़ देना चाहिए, यथा—नाक, कान, हलक आदि। यदि कपड़े उतारने में उसे हिचकिचाहट मालूम हो तो कम से कम पैंट या जाँघिया उतारने को न कहें। हाँ, उसका रेकर्ड लेते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उसके किसी भी अंग का परीक्षण छूटने न पाये।

शिशुओं का परीक्षण यथासम्भव माता की गोद में ही करना चाहिए। यदि शिशु सो रहा है तो अधिकांश परीक्षण उसी स्थिति में कर लेना चाहिए। सोते हुए शिशु की श्वसन-क्रिया, उसके वक्ष के उतार-चढ़ाव, कलान्तरालों के तनाव (Tension of the anterior fontanelle) तथा पेट, हृदय, छाती आदि की परीक्षा सरलता से की जा सकती है।

छोटे बच्चों की परीक्षा माता के पास खड़े-खड़े ही करनी चाहिए; क्योंकि परीक्षण-टेबुल पर लेटने को कहने से ही वह घवड़ा सकता है। परीक्षा सबसे पहले उसके हाथों को अपने हाथों में लेकर ही आरंभ करनी चाहिए। इससे वच्चे को अपनेपन का अनुभव होगा। साथ ही उनके हाथों की तथा नखों आदि की बनावट, उनका वर्ण, उनकी आभा, स्पर्श आदि आपको बहुत कुछ बतला सकते हैं। यह भी हो सकता है कि वाद में वह टेबुल पर लेटने में अधिक आनाकानी न करें।

छोटे बच्चों को कभी आँखों में आँखें डालकर या घूर कर नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से वे घबड़ा जाते हैं। देखना ही हो, तो उसके माथे को

लक्ष्य कर के ही देखें। उसका परीक्षण करते समय बराबर कुछ न कुछ बोलते हुए उसका ध्यान बँटाते रहें। कोई प्रश्न पूछने पर यदि वह न बोले तो उसे टाल जायँ। दूसरा प्रश्न पूछें। उसके उत्तर की प्रतीक्षा न करें। आपके चुप होने पर या थोड़ा भी गंभीर होने पर वह रो भी सकता है। यदि आप उसके कपड़े उतरवा कर उसका परीक्षण कर रहे हैं, तो हो सकता है कि कपड़े पहना देने से वह चुप हो जाय। माता जब तक धीरे-धीरे कपड़े पहनाती है, इस बीच भी चिकित्सक को परीक्षण के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

अधिक छोटे बच्चों में नाड़ी की चाल की गणना वक्ष की परिस्पर्शन (Palpation) अथवा परिश्रवण (Auscultation) विधि से की जाती है। बड़े बच्चों की नाड़ी कलाई की परिस्पर्शन-विधि से देखी जाती है। जन्मकाल में बच्चे की नाड़ी की औसत गति १३० प्रति मिनट, एक वर्ष के बच्चे की ११०, तीन वर्ष के बच्चे की १००, आठ वर्ष के बच्चे की ९० तथा बारह वर्ष के बच्चे की ८० प्रति मिनट होती है। सुप्तावस्था में यह गति १० से २० प्रति मिनट तक कम हो जाती है। बच्चों में हृत्क्षिप्रता (Tachycardia) प्राय: देखी जाती है। इसका कारण उनका रोना-चिल्लाना, उत्तेजना, अत्यधिक सक्रियता, ज्वर या कोई बीमारी भी हो सकती है। हृद्मन्दता (Bradycardia) प्राय: कम पायी जाती है। प्राय: इसे हृदय की असामान्यता का सूचक माना जाता है। साइनस अतालता (Sinus arrhythmia) तो प्राय: सभी बच्चों में पायी जाती है। पर ताल (Rhythm) की अन्य अनियमितताएँ हृदय के रोगों में भी देखने को नहीं मिलतीं।

सिर की बनावट (Shape of the head) और कलान्तरालों पर भी ध्यान देना चाहिए। सामान्य बच्चों के सिर की बनावट में समरूपता पायी जाती है। जलशीर्षता (Hydrocephaly) की स्थिति में सिर की बनावट ग्लोब की भाँति होती है। कलान्तराल (Fontanelle) प्राय: १५ महीने से लेकर २ वर्ष की वय के बीच भर जाते हैं। उनका देर से भरना शोष (Rickets) या जलशीर्षता का सूचक हो सकता है। अन्तरालों के तनाव को भी देखना आवश्यक है। सामान्य बच्चों में यह स्पन्दित होता रहता है और इसका तल सिर के शेष भाग के समान या समतल होता है। झुका हुआ अन्तराल निर्जलीभवन (Dehydration) का और तनावपूर्ण उभरा हुआ-सा अन्तराल अन्तर्कपालीय दबाव (Intercranial pressure) का सूचक हो सकता है।

आँखों में विशेषरूप से मोतियाबिन्दु (Cataracts) और नेत्राभिष्यन्द

(Conjunctivitis) का परीक्षण करना चाहिए। दोनों ही आँखों का प्रकाश-प्रतिवर्त (Light reflex) एक समान होना चाहिए।

हाथ-पैरों में कहीं कोई असामान्यता (कमी, सूजन या स्पर्श की असहनशीलता) हो तो उस पर ध्यान देना चाहिए। उन्हें घुमा-फिरा कर देखना चाहिए कि बच्चा उन्हें घुमाने-फिराने में कोई कठिनाई तो अनुभव नहीं करता। कहीं किसी जोड़ में दर्द तो नहीं है। कलाई में रैडियस और अलना के अधिवर्ध (Epiphysis of the radius & ulna) फैले हुए तो नहीं मालूम होते। यह भी शोष रोग का एक लक्षण है। पैरों में संघट्ट जानु (Knock knee), धनुषाकार टाँगों (Bow legs), सपाट-पाद (Flat feet) को भी देखना चाहिए।

गर्दन के दोनों ओर कक्षाओं (Axillae) तथा वंक्षणों (Inguinal regions) में स्थित लसिकावाही ग्रन्थियों (Lymphatic glands) का परीक्षण परिस्पर्शन द्वारा करना चाहिए। बच्चों में स्थानीय गड़बड़ी, यथा—टांसिल की वृद्धि या रूबेला (Rubella) के अन्य रोगों में प्रायः बढ़ी हुई मिलती हैं।

वक्ष की परीक्षा में परिताड़न की अपेक्षा परिस्पर्शन तथा परिश्रवण का सहारा पहले लेना चाहिए। परिताड़न से बच्चे प्रायः घबड़ा जाते हैं। स्टेथेस्कोप के घुण्डी-नुमा सिरे की अपेक्षा प्राचीरनुमा सिरे को यथासम्भव उसकी पीठ या छाती पर रखकर इधर-उधर खिसकावें। बालक अधिक घबड़ाया हुआ हो तो पहले उसे छूने-देखने दें। उसी से उसके सिरे को बदन पर रखवावें, फिर खिसका कर छाती पर लावें। सिरा अधिक ठण्डा मालूम हो तो पहले उसे हाथों पर रगड़ कर गरम कर लें। छाती की दीवारों की कुरचना तथा अन्तःपर्शुका (Intercostal) तथा उपपर्शुका (Subcostal) का प्रतिसार=प्रतिगमन (Recession) देखने के लिए वक्ष की परीक्षा विशेष रूप से की जाती है। इनसे श्वसन-अवरोध, जीर्ण फुप्फुस रोग तथा हृदय की रचनात्मक या क्रियात्मक असामान्यता का पता लगता है। श्वसनक ग्रन्ट-स्वर (Grunting respiratory sound) न्यूमोनिया के सूचक हैं। ग्रन्टिक-रेचक (Grunting expiration) के बाद पूरक (Inspiration) फिर हल्का अन्तराल (Pause) मालूम होगा। शोषरोग में पर्शुकास्थि-संधियों (Costochondral junctions) की सघनता तथा शोथ अनुभव किया जा सकता है। हृदय के स्पन्दनों को देखने के लिए परिस्पर्शन का सहारा लें। ६-७ वर्ष से अल्पवय के बच्चों में हृदय की धड़कन को चौथी अन्तःपर्शुका के पास और उससे बड़े बच्चों में पाँचवीं अन्तःपर्शुका के पास थोड़ा बायीं ओर अनुभव

किया जा सकता है। परिताड़न करना ही हो तो बहुत हलके से करें। इससे बच्चे के वक्ष की गूँज स्पष्ट मालूम होती है।

यह ध्यान रखें कि जब आप बच्चे की छाती की, विशेषरूप से हृदय की परीक्षा कर रहे हों, उस समय उसकी माता की उत्सुक निगाहें आपके चेहरे पर लगी होंगी। वह आपके भावों को पढ़ने की कोशिश कर रही होगी। रोग जितना ही गम्भीर होगा उसकी उत्सुकता एवं परेशानी उतनी ही अधिक होगी।

बच्चे के पेट की परीक्षा करते समय यदि वह घबड़ाया हुआ है, रो रहा है, आपको अपने पेट पर हाथ नहीं रखने देता, तो सबसे पहले उसे चुप कराने की प्रयत्न कीजिये। बच्चा यदि छोटा हो तो उसे खेलने या खाने की कोई चीज पकड़ा दें और यदि बड़ा हो तो उसके चुप होने की प्रतीक्षा करें। आप उसी का हाथ पकड़कर उसके पेट पर रखवावें और ऊपर से अपना हाथ रखें। तब सम्भव है वह उतना विरोध न करे। जीवन के प्रथम वर्ष में बालक के यकृत् का आकार अधिक बड़ा होता है। वह दाहिनी ओर की अन्तिम पसली के नीचे लगभग दो अंगुल बाहर की ओर अनुभव किया जा सकता है। बढ़ी हुई तिल्ली को भी बायीं ओर की पसली के नीचे अनुभव किया जा सकता है। प्रायः सभी प्रकार के संक्रमणों में उसकी तिल्ली कुछ-न-कुछ बढ़ जाती है। मलावरोध से पीड़ित बच्चों के पेट में मल की तथा मूत्र से भरे एवं तने मूत्राशय की श्रोणि-प्रदेश में स्पष्ट प्रतीति होती है। पेट की पीड़ा परिस्पर्शन या परिताड़न के दौरान उसके चेहरे को देखकर भाँपी जा सकती है।

पेट का परीक्षण करने के क्रम में ही बालक के जननांगों का भी परीक्षण कर लेना चाहिए। ध्यान रहे छोटे बच्चों की अण्ड-ग्रन्थियाँ कभी-कभी परीक्षण के दौरान एक स्वाभाविक प्रतिवर्त के वशीभूत होकर ऊपर चढ़ जाती हैं जिससे वे कोषों में नहीं मालूम होतीं। कन्याओं में योनि की छिद्रता देखना आवश्यक होता है।

गुदा-परीक्षा करनी ही हो तो सबसे अन्त में करनी चाहिए।

केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र (Central nervous system) की परीक्षा पर्याप्त समय देकर बड़े ध्यान से करनी होती है। तन्त्रिका-तन्त्र के विकास को उसकी स्वतःस्फूर्त गतियों एवं खेलों के माध्यम से आँका जा सकता है।

नाक, कान, मुँह और गले की परीक्षा करनी हो, तो पहले नाक से ही प्रारम्भ करें। किसी भी प्रकार की कुरचना का अनुमान बाहर से देखकर ही लगाया जा सकता है। नथुनों के नीचे किसी प्रकाशमान वस्तु (यथा शीशा) को रखकर उसमें नासारंध्रों की छाया देखी जा सकती है। प्रकाश की सहा-

यता से श्लैष्मिक झिल्ली की परीक्षा भी की जा सकती है। पीली शोथयुक्त अध:नासाशुक्तिका (Inferior turbinates) एलर्जिक नासाशोथ (Allergic rhinitis) का सूचक है।

नाक के बाद बाह्य कर्णकुहर तथा कर्ण-पटह (Tympanic membrane) को देखना चाहिए। ऑरिस्कोप (Auriscope) तथा स्पेकुलम (Speculum) को बच्चे को खिलौनों के रूप में छूने दीजिये। सम्भव है इससे बच्चे का मनबहलाव होने से परीक्षण कराने में आपति न करे। इस पर भी यदि न माने तो माँ उसे अपनी गोद में बैठाकर एक हाथ से उसका सिर और दूसरे से कन्धा और भुजा कसकर पकड़े। तत्पश्चात् आप उसकी परीक्षा कीजिए।

मुँह तथा हलक की परीक्षा में भी यही विधि अपनानी पड़ती है। सहयोगी बच्चे प्राय: दाँत दिखाओ अथवा मुँह खोलो कहने पर सरलता से मुँह खोल देते हैं। तब उसे आसानी से देखा जा सकता है। स्पैचुला (Spatula) को बच्चे प्राय: मुँह की ओर ले जाते हुए देखकर ही डरने लगते हैं। मजबूरी में उसका उपयोग करना ही पड़े तो उसे बच्चे के दाँतों के बीच जिह्वा पर रखकर धीरे से दबाना चाहिए। अब उसके दाँतों को और जिह्वा तथा मुँह के अन्दर की श्लैष्मिक झिल्ली को ध्यान से देखें। कण्ठ, तुण्डिका (Tonsils) एवं उपतुण्डिका की परीक्षा करें। उनके वर्ण, शोथ आदि की ओर ध्यान दें।

बालक के नैदानिक परीक्षा-पत्रक में उसके श्वसन की गति, नाड़ी की गति, शरीर का भार, ऊँचाई-लम्बाई, रक्तचाप, तापक्रम, मल-मूत्रादि की परीक्षा के परिणामों का विशेषरूप से उल्लेख होना चाहिए।

आगे बालक के इतिवृत्त (Case history) तथा नैदानिक परीक्षा (Clinical examination) के प्रपत्रों के प्रारूपों को प्रस्तुत किया जा रहा है। चिकित्सक इनका सम्मिलित रूप से या अलग-अलग जैसा चाहें उपयोग कर सकते हैं। अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ा-बहुत फेर-बदल भी कर सकते हैं। रोगी के अभिभावक इनके अतिरिक्त भी कोई जानकारी देना चाहें तो उसे अलग से लिख लेना चाहिए।

बालक का ऐतिहासिक इतिवृत्त
(Case History Form)

नाम (Name) उम्र (Age) यौन (Sex)
पिता का नाम (Father's name)
पता (Address)

मुख्य शिकायत (Main complaint) कब से (During)

विभेदक-निदान (Differential diagnosis)

वर्तमान रोग का इतिहास (History of present illness)

भूतकाल में हुए रोगों का ब्योरा (Details of past illnesses) (विशेषरूप से संक्रामक ज्वर, छोटी या बड़ी माता, पाषाणगर्दभ (Mumps) अतिसार आदि)।

पारिवारिक इतिवृत्त (Family history)

बालक का वैयक्तिक इतिवृत्त (Child's personal history)

(१) जन्म (Birth)

(क) गर्भावस्था में माता का स्वास्थ्य (Health of mother during antenatal period), उस अवधि में हुए रोग, उसके द्वारा ली गयी औषधियाँ, मादक द्रव्य आदि।

(ख) प्रसव (Natal)—प्रसव की विधि, घर में या अस्पताल में।

(ग) नवजात अवस्था (Period of neonate)

जन्म-रुदन (Birth cry)

श्वासावरोध (Obstruction of breath); यदि किसी पुनरुज्जीवक विधि (Resuscitative procedure) का सहारा लिया गया हो तो उसका ब्योरा

कामला (Jaundice)

आक्षेप, दौरे (Convulsions)

(२) विकास के स्तरों का पार करना (Milestones of Development)—विशेषकर यदि बालक की अवस्था दो वर्ष से कम है या वह मानसिक रूप से पिछड़ा हुआ (Mentally retarded) है।

(३) प्रतिरक्षीकरण (Immunizations)

चेचक (Smallpox) डी.पी.टी. १ (DPT†) तिथियाँ (Date)

,, २

ओ. पी. वी. ३ (OPV‡)

बी.सी.जी. (B.C.G.)

खसरा (Measles) अनुवर्धक–१ (Booster–1)

अनुवर्धक–२ (Booster–2)

अन्य (Others)

---

† D. P. T. (Diphtheria-pertussis-tetanus)

‡ O. P. V. (Oral polio vaccine)

(४) आहारीय इतिवृत्त (Dietary history)

स्तनपान कब तक (Breast feeding upto), कब छुड़ाया गया (When weaned)

पूरक खाद्य कब से देना शुरू किया गया (Supplementary food started at)

यदि कृत्रिम दूध दिया गया है तो—कौन-सा दूध (Type of milk)

कितना पानी मिलाकर (Dilution)

कितनी चीनी डालकर (Amount of sugar)

हर बार में कितना और दिन में कितनी बार (Quantity of each feed and frequency)

पिलाने का ढंग (Mode of feeding)—बोतल से (Bottle)

अन्य विधि से (Otherwise)

(५) सामाजिक एवं शैक्षिक इतिवृत्त (Social & educational history)

(क) योग्यता एवं अभिरुचि (Aptitude and interests)

(ख) शैक्षिक उपलब्धियाँ (Educational achievements)

(ग) सहपाठियों के साथ अभियोजन (Adjustment with class-mates)

(घ) शिक्षकों के साथ अभियोजन (Adjustment with teachers)

(च) शैया-मूत्र (Eneuresis)

(छ) संवेगात्मक गड़बड़ी–क्रोधावेश (Emotional disturbance–Temper tantrums)

(६) सामाजिक-आर्थिक इतिवृत्त (Social & economic history)

(क) अभिभावकों की आय (Income of the parents)

(ख) शिक्षा (Education)

(ग) रहन-सहन (Living conditions)

(घ) सामाजिक प्रतिष्ठा (Social status)

नैदानिक-परीक्षण
(Clinical Examinations)

(७) शारीरिक परीक्षण (Physical examination)

सामान्य परीक्षण (General examination)   सामान्य आकृति (General appearance)

भार (Weight)
ऊँचाई (Height)
सिर का घेरा (Head circumference)
छाती का घेरा (Chest circumference)
नाड़ी की गति (Pulse rate)
तापक्रम (Temperature)
श्वसन (Respiration)
रक्तचाप (Blood pressure)
आँखें (Eyes)
नाक (Nose)
कान (Ears)
गला (Throat)
पाण्डुता (Pallor)
श्यावता (Cyanosis)
त्वचा (Skin)
वाल (Hairs)
नख (Nails)
दन्तोद्भवन (Teething)
त्वक्-लसवाहिका (Lymphadenopathy)
शोष की संभावना (Evidence of rickets)
कूल्हों का अपावर्तन (Hip abduction)
जन्मजात विकृति–असामान्यता (Congenital abnormalities)

जठरान्त्रिय संस्थान (Gastrointestinal system)

आकृति (Shape)
तनाव (Distension)
श्वसन के साथ उतार-चढ़ाव (Movement with respiration)
नाभि (Umbilicus)
हर्निया के छिद्र (Hernial orifices)
वाह्य जननेन्द्रिय-अण्ड-ग्रन्थियाँ, शिश्न (External genetalia–testees & penis)
गुदद्वार परीक्षण (Rectal examination)
शिराओं का उभार (Prominent veins)
यकृत्, तिल्ली, गुर्दे (Liver, spleen and kidneys)
कोई अन्य पिण्ड (Any other mass)
जठरस्थ तरल की गतियाँ (Fluid movements)

हृद्-वाहिका-संस्थान (Cardio-vascular system)

धरातलीय धमनियों के स्पन्दन और उनका स्वरूप (Pulse in all superficial arteries and their characteristics)
असामान्य स्पन्दन (Abnormal pulsation)
हृदयावेग (Cardiac Impulse)
विभिन्न क्षेत्रों में धड़कनों की ध्वनि (Heart sound in different areas)
किसी भी प्रकार का मरमर शब्द—स्वरूप, होने का समय, अवधि, श्वसन

से सम्वन्ध (Murmur if any—character, timing duration and relation to respiration)
प्राक्-हृद्-घर्षण (Pericardial rub)

श्वसन-संस्थान (Respiratory system)
श्वसन की गति एवं स्वरूप (Rate and characters of respiration)
छाती की आकृति (Shape of chest)
प्रतिगमन या आकुंचन (Retraction) अवपर्शुका (Sub-costal)
अन्तःपर्शुका (Inter-costal)
नासापक्षक तथा श्वसन में सहायक अन्य पेशियाँ (Anaenasi and other necessary muscles of respiration)
गतियाँ (Movements)
श्वास-प्रणाल की स्थितियाँ (Trachea position)
परिताड़न—हृदय की मन्दता (Cardiac dullness)
यकृत् की मन्दता (Liver dullness)
फुप्फुस-क्षेत्र (Lung fields)
श्वसन-शब्द (Breath sounds)

केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान (Central Nervous System)
उच्चस्तरीय कार्य (बौद्धिक एवं संवेगात्मक अवस्थाएँ) (Higher functions)
वाणी (Speech)
कपालीय तन्त्रिकाएँ (Cranial nerves)
बढ़ते तनाव के लक्षण (Signs of increased tensions)
मस्तिष्कावरणीय क्षोभ के चिह्न (Signs of meningial irritation)
चाल (Gait)
वक्ष (Thorax)
हाथ-पैर—क्रियावाही गतियाँ (Motor functions)
तान (Tone)
शक्ति (Power)
असामान्य गतियाँ (Abnormal movements)
समायोजन (Coordination)

संज्ञावाही-संस्थान (Sensory system)
स्पर्श (Touch)

वेदना (Pain)
ताप : उष्ण-शीत (Sensation of heat and cold)
सामूहिक संवेदना एवं कम्पन (Joint sensation and vibrations)
प्रतिवर्त : गंभीर तथा उपरिस्थ (Reflexes—deep and superficial)
अनुमस्तिष्कीय चिह्न (Cerebellar signs)
त्वचा (Skin)
वर्ण (Colour)
आभा (Brightness)
शुष्कता-आर्द्रता
असामान्य चिह्न, चकत्ते आदि (Abnormal signs, rashes if any)
मृदु-दारुण (Soft-hard)

पेशी-अस्थि-संस्थान (Musculo-skeletal system)
कोई भी असामान्यता (Abnormality if any)

अध्याय २२

काश्यपसंहिता का वेदनाध्याय

चिरकाल से वालरोगों का निदान अपने आप में एक कठिन समस्या रही है। प्रौढ़ों के समान वालक अपना कष्ट कहकर वतला नहीं सकते। साथ ही अपरिचितों के प्रति वाल-सुलभ भय एवं आशंका के कारण सरलता से अपने अंग-प्रत्यंगों का परीक्षण (Clinical examination) कराने के लिए तैयार नहीं होते। उनके रोगों के लक्षण पूर्णतः व्यक्त भी नहीं होते। प्रौढ़ों के समान उनके रोगों के पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति का स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए वृद्धजीवक ने इस सम्वन्ध में काश्यप से जिज्ञासा की थी—

बालकानामवचसां विविधा देहवेदनाः
प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जायीयाल्लक्षणार्थतः ॥

—काश्यप-सूत्रस्थान २५।४

'मुख से न वोल सकने वाले वालकों के शरीर में उत्पन्न वेदनाओं को वैद्य लक्षणों से किस प्रकार जानें।

वृद्धजीवक की इस शंका का समाधान करते हुए काश्यप ने उन्हें वालकों में व्यक्त लक्षणों और चेष्टाओं द्वारा ही उनके रोगों का निदान करने की सलाह दी थी।

पीड्यमानस्य रूपाणि ज्वरच्छर्द्यतिसारिषु।
वैद्यो दृष्ट्वैव जानीयात् कृच्छ्रं सर्वं न सिध्यति। —वही, २५।५०

'वालक के ज्वर, छर्दि, अतिसार आदि रोगों में पीड़ा देनेवाले लक्षणों को वैद्य देखकर ही तुरन्त जान ले, चूंकि सम्पूर्ण लक्षण कृच्छ्र होने के कारण सर्वदा सिद्ध नहीं होते, वे अपने सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं होते।'

आगे उन्होंने वालकों में उत्पन्न होनेवाले विशेष रोगों के प्रमुख लक्षणों का वर्णन किया है। पाठकों की जानकारी के लिए आगे पृष्ठों में काश्यप द्वारा वर्णित वालकों की शारीरिक वेदनाओं का उन्हीं के शब्दों में वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। सुविधा के लिए उन्हें अकारादि क्रम में व्यवस्थित किया गया है।

अतिसार

(Diarrhoea)

देहवैवर्ण्यमरतिर्मुखग्लानिरनिद्रता ।
वातकर्मनिवृत्तिश्चेत्यतीसाराग्रवेदनाः ॥ —वही, २५।१४

शरीर का विवर्ण हो जाना—उसकी स्वाभाविक आभा का नष्ट हो जाना, किसी काम में मन न लगना, अरुचि, मुखग्लानि, अनिद्रा तथा वायु का अनुलोमन न होना—ये अतिसार के लक्षण हैं ।

अधिजिह्विका

लालास्रावोऽरुचिर्ग्लानिः कपोले श्वयथुर्व्यथा ।
मुखस्य विवृतत्वं च जानीयादधिजिह्विकाम् ॥ —वही, २५।१०

मुँह से लार बहना, अरुचि, ग्लानि, कपोलों पर शोथ तथा पीड़ा, मुँह का प्रायः खुला रहना—ये अधिजिह्विका के लक्षण हैं ।

अपस्मार

(Epilepsy)

अकस्मादट्टहसनमपस्माराय कल्पते । —वही, २५।२०

अकस्मात् जोर से अट्टहास करना—ठठाकर हँसना—इससे अपस्मार का अनुमान लगाया जा सकता है ।

अर्श

(Piles)

बद्धपक्वपुरीषत्वं सरक्तं वा कृशात्मनः ।
गुदनिष्पीडनं कण्डूं तोदं चार्शांसि लक्षयेत् ॥ —वही, २५।२३

मल का बँधा हुआ, कड़ा तथा पक्व होना, साथ में रक्त का होना, गुदा स्थान में वेदना, खुजली, तोद (चुभने-गड़ने के समान पीड़ा) तथा शारीरिक एवं मानसिक दौर्बल्य—ये अर्श के लक्षण हैं ।

अलसक

(Intestinal Obsbruction)

शिरो न धारयति यो भिद्यते जृम्भते मुहुः ।
स्तनं पिबति नात्यर्थं ग्रथितं छर्दयत्यपि ॥
विषादाध्मानारुचिभिर्विद्यादलसकं शिशोः ।
विसूचिकालसकयोर्दृष्टज्ञाने लक्षणौषधे ॥

—वही, २५।२७-२८

सिर को एक स्थिति में स्थिर न रखना—हिलाना-डुलाना, भेदने के समान पीड़ा, वार-वार जम्भाई आना, ठीक से स्तनपान न करना, गाँठों से युक्त वमन, विषाद, आध्मान तथा अरुचि—ये अलसक के लक्षण हैं। विसूचिका तथा अलसक रोगों के लक्षण एवं औषधि के भेद का ज्ञान कठिनता से होता है। इन दोनों में भेद करना कठिन होता है।

विसूचिका और अलसक दोनों आमदोष हैं। विसूचिका में आमदोष ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से कै और दस्त के रूप में प्रवृत्त होते हैं तथा अंगों में सूई चुभने-जैसी पीड़ा होती है। अलसक में ठीक इसके विपरीत खाया हुआ अन्नपान अन्दर ही रुककर आलसी होने के कारण वाहर नहीं निकलता। कै, दस्त को छोड़कर अलसक के अन्य सभी लक्षण प्रायः विसूचिका के समान ही होते हैं।

अश्मरी
(Stones)

सशर्करातिमूत्रत्वं मूत्रकाले च वेदना।
प्रततं रोदिति क्षामस्तं ब्रूयादश्मरीगदम्॥ —वही, २५।२४

मूत्र का शर्करायुक्त तथा अधिक होना, मूत्रत्याग के समय वेदना, बच्चे का वार-वार तथा लगातार रोना एवं अत्यधिक दुर्बलता—ये अश्मरी रोग के लक्षण हैं।

आनाह
(Flatulence)

विशालस्तब्धनयनः पर्वभेदारतिक्लमी।
संरुद्धमूत्रानिलविट् शिशुरानाहवेदनी॥ —वही, २५।१९

आँखों का फैला हुआ एवं स्तब्ध होना, जोड़ों में दर्द, अरति, क्लम (अकारण थकावट), मल-मूत्र तथा वायु का अवरोध—ये आनाह के लक्षण हैं।

आमदोष

स्तैमित्यमरुचिर्निद्रा गात्रपाण्डुकताऽरतिः।
रमणाशनशय्यादीन् धात्रीं च द्वेष्टि नित्यशः॥
अस्नातः स्नातरूपश्च स्नातश्चास्नातदर्शनः।
आमस्यैतानि रूपाणि विद्याद्वैद्यो भविष्यतः॥—वही, २५।३२-३३

स्तिमितता (शरीर का चिपचिपा-सा होना), अरुचि, निद्रा, पाण्डु, अरति, भोजन, निद्रा तथा धात्री के प्रति द्वेष, बिना स्नान किये स्नान किये

हुए के समान और स्नान कर लेने के बाद बिना स्नान किये हुए के समान लगना—ये आमदोष के लक्षण हैं।

उदरशूल
(Colic)

स्तनं व्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते।
उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः॥ —वही, २५।१५

स्तनपान का त्याग, रोना, अधिकतर चित लेटना, उदर की स्तब्धता, सर्दी लगना तथा चेहरे पर पसीना आना—ये उदरशूल के सूचक लक्षण हैं।

उन्माद
(Insanity)

प्रलापारतिवैचित्त्यैरुन्मादं चोपलक्षयेत्। —वही, २५।२०

प्रलाप, अरति तथा चित्तविभ्रम—ये उन्माद के सूचक लक्षण हैं।

उरोघात
(Pleurisy)

मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः।
स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते॥
स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते।
उरोघाते तथैव स्यान्निष्टनत्युरसाऽधिकम्॥ —वही, २५।३७-३८

स्तनपान करते समय बार-बार मुंह से साँस लेना, नासिका से स्राव, माथा गरम, छींकना, खाँसना, बार-बार स्रोतों का स्पर्श करना तथा गर्म साँसे छोड़ना—ये उरोघात के लक्षण हैं।

कण्डु
(Pruritus or Scabies)

घर्षत्यङ्गानि शयने रोदितीच्छति मर्दनम्।
शुष्ककण्ड्वर्दितं विद्यात्ततश्चार्द्रा प्रवर्तते॥
सुखायते मृद्यमानं मृद्यमानं च शूयते।
शूनं स्रवति सस्योढामार्द्रायां शूलदाहवत्॥—वही, २५।३०-३१

खुजली दो प्रकार की होती है—सूखी तथा गीली या तर। सूखी खुजली के लक्षण हैं—अंगों को बिस्तर से रगड़ना तथा रोना, शरीर को सहलाने या खुजलाने को कहना। सूखी के बाद ही प्रायः गीली खुजली होती है। इसके लक्षण हैं—खुजलाने में अच्छा लगना पर खुजलाने से खुजली का और बढ़ना तथा पीड़ित स्थानों से स्राव होना एवं दाह तथा वेदना होना।

कण्ठवेदना

(Pain in Throat)

पीतमुद्गिरति स्तन्यं विष्टम्भिश्लेष्मसेवनम् ।
ईषज्ज्वरोऽरुचिर्ग्लानिः कण्ठवेदनयार्दिते ॥ —वही, २५।९

पिये हुए दूध को उगल देना, श्लेष्मवर्धक पदार्थों के सेवन से विष्टम्भ, हलका ज्वर, अरुचि तथा ग्लानि—ये कण्ठवेदना के लक्षण हैं।

कण्ठशोथ

(Inflammation in Throat ;

कण्डू(ण्ठ)के श्वयथुः कण्ठे ज्वरारुचिशिरोरुजः ।—वही, २५।११

गले में शोथ, ज्वर, अरुचि तथा सिर में दर्द—ये कण्ठशोथ के लक्षण हैं।

कर्णवेदना

(Pain in Ears)

कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते भृशम् ।
अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात् कर्णवेदनाम् ॥ —वही, २५।७

बालक का दोनों हाथों से कानों का स्पर्श करना, सिर हिलाना, ग्लानि, अरुचि तथा अनिद्रा—ये कर्णवेदना के सूचक लक्षण हैं।

कामला

(Jaundice)

पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः ।
उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः ॥ —वही, २५।३५

नेत्र, नख, मुख, मल तथा मूत्र का पीला होना, जठराग्नि का मन्द पड़ जाना तथा उत्साह में अत्यधिक कमी—ये कामला के लक्षण हैं।

गलग्रह

(Throttling/Congestion in Throat)

ज्वरारुचिमुखस्रावा निष्टनेच्च गलग्रहे । —वही, २५।११

ज्वर, अरुचि, मुख से लालास्राव तथा श्वास लेने में कष्ट—ये गलग्रह के लक्षण हैं।

ग्रहरोग

(Diseases Caused by Supuer Natural Forces of Spirits)

यदा तु ललिता धात्री सुखिनी सर्वभोगिनी ।
पश्यत्यभीक्ष्णं दुःस्वप्नं स्वयं क्षीरं प्रवर्तते ॥
बालो विस्मरते चास्याः सहसाऽङ्कात् पतत्यपि ।
असज्जनेन संसर्गं याति सम्भोजनं तथा ॥
मृतापत्यावकीर्णाभिः परवृद्धयसहिष्णुभिः ।
अमङ्गलानि घोराणि पश्यत्याचरतेऽपि च ॥

सेवते विपरीतानि मृत्युं चोदयते शिशोः ।
सुप्ते शिशौ निलीयन्ते पक्षिणो दारुणोदयाः ।।
विडालो लङ्घयत्येनं परधूमं च जिघ्रति ।
परावतारणबलिं प्रेक्षते लङ्घयत्यपि ।।
दुर्गन्धदेहवक्त्रत्वं नासिकाग्रे मलोद्भवः ।
अहृद्यरक्तमाल्यानां मातापुत्रनिषेवणम् ।।
भस्माङ्गारतुषादीनामधिरोहणसेवनम् ।
रोदित्यकस्मात्त्रसति छायाशीलविपर्ययः ।।
अल्पाशितोऽतिविण्मूत्रस्त्वविण्मूत्रो विपर्यये ।
भविष्यतां निमित्तानि ग्रहाणां वेदनाश्च ताः ।।
न यः शिरो धारयति क्षिपन्त्यङ्गानि दुर्बलः ।
श्वासाध्मानपरीताभ्यामन्तवच्चोपलक्ष्यते ।।
विनोद्यमानो बहुधा विनोदं नाभिनन्दति ।
तृट्प्रमीलकनिद्रार्तः कूजत्यपि कपोतवत् ।।

—वही, २५।४०–४९

लालन-पालन करनेवाली, सुखी तथा सभी वस्तुओं का उपभोग करने वाली धात्री का लगातार बुरे सपने देखना, उसके स्तनों से स्वयमेव दूध का प्रवृत्त होना, उसे बालक का स्मरण न रहना, बालक का सहसा अनायास गोद से गिर जाना, बालक का दुष्ट पुरुषों के साथ संसर्ग एवं भोजन करना, बालक के सोये रहने पर भयंकर आकृति वाले पक्षियों का वहाँ घोसला बनाना, बिलार का उसे लांघ जाना, परधूम को सूँघना, दूसरे के सिर पर से उतार कर रखी गयी बलि को चाटना तथा उसे लांघना, बालक के शरीर तथा मुख से दुर्गन्ध आना, नासिका के अग्रभाग में मलोत्पत्ति, माता और पुत्र दोनों का अशुभ एवं रक्तवर्ण की मालाओं को धारण करना, बालक का राख, अंगारों तथा तुष के ढेर पर बैठना, सहसा रोने लगना, अत्यधिक डरना, उसकी शारीरिक कान्ति तथा स्वभाव में परिवर्तन होना, कम खाना, मलमूत्र का कभी कम आना तथा कभी अधिक आना, सिर को स्थिर न रखना, अंगों को इधर-उधर फेंकना, दुबला एवं कमजोर होना, श्वास एवं आध्मान रोग से प्रतीत होना कि अब वह नहीं बचेगा, बालक का हंसी-विनोद को पसन्द न करना, तृषा, निद्रा तथा तन्द्रा से पीड़ित होना एवं कबूतर की तरह शब्द करना—ये सब ग्रहरोगों के आरम्भ होने के लक्षण हैं। इन लक्षणों को देखकर सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि बालक को संभवतः कोई ग्रहरोग होने वाला है।

चक्षु रोग

(Diseases of the Eye)

दृष्टिव्याकुलता तोदशोथशूलाश्रुरक्तता: ।
सुप्तस्य चोपलिप्यन्ते चक्षुषी चक्षुरामये ॥ —वही, २५।२९

दृष्टि की व्याकुलता, आँखों में तोद (चुभन), शोथ, शूल, पानी बहना, लालिमा तथा सोने पर दोनों पलकों का परस्पर चिपक जाना—ये नेत्ररोग के लक्षण हैं ।

छर्दि

(Vomitting)

अनिमित्तमभीक्ष्णं च यस्योद्गार: प्रवर्तते ।
निद्राजृम्भापरीतस्य छर्दिस्तस्योपजायते ॥ —वही, २५।१६

अकारण बार-बार डकार आना, निद्रा तथा जम्भाई—ये वमन के पूर्वरूप हैं । इनको देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि बालक को कै होने वाली है ।

ज्वर

(Fever)

मुहुर्नमयतेऽङ्गानि जृम्भते कासते मुहुः ।
धात्रीमालीयतेऽकस्मात् स्तन्यं नात्यभिनन्दति ॥
प्रस्रावोष्णत्ववैवर्ण्ये ललाटस्यातितप्तता ।
अरुचि: पादयो: शैत्यं ज्वरे स्युः पूर्ववेदना: ॥—वही, २५।१२-१३

अंगों को बार-बार सिकोड़ना-तोड़ना, जम्भाई लेना, खाँसना, सहसा धात्री से चिपक जाना, स्तनपान न करना, मुख से लार बहना, शरीर का उष्ण तथा विवर्ण होना, माथे का गरम तथा पैर का ठण्डा होना एवं अरुचि—इन लक्षणों को देखकर सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि बच्चे को ज्वर आने वाला है ।

जन्तु-दंश

(Insect Bite)

स्वस्थवृत्तपरो बालो न शेते तु यदा निशि ।
रक्तबिन्दुचिताङ्गश्च विद्यात्तं जन्तुकार्दितम् ॥ —वही, २५।३९

अच्छा-भला स्वस्थ बच्चा जब रात को न सोये तथा उसके किसी अंग पर लाल-लाल चकत्ते या दाने दिखलाई दें तो समझना चाहिए कि उसे किसी कीड़े ने काट लिया है ।

तृष्णा

(Thirst)

स्तनं पिबति चात्यर्थं न च तृप्यति रोदिति ।
शुष्कौष्ठतालुस्तोयेप्सुर्दुर्बलस्तृष्णयार्दित: ॥ —वही, २५।१८

अत्यधिक स्तनपान करने पर भी जो बालक तृप्त न हो, बराबर रोता रहे, जिसके ओठ और तालु सूख गये हों तथा जो बराबर जल पीने की इच्छा कर रहा हो—उसे तृष्णारोग से पीड़ित समझना चाहिए।

प्रमेह

गौरवं बद्धता जाड्यमकस्मान्मूत्रनिर्गमः।
प्रमेहे मक्षिकाक्रान्तं मूत्रं श्वेतं घनं तथा ॥ —वही, २५।२२

आयुर्वेद में प्रमेह का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह २० प्रकार का होता है। मूत्र की मात्रा तथा बारम्बारता का बढ़ना, उसके वर्ण, घनत्व तथा रचना आदि का बदल जाना सब प्रमेह के अन्तर्गत आ जाते हैं। बालकों में भी इस प्रकार के रोग हो सकते हैं। बालकों में प्रमेह के सूचक निम्न लक्षण मिल सकते हैं—शरीर का भारी, जकड़ा हुआ-सा तथा जड़ होना, अकस्मात् मूत्र निकल जाना, मूत्र का रंग श्वेत तथा घन होना, उस पर मक्खियों का बैठना आदि।

पाण्डु
(Anaemia)

नाभ्यां समन्ततः शोथः श्वेताक्षिनखवक्त्रता।
पाण्डुरोगेऽग्निसादश्च श्वयथुश्चाक्षिकूटयोः ॥ —वही, २५।३४

नाभि के चारों ओर शोथ, आँख, नाखून तथा चेहरे का सफेद हो जाना, अग्नि का मन्द, आँखों के चारों ओर शोथ तथा कमजोरी एवं निरुत्साह—ये पाण्डुरोग के सूचक लक्षण हैं।

पीनस
(Coryza)

मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः।
स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते ॥
स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते।

—वही, २५।३७-३८

स्तनपान करते समय बार-बार मुँह से साँस लेना, नाक से स्राव होना, माथे का गर्म होना, छींकना, खाँसना—ये पीनस या प्रतिश्याय के लक्षण हैं।

मदात्यय
(Alcoholism)

मूर्च्छाप्रजागरच्छर्दिधात्रीद्वेषारतिभ्रमैः।
वित्रासोद्वेगतृष्णाभिर्विद्याद्बाले मदात्ययम् ॥

—वही, २५।३६

मदात्यय वस्तुतः मद की अति से उत्पन्न होने वाला रोग है। मद का

प्रभाव बालक में माता या धात्री तथा औषधियों के माध्यम से पहुँच सकता है। बालक में मदात्यय के लक्षण हैं—मूर्च्छा, अनिद्रा, वमन, स्तनपान में अनिच्छा या अरुचि, अरति, भ्रम, वित्रास (डरना), वेगों की प्रबलता तथा प्यास।

मुखरोग
(Diseases of the Mouth)

लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्यथाः।
पीतमुद्गिरति क्षीरं नासाश्वासी मुखामये ॥—वही, २५।१८

मुखरोग से पीड़ित बालक के मुख से अत्यधिक लालास्राव होता है, स्तनपान के प्रति अरुचि हो जाती है, उसे ग्लानि तथा व्यथा-पीड़ा होती है तथा वह पिये हुये दूध को उगल देता है। मात्र नाक से साँस लेता है।

मूत्रकृच्छ्र
(Dysuria : Obstruction of, or Scanty Urine, Painful Urination)

रोमहर्षोऽङ्गहर्षश्च मूत्रकाले च वेदना।
मूत्रकृच्छ्रे दशत्योष्ठौ बस्ति स्पृशति पाणिना ॥ वही, २५।२१

रोमहर्ष (रोंगटों का खड़ा हो जाना), अंगहर्ष (अंगों में कँपकँपी), मूत्रत्याग के समय वेदना, ओठों को दाँतों से दबाना तथा हाथों से वस्ति-प्रदेश का बार-बार स्पर्श करना—ये लक्षण मूत्रकृच्छ्र के सूचक हैं।

विसर्प (Erythema)

रक्तमण्डलकोत्पत्तिस्तृष्णा दाहो ज्वरोऽरतिः।
स्वादुशीतोपशायित्वं विसर्पस्याग्रवेदनाः ॥—वही, २५।२५

शरीर पर लाल-लाल चकत्ते पड़ना, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति तथा मधुर एवं शीत द्रव्यों के सेवन की इच्छा—ये विसर्प रोग के सूचक हैं।

विसूचिका (Cholera)

दह्यन्तेऽङ्गानि सूच्यन्ते भज्यन्ते निष्टनत्यति।
विसूचिकायां बालानां हृदि शूलं च वर्धते ॥ —वही, ५।२६

कै-दस्त, अंगों में दाह, ऐंठन, सूई चुभने जैसी पीड़ा, साँस लेने में कष्ट तथा हृदय में शूल। अलसक रोग का विवरण भी देखें।

शिरःशूल (Headache)

भृशं शिरः स्पन्दयति निमीलयति चक्षुषी।
अवकूजत्यरतिमानस्वप्नश्च शिरोरुजि ॥ —वही, २५।१६

शिरःशूल से पीड़ित बालक शिर को बहुत हिलाता है, आँखें बन्द कर लेता है और रात को सोते-सोते चिल्लाता है। उसे आहार में अरुचि हो जाती है तथा नींद नहीं आती।

श्वास (Asthma)

निष्टनत्युरसाऽत्युष्णं श्वासस्तस्योपजायते । —वही, २५।१७

श्वास रोग से पीड़ित बालक को श्वास लेने में कष्ट होता है और वह अत्यन्त उष्ण साँसे निकालता है ।

हिक्का (Hiccup)

अकस्मान्मारुतोद्गारः कृशे हिक्का प्रवर्तते ।—वही, २५।१७

दुबले-पतले बालक में अकस्मात् वायु की डकार आना हिक्का रोग का सूचक है ।

उक्त विवरण के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो बालक प्रसन्नचित्त दिखलायी पड़ता है, स्तनपान या भोजन में रुचि रखता है, जिसमें मल-मूत्र-विसर्जन तथा निद्रा आदि क्रियाएँ यथोचित रूप में घटित होती हैं, जिसके शरीर की आभा ठीक है, भार यथोचित रूप में बढ़ता जा रहा है तो उसे शरीर तथा मन दोनों से स्वस्थ समझना चाहिए । स्तनपान में अरुचि, अनिद्रा तथा चिड़चिड़ापन ये प्रायः सभी रोगी बालकों में सामान्य लक्षण के रूप में पाये जाते हैं ।

सुश्रुत ने भी बालरोग-परीक्षा पर अत्यन्त संक्षेप में प्रकाश डालते हुए कहा है —

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ।।
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत् ।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ।।
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः ।
कोष्ठेदोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ।।

—सुश्रुत-शारीर, १०।३९-४१

बालक के अंग या प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उसे वह बार-बार स्पर्श करता है तथा दूसरों द्वारा स्पर्श किये जाने पर रोता है ।

सिर में पीड़ा होने पर सिर को स्थिर नहीं रख सकता । आँखें बन्द कर लेता है ।

वस्ति में कष्ट होने पर पेशाब रुक जाता है, दर्द होता है, प्यास लगती है और मूर्च्छा-सी आने लगती है ।

कोष्ठगत दोषों में मल-मूत्र का रुकना, विवर्ण होना, जी मितलाना, कै होना, पेट फूलना, पेट में गुड़गुड़ाहट का होना आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

अधिक रोना रोग के बढ़े होने और सम्पूर्ण शरीर के सदोष होने का सूचक है ।

अध्याय २३

बालकों को दी जाने वाली औषधि का स्वरूप, मात्रा एवं प्रदान-पद्धति

बालकों को दी जाने वाली औषधि का स्वरूप
(Nature & Form of Children's Medicine)

१. बालकों को दी जाने वाली औषधि मृदु एवं तीक्ष्णवेगरहित होनी चाहिए।

२. वह सुस्वादु होनी चाहिए।

३. द्रव या लेह के रूप में होनी चाहिए।

४. चूर्ण या कल्क आदि देना ही पड़े तो घी या/तथा मधु में मिलाकर चटाना चाहिए।

५. गोली या वटिका कदापि न दें। जो दवा गोली या वटिका के रूप में हो, उसे चूर्णित कर द्रव पदार्थ में मिलाकर ही देना चाहिए।

६. बच्चों को अफीम, अफीम अथवा विषमिश्रित दवायें कदापि न दें।

औषधि की मात्रा
(Quantity or Doze)

आयुर्वेद-संहिताओं में योगों की जो भी मात्राएँ दी गईं हैं, वे प्रायः वयस्कों के लिए दी गयी हैं। बच्चों को उन योगों की कितनी मात्रा दी जाय, यह प्रश्न चिकित्सकों के सामने प्रायः उठ खड़ा होता है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत का निम्न सामान्य सिद्धान्त ध्यान देने योग्य है—

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोऽवस्थासूत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषाः भवन्ति, ऋते च परिहाणेः। तत्राद्यापेक्षया प्रतिकुर्वीत। —सुश्रुत-सूत्र० ३५।३०

हीन या वृद्ध अवस्था को छोड़कर वर्धमान वयोवस्था में औषधि की मात्रा भी बढ़ती जाती है। वृद्धावस्था में बाल्यावस्था के समान ही रोगों का प्रतीकार करना चाहिए।

प्रस्तुत संदर्भ में वर्धमान वयोवस्था से सुश्रुत का तात्पर्य मुख्य रूप से बाल्यावस्था (जन्म से १६ वर्ष तक) तथा मध्यकालीन प्रारम्भिक वृद्धि की अवस्था (१६ वर्ष से २० वर्ष तक) से है। इन अवस्थाओं में जैसे-जैसे बालक की वय बढ़ती जाती है, वैसे ही वयानुरूप औषधि की मात्रा भी बढ़ाते जाना चाहिए। बीस वर्ष का होने पर बालक शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही

दृष्टियों से पूर्णतः विकसित हो जाता है। अब वह प्रौढ़ की श्रेणी में आ जाता है। यह अवस्था लगभग ७० वर्ष की वय तक बनी रहती है। इसलिए २० वर्ष से ७० वर्ष की वय तक प्रौढ़ की मात्रा दी जाती है। उसके बाद वृद्धावस्था के आगमन के साथ ही शनैः-शनैः शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों में ह्रास होने लगता है। शरीर का बलाबल, अग्निबल घटने लगता है। अतएव अब वह औषधि की प्रौढ़ वाली मात्रा को नहीं पचा सकता। इसलिए सुश्रुत ने वृद्धावस्था के बाद जैसे-जैसे प्राणी का बलाबल क्षीण होता जाता है, औषधि की मात्रा क्रमानुसार घटाने की बात कही है। जिस प्रकार वर्धमान बाल्यावस्था में धीरे-धीरे औषधि की मात्रा बढ़ायी गयी थी, उसी प्रकार वृद्धावस्था में धीरे-धीरे औषधि की मात्रा घटायी जाती है। यह वयानुरूप मात्रा के घटाने-बढ़ाने का सामान्य सिद्धान्त है।

औषधि की मात्रा के सम्बन्ध में निर्देश करते हुए उन्होंने पुनः कहा है—

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसम्मितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसम्मितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसम्मितामन्नादायेति।

—सु० शा० १०।३८

यहाँ स्पष्ट ही एक महीने से ऊपर की अवस्था वाले बालक को ही औषधि देने का निर्देश है। क्षीरप अवस्था में अर्थात् एक वर्ष तक के बालक को एक चुटकी, क्षीरान्नाद को जंगली बेर की गुठली के बराबर और अन्नाद को बेर के बराबर औषधि की मात्रा देनी चाहिए।

शार्ङ्गधर-संहिता में बालकों को दी जानेवाली औषधि की मात्रा का निर्देश करते हुए कहा गया है—

बालस्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका।
अवलेहीकृतैकैव क्षीरक्षौद्रसिताघृतैः॥
वर्धयेत्तावदेकैकां यावद्भवति वत्सरः।
माषैर्वृद्धिस्तदूर्ध्वं स्याद्यावत्षोडशवत्सरः॥
ततः स्थिरा भवेत्तावद्यावद्वर्षाणि सप्ततिः।
ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनैः शनैः॥
मात्रेयं कल्कचूर्णानां कषायाणां चतुर्गुणा। शार्ङ्गधर० ६।४८-५१

बालक को प्रथम मास में एक रत्ती दवा देनी चाहिए। उसके बाद जब तक बालक एक वर्ष का नहीं हो जाता, तब तक प्रति मास एक-एक रत्ती के हिसाब से औषधि की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए। बालक की वय जितने महीने की हो उसे औषधि की उतनी ही रत्ती की मात्रा देनी चाहिए। यह

औषधि उसे माँ के दूध, मधु, चीनी या घी में मिलाकर चटानी चाहिए। एक वर्ष के बालक को औषधि की एक माशे की मात्रा देनी चाहिए। उसके बाद १६ वर्ष की वय तक उत्तरोत्तर एक माशे प्रति वर्ष के हिसाब से औषधि की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए। इस हिसाब से १६ वर्ष के बालक की औषधि की मात्रा १६ माशे की हुई। फिर १६ वर्ष की वय से लेकर ७० वर्ष की वय तक यही मात्रा स्थिर रहेगी। ७० वर्ष की वय के बाद औषधि की मात्रा प्रति वर्ष उत्तरोत्तर उसी प्रकार घटती जायेगी, जिस प्रकार बाल्यावस्था में बढ़ी थी। मात्रा का यह प्रमाण चूर्ण और कल्कों के लिए है। कषाय आदि की मात्रा को इसका चारगुना समझना चाहिए।

आज के युग में ये मात्राएँ स्पष्ट ही अधिक प्रतीत होती हैं। प्राचीन संहिताओं में जो भी मात्राएँ दी गयी हैं वे नूतन वनस्पति की और अनुपानयुक्त हैं। रोगी की अग्नि, बल, आयु, द्रव्य इत्यादि का विचार कर ही मात्रा का निर्धारण करना चाहिए।

शाङ्‌र्गधर के अनुसार हम औषधि की मात्रा का सूत्र निम्न प्रकार निर्धारित कर सकते हैं—

१६ वर्ष से ७० वर्ष तक		प्रौढ़ मात्रा या पूर्ण मात्रा
४ वर्ष के बालक के लिए	४/१६	१/४ मात्रा
८ वर्ष के बालक के लिए	८/१६	१/२ मात्रा
१२ वर्ष के बालक के लिए	१२/१६	३/४ मात्रा

आधुनिक एलोपैथिक चिकित्सा-विज्ञान में बालकों के लिए औषधि की मात्रा के निर्धारण के लिए पाँच प्रमुख नियम प्रचलित हैं—दो शिशुओं के लिए और तीन बालकों के लिए।

एलोपैथी में २ वर्ष से कम वय वाले बालक को शिशु माना जाता है। शिशुओं के लिए औषधि की मात्रा का निर्धारण उनके शारीरिक भार या वय को ध्यान में रखकर किया जाता है। क्लार्क (Clark) ने अपना नियम शिशु के भार को ध्यान में रखकर और फ्रेड (Fried) ने अपना नियम शिशु की अवस्था को ध्यान में रखकर बनाया है। ये दोनों सूत्र निम्नवत हैं—

क्लार्क का सूत्र (Clark's Rule)—

$$\text{शिशु की मात्रा} = \frac{\text{शिशु का भार (पौंड में)}}{\text{१५०}} \times \text{प्रौढ़ की मात्रा}$$

उदाहरण के लिए मान लें शिशु का भार २० पौंड और प्रौढ़ औषधि की मात्रा १½ ग्राम या १५०० मिलीग्राम है। अब इस सूत्र के हिसाब से शिशु की मात्रा होगी—

शिशु की मात्रा $\frac{२०}{१५०}$ × १५०० = २०० मिलीग्राम

फ्रेड का सूत्र (Fried's Rule)—

शिशु की मात्रा = $\frac{\text{शिशु की आयु (महीनों में)}}{१५०}$ × प्रौढ़ की मात्रा

मान लें किसी शिशु की वय १० महीने की और प्रौढ़ मात्रा १½ ग्राम या १५०० मिलीग्राम है, तो शिशु के लिए उस औषधि की मात्रा होगी—

शिशु की मात्रा = $\frac{१०}{१५०}$ × १५०० मिलीग्राम = १०० मिलीग्राम

एलोपैथी में २ वर्ष से १२ वर्ष तक की वय को बाल्यावस्था माना गया है। १२ वर्ष से ऊपर की वय वाले बालकों को प्रायः प्रौढ़ों के लिए निर्धारित मात्रा ही दी जाती है। बालकों के लिए औषधि की मात्रा के निर्धारण के निमित्त प्रचलित तीन प्रमुख सूत्र नीचे दिये जा रहे हैं—

यंग का सूत्र (Young's Rule)—

बालक की मात्रा = $\frac{\text{बालक की वय (वर्षों में)}}{\text{बालक की वय} + १२}$ × प्रौढ़ की मात्रा

उदाहरण के लिए यदि किसी बालक की वय ८ वर्ष है और औषधि की प्रौढ़-मात्रा २ ग्राम या २००० मिलीग्राम है, तो उस बालक के लिए उस औषधि की मात्रा होगी—

बालक की मात्रा = $\frac{८}{८ + १२}$ × २००० मि० ग्रा० = ८०० मि० ग्रा०

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि बालक की वय कुछ वर्ष और कुछ महीनों की हो। वहाँ काउलिंग का सूत्र काम में लाया जाता है।

काउलिंग का सूत्र (Cowling's Rule)—

बालक की मात्रा = $\frac{\text{अगली वर्षगाँठ पर बालक की वय}}{२४}$ × प्रौढ़ की मात्रा

मान लें किसी बालक की आयु ४ वर्ष ८ महीने की है और औषधि की प्रौढ़-मात्रा २ ग्राम या २००० मिलीग्राम है, तो इस बालक के लिए उस औषधि की क्या मात्रा होगी।

इस गणना के हिसाब से अगली वर्षगाँठ पर बालक की वय होगी पाँच वर्ष। अतः उसके लिए औषधि की निम्न मात्रा निर्धारित होगी—

बालक की मात्रा = $\frac{५}{२४}$ × २००० मि० ग्रा० = लगभग ४१७ मिग्रा०

डिलिंग का सूत्र (Diling's Rule)—

$$\text{बालक की मात्रा} = \frac{\text{बालक की वय}}{२०} \times \text{प्रौढ़ की मात्रा}$$

उदाहरण के लिए मान लें किसी बालक की वय ५ वर्ष और औषधि की प्रौढ़-मात्रा १ ग्राम या १००० मिलीग्राम है, तो उस बालक के लिए औषधि मात्रा होगी— $\frac{५}{२०} \times १००० = २५०$ मि० ग्रा०

डिलिंग का नियम शार्ङ्गधर के समान ही गणितीय श्रेणी का नियम होने के कारण सबसे अधिक सुविधाजनक है। इसमें और काउलिंग के नियम में मात्र इतना ही अन्दर है कि काउलिंग के नियम में जहाँ बालक की उम्र को २४ से भाग देना होता है, वहाँ इसमें २० से भाग देना होगा। मिट्रिक सिस्टम की भाँति गणना करने में भी इसमें सरलता होती है।

ये सभी नियम मात्र मार्ग-दर्शन के लिए हैं। रोग और रोगियों में अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। इसके लिए औषधि की मात्रा के निर्धारण में चिकित्सक का विवेक ही सबसे अधिक सहायक होता है। चिकित्सक को रोगी की वय, भार, सेक्स (स्त्री-पुरुष), बलाबल, अग्निबल, देशकाल तथा औषधि में प्रयुक्त द्रव्यों की प्रकृति पर विचार करते हुए बहुत ही सावधानी पूर्वक बालक के लिए औषधि की मात्रा का निर्धारण करना चाहिए।

सुविधा के लिए एलोपैथी में बालकों के लिए औषधि की मात्रा को ध्यान में रखते हुए अलग ही औषधियाँ तैयार की जाती हैं। आयुर्वेदिक कम्पनियाँ भी अब इस ओर ध्यान देने लगी हैं। इससे चिकित्सकों की परेशानी बहुत कुछ कम हो जाती है।

औषधि देने की विधि
(Methods or Techniques of Medication)

तेषु यथाऽभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा संयुक्तं विदध्यात्, धात्र्याश्च केवलं, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च पूर्ववत्, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः। —सु० शा० १०।३७

उक्त सूत्र में क्षीरप, क्षीरान्नाद तथा अन्नाद को अलग-अलग ढंग से औषधि देने का विधान किया गया है। क्षीरप तथा क्षीरान्नाद अवस्था में धात्री जो कुछ भी खाती-पीती है, बालक उसका प्रभाव स्तनपान के माध्यम से ग्रहण करता है। अतः बालक के रोगी होने की अवस्था में बालक और धात्री दोनों को औषधि देने का विधान किया गया है। अन्नाद अवस्था में मात्र बालक को ही औषधि देने का विधान है।

क्षीरप अवस्था में बालक को माता के दूध में या घी में मिलाकर औषधि देनी चाहिए। धात्री को उचित अनुपान या अनुपान के बिना भी दी जा सकती है। लेकिन यदि बालक अत्यधिक छोटा होने के कारण या अन्य किसी कारण से औषधि लेने में असमर्थ है या आनाकानी करता है, तो उसके लिए कहा गया है—

> येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः ।
> तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥ —सू० शा० १४।३९

जिन-जिन विकारों के जो-जो योग हैं, उन योगों के कल्क को स्तनों पर लगाकर बालक को पिलाना चाहिए। यदि बालक कल्क से लेपित स्तन का पान करने में आनाकानी करे तो स्तनों पर लगे कल्क को सूख जाने दें। सूखने के बाद कल्क को निकाल कर स्तनों को धो दें। तत्पश्चात् स्तनपान करायें।

क्षीरान्नाद अवस्था में बालक और धात्री दोनों को ही उचित एवं योग्य अनुपान के साथ औषधि देनी चाहिए।

अन्नाद अवस्था में मात्र बालक को ही कषाय आदि औषधि देनी चाहिए, धात्री को नहीं।

द्वितीय खण्ड

*

विकृति-विज्ञान

बालरोग : निदान, लक्षण एवं चिकित्सा

अध्याय २४

विकृति-विज्ञान

(एक सामान्य परिचय)

(Pathology : A General Introduction)

विकृति-विज्ञान रोग-विज्ञान का पर्यायवाची है। यह आयुर्विज्ञान या आयुर्वेद की वह शाखा है जो रोग या विकृति के कारण उत्पन्न होनेवाले शारीरिक परिवर्तनों का वैज्ञानिक अध्ययन करती है[1]।

बालविकृति-विज्ञान (Paediatric Pathology) विकृति-विज्ञान की वह शाखा है जो विशेष रूप से बालकों में बाल्यावस्था में उत्पन्न होनेवाले रोगों का अध्ययन करती है[2]।

'रोग' शब्द रुज् धातु से बना है। रुज् का अर्थ है पीड़ा या कष्ट। अतः जो पीड़ा पहुँचाये, कष्ट दे, वही रोग है। आयुर्वेद में प्राणी के मनोदैहिक-तन्त्र में दोष-वैषम्य के कारण उत्पन्न उस अवस्था को रोग कहा गया है, जिससे उसके शरीर या मन अथवा दोनों को पीड़ा हो।

रोग असंख्य हैं। उनमें से सभी का नामकरण सम्भव नहीं। परिवेशवत परिवर्तनों-प्रदूषणों के कारण नये-नये रोगों की भी उत्पत्ति होती रहती है। भोपाल में गैस-त्रासदी के बाद अनेक ऐसे रोग सामने आये जिनमें से अनेकों का सही नामकरण सम्भव नहीं हो पाया।

रोगों का वर्गीकरण

(Classification of the Diseases)

रोगों के नामकरण के समान ही उनका वर्गीकरण (Classification) भी एक समस्या है। इनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न आधारों पर करने का प्रयत्न किया गया है। यथा—

---

1. The scientific study of the alterations produced by the disease.

2. A branch of pathology dealing specially with the diseases of the young.

प्रभाव-भेद से

(According to Prognosis)

प्रभाव-भेद से रोगों को दो प्रकार का माना गया है—साध्य (Curable) और असाध्य (Incurable)। साध्य वे हैं, जिन्हें ठीक किया जा सकता है और असाध्य वे हैं जिन्हें ठीक नहीं किया जा सकता।

साध्य रोग पुनः दो प्रकार के माने गये हैं—सुख-साध्य और कृच्छ्र-साध्य। सुख-साध्य वे हैं जिन्हें सरलता से ठीक किया जा सकता है और कृच्छ्र-साध्य वे हैं जो कठिनता से ठीक होते हैं। जिनके उपचार में अपेक्षाकृत अधिक परिश्रम और सावधानी की आवश्यकता होती है।

असाध्य रोग पुनः दो प्रकार के माने गये हैं—याप्य और अनुपक्रम। याप्य वे हैं जो आहार-विहार के नियमन-नियंत्रण और उपयुक्त चिकित्सा के द्वारा दबे तो रहते हैं पर जड़ से नहीं जाते। अनुपक्रम वे हैं जिनमें कोई भी उपक्रम काम नहीं करता। जो सभी प्रकार से असाध्य माने जाते हैं।

बल-भेद से

(According to Complexity or Mode of Onset)

बलभेद से भी रोगों को दो प्रकार का माना गया है—मृदु और दारुण। जो रोग कम बढ़े हुए होते हैं तथा जिनके साथ अन्य उपद्रव नहीं होते, उन्हें मृदु कहते हैं। जो उग्र तथा अनेकानेक प्रकार के लक्षणों (Symptoms) और उपद्रवों (Complications) से युक्त होते हैं, उन्हें दारुण कहते हैं।

आशय-भेद से

(According to Viscera or Containers)

आशयभेद से भी रोगों को दो प्रकार का माना गया है—आमाशयसमुत्थ और पक्वाशयसमुत्थ। आमाशयसमुत्थ (Originating in stomach) रोग वे हैं जो आमाशय की विकृति के कारण होते हैं और पक्वाशयसमुत्थ (Originating in large intestine or colon) रोग वे हैं जो पक्वाशय में विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं।

आश्रय-भेद से

(According to Seat of the Disease)

आश्रयभेद से भी रोग दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक। प्रधानतः शरीर को आश्रय बनाकर रहनेवाले रोगों को शारीरिक (Organic) और मन को आश्रय बनाकर रहनेवाले रोगों को मानसिक (Mental or psychological) रोग कहते हैं।

स्वतन्त्र-परतन्त्र-भेद से
(According to Independent or Dependent Origin)

स्वतन्त्र-परतन्त्र-भेद से भी रोगों को दो प्रकार का माना गया है—यथोक्त निदान लक्षवाले और दूसरे रोगों पर आश्रित अथवा उनके उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होनेवाले। इनमें पहली श्रेणी के रोगों को स्वतन्त्र (Independent or primary) और दूसरी श्रेणी के रोगों को परतन्त्र (Dependent or Secondary) कहते हैं।

उपचार-भेद से
(According to Method of Treatment)

उपचार-भेद से भी रोगों को दो प्रकार का माना गया है—शस्त्र-साध्य तथा चिकित्सा-साध्य। जिन रोगों के उपचार में शस्त्रों का प्रयोग आवश्यक होता है, उन्हें शस्त्र-साध्य (Surgical) और जिन रोगों का उपचार पंचकर्म, स्वेदादि-क्रिया या योगों के द्वारा किया जाता है, उन्हें चिकित्सा-साध्य (Medicinal) कहते हैं।

मार्ग-भेद से
(According to Passages)

मार्ग-भेद से रोग तीन प्रकार के माने गये हैं—कोष्ठगत, शाखागत और मर्मास्थि संधि-गत। कोष्ठ शब्द आयुर्वेद में महास्रोतस, वक्ष तथा उदरगुहा (Thoraco-abdominal cavity or Alimentary canal), खोखले कोष्ठांग या आशय (Visceras or hollow organs) तथा उदर के लिए प्रयोग किया जाता है। इन अंगों में होनेवाले रोगों को कोष्ठगत रोग कहते हैं।

शाखाओं (Limbsor Extremities) में उत्पन्न होनेवाले रोगों को शाखागत और मर्मास्थि संधिगतों (Sacrum & Coccyx) में होनेवाले रोगों को मर्मास्थि संधिगत रोग कहते हैं।

निमित्त-भेद से
(According to Originating Cause)

निमित्त-भेद से भी रोगों को दो प्रकार का माना गया है—निज और आगन्तुक। निज (Due to internal causes) वे हैं जो प्राणी के मनो-दैहिक तन्त्र में ही उत्पन्न दोष-विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं और आगन्तुक (Due to external causes) वे हैं जो दुर्घटनाओं, संक्रमणों या शरीर पर बाह्य शक्तियों के आक्रमणस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

चरक के अनुसार—

(क) १. निज (Due to internal causes) ।
२. आगन्तुक (Due to external causes) ।
३. मानस (Mental or psychological) ।

(ख) १. सौम्य—कफदोष से उत्पन्न ।
२. आग्नेय—पित्त की विकृति से उत्पन्न ।
३. वायव्य—वायु की विकृति से उत्पन्न ।

वाग्भट के अनुसार—

(क) १. प्रत्युत्पन्न कर्मज या दोषज—इसी जन्म के कर्मों के फलस्वरूप दोष विकृति से उत्पन्न । (Due to imbalance in constituent elements of the organism) ।
२. पूर्व-कर्मज—पूर्वजन्मों के संचित कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न । (Due to actions of the past life) ।
३. दोषकर्मज—दोष-विकृति और कर्म दोनों के फलस्वरूप उत्पन्न । (Due to both) ।

इन्हीं को क्रमशः दृष्टापचारज (Due to known causes), पूर्वापचारज (Due to unknown causes) और दृष्टादृष्ट-कर्मज भी कहा गया है ।

(ख) १. सहज (Congenital or hereditary) ।
२. गर्भज (Prenatal or congenital) ।
३. जातज (Due to birth) ।
४. पीडज (Accidental or traumatic) ।
५. कालज (Due to irregularities in or abnormalities of the seasons) ।
६. प्रभावज (Of mystic or extra physical origin) ।
७. स्वभावज (Natural) ।

हारीत के अनुसार—

कर्मज, दोषज और सहज अथवा स्वाभाविक ।

काश्यप के अनुसार—

साध्य, असाध्य और याप्य ।

सुश्रुत के अनुसार—

(क) १. आध्यात्मिक (Relating to self, mind, saul or 'Jiva')

२. आधिभौतिक (Relating to animalbeing or material)

३. आधिदैविक (Due to tutelary deity or caused by actions of the past life) ।

(ख) आगन्तव, शारीर, मानस तथा स्वाभाविक ।

दृष्टिकोण भेद से उक्त सभी वर्गीकरण रोगों के स्वरूप को समझने और उनका निराकरण करने के लिए उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं । प्रस्तुत सन्दर्भ में सुश्रुत का वर्गीकरण अधिक व्यापक एवं उपयोगी प्रतीत होता है; अतः आगे के पृष्ठों में उसी की चर्चा कुछ विस्तार से की जायेगी ।

सुश्रुत ने रोगों को प्रधानतः तीन वर्गों में बाँटा है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ।

आध्यात्मिक

आध्यात्मिक का शाब्दिक अर्थ है आत्मा अथवा मन से सम्बन्धित । प्रस्तुत सन्दर्भ में समग्र मनोदैहिक-तन्त्र (Psychophysical organism) या जीव में, उसी के अन्दर रचनात्मक अथवा प्रकार्यात्मक (Structural or functional) विकृतियों के फलस्वरूप उत्पन्न रोगों को आध्यात्मिक की संज्ञा दी गयी है । इन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है—

(क) **आदिबल-प्रवृत्त** (Relating to generative power or heridity)—दोषपूर्ण शुक्राणुओं (Sperm) अथवा अण्डाणुओं (Ovum) के कारण उत्पन्न होनेवाले वंशानुगत रोगों को आदिबल-प्रवृत्त कहा गया है, यथा—प्रमेह, कुष्ठ, अर्श आदि ।

आदिबल-प्रवृत्त रोगों को पुनः दो वर्गों में बाँटा गया है—मातृज तथा पितृज । मातृ-परम्परा से दूषित अण्डाणुओं के कारण होनेवाले रोगों को मातृज और पितृ-परम्परा से दूषित शुक्राणुओं के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों को पितृज कहा गया है ।

(ख) **जन्मबल-प्रवृत्त** (Relating to malnutrition or behavioural abnormalities of the mother)—सगर्भावस्था में माता द्वारा आहार-विहार अथवा सद्वृत्त-पालन में की गयी गड़बड़ी अथवा अमिताचार के कारण उत्पन्न रोगों को जन्मबल-प्रवृत्त कहा गया है, यथा—पंगुता, बधिरता, मूकता (गूँगापन) आदि । इन्हें पुनः दो वर्गों में बाँटा गया है—रसकृत और दौहृदापचारकृत ।

माता द्वारा बालक को प्राप्त होनेवाले आहार-रस की विकृति अथवा पोषकतत्त्वों की कमी के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों को रसकृत (Due to malnutrition or undernutrition) कहा गया है।

जब गर्भ में बालक के हृदय की धड़कन व्यक्त होने लगती है, तब माता और बालक दोनों के हृदय साथ-साथ धड़कने के कारण गर्भिणी की दौहृद संज्ञा होती है। आयुर्वेद के अनुसार दौहृद की अवस्था में बालक की इच्छा माता की इच्छा के द्वारा व्यक्त होती है। इस अवस्था में माता की इच्छाओं की पूर्ति न होने का सीधा प्रभाव बालक पर पड़ता है। इस प्रतिकूल प्रभाव के कारण उत्पन्न रोगों-विकृतियों को ही दौहृदापचारकृत की संज्ञा दी गयी है।

(ग) **दोषबल-प्रवृत्त** (Relating to imbalance in constituent elements of the body)—मनुष्य के मनोदैहिक-तन्त्र में वात, पित्त आदि शारीरिक दोषों तथा रज, तम आदि मानसिक दोषों के वैषम्य के कारण उत्पन्न रोगों को दोषबल-प्रवृत्त कहते हैं। इन्हें भी दो भागों में बाँटा गया है—शारीरिक और मानसिक।

प्रधानतया शरीर को आश्रय कर उत्पन्न होनेवाले रोगों को शारीरिक (Somatic) और मन को आश्रय कर उत्पन्न होनेवाले रोगों को मानसिक (Psychogenic) कहा गया है। दोनों को सामान रूप से प्रभावित करने वाले रोगों को मनोदैहिक (Psychosomatic) कहा गया है। अधिकांश रोग मनोदैहिक ही होते हैं।

आधिभौतिक
(Relating to Animalbeing or Material)

आधि का शाब्दिक अर्थ है—मानसिक पीड़ा, शाप, विपत्ति आदि। भौतिक का अर्थ है—भूत अथवा पंचमहाभूत सम्बन्धी। यहाँ इसका प्रयोग जीव से पृथकता दर्शाने के लिए किया गया है। जीव के अन्दर निज कारणों से उत्पन्न रोगों को आध्यात्मिक और जीव अथवा शरीरधारियों द्वारा बाहर से प्राप्त अथवा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न रोगों को आधिभौतिक कहा गया है। ये शरीर पर बाह्य भौतिक अथवा प्राकृतिक शक्तियों के आक्रमणस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

आगन्तुक कारण भौतिक (Physical) भी हो सकते हैं और अभौतिक (Non or extra physical) भी। आधिभौतिक के अन्तर्गत भौतिक कारणों

का ही समावेश किया जाता है। इन्हीं को संघातबल-प्रवृत्त भी कहते हैं। इन्हें पुनः दो वर्गों में बाँटा गया है—शस्त्रकृत तथा व्यालादिकृत। शस्त्रास्त्र के आघात के कारण उत्पन्न विकृति को शस्त्रकृत और किसी जानवर अथवा कीड़े-मकोड़े के काटने, जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने आदि के कारण उत्पन्न विकृतियों को व्यालाविकृत कहा गया है।

आधिदैविक

(Relating to Tutelary Deity or Actions of the Past Life)

आधिदैविक का शाब्दिक अर्थ है—देवताकृत, देवताओं द्वारा प्रेरित अथवा प्रारब्ध के फलस्वरूप उत्पन्न। आधिदैविक रोग उन रोगों को कहते हैं जो देवताओं अथवा दैविक शक्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यहाँ दैविक शब्द का प्रयोग प्रधानरूप से Spirit, Spiritual or Extra physical के अर्थ में किया गया है। इस सन्दर्भ में हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन मान्यता के अनुसार अधिकांश भौतिक शक्तियों का संचालन दैवी शक्तियों के द्वारा ही किया जाता है।

आधिदैविक रोगों को तीन प्रधान वर्गों में बाँटा गया है—

(क) **कालबल-प्रवृत्त** (Due to abnormalities of the seasons or weather conditions)—शरीर पर काल अथवा ऋतु-परिवर्तन के फलस्वरूप या ऋतुओं की गड़बड़ी के कारण उत्पन्न रोगों को कालबल-प्रवृत्त कहते हैं। इन्हें भी दो वर्गों में बाँटा गया है–व्यापन्न ऋतुकृत तथा अध्यापन्न ऋतुकृत। व्यापन्न का अर्थ है विपत्ति में पड़ा हुआ, विकृति या असामान्य और अव्यापन्न का अर्थ है अविकृत या सामान्य।

(ख) **दैवबल-प्रवृत्त**—(Due to spiritual or extra physical forces)—दैवी शक्तियों के कारण उत्पन्न रोगों को दैवबल-प्रवृत्त कहते हैं। इनको भी दो वर्गों में बाँटा गया है—विद्युत्दशनकृत तथा पिशाचादि कृत। आकाशीय बिजली, आँधी-पानी, ओले आदि के आघात के कारण उत्पन्न विकृतियों को प्रथम वर्ग के अन्तर्गत और ग्रहबाधा के कारण उत्पन्न रोगों को द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है।

(ग) **स्वभावबल-प्रवृत** (Due to normal cause of development)—कालक्रम से शरीर में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होनेवाले प्रतिकूल प्रभावों-परिवर्तनों को स्वाभाविक या स्वभावबल-प्रवृत्त रोगों की संज्ञा दी गयी है, यथा—क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु आदि। ये परिवर्तन यदि समय के परिपक्व होने पर स्वभाविक रूप में उत्पन्न होते हैं तो कालज अन्यथा अकालज कहलाते हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम बाल-रोगों को उनके विकासक्रम के आधार पर निम्न वर्गों में बाँटकर करेगें—

१. गर्भकालीन व्याधियाँ।

२. प्रसवकालीन व्याधियाँ।

३. प्रसवोत्तर या जन्मोत्तरकालीन व्याधियाँ।

४. क्षीरपकालीन व्याधियाँ।

५. क्षीरान्नादकालीन व्याधियाँ।

६. अन्नादकालीन व्याधियाँ।

७. बालग्रह।

आगे के अध्यायों में बालरोगों के वर्णन में इसी क्रम का अनुसरण किया जायेगा।

गर्भकालीन व्याधियाँ

गर्भकालीन व्याधियों के अनेक रूप हो सकते हैं। अर्वाचीन प्रसूति-तन्त्र के ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन किया है। आगे के तीन अध्यायों में मात्र उन्हीं विकृतियों का उल्लेख किया गया है जिनका वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

मूढ़गर्भ (गर्भाशय में असामान्य स्थिति में फँसे बालक) तथा मृतगर्भ को माता के पेट से बाहर निकालने के लिए प्राचीन काल में भी शस्त्रकर्म या शल्यक्रिया का सहारा लिया जाता था। परन्तु कालान्तर में आयुर्वेद में शल्य-क्रिया का लोप-सा हो गया। अब न वे क्रियाएँ प्रचलित हैं और न उनमें वर्णित यन्त्र-शस्त्र आदि ही उपलब्ध हैं। फिर भी छात्रों की जानकारी के लिए यथास्थान संक्षेप में उनका उल्लेख किया गया है।

हमें यह मान लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि आधुनिक आयु-र्विज्ञान की शल्य-शाखा अत्यधिक विकसित है। मूढ़ एवं मृतगर्भों के निर्हरण के लिए भी उसमें अनेक सफल उपायों का विकास हुआ है। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हों उन्हें इस विषय का अध्ययन आधुनिक शल्यशास्त्र के ग्रन्थों में करना चाहिए।

अध्याय २९

मूढ़गर्भ

(Malpresentation of the Foetus)

जो गर्भ अपनी असामान्य स्थिति या आकार के कारण गर्भाशय में इस प्रकार अटक या फँस जाय कि वह सामान्य विधि से न निकल सके, उसे मूढ़-गर्भ की संज्ञा दी जाती है। आचार्य माधव के शब्दों में—

सर्वावयवसम्पूर्णौ मनोबुद्ध्यादिसंयुतः।
विगुणापानसम्मूढो मूढगर्भोऽभिधीयते॥

जिसके सभी अंग-प्रत्यंग पूर्णरूप से विकसित हो चुके हैं और जो मन, बुद्धि आदि से युक्त हो गया है, ऐसा गर्भ जब विगुण अपानवायु के कारण मार्ग में अवरुद्ध हो जाता है, उसे मूढ़गर्भ कहते हैं।

गर्भ की स्वाभाविक स्थिति का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है-—

गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुखः, ऊर्ध्वं शिराः सङ्कुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृत्तः कुक्षौ।

गर्भ का सिर आगे की ओर वक्ष पर झुका हुआ और रीढ़ आगे की ओर मुड़ी रहती है। दोनों जाघें उदर पर और टागें जाँघों पर मुड़ी रहती हैं। दोनों भुजाएँ वक्ष पर एक-दूसरे पर मुड़ी रहती हैं। प्रसव के कुछ मास पूर्व उसका सिर नीचे आ जाता है और नितम्ब ऊपर हो जाते हैं। प्रसव के समय वह सिर के बल जन्म लेता है। पहले सिर, फिर क्रमशः गर्दन, कन्धे, दोनों भुजाएँ, उदर, नितम्ब तथा पैर बाहर आते हैं। इसे शीर्षाग्र-प्रसव (Vertex presentation) कहते हैं। शीर्षाग्र-प्रसव ही स्वाभाविक और सरल प्रसव है। गर्भ की अन्य स्थितियाँ मूढ़गर्भ के अन्तर्गत आती हैं।

मूढ़गर्भ के भेद

(Kinds of Malpresentation of the Foetus)

मूढ़गर्भ के भेदों का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

ततः कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति। तत्र ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो यो योनिमुखं निरुणद्धि कील इव स कीलः। निःसृतहस्तपादशिराः कायसङ्गी प्रतिखुरः। यो निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स बीजकः। यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठति स परिघः। इति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते। —सु० नि० ८।४

मूढ़गर्भ प्रायः चार प्रकार का माना जाता है—

१. कीलक या संकीलक—इसमें गर्भ वाहु, सिर और पैर को ऊपर कर योनिमार्ग को कील की तरह अवरुद्ध कर देता है। इसे 'Chest, back and side presentation' कहते हैं।

२. प्रतिखुर—जिस गर्भ के हाथ-पैर और सिर निकल जायँ, पर धड़ फँस जाय, उसे प्रतिखुर कहते हैं। इसे 'Presentation of the head with two hands and two legs' कहते हैं।

३. बीजक—इस स्थिति में गर्भ का सिर और एक हाथ बाहर निकल आता है और शेष भाग फँसा रहता है। इसे 'Head presentation with one hand or two hands prolapsing' कहते हैं।

४. परिघ—इसमें गर्भ क्षैतिज स्थिति में आकर योनि के मुख को अवरुद्ध कर देता है। इसे 'Transverse presentation' कहते हैं।

इन चार प्रकार के मूढ़गर्भों का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है कि मूढ़गर्भों की संख्या इतनी ही नहीं, बल्कि अधिक भी हो सकती है। आगे उन्होंने इसकी आठ प्रकार की स्थितियों का वर्णन किया है; यथा—

तत्र कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते। कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन। कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः। कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते। अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना। कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन। कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः। कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम्। इत्यष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा समासेन।

—सुश्रुत-निदान ८।५

१. दोनों टाँगों से योनिमुख में उतरना।

२. एक टांग को संकुचित कर एक ही टाँग से योनिमुख में उतरना।

३. टाँगों और शरीर को टेढ़ा करके नितम्ब या कूल्हे के भाग से आकर अटक जाना।

४. वक्ष, पार्श्व या पृष्ठ किसी एक भाग से आकर योनिद्वार को अवरुद्ध कर देना।

५. सिर को अन्दर या पार्श्व की ओर झुकाकर एक बाहु से आते हुए अटक जाना।

६. सिर को टेढ़ा करके दोनों वाहुओं से बाहर आते हुए योनिमार्ग को अवरुद्ध करना।

७. मध्य भाग को टेढ़ा करके हाथ, पैर और सिर से बाहर आना।

८. एक टाँग से पायु को दबाकर दूसरी टाँग से योनिमुख की ओर आना।

सुश्रुत द्वारा बतलायी गयी इन अष्टविधि गतियों को निम्न रूप में समझा जा सकता है—

१. स्फिक्पादोदय (Full breech presentation)।

२. पादोदय या जानूदय (Footling or knee presentation)।

३. स्फिगुदय (Frank breech presentation)।

४. पार्श्वावितरण (Transverse presentation)।

५. भ्रंशहस्तस्कन्धोदय (Transverse presentation with prolapse of the head)।

६. जटिलोदय (Complex presentation)।

७. जटिलोदय प्रतिखुर (Compound presentation)।

८. पादजानूदयो (Foot and knee presentation)।

वाग्भट ने सातवें तथा आठवें प्रकार के मूढ़गर्भ को विष्कम्भ नाम दिया है। उनके अनुसार मूढ़गर्भों के असंख्य भेदों के होते हुए भी उन्हें तीन मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—

समास्तस्तु त्रिविधा सङ्गा भवन्ति गतिरूद्ध्वा तिर्यङ् न्युब्जा च।

१. शिरोगति या न्युब्ज गति (Cephalic presentation)।

२. असंगति या तिर्यक् गति (Shoulder or transverse presentation)।

३. जघनगति या ऊर्ध्व गति (Pelvic presentation)।

अर्वाचीन मत भी प्रायः इसी का समर्थन करता है। मूढ़गर्भों में उक्त तीन प्रकार के मूढ़गर्भ ही प्रायः अधिक पाये जाते हैं।

मूढ़गर्भ की साध्यता-असाध्यता

तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंश-संवरणमक्कल्लश्वासकासभ्रमनिद्रापीडितान् परिहरेत्। सु० नि० ८।६

मूढ़गर्भ के भेदों में अन्तिम दो भेद असाध्य होते हैं। शेष में भी यदि स्त्री इन्द्रियों के अर्थ को ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी हो तथा आक्षेप, योनिभ्रंश, योनि-संकोच, मक्कल्ल, कास, श्वास के लक्षण वर्तमान हों तो उनकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

असाध्य मूढ़गर्भ के लक्षण

कतिपय महत्त्वपूर्ण लक्षणों का ऊपर संकेत किया जा चुका है। अन्य लक्षणों का विवरण देते हुए सुश्रुत ने कहा है—

प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा॥
—सु० नि० ८।११

जो स्त्री सिर को बार-बार हिलाती-पटकती हो, जिसके हाथ-पैर तथा अन्य अंग शीतल हो गये हों, जिस पर वेहोशी छा रही हो, वेहोशी के कारण अपने अंगों की रक्षा करने (ढँकने आदि) में असमर्थ हो; जिसकी शिराएँ तथा धमनियाँ नीली और उभरी हुई मालूम पड़ती हों, वह गर्भ को मार डालती है तथा उसका गर्भ उसको मार डालता है।

मूढ़गर्भ के कारण

ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडनधावनाभिघातविषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजनशोकातिक्षारसेवनातिसारवमनविरेचनप्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः। —सु० नि० ८।३

उक्त उद्धरण में सुश्रुत ने मूढ़गर्भ के निम्न प्रमुख कारण बतलाये है—

१. अत्यधिक स्त्री-संभोग (विशेषरूप से बाद के महीनों में)।
२. तेज सवारी पर चलना।
३. अधिक पैदल चलना या जोर से दौड़ना।
४. पाँव फिसलना या ऊँचे से गिरना।
५. भीड़ में दबना।
६. पेट पर चोट लगना।
७. ऊँचे-नीचे बिछौने पर सोना।
८. उकड़ूँ बैठना, अधिक उपवास करना।
९. मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना।
१०. अत्यधिक रूक्ष, कटु एवं तिक्त रसवाले द्रव्यों का सेवन करना।
११. दुःख, शोकादि।
१२. क्षारों का सेवन।
१३. तीव्र अतिसार, ऐंठन के साथ मलत्याग।
१४. झूलना।
१५. गर्भपात कराने वाली औषधियों का सेवन करना।

अर्वाचीन मत से योनि-मार्ग में गर्भ के अटकने-फँसने के प्रायः निम्न कारण माने जाते हैं—

१. संकुचित श्रोणिगुहा (Contracted pelvis) ।

२. गर्भाशय के अर्बुद (Tumours of the uterus) ।

३. गर्भाशय की च्युति (Displacement or disfigurement of the uterus) ।

४. अपरा का गर्भाशय के मुख के पास आ जाना (Placenta praevia)

५. गर्भ की अस्वाभाविक स्थितियाँ (Malpositions of the uterus)

६. गर्भ की विकृतियाँ (Malformation of the foetus) ।

मूढ़गर्भ प्रायः यन्त्र एवं शस्त्रसाध्य होते हैं । इस क्रम में बालक का अंग-भंग हो जाने की, चोट लगने की तथा मस्तिष्क पर आघात लगने की पूरी आशंका रहती है । यदि बालक बच भी जाता है तो इस बीच झेली गयी असह्य पीड़ा तथा मानसिक आघात का उस पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है । वह मानसिक मन्दता (Mental retardation) का शिकार हो सकता है ।

मूढ़गर्भ से सम्बन्धित शस्त्रकर्म

मण्डलाङ्गुलिशस्त्राभ्यां तत्र कर्म प्रशस्यते ।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं न यौनाववचारयेत् ॥

मूढ़गर्भ सम्बन्धी शस्त्रोपचार में मण्डलाग्र और अंगुलिशस्त्र से ही काम लेना चाहिए । वृद्धि-पत्र आगे से तीक्ष्ण होता है, इसलिए योनि में उसका व्यवहार नहीं करना चाहिए ।

पूर्वं शिरःकपालानि दारयित्वा विशोधयेत् ।
कक्षोरस्तालुचिबुकप्रदेशेऽन्यतमे ततः ॥
समालम्ब्य दृढं कर्षेत्कुशलो गर्भशङ्कुना ॥
अभिन्नशिरसं त्वक्षिकूटयोर्गण्डयोरपि ।
बाहुं छित्वांऽससक्तस्य वाताध्मातोदरस्य तु ॥
विदार्य कोष्ठमन्त्राणि बहिर्वा सन्निरस्य च ।
कटीसक्तस्य तद्वच्च तत्कपालानि दारयेत् ॥

प्रथमतः सिर की अस्थियों को विदीर्ण करके मस्तिष्क का शोधन करें । उसे निकाल दें । फिर कक्षा, छाती, तालु अथवा चिवुक में से किसी को गर्भशंकु से दृढ़तापूर्वक पकड़कर गर्भ को खींच लें । यदि सिर विदीर्ण नहीं हुआ हो तो अक्षि-कूटों में या गण्डप्रदेश में गर्भांकुश लगा कर उसे बाहर खींच लेना चाहिए ।

जो गर्भ कन्धे से फँसा हुआ हो उसकी बाहुओं को काटकर बाहर निकाल देना चाहिए । जिस गर्भ का उदर वायु से फूल गया हो, उसके कोष्ठ को

विदीर्ण कर, आँतों को बाहर निकाल कर गर्भ को खींच लेना चाहिए। जो गर्भ कटि से फँसा हो उसमें वायु से फूले उदर की भाँति शस्त्रकर्म करके कटि की कपालास्थियों को विदीर्ण कर गर्भ को बाहर निकाल लेना चाहिए।

यद्यद्वायुवशादङ्गं सज्जेद्गर्भस्य खण्डशः।
तत्तच्छित्वाऽऽहरेत्सम्यग्रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥

—अ० सं० शा० ४।४१

गर्भस्य हि गतिं चित्रां करोति विगुणोऽनिलः।
तत्रानल्पमतिस्तस्मादवस्थापेक्षमाचरेत्॥

वायु के कारण गर्भ के जो-जो अंग फँसते हों, उन-उन अंगों को खण्ड-खण्ड करके गर्भ को खींच लेना चाहिए और यत्नपूर्वक माता के जीवन की रक्षा करनी चाहिये।

प्रकुपित वायु गर्भ को नाना प्रकार से अवरुद्ध कर सकती है। इसमें वैद्य का अपना विवेक, उसकी सामयिक सूझ-बूझ ही सबसे अधिक काम आती है। उसी के अनुसार उसे उपचार करना चाहिए।

छिन्द्याद्गर्भं न जीवन्तं मातरं स हि मारयेत्।
सहात्मना न चोपेक्ष्यः क्षणमप्यस्तजीवितः॥

जीवित गर्भ को कभी काटना नहीं चाहिए, क्योंकि वह गर्भ माता को भी अपने साथ मार डालता है। लेकिन मृतगर्भ की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसे शीघ्रातिशीघ्र गर्भ से बाहर निकाल देना चाहिए।

अध्याय २६

मृतगर्भ, मृतजात और जातमात्र मृत

अन्तर्मृतगर्भ

(Still Birth)

सातवें महीने या अट्ठाइसवें सप्ताह तक सामान्य रूप से विकसित होने के बाद जब बालक गर्भ में ही मर जाता है, तब उसे मृतगर्भ या अन्तर्मृत-गर्भ (Still birth) की संज्ञा दी जाती है। मृतगर्भ स्वाभाविक प्रसव के समान स्वतः नहीं निकलता, उसे निकालना पड़ता है। अन्तर्मृत गर्भ के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए सुश्रुत ने कहा है—

गर्भस्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ॥ —सु० नि० ८।१२

जब बच्चा गर्भ में ही मर जाता है, तो गर्भ में स्पन्दन होना बन्द हो जाता है, प्रसव-पीड़ा बन्द हो जाती है। चेहरे तथा शरीर पर कालिमायुक्त पाण्डुता छा जाती है। श्वास में दुर्गन्ध आने लगती है। वस्ति, गर्भाशय तथा उदर में पीड़ा होने लगती है।

अन्तर्मृतगर्भ के कारण

सुश्रुत ने अन्तर्मृत गर्भ के निम्न कारण बतलाये हैं—

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः॥ —सु० नि० ८।१३

१. तीव्र मानसिक आघात या मनोवेग।
२. आगन्तुक कारण (यथा—चोट, संक्रमण, ग्रहबाधा आदि)।
३. व्याधियों से अधिक पीडित होना।

मृतजात एवं जातमात्र मृत

कभी-कभी प्रसवकाल के ठीक पहले तक गर्भ में जीवन के सभी लक्षण पाये जाते हैं। प्रसव-पीड़ा भी होती है। पर जब बालक उत्पन्न होता है तब उसमें जीवन के कोई लक्षण नहीं पाये जाते, यथा—हृदय का धड़कना, गर्भ-नाल का स्पन्दन, पेशियों में गति आदि। प्रसवकाल के ठीक पहले या प्रसव की अवधि में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसे बालक को मृतजात कहते हैं।

कुछ बच्चे पैदा होने के बाद शीघ्र ही या कुछ दिनों बाद मर जाते हैं, इन्हें जातमात्र मृत की संज्ञा दी जाती है। कुछ स्त्रियों का ऐसा स्वभाव-सा बन जाता है कि उनके बच्चे पैदा होने के कुछ दिनों या कुछ महीनों के बाद शीघ्र ही मर जाते हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में इस प्रकार की मृत्यु को दो भागों में बाँटा गया है—

१. प्रसवकालीन मृत्यु (Perinatal mortality)।

२. नवजातावस्था में मृत्यु (Neonatal mortality)।

गर्भावस्था, प्रसवकाल तथा प्रसव होने के एक सप्ताह के अन्दर होनेवाली बालमृत्युओं को Perinatal mortality के अन्तर्गत और उसके बाद जन्म के चौथे सप्ताह तक होनेवाली मृत्युओं को Neonatal mortality के अन्तर्गत माना जाता है।

आयुर्वेद के मतानुसार अन्तर्मृत गर्भ के जो कारण ऊपर बतलाये गये हैं, वे ही कारण मृतजात या जातमात्रमृत में भी पाये जाते हैं।

अर्वाचीन मतानुसार मृतगर्भ, मृतजात तथा जातमात्रमृत के कारण

इन कारणों को सामान्यतया दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—प्रसव-पूर्व के कारण तथा प्रसवकाल या उसके तत्काल बाद पैदा होने वाले कारण।

प्रसवपूर्व कारण—

१. प्रसव-पूर्व गर्भिणी की देखरेख में त्रुटियाँ तथा कुपोषण।

२. गर्भिणी के रोग—विशेष रूप से रक्ताल्पता, मधुमेह, वृक्कशोथ, रक्त के रोग, रक्तचाप का बढ़ना, प्रसवजन्य विषमयता, प्रसवपूर्व गर्भाशय से रक्तस्राव आदि।

३. गर्भिणी द्वारा मादक द्रव्यों, नींद लाने वाली तथा पीड़ाहर औषधियों तथा धूम्रपान का अधिक मात्रा में सेवन।

४. पेट पर तथा उसके आस-पास लगी चोट।

५. तीव्र मानसिक आघात।

६. गर्भ के विकार, यथा—अपरा, गर्भावरण अथवा नाभिनाड़ी में उचित मात्रा में रक्तसंचार का न होना या बन्द हो जाना।

प्रसवकालीन कारण—

१. अत्यधिक रक्तस्राव।

२. कठिन प्रसवों में खींच-तान या यन्त्र-शस्त्र आदि से लगी चोट।

३. ऑक्सीजन की कमी।

प्रसवोत्तर कारण—

१. जीवाणुओं का संक्रमण।

२. जन्मजात विकृतियाँ।

३. अपक्व प्रसव।

४. श्वासावरोध।

५. विषमयता।

६. रक्तस्रावी रोग।

७. लालरक्तकणों का अभाव।

इन कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी सामान्य कारण हो सकते हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं—

१. माता की वय का १६ वर्ष से कम या ४० वर्ष से अधिक होना।

२. माता का जल्दी-जल्दी गर्भधारण करना।

३. अधिक वय में प्रथम बार गर्भधारण करना।

४. अपरा तथा गर्भाशय में संक्रमण या अपजनन।

५. माता या पिता किसी का भी उपदंश (Syphilis), उष्णवात (Gonorrhoea) तथा रक्त की विकृति सम्बन्धी रोगों से पीड़ित होना।

६. रक्त के वर्ग (Blood-group) तथा आर० एच० फैक्टर (Rh. Factor) की विकृति।

७. अन्धविश्वास।

निरोधक उपचार

१. उचित वय में तथा उचित अवसर पर गर्भधारण।

२. माता द्वारा आहार-विहार में पूर्ण संयम तथा उचित विश्राम।

३. गर्भावस्था में माता की उचित देखभाल, सुरक्षात्मक उपाय तथा उपयुक्त चिकित्सात्मक सहायता।

४. गर्भ के प्रति माता की अनुकूल अभिवृत्ति, मानसिक प्रसन्नता तथा मनोरंजन के रचनात्मक साधन।

५. प्रसवकाल की उचित तैयारी।

६. उपयुक्त स्थान पर कुशल व्यक्तियों द्वारा प्रसव कराना।

७. कुशल, कर्त्तव्यपरायण, अनुभवी एवं योग्य व्यक्तियों द्वारा माता और शिशु की सेवा।

८. सभी प्रतिरक्षात्मक उपाय।

९. उचित चिकित्सात्मक उपाय एवं पोषण।

१०. सतत सावधानी।

मृतगर्भ की चिकित्सा

तस्याः कोष्णाम्बुसिक्तायाः पिष्ट्वा योनिं प्रलेपयेत् ॥
गुडं किण्वं सलवणं तथान्तःपूरयेन्मुहुः ।
घृतेन कल्कीकृतया शाल्मल्यतसिपिच्छया ॥
मन्त्रैर्योगैर्जरायुक्तैर्मूढगर्भो न चेत्पतेत् ।
अथापृच्छ्येश्वरं वैद्यो यत्नेनाशु तमाहरेत् ॥
हस्तमभ्यज्य योनिं च साज्यशाल्मलिपिच्छया ।
हस्तेन शक्यं तेनैव गात्रं च विषमं स्थितम् ॥
आञ्छनोत्पीडसम्पीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः ।
आनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्जवागतम् ॥

—अ० हृ० शा० २।२४-२८

स्त्री की योनि को गुनगुने पानी से धोकर गुड़, किण्व और नमक को पीसकर योनि में लेप करें। सेमल और अलसी के लुआब को घी के साथ कल्क करके योनि के अन्दर लेप करें। अथर्ववेदोक्त मंत्रों से तथा जरायु को निकालने के लिए बतलाये गये उपायों से मृतगर्भ को बाहर निकालें। इतना करने पर भी यदि मृतगर्भ बाहर न आये तब वैद्य (स्त्री चिकित्सक) राजा की अनुमति लेकर प्रयत्नपूर्वक शीघ्र इस मृतगर्भ को बाहर निकालें। इसके लिए हाथ और योनि को घृतमिश्रित सेमल की पिच्छा से चिकना कर यदि हाथ से खींचना सम्भव हो तो उसे खींचकर निकाल लें।

यदि गर्भ का शरीर विषम रूप में स्थित हो, तो उसको आंछन (सीधा खींचकर), उत्पीड़न (ऊपर की ओर दबाकर), संपीडन (चारों ओर से दबाकर), विक्षेप, उत्क्षेप आदि क्रियाओं द्वारा योनि की ओर सीधा आ जाने पर खींच लें।

इन विधियों के असफल होने पर शस्त्रकर्म ही एकमात्र उपाय रह जाता है। इसके लिए भी वे ही विधियाँ अपनायी जाती हैं, जो मूढ़गर्भ के निर्हरण के लिए अपनायी जाती हैं।

अध्याय २७

उपविष्टक, नागोदर तथा लीनगर्भ

चौथे महीने के बाद जब गर्भ एक निश्चित आकार धारण कर लेता है, उस समय कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है जिसमें गर्भ का विकास सहसा रुक-सा जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वह जहाँ था वहीं स्थिर हो गया हो, बैठ गया हो। इसी को उपविष्टक कहते हैं। कभी-कभी गर्भ का विकास केवल रुकता ही नहीं, बल्कि जितना था उससे भी घटने लगता है, सूखने लगता है। इसी को उपशुष्क या नागोदर कहते हैं। वृद्धवाग्भट ने इनका विवेचन निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है—

उपविष्टक

तत्र यस्याः कादाचित्कार्तवपरिस्रावावल्पौ च दृश्येते सततं च गर्भः प्राप्तात्परिमाणादपरिहीयमान एव स्फुरति। न च कुक्षिर्विवर्धते। तमुपविष्टकमित्याचक्षते।

—अ० सं० शा० ४।१४

जब गर्भवती की योनि से आर्तव (रक्त) कभी अल्प और कभी ज्यादा परिमाण में दिखायी देता है और गर्भ का विकास-क्रम रुक जाता है, गर्भ में स्पन्दन तो प्रतीत होता है, पर उसकी वृद्धि जितनी हो चुकी थी वहीं पर रुक जाती है और गर्भिणी के गर्भ का आकार भी बढ़ता हुआ नहीं दिखलायी देता, तब उसे उपविष्टक कहते हैं।

उपशुष्क या नागोदर

यदा तु प्रतिमाससमार्तवं प्रत्यहं वा परिस्रवणं नात्यल्पं च तथा परिहीयमाणो गर्भश्चिरात् किञ्चित् स्पन्दते। कुक्षिश्च वृद्धोऽपि परिहीयते। तदुपशुष्कं नागोदरं च।

—अ० सं० शा० ४।१४

जब गर्भिणी को प्रतिमास या प्रतिदिन आर्तव रक्त अधिक मात्रा में आने लगे; बढ़े हुए गर्भ और गर्भिणी के पेट का आकार धीरे-धीरे घटने लगे; गर्भ दिन-पर-दिन कमजोर होता हुआ प्रतीत हो और कई-कई दिन पर कभी-कभी ही उसमें गति या स्पन्दन प्रतीत हो, तो उसे उपशुष्क या नागोदर कहते हैं।

उपविष्टक एवं नागोदर में भेद

दोषों की प्रबलता के आधार पर इनके तीन भेद किये गये हैं, जिनके लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं—

वात की प्रबलता की अवस्था में—

तत्र वातेनोपविष्टकोपशुष्ककयोर्वायुः प्रतिहन्यते सशब्दं फेनिलं विच्छिन्नं शकृदुपवेश्यते मूत्रमुपरुध्यते कटीपृष्ठहृदयेषु वेदना जृम्भा निद्रानाशोऽभीक्ष्णं प्रतिश्यायः शुष्ककासः सादः क्ष्वेडेते इव कर्णौ तुद्येते इव शङ्खौ पिपीलिकाभिरिव संसृज्यते शरीरं परिकृन्तन्निव वायुर्भ्रमति कुक्षौ तम इव प्रवेश्यते दुःखेनान्नस्य जरणमहरहः परिहानिः स्फुटितविवर्णपरुषत्वक्त्वं च भवति ।

—अ० सं० शा० ४।१६

जब उपविष्टक तथा उपशुष्क में वायु की प्रबलता होती है, तब गर्भिणी के कोष्ठ में गति करती हुई वायु रुक जाती है; मल और मूत्र का अवरोध हो जाता है; गर्भिणी आवाज के साथ थोड़ा-थोड़ा मल त्याग करती है; कमर, पीठ और हृदयप्रदेश में वेदना होती है; जम्हाइयाँ आती हैं; नींद नहीं आती; बार-बार जुकाम हो जाता है; सूखी खाँसी आती है; अंगों में शिथिलता बनी रहती है; कान खुजलाते हैं; शंखप्रदेश में चुभन होती है; त्वचा में चीटियाँ जैसी चलती मालूम होती हैं; शरीर को काटती हुई-सी वायु उदर में घूमती है; भोजन कठिनाई से पचता है; आँखों के आगे अंधेरा छाया रहता है; दिन-पर-दिन कमजोरी बढ़ती जाती है; त्वचा फटने लगती है; त्वचा का रंग बदल जाता है; वह शुष्क और कठोर होने लगती है ।

पित्त की प्रबलता की अवस्था में—

पित्तेन ताम्रहरितमुपवेश्यते धूमकोऽम्लकश्छर्दिर्मूर्च्छा कुक्षिहृदयदाहः पीतरक्तगोमूत्राभिनेत्रमूत्रनखत्वक्त्वं काली दुर्बला नित्यशूना च नारी भवति ।

—अ० सं० शा० ४।१७

पित्त की प्रबलता में गर्भवती के मल का रंग ताम्रवर्ण का या हरा हो जाता है; खट्टी डकारें आती हैं; वमन और मूर्च्छा आती है; कुक्षि और हृदय में जलन होती है; नेत्र, मूत्र, नख और त्वचा का रंग पीला, लाल या गोमूत्र के समान हो जाता है; त्वचा काली पड़ने लगती है; शरीर दुर्बल हो जाता है; शरीर में बराबर दर्द बना रहता है; पैर और मुख पर सूजन आ जाती है ।

कफ की प्रबलता की अवस्था में—

श्लेष्मणा मधुरास्यत्वमुत्क्लेशः श्लेष्मोद्वमनं भक्तद्वेषः श्वेतहस्तपादनेत्रता कासः श्वासश्च ।

—अ० सं० शा० ४।१८

कफ की प्रवलता की अवस्था में गर्भवती के मुँह का स्वाद मधुर हो जाता है; वमन की अभिलाषा होती है; जी मितलाता रहता है; वमन में अधिकांशतः कफ ही निकलता है; भूख नहीं लगती; भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है; हाथ-पैर और नेत्रों पर सफेदी आने लगती है; खाँसी आती है; श्वास की गति तीव्र होने से दमे की-सी स्थिति पैदा हो जाती है ।

निदान

यस्याः पुनर्महति जातसारे गर्भे वर्ज्यानामवर्जनात् पुष्पदर्शनं स्यादन्यद्वा योनिस्रवणम् । तस्यास्तन्निमित्तं वायुः प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्य गर्भस्य रसवहां नाडीं प्रतिपीड्यावतिष्ठते । ततो नाड्यां दोषैः कुल्यायामिव तृणपत्रादिभिः प्रतिच्छन्नायां रसस्यासम्यग्वहनाद्गर्भो वृद्धिमनाप्नुवन्नुपविशत्युपशुष्यति च ।

—अ० सं० शा० ४।१३

जो गर्भवती स्त्री चौथे महीने के बाद गर्भ में सारभाग के आ जाने पर आहार-विहार, आचार-विचार एवं सद्वृत्त के नियमों का पालन नहीं करती और वर्जित कर्मों को करने लगती है, उसकी योनि से आर्तव या अन्य प्रकार के स्राव आने लगते हैं । अनावश्यक स्रावों के कारण धातुक्षय से वायु कुपित हो जाती है । प्रकुपित वायु पित्त और कफ को साथ लेकर गर्भिणी से आहार रस को गर्भ में ले जानेवाली रसवहानाड़ी में स्थित हो जाती है और उसको अवरुद्ध कर देती है । रसवहानाड़ी के अवरुद्ध हो जाने से गर्भ में रसों का पहुँचना कम हो जाता है या बन्द हो जाता है । पोषक रसों के न पहुँचने से गर्भ का विकास रुक जाता है । अर्थात् उसका आकार जितना था उतना ही रह जाता है या सूखकर और भी छोटा हो जाता है ।

जिस प्रकार खेत में पानी पहुँचाने वाली नाली के खर-पतवार, पत्ते आदि से अवरुद्ध हो जाने पर खेत में पानी का पहुँचना बन्द हो जाता है और खेत में खड़ी फसल उतनी की उतनी रह जाती है या सूखने लगती है, ठीक वही स्थिति गर्भ की होती है ।

ये उपविष्टक और नागोदर गर्भ कभी-कभी माता के आहार की उष्मा से धीरे-धीरे पुनः बढ़ने तथा पुष्ट होने लगते हैं और सामान्य से अधिक समय तक गर्भ में रहने के बाद बाहर आते हैं । गर्भ में अधिक समय तक रह जाने

के कारण इनके शरीर पर बाल अधिक निकल आते हैं। दाँतों का आना भी शुरू हो जाता है।

चिकित्सा

सामान्य चिकित्सा—

१. जीवनीयगण, बृंहणीयगण तथा मधुरादिगण की औषधियों से सिद्ध घृत का पान।

२. गोदुग्ध, मांसरस और अण्डों का प्रचुर मात्रा में उपयोग।

३. भोजन से तृप्त होकर तेज यान, रथ अथवा घोड़े की सवारी।

४. क्षोभण, मार्जन तथा जृम्भणादि कार्य।

वात की प्रबलता में—

१. प्रथम सेंधा नमक मिले दूध की बस्ति।

२. बस्ति के उपरान्त शीतल जल से स्नान (ऋतु का ध्यान रखते हुए)।

३. स्नान के बाद सुपाच्य भोजन, विशेषरूप से शालिचावल का भात।

४. पीछे विदार्यादिगण की औषधियों से घृत की अनुवासनवस्ति।

५. ऐसी जगह पर जहाँ हवा का सीधा प्रवेश न हो, वहाँ रहना।

पित्त की प्रबलता में—

१. मधुयष्टी तथा विदारीकन्द के क्वाथ से सिद्ध घृत का पान।

२. मुर्गी, तीतर, बटेर आदि के मांसरस का सेवन।

३. बकरी का घी, बकरी का दूध तथा उसमें जीवनीयगण की औषधियों के योग से यवागू बनाकर उसका सेवन।

४. क्षीरविदारी, काकोली, क्षीरकाकोली तथा सुनिषण्णक (चौलाई) से सिद्ध घृत का दूध के साथ पान।

५. उक्त घृत में अण्डे तलकर खाना।

कफ की प्रबलता में—

१. भोजन के साथ जलचर पक्षियों का मांस या मांसरस का सेवन।

२. सुरापान (३, ५ अथवा ७ दिन तक)।

३. तिल, मूँग, उड़द, सेंधानमक और बिल्व फल का चूर्ण बराबर घी मिलाकर सुरक्षित रख लें और बकरी के दूध के अनुपान से नित्य दो तोले की मात्रा का सेवन करायें।

यदि ऊपर बतलायी गयी चिकित्सा से कोई लाभ न मालूम पड़े, अर्थात् गर्भ का आकार बढ़ता हुआ प्रतीत न हो, तो तीक्ष्ण विरेचनों द्वारा अथवा अपरा को निकालने के लिए जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उसका अनुसरण करते हुए गर्भ को बाहर निकाल देना चाहिए।

लीनगर्भ

यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः ।

—अ० सं० शा० ४।२३

जिस गर्भवती स्त्री में वात के प्रकोप से स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने के कारण गर्भ सोया हुआ-सा एक कोने में पड़ा रहता है, उस गर्भ को 'लीनगर्भ' कहते हैं। जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य श्वास तो लेता है पर उसमें किसी प्रकार की हरकत नहीं होती, उसी प्रकार 'लीनगर्भ' में जीवन के लक्षण तो पाये जाते हैं, परन्तु उसमें किसी प्रकार का स्पन्दन नहीं होता।

उपविष्टक में गर्भ की वृद्धि तो रुक जाती है पर स्पन्दन होता रहता है। उपशुष्क तथा नागोदर में गर्भ अधिक कमजोर हो जाता है। उसमें वृद्धि की जगह ह्रास के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए उसमें कभी-कभी ही थोड़ा-थोड़ा स्पन्दन प्रतीत होता है। 'लीनगर्भ' उपविष्टक तथा नागोदर की अपेक्षा अधिक क्षीण हो जाता है। वह एक कोने में स्थिर पड़ा रहता है। जीवित होते हुए भी उसमें कोई स्पन्दन नहीं होता।

निदान—

लीनगर्भ के भी प्रायः वे ही कारण हैं जो उपविष्टक या उपशुष्क के बतलाये गये हैं। इसका भी प्रमुख कारण वात का प्रकोप ही है।

उपचार—

इसमें भी उपविष्टक और उपशुष्क या नागोदर के समान ही गर्भ को पुष्ट करने एवं बढ़ाने वाली औषधियों के द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। विशेषरूप से—

१. श्येन (बाज), उत्क्रोश (कुररी पक्षी), मोर, मुर्गी, तीतर, बटेर, गोह, मछली आदि इनमें से किसी एक के घृतबहुल-मांसरस का सेवन करायें।

२. निरामिष भोजियों के लिए मूली के यूष या घृतबहुल उड़द के यूष के साथ लाल चावल का भात खिलायें।

३. तिल, उड़द तथा कच्चे बेल के साथ सत्तू को दूध में पकाकर पिलाएँ।

४. उदर, वंक्षण, कटि, पीठ और पार्श्व स्थानों पर बार-बार तेल की मालिश करें।

५. गर्भवती स्त्री को हर तरह से प्रसन्न रखने का प्रयास करें। उसका मनोरंजन करें, उसे हँसायें।

प्रमुख गर्भरक्षक एवं गर्भपोषक योग

प्रमुख शास्त्रीय योग—गर्भपालरस, गर्भचिन्तामणिरस, गर्भविनोदरस, सिद्धमकरध्वज, सूतशेखररस, कामदुधारस, बृहद्वातचिन्तामणि, प्रवाल-

पंचामृत, प्रदरारि, प्रदरान्तकरस, चन्द्रप्रभावटी, शिलाजत्वादि, अश्वगंधादि चूर्ण, शतावर्यादिचूर्ण, सितोपलादिचूर्ण, महाद्राक्षादिचूर्ण, रसायनचूर्ण, च्यवनप्राशावलेह, शतावर्यादिघृत, द्राक्षारिष्ट, अशोकारिष्ट, लोहासव, प्रवाल-भस्म, वंगभस्म, त्रिवंगभस्म, मुक्ताशुक्तिभस्म, मुक्तापिष्टी, तृणकान्तमणि पिष्टी आदि।

प्रमुख आयुर्वेदीय पेटेण्ट योग—जेस्टोन (झण्डु), शतावरेक्ष (झण्डु), कैरीटोन (चरक), एम–२ टोन (चरक), ल्यूकोल (हि० ड्र० कं०), लेप्टा-डीन (अलारसिन), ल्यूकोरिन (मार्तण्ड), कामिनी कार्डियल (मार्तण्ड), अमृत रसायन (त्रिमूर्ति), ल्यूकोरेक्स (इण्डो-जर्मन), फेमिनाइन फोर्ट (इण्डो-जर्मन) आदि।

कई कम्पनियाँ आयुर्वेद के इन्जेक्शन भी बना रही हैं। इस सम्बन्ध में अशोक, अग्निमन्थ, अपामार्ग, गर्भपालरस तथा प्रदरारि के सूचीवेध उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

प्रसवकालीन व्याधियाँ

प्रसवकाल में माता के अत्यधिक संकीर्ण प्रजनन-पथ से गुजर कर बाहर आना बालक के लिए कठिन परीक्षा की घड़ी होती है। उसे अपार कष्ट होता है।

यदि प्रसव असामान्य हुआ और चिकित्सक को यन्त्र-शस्त्रादि उपकरणों का प्रयोग करना पड़ा तो बालक का कष्ट कई गुना बढ़ जाता है।

वाग्भट ने प्रसवकाल में होनेवाले कष्टों की मृत्यु के समय में होनेवाले कष्टों से तुलना की है। इन कष्टों के फलस्वरूप बालकों में अनेक प्रकार की विकृतियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ तो अपनी चेतना खो देते हैं। कुछ मर भी जाते हैं। कुछ जीवन भर के लिए विकलांग या विकृतांग हो जाते हैं।

आगे के अध्यायों में संक्षेप में इन्हीं व्याधियों का वर्णन किया गया है।

अध्याय २८

प्रसवकालीन व्याधियाँ

प्रसव अपने-आप में बालक के लिए एक कठिन परीक्षा की घड़ी होती है। इसमें बालक को माता के सँकरे प्रजनन-पथ से निकल कर बाहर आने में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है; विशेषरूप से जटिल प्रसव में, जिसमें उपकरणों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। स्वाभाविक प्रसव की अपेक्षा परिमाण और तीव्रता दोनों ही दृष्टियों से बालक को अधिक हानि की आशंका रहती है। वह अनेक व्याधियों का शिकार हो सकता है। इन व्याधियों को मुख्यतया तीन वर्गों में बाँटा गया है—

१. मूढ़गर्भ के कारण उत्पन्न व्याधियाँ।

२. शस्त्रादि द्वारा निर्हरण के कारण उत्पन्न व्याधियाँ।

३. प्रसवकाल में भोगे गये कष्ट एवं श्रम के कारण उत्पन्न व्याधियाँ।

मूढ़गर्भ के कारण

(Due to Abnormal Position of the Foetus)

मूढ़गर्भ, उस गर्भ को कहते हैं, जो अपनी असामान्य स्थितियों के कारण गर्भाशय में इस प्रकार फँस जाता है कि सरलता से बाहर नहीं निकल पाता। उसे बाहर निकालने के लिए कृत्रिम उपायों या उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है।

छोटे कद की स्त्रियों में यदि गर्भ का आकार अपेक्षाकृत बड़ा हुआ तो ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनमें भी उपकरणों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। इसलिए उनमें मृत-प्रसव की आशंका अधिक रहती है।

अनुप्रस्थ-प्रस्तुत (Transverse position) में सामान्य प्रसव कराने की चेष्टा बालक के लिए घातक हो सकती है। यदि उपकरणों का प्रयोग आवश्यक हुआ तो यह आशंका और भी बढ़ जाती है। योनिद्वार से बाहर निकालते समय गर्भ का मस्तिष्क दब सकता है। उससे या आस-पास के भाग से रक्तस्राव हो सकता है। हड्डियों पर दबाव पड़ने से वे अपने स्थान से खिसक सकती हैं या टूट सकती हैं। तन्त्रिका केन्द्रों को अस्थायी या स्थायी हानि पहुँच सकती है। ज्ञानेन्द्रियों, विशेषरूप से आँख या कान को चोट पहुँच सकती है। मस्तिष्क को मिलनेवाली ऑक्सीजन की मात्रा में कमी आ सकती है। ऑक्सीजन की कमी से मस्तिष्क की कोशिकाएँ नष्ट हो सकती हैं।

जटिल प्रसवों के अनन्तर, विशेषरूप से जब उपकरणों का उपयोग किया गया हो, गति-सम्बन्धी अशक्तताओं, आंशिक या पूर्ण पक्षाघात, पक्षबध, प्रमस्तिष्क-संस्तंभ (Cerebral palsy) तथा मानसिक दौर्बल्य की अनेक घटनाएँ घटती हैं।

स्फिक् प्रसव (Breech birth) में प्रसवक्रिया के जटिल होने और उसके लम्बे समय तक चलने के कारण गर्भ को प्रायः ऑक्सीजन की कमी से पीड़ित होते देखा गया है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी सिर के बाहर निकलने के पहले ही गर्भ का दम घुट जाता है। मस्तिष्क की कोशिकाएँ क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाती हैं। इससे बालक मानसिक रूप से दुर्बल हो जाता है या शरीर के किसी अंग-उपांग की क्रिया को क्षति पहुँच जाती है। मस्तिष्क की कोशिकाओं को यदि १८ सेकेण्ड तक बिल्कुल ऑक्सीजन न मिले तो वे नष्ट हो जाती हैं।

सीजरी प्रसव (Caeserian section)–सीजरी बच्चे सबसे अधिक शान्त, कम रोने वाले, सुस्त और अपेक्षाकृत निष्क्रिय होते हैं। माता के गर्भ से एकाएक बाहर आने पर बाह्य वायुमण्डल के तात्कालिक दबाव से प्रायः उन्हें साँस लेने में कठिनाई का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में ऑक्सीजन के अभाव में उनकी मृत्यु हो सकती है या मस्तिष्क की कोशिकाएँ क्षतिग्रस्त हो सकती हैं। इसलिए सामान्य बच्चों की अपेक्षा सीजरी बच्चों की मृत्यु-दर अधिक होती है।

कभी-कभी प्रसव के थोड़ी देर बाद इनके फेफड़ों में एक काचाभ-कला (Hyaline membrane) का विकास हो जाता है। इससे भी ऑक्सीजन की कमी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और जन्म के उपरान्त सामान्यतया स्वस्थ दिखलाई देनेवाला बच्चा भी अचानक मृत्यु का शिकार हो जाता है।

प्रसवकालीन प्रतिकूल प्रभाव कभी-कभी तो जन्म के तुरन्त बाद बालक में दिखायी देने लगते हैं। उसे जन्मोत्तर समायोजन में कठिनाई होने लगती है। पर, कभी-कभी ये प्रभाव देर से, महीनों या वर्षों बाद भी, व्यक्त होते हैं। अनेक अध्ययनों में ऐसे बालकों की बौद्धिक एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं की तुलना जब सामान्यरूप से प्रसूत शिशुओं से की गयी तो उनमें निम्न प्रतिकूल प्रभाव देखने को मिले—अतिक्रियाशीलता, बेचैनी, अशान्त-चित्तता, चिड़चिड़ापन, मानसिक चंचलता, चिन्ता, वाणी सम्बन्धी दोष (विशेष रूप से हकलाना) तथा चित्त को एकाग्र कर सकने की शक्ति का अभाव।

शस्त्रादि द्वारा निर्हरण के कारण
(Due to Use of Instruments)

कठिन प्रसवों में प्रायः मूढ़-गर्भ, माता की उम्र, कद, जननांगों की प्रतिकूल स्थितियों अथवा स्वास्थ्य आदि के कारण शस्त्रादि का उपयोग करना जरूरी हो जाता है। इन उपकरणों के प्रयोग का बालक पर क्या असर होता है, इसका वहुत-कुछ संकेत ऊपर दिया जा चुका है। इनसे लगे अभिघातों का बालक के किन-किन अंगों पर क्या-क्या और कितना प्रभाव पड़ता है तथा इनके फलस्वरूप उसमें कौन-कौन-सी व्याधियाँ या विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, वे कहाँ तक साध्य या असाध्य होती हैं—इन सब बातों का विवेचन आगे किया जा रहा है।

कठिन या उपकरणज प्रसव (Difficult and Instrumental birth) में कभी-कभी खींच-तान, दवाव या संदशों (Forceps) के प्रयोग के कारण बालक को बहुत क्षति पहुँचती है। इससे उसमें निम्न विकृतियों के उत्पन्न होने की आशंका रहती है।

प्रसवशीर्षशोफ
(Caput Succedaneum)

गर्भाशय में या संकीर्ण प्रजनन-पथ में सिर के किसी भाग पर विशेष दबाव पड़ने के कारण कभी-कभी वहाँ की त्वचा में एक सीमित स्थान पर शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसी को प्रसवशीर्ष शोफ कहते हैं। इसका निर्माण अधस्त्वक् के संयोजक ऊतकों के सीरमी अन्तःस्यन्दन के फलस्वरूप होता है। यह शोफ कुछ दिनों में स्वतः दूर हो जाता है। जिन माताओं को पहले भी प्रसव हो चुके हैं, उनके बच्चे के सिर का शोफ तो कुछ घण्टों में ही दूर हो जाता है, परन्तु जिनका प्रथम प्रसव होता है, उनके बच्चे के सिर के शोफ को दूर होने में कुछ अधिक समय लग सकता है।

रक्तस्राव
(Haemorrhage)

प्रसवकाल में लगे आघातों के कारण बालक के प्रभावित अंगों से रक्तस्राव होने लगता है। इस रक्तस्राव की मात्रा तथा गंभीरता रक्तवाहिनियों की भंगुरता तथा बाहर के वायुमण्डलीय और अन्तर्गर्भाशयिक दबाव के बीच के अन्तर पर निर्भर करती है।

१. त्वचागत रक्तस्राव (Haemorrhage in the skin)—चोट गहरी भी हो सकती है और हलकी भी। रक्त बाहर भी निकल सकता है या अन्दर

ही जम सकता है। चोट के हलकी होने और रक्त के बाहर न निकलने की स्थिति में त्वचा पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दुएँ उभर आतीं हैं या कभी-कभी काले चकत्ते निकल आते हैं। सामान्यतया ऐसे रक्तस्रावी, जिनमें खरोंच या क्षत न हों, शीघ्र ही स्वतः दूर हो जाते हैं। गहरे क्षत या घावों के भरते समय उनमें विभिन्न प्रकार के संक्रमणों के प्रवेश कर जाने की आशंका बनी रहती है। ऐसी स्थिति में छोटे घावों पर आइडीन लगा देनी चाहिए और बड़े घावों की निर्जीवाणुज पट्टी कर देनी चाहिए।

२. रक्तगुल्म (Hematomas)—रक्तगुल्म प्राय. गर्दन की मांसपेशियों में उत्पन्न होते हैं। इनसे आगे चलकर मन्यास्तम्भ के उत्पन्न हो जाने की आशंका रहती है। गर्दन की पेशियों के रक्तगुल्म भी प्रायः कुछ सप्ताहों में स्वतः समाप्त हो जाते हैं। यदि दूसरे सप्ताह में मन्यास्तम्भ के उत्पन्न होने की रंचमात्र भी आशंका हो, तो बच्चे को गुनगुने पानी से स्नान कराकर उसकी गर्दन की प्रभावित पेशियों पर किसी मृदु वातनाशक तैल की हलकी मालिश करके उसे हलके से इधर-उधर घुमाना चाहिए। यदि रोग अधिक बढ़ जाय तो मन्यास्तम्भ का उपचार करना चाहिए।

३. शीर्षरक्तसंग्रह (Cephalohematoma)—इस प्रकार का रक्तगुल्म सिर के पार्श्व-प्रदेश में पर्यस्थिकला (Periosteum) और कपालास्थि के बीच स्थित केशिकाओं (Cappilaries) के फटने से उत्पन्न होता है। यह प्रायः सिर के एक ओर ही होता है। इस प्रकार के रक्तगुल्म का स्पर्श करने पर उसके ऊपरी भाग में एक अँगूठी जैसा छोटा घेरा प्रतीत होता है। कैल्शियम के अधिक मात्रा में जमा होने के कारण यह कड़ा हो जाता है और इसके गलने में काफी समय लगता है। किसी तरह के संक्रमण के प्रवेश कर जाने पर इसमें पीप की भी उत्पत्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में इसका उपचार व्रणवत ही किया जाता है।

४. अवदृढ़तानिका या अवजालतानिका (Subdural or Subarch-niod)—इस प्रकार के अन्तःकपालीय-रक्तस्रावी कपालास्थि पर लगे प्रसव-कालीन आघातों, दरारों या अस्थि के दबने-टूटने के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। ऐसे में शिरानालों या नाड़ीव्रणों का टूटना-फूटना घातक हो सकता है। अन्तःकपालीय-रक्तस्रावी आक्षेप (Convulsions), तन्द्रा, भ्रम, निद्रालुता (Somnolence) या कभी-कभी वर्त्मपात (Ptosis), पक्षाघात या जनन-तन्त्रिका के आंशिक घात (Paresis of the facial nerve) को उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे बच्चे के कटि-भेदन (Lumber-puncture) द्वारा

निकाले गये मेरु-तरल (Spinal fluid) में प्रायः रक्त भी पाया जाता है। यह अपकेन्द्रण (Centrifugation) द्वारा भी निरस्त नहीं होता। विटामिन के (K) को कमी भी अन्तःकपालीय-रक्तस्राव को उत्पन्न करती है।

अन्तःकपालीय-रक्तस्राव एक गंभीर स्थिति है। इससे पीड़ित बालक की प्रायः मृत्यु हो जाती है। उपचार है भी तो लाक्षणिक, जो वहुत ही कम प्रभावी सिद्ध होता है।

५. आन्तरिक रक्तस्राव (Internal Haemorrhage)—कभी-कभी बालक के आन्तरिक अंगों को चोट पहुँचने से वे भी फट जाते हैं और उनमें रक्तस्राव होने लगता है। ऐसे बालकों की शव-परीक्षा से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं। अधिवृक्कों (Adrenals) में रक्तस्राव होने से प्रायः बालक की मृत्यु हो जाती है। यकृत् और प्लीहा का फटना भी इसी प्रकार घातक सिद्ध होता है।

अस्थियों पर लगे आघात और उनका टूटना या भंग होना
(Injuries & Fractures of the Bones)

बालकों की अस्थियाँ बड़ी कोमल होती हैं। प्रसवकाल में संदंशों (Forceps) का प्रयोग करने से कभी-कभी उन पर भी चोट आ जाती है या वे टूट जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में मुख्य रूप से उनमें अभिघातों के निम्न रूप देखने को मिलते हैं—

(क) कपाल के अवनत भंग (Depressed fractures of the skull)—इस प्रकार के भंग प्रायः कपाल की पार्श्व अस्थियों के अग्रभाग में पाये जाते हैं। यदि यह अवनति साधारण ढंग की होती है तो उसका मस्तिष्क पर कोई प्रभाव नही पड़ता। बालक में कोई मानसिक लक्षण भी देखने को नहीं मिलता। उसमें किसी उपचार की भी जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन यदि अवनति अधिक गहरी हुई तो निश्चित रूप से उसका मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे बालक में जन्म के तुरंत बाद गंभीर मानसिक लक्षण (यथा— आक्षेप, पक्षाघात आदि) देखने को मिलते हैं। इस विकृति का एकमात्र उपचार शल्यक्रिया ही है।

(ख) कपालास्थियों में दरारें (Cracks in skull bones)—कभी-कभी अस्थियाँ पूरी तौर से भंग तो नहीं होतीं पर उनमें दरारें पड़ जाती हैं। ये दरारें अवनति के साथ या स्वतन्त्ररूप में भी पायी जा सकती हैं। ये दरारें भी प्रायः पार्श्व या अग्र भाग की अस्थियों तक ही सीमित रहती हैं। इनमें

किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नहीं होती। ये प्रायः स्वतः भर जाती हैं।

(ग) **जत्रु-भंग** (Fracture of clavicles)—उपकरणज या कभी-कभी सामान्य प्रसव की हालत में भी जत्रु की अस्थि को भंग होते या अपने स्थान से हटते देखा गया है। इस भंग को सामान्य माना जाता है। यह विना किसी उपचार के ही ठीक हो जाता है। यदि भंग पूर्ण हुआ तो हाथ और कन्धे को स्थिर रखने के लिये पट्टी बाँध दी जाती है। ७-८ दिनों में भंग जुड़ जाता है। भंग के स्थान पर हल्का शोथ और कड़ापन रह जाता है जो धीरे-धीरे स्वतः समाप्त हो जाता है।

(घ) **प्रगण्डास्थि-भंग** (Fracture of the humerus)—प्रगण्डास्थि प्रायः कम टूटती है। लेकिन जब टूट जाती है और उसके टूटे हुए भाग स्थान-च्युत हो जाते हैं तो विशेष प्रकार की स्थिर रखनेवाली पट्टी बाँधनी पड़ती है और सावधानी भी अधिक बरतनी पड़ती है।

(ङ) **ऊरु-अस्थि-भंग** (Fracture of femur)—प्रसवकाल में ऊरु-अस्थि बहुत कम टूटती है। लेकिन यदि टूट जाती है तो काफी परेशानी पैदा कर देती है। उसको अपनी जगह पर लाने के लिए खैंच कर बैठाने और प्लास्टर करने की जरूरत पड़ जाती है।

श्रमज ज्वर
(Due to Difficulties Experienced During Labour)

कुछ नवजात शिशु जन्म लेने के दूसरे से लेकर छठे दिन के वीच ज्वर-ग्रस्त होते देखे जाते हैं। ऐसा प्रायः उन बच्चों में होता है जो अपेक्षाकृत मोटे होते हैं। ऐसे बच्चों के प्रसव में स्वभावतः देर लगती है और उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वे बुरी तरह थक जाते हैं। उनमें निर्जलीभवन (Dehydration) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे में जिन बच्चों की माताओं में दूध देर से उतरता है या जो माता बच्चों को विलम्ब से दूध पिलाना आरम्भ करती हैं अथवा जो बच्चे स्तनपान करने में सुस्त या असमर्थ होते हैं वे ही प्रायः श्रमज ज्वर से पीड़ित होते हैं। जिन बच्चों की माताएँ ६ से १२ घण्टे के अन्दर दूध पिलाना आरम्भ कर देती हैं वे बच्चे इस प्रकार के ज्वर का शिकार प्रायः नहीं होते। श्रमज ज्वर प्रसव की थकान मिटने, आराम मिलने और तरल पदार्थों के उचित मात्रा में शरीर के अन्दर पहुँचने पर स्वतः शान्त हो जाता है।

प्रसवकालीन कठिनाइयों से श्रमित बालक का वर्णन करते हुये वृद्धवाग्भट ने कहा है—

ततोऽस्यातिप्रबलमोहज्वरपरीतसर्वगात्रस्य क्रोशितुमपि रुजानुरूपमसमर्थस्यानवस्थिताशेषदेहधातोरसम्भाव्ययौवनाद्यवस्थस्य क्रकचस्पर्शमिव करवसनशयनसंसर्गं मन्यमानस्याविकल्पितमङ्गानि विक्षिपतः पुनरिव मरणमनुभवतो...

—अ० सं० उ० १।३

प्रसवावस्था में माता के संकरे प्रजनन-पथ से गुजरते समय योनिभित्तियों के खिचाव के कारण बालक को मृत्यु-तुल्य कष्ट होता है। वह प्रबल मूर्च्छा का शिकार हो जाता है। शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है। अंग-अंग में पीड़ा होने लगती है। अत्यन्त पीड़ा के कारण वह रोने में भी असमर्थ होता है। शरीर की सभी धातुएँ अस्थिर हो जाती हैं। प्रजनन कराने वाले के हाथों, उपकरणों, वस्त्र, शय्या आदि का स्पर्श भी उसे पीड़ा पहुँचानेवाला होता है। छटपटाते हुए वह सम्पूर्ण अंगों को इधर-उधर फेंकने लगता है।

सहज व्याधियाँ

(Inborn Diseases)

सहज या सहजात व्याधियाँ उन व्याधियों को कहते हैं जो बालक के जन्म के साथ ही उत्पन्न होती हैं। उन्हें वह माता के पेट से लेकर आता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है—

१. संघातबल-प्रवृत्त (Congenital)।

२. आदिबल-प्रवृत्त (Heriditary)।

३. दैवबल-प्रवृत्त (External, extra-physical or unknown causes)।

संघातबल-प्रवृत्त—'संघात' का शाब्दिक अर्थ है—ऐक्य या संयोग। जब तक बालक गर्भ में रहता है, वह माता के साथ एकाकार रहता है, संयुक्त रहता है। उससे सम्बन्धित जीवन के लिए समस्त आवश्यक क्रियाएँ माता द्वारा ही सम्पादित होती हैं। माता का पोषण ही शिशु का पोषण होता है। माँ स्वस्थ रहती है तो प्रायः गर्भस्थ शिशु भी स्वस्थ रहता है। माँ की रुग्णता बालक को भी रुग्ण बना देती है। माँ में उत्पन्न हुए रोगों का बालक पर सीधा प्रभाव पड़ता है। माँ का कुपोषण बालक में कुपोषणजनित व्याधियों को उत्पन्न कर देता है। माँ में रक्त की कमी होती है तो बालक भी रक्ताल्पता का शिकार हो जाता है। माँ का यक्ष्मा बालक में भी यक्ष्मा या शोष को उत्पन्न करता है। माँ के साथ ऐक्य या संयोग के कारण उसी के प्रभावस्वरूप उत्पन्न व्याधियों को ही संघातबल-प्रवृत्त की संज्ञा दी गयी है।

आदिबल-प्रवृत्त—'आदि' के शाब्दिक अर्थ हैं—प्रारम्भिक, मुख्य, प्रधान, आदिकाल का आरंभ या मूल कारण। भौतिक दृष्टि से बालक के अस्तित्व में आने का मूल या आदि कारण है—शुक्राणु (Sperm) और अण्डाणु (Ovum) का संयोग। शुक्राणु और अण्डाणु स्वस्थ एवं विकाररहित होते हैं तो बालक भी स्वस्थ होता है। यदि ये विकारी होते हैं तो बालक में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वह जन्म से ही रुग्ण उत्पन्न होता है। माता-पिता से प्राप्त दूषित वंशबीज के कारण उत्पन्न रोगों को ही आदिबल-प्रवृत्त कहते हैं। इन्हीं को आनुवंशिक या वंशपरम्परागत रोग (Heriditary diseases) कहते हैं। आयुर्वेद में दूषित शुक्राणु के कारण उत्पन्न रोगों को

पितृज और दूषित अण्डाणु के कारण उत्पन्न रोगों को मातृज की संज्ञा दी गयी है।

दैवबल-प्रवृत्त—'दैव' शब्द आयुर्वेद में दैवी-शक्तियों या पूर्वजन्म के कर्मों के लिये प्रयुक्त हुआ है। दैवी-शक्तियों (यथा—बालग्रह) से प्रेरित और पूर्व-जन्म के कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न रोगों को ही दैवबल-प्रवृत्त कहते हैं। आयुर्वेद में अनेक ऐसे रोगों को जिनका कारण उस समय तक ठीक-ठाक ज्ञात नहीं हो सका था, इसी वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है।

आगे के अध्यायों में बालकों में जन्मजात प्रमुख रोगों को इन्हीं तीन वर्गों में बाँटकर उनका विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

अध्याय २९

गर्भोपद्रव

(Complications During Pregnancy)

गर्भावस्था में गर्भवती को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है, यथा—प्रातःकालीन जी मिचलाना या मतली, हृद्दाह, मलावरोध, बहुमूत्रता, भगकण्डु, योनिस्राव, अतस्फीत शिरा (Vericose veins), उद्वेष्टन-ऐंठन (Cramp), शोफ (Oedema), पृष्ठशूल, अनिद्रा आदि। ये कष्ट प्रायः थोड़े-बहुत सभी को होते हैं। इनमें से अनेकों को सामान्य माना जाता है। उनसे गर्भवती या गर्भ को कोई विशेष खतरा नहीं उत्पन्न होता।

लेकिन कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें यदि तुरंत न रोका गया तो वे गर्भवती और गर्भ दोनों के लिए खतरा उत्पन्न कर देती हैं। इनमें से मुख्य हैं—अत्यधिक वमन, रक्तस्राव, प्राक् गर्भाक्षेपक विषरक्तता (Pre-eclamptic toxaemia) तथा गर्भाक्षेपक (Eclampsia)।

आयुर्वेद में गर्भव्यापद् के अन्तर्गत मुख्यरूप से उन्हीं रोगों को लिया गया है, जो गर्भ या गर्भिणी अथवा दोनों को गम्भीररूप से प्रभावित करते हैं और उनके जीवन के लिये खतरा उत्पन्न कर देते हैं। इन रोगों में मुख्य हैं—गर्भावस्था में रजःस्राव, गर्भ-च्युति (गर्भस्राव तथा गर्भपात), उपविष्टक, नागोदर, लीनगर्भ, गर्भिणी का उदावर्त, मृतगर्भ एवं मूढ़गर्भ।

इनमें से उपविष्टक, नागोदर, लीनगर्भ, मृतगर्भ एवं मूढ़गर्भ का विवेचन गत अध्याय में किया जा चुका है। शेष—गर्भावस्था में रजःस्राव, गर्भच्युति तथा गर्भवती के उदावर्त का विवेचन इस अध्याय में किया जायेगा। इनके भी प्रायः वे ही कारण हैं, जो लीनगर्भ आदि के हैं। जो परिस्थितियाँ उपविष्टक आदि को उत्पन्न करती हैं, वे ही रजःस्राव, गर्भच्युति और उदावर्त को भी उत्पन्न करती हैं।

गर्भावस्था में रजःस्राव

(Bleeding from the Genital Tract)

सामान्यतया गर्भ-स्थापन के बाद गर्भवती की योनि से रक्त आना बन्द हो जाता है। परन्तु कुछ स्त्रियों में २-३ बार तक उनकी हर मासिकधर्म की निश्चित तिथियों में कुछ-न-कुछ स्राव आ जाता है। कुछ की तो ऐसी आदत ही

होती है। उनमें हर वार गर्भ-धारण के वाद यह उपसर्ग पाया जाता है। इस स्राव में कभी-कभी रक्त का अंश भी होता है। यदि स्राव की मात्रा नगण्य है, साथ में पेट या पेड़ू में किसी प्रकार की पीड़ा या अवक्षेपक गतियाँ नहीं हैं तो डरने की कोई बात नहीं। हाँ, यदि स्राव की मात्रा अधिक हो, पेट तथा पेड़ू में दर्द के साथ ही गर्भावक्षेपक गतियाँ भी हों तो इसे खतरे की घण्टी समझना चाहिए। इस स्थिति का वर्णन वृद्धवाग्भट ने निम्न शब्दों में किया है—

स्त्री चेदापन्नगर्भा परिहार्याण्यासेवेत। ततश्च यस्या बस्तिपार्श्वश्रोणियोनि-मुखेषु शूलं पुष्पदर्शनं च स्यात्। —अ० सं० शा० ४।२

जो स्त्री गर्भावस्था के लिए बतलाये गये पथ्यापथ्य का पालन नहीं करती; जो पदार्थ वर्जित हैं उन्हीं का अधिक सेवन करती है तो उसके वस्ति-प्रदेश, पार्श्व, श्रोणि और योनिमार्ग में शूल तथा योनिमार्ग से पुष्प-दर्शन (रक्तस्राव) होने लगता है।

उपचार
(Treatement)

तां मृदुसुखशिशिरास्तरणशयनस्थामीषदवनतशिरसं शीतप्रदेहपरिषेका-दिभिरुपाचरेत्। —अ० सं० शा० ४।२

जिस गर्भवती स्त्री को पीड़ा के साथ अधिक मात्रा में रक्तस्राव होने लगे, उसे तत्काल मृदु एवं सुखद शैया पर लिटा देना चाहिए। चारपाई का सिरहाना नीचा और पैताना (पैरों की तरफ वाला भाग) कुछ ऊँचा कर देना चाहिए। इससे रक्त का प्रवाह नीचे की ओर तेजी से नहीं हो पायेगा। फिर शीतल प्रदेह और शीतल परिषेक से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। चिकित्सा का वर्णन करते हुए आगे उन्होंने कहा है—

तद्यथा। सहस्रधौतेन सर्पिषाऽधोनाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्। मधुकसिद्धसर्पिषा सुशीतेन पिचुमाप्लाव्य योनिसमीपे स्थापयेत्। गव्येन पयसा मधुकाम्बुना न्यग्रो-धादिकषायेण वा परिषेचयेत्। परिपीततत्स्वरसानि च तैलानि योनौ निधापयेत्। तच्छृङ्गसिद्धस्य वा क्षीरसर्पिषः पिचुम्। —अ० सं० शा० ४।३

सहस्रधौत घृत को नाभि के नीचे पेड़ू पर पूरी तरह लगा दें। मुलेठी से सिद्ध भली प्रकार शीतल किये हुए घृत का फाया योनि में रखें। गाय के दूध अथवा मुलेठी के क्वाथ, अथवा बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर और आम या जामुन—इनकी छाल के क्वाथ से योनिप्रदेश का परिषेक (सिंचन) करें। इन्हीं बरगद आदि वृक्षों के पत्तों के स्वरस को मधु के साथ पिलायें।

इन्हीं के क्वाथ से सिद्ध घृत के फाये को योनि में रखें। बरगद आदि वृक्षों के कोमल पत्तों से सिद्ध दूध को मथकर उससे निकाले हुए घी के फाये को योनि में रखें।

यदि इतना करने पर भी रक्त न रुके, वह अधिक मात्रा में आ रहा हो तो निम्न योगों का सेवन करायें—

१. बरगद आदि के कोमल पत्तों से सिद्ध घृत।

२. दूध को मथकर निकाला हुआ मक्खन।

३. कमल, नीलोफर तथा कुमुद के पराग को मधुशर्करा के साथ।

४. धाय के फूल, गेरू, राल और रसांजन का चूर्ण मधु के साथ।

५. बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर और आम—इनकी छाल या पत्तों का कल्क मधु के साथ।

६. वृद्धि, विदारी और जीवन्ती—इनके चूर्ण को दूध के साथ।

७. नीलोफर, दूर्वा, कुम्हार के यहाँ की पकी हुई मिट्टी और चन्दनादि-गण की औषधियों को चावल के धोवन या अडूसे के स्वरस के साथ।

८. गन्ध-प्रियंगु, दूर्वा, कमलकन्द, कच्चे गूलर अथवा बरगद के कोमल पत्तों को बकरी के दूध के साथ पीसकर।

९. कसेरु, कमलनाल, सिंघाड़ा, गम्भारी, फालसा, द्राक्षा, अनन्तमूल, पुण्डरीक, अनन्ता, कमल के बीज और कदम्ब के बीज—इनके क्वाथ को मधु और शर्करा से युक्त कर उसी के साथ चावल।

१०. जीवनीयगण की औषधियों से पकाया हुआ दूध।

११. बला, अतिबला, शालिचावल, साँठी धान्य, गन्ने की जड़ और काकोली—इनके द्वारा सिद्ध किये दूध में मधु और शर्करा मिलाकर, उससे ठण्डे किये हुए लाल चावलों के भात को खायें।

१२. शीतवीर्य वाले जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ लाल चावलों का ठण्डा भात खायें।

मासानुमासिक रक्तस्रावहर योग

नीचे प्रत्येक माह के लिए अलग-अलग योग दिये जा रहे हैं। गर्भ से रक्त-स्राव या गर्भाशय में वेदना होने पर इनका उपयोग किया जा सकता है। इन्हें आवश्यकतानुसार लेकर जल या दूध में पीसकर उसी में घोलकर एवं मिश्री मिलाकर रुग्णा को पिलाना चाहिए। अथवा इनसे सिद्ध किया हुआ दूध ठण्डा कर, मिश्री मिलाकर भी दिया जा सकता है।

प्रथम मास—मुलेठी, सागवान के बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु।

द्वितीय मास—अश्मन्तक, काले तिल, मंजीठ और शतावर।

तृतीय मास—वन्दाक, क्षीरकाकोली, नीलकमल और अनन्तमूल।

चतुर्थ मास—दुरालभा, अनन्तमूल, रास्ना, भारंगी और मुलेठी।

पंचम मास—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गंभारी फल, क्षीरी वृक्षों के कोमल पत्ते या छाल और घृत।

षष्ठ मास—पृश्निपर्णी, बलामूल, सहिजन की छाल, गोखरू और मुलेठी।

सप्तम मास—सिंघाड़ा, बिस, द्राक्षा, कसेरू, मुलेठी और ख़ाण्ड।

संशोधनरूपी सम्पूर्ण क्रियाओं को छोड़कर रक्तपित्त में बतलायी गयी चिकित्सा का उपयोग करें। मन को शान्ति देने वाली रुचिकर कथा सुनायें।

यदि योनि से रक्तस्राव हुए वग़ैर ही वस्ति, पीठ और कटि में तीव्र वेदना हो तो निम्न योगों में से कोई एक देना चाहिए—

१. मुलेठी, क्षीरविदारी और देवदारु से सिद्ध दूध।

२. मंजिष्ठा, अश्मन्तक, शतावरी और क्षीरविदारी से सिद्ध दूध।

३. विदार्यादिगण की औषधियों अथवा गोखरू के स्वरस और दूध से सिद्ध घृत।

४. प्याज के रस से सिद्ध किये हुए घृत को मधु के साथ।

आवश्यकतानुसार निम्न योगों का भी प्रयोग किया जा सकता है—मुक्ता-पिष्टी, तृणकान्तमणिपिष्टी, प्रबालपिष्टी, गोदन्तीभस्म, वंगभस्म, शुभ्राभस्म, बोलपर्पटी, बोलबद्धरस, चन्द्रकलारस, कामदुधारस, सर्वांगसुन्दररस, प्रदरान्तक लौह, दार्व्यादि क्वाथ, दूर्वादि घृत, उशीरासव, अशोकारिष्ट, अरविन्दासव, सारस्वतारिष्ट—इनमें से एक या एक से अधिक औषधियों को आवश्यकता-नुसार मिलाकर उचित अनुपान के साथ दिया जा सकता है।

गर्भच्युति
(Miscarriage and Abortion)

तीन मास के पहले गर्भ का सार भाग नहीं बन पाता। अतः यदि उसके पहले ही वेदनासह तीव्र रक्तस्राव होने लगता है तो गर्भ प्रायः नहीं रुकता; वह गिर जाता है। गर्भ के धारण के समय से चौथे महीने तक नष्ट हुए गर्भ को गर्भस्राव और उसके बाद पाँचवें तथा छठे महीने में स्थिरशरीर के नष्ट होने को गर्भपात कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि चौथे महीने के बाद गर्भ घन हो जाता है। उसमें हस्तपादादि का निर्माण होना शुरू हो जाता है। इसलिए उसको स्थिरशरीर कहा गया है। सुश्रुत के शब्दों में—

आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद् गर्भविच्युतिः ।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥
—सु० नि० ८।१०

गर्भच्युति के कारण

गर्भच्युति के कारणों का संक्षेप में, पर बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम् ।
पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद् गर्भविच्युतिः ॥ —सु० नि० ८।९

जिस प्रकार कृमि (कीड़ों के द्वारा खा लिये जाने के कारण कमजोर हो जाने पर), वात (हवा के तेज झकोरों की चपेट में आ जाने के कारण) तथा अभिघात (ढेले-पत्थर फेंकने के कारण) आदि के कारण पेड़ में लगा फल समय के पहले, बिना पके ही गिर जाता है; ठीक उसी प्रकार माता के गर्भाशय में स्थित गर्भ कृमि (जीवाणुजन्य रोगों से आक्रान्त होने के कारण), वात (मिथ्या आहार-विहारजन्य प्रकुपित वात के कारण) तथा उदर पर लगे शारीरिक आघात अथवा क्रोध-शोक-चिन्ता आदि के कारण लगे मानसिक आघात के फलस्वरूप गर्भ बिना परिपक्वावस्था को प्राप्त हुए ही अकाल में ही माता की जरायु से निकल कर बाहर आ जाता है ।

वस्तुतः जो परिस्थितियाँ गर्भावस्था में रक्तस्राव को उत्पन्न करती हैं, वे ही गर्भच्युति का भी कारण बनती हैं ।

गर्भपात पूर्ण (Complete) भी होता है और आंशिक (Incomplete) भी । पूर्ण पात में गर्भाशय में जो कुछ भी होता है निकलकर बाहर आ जाता है; इसके बाद रक्तस्राव और पीड़ा दोनों धीरे-धीरे शान्त हो जाते हैं । आंशिक पात में गर्भ का कुछ भाग अन्दर ही रह जाता है । यह स्थिति अधिक खतरनाक होती है । इसमें रक्तस्राव और पीड़ा दोनों ही बढ़ जाते है और गर्भवती का जीवन खतरे में पड़ जाता है ।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में गर्भपात के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है—'एबार्शन' (Abortion) तथा 'मिसकैरेज' (Miscarriage) । व्यापक अर्थ में सामान्य प्रसव के पूर्व किसी भी प्रकार की गर्भच्युति को एबार्शन की संज्ञा दी जाती है । पर चूंकि यह शब्द काफी बदनाम हो चुका है इसलिए लोग मिसकैरिज कहना ही अधिक पसन्द करते हैं । चिकित्सा-शास्त्रीय दृष्टिकोण से, गर्भ की आयु के आधार पर सीमित चिकित्सात्मक अर्थ में ९० दिन के अन्दर हुई गर्भच्युति को ही इस नाम से पुकारा

जाता है। गर्भ के भार की दृष्टि से जिस गर्भ का भार ५०० ग्राम से कम हो तथा उत्तरजीविता की दृष्टि से जिसके गर्भ से बाहर आने के वाद किसी भी परिस्थिति में जीवित रहने की सम्भावना न हो, उसे भी 'एबार्शन' के अन्तर्गत ही लिया जाता है।

'एबार्शन' दो प्रकार का होता है—स्वतःघटित या स्वाभाविक (Spontaneous) तथा स्वेच्छा से कराया गया (Induced)। स्वतःघटित एबार्शन गर्भ के किसी दोष या दुर्घटना के कारण होता है और स्वेच्छा से कराये गये एबार्शन में कृत्रिम उपायों-औषधियों या शल्यक्रिया का सहयोग लिया जाता है।

सामान्य बोलचाल की भाषा में किसी दुर्घटनावश हुई गर्भच्युति को 'मिसकैरिज' और स्वेच्छा से कराये गये गर्भपात को 'एबार्शन' कहते हैं।

चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से सातवें महीने के पूर्व जबकि गर्भ के गर्भाशय से बाहर आकर जीवित रहने की सम्भावना न्यूनतम ही रहती है, उस काल में हुई गर्भच्युति को 'मिसकैरेज' कहते हैं। जीवित रहने की न्यूनतम सम्भावना के बाद परन्तु नवें महीने के पूर्व हुए प्रसव को 'प्रीमेच्योर-बर्थ' (अपक्व प्रसव) कहते हैं।

स्वतःघटित मिसकैरिज में प्रायः गर्भ की ही कोई-न-कोई विकृति कारण होती है। ऐसे विकृत गर्भ यदि बच जायें और पूर्ण काल तक विकसित होते रहें तो वे प्रायः असामान्य होते हैं। इसीलिए प्रकृति उन्हें पूर्णरूप से विकसित होने के पहले ही समाप्त कर देती है। कभी-कभी गर्भ गर्भाशय के बजाय फैलोपियन ट्यूब (Fallopian tube) में रोपित हो जाता है और वहीं विकसित होने लगता है। ८ से लेकर १२ सप्ताह के बीच ऐसी स्थिति आ जाती है कि जब उसे आगे विकसित होने का कोई स्थान नहीं मिलता। फलतः फैलोपियन ट्यूब फट जाता है और गर्भ की च्युति हो जाती है। कभी-कभी रतिज-रोग, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की सक्रियता में कमी या अव्यवस्था, इन्फ्लूएन्जा या वृक्क की विकृतियाँ भी इसका कारण बन जाते हैं।

गर्भच्युति का उपचार

गर्भच्युति की चिकित्सा भी गर्भ से रक्तस्राव के समान ही की जाती है। इसमें भी वही चिकित्सा-क्रम और वे ही चिकित्सा-सिद्धान्त अपनाये जाते हैं। गर्भस्राव की आशंका होते ही गर्भिणी को—

१. मृदु एवं कोमल शैय्या पर लिटा दें। जब तक वह पूरी तौर से ठीक न हो जाये, उसे लगभग दो सप्ताह तक इसी अवस्था में रखें।

२. उसकी चारपाई को पैर की ओर से कुछ ऊँचा कर दें।

३. उसे पूर्ण विश्राम दें। उस पर शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का भार न पड़ने दें।

४. उसे पतला एवं हलका भोजन दें। ध्यान रखें कि भोजन अधिक गर्म न हो।

५. तीव्र पीड़ा की हालत में पेड़ू पर बर्फ से भींगा कपड़ा या मिट्टी की पट्टी रखें। मिट्टी में २-४ रत्ती अफीम मिला दें, इससे शीघ्र लाभ होगा।

६. विरेचन या बस्ति भूल से भी न दें।

७. ठीक हो जाने के वाद भी रुग्णा धीरे-धीरे ही उठे।

८. पूर्ण प्रसवकाल तक गर्भपात के कारणों से उसकी रक्षा करें।

आगे जो योग दिये जा रहे हैं वे न केवल गर्भस्राव या गर्भपात को रोकने में सहायक हैं, प्रत्युत गर्भावस्था के अन्य उपद्रवों को भी दूर करते हैं। इनमें से आवश्यकतानुसार एक या अनेक को चुनकर उचित अनुपान के साथ प्रयोग किया जा सकता है—

गर्भपालरस, गर्भविलासरस, गर्भचिन्तामणिरस, गर्भविनोदरस, बृहत्गर्भ-चिन्तामणिरस, इन्दुशेखर, प्रवालपंचामृत, वोलपर्पटी, स्वर्णभाक्षिकभस्म, प्रवालभस्म, वंगभस्म, मुक्ताभस्म, मुक्ताशुक्तिभस्म, तृणकान्तमणिपिष्टी, मुक्ता-पिष्टी, चन्द्रप्रभावटी, शिलाजत्वादि, सितोपलादिचूर्ण, महाद्राक्षादिचूर्ण, वासावलेह, पुष्कर-अवलेह, दूर्वादिघृत, शतावरीघृत, द्राक्षारिष्ट, अशोकारिष्ट, लोहासव, लोध्रासव, उशीरासव, गर्भविलास तैल आदि।

मासानुमासिक गर्भस्रावहर योग

नीचे अलग-अलग महीनों में होने वाले गर्भस्राव में सहायक कुछ चुने हुए योग दिये जा रहे हैं। ये न केवल स्राव या पात को रोकते हैं, प्रत्युत श्रोणि-प्रदेश में होनेवाली पीड़ा को भी दूर करते हैं—

प्रथम मास में

१. श्वेतचन्दन, शतावर, खाण्ड और मल्लिका—इन्हें तण्डुलोदक के साथ पीसकर दूध में घोलकर पिलायें।

२. तिल, पद्माख, पद्मकन्द तथा शालिचावल—इन्हें दूध के साथ पीस-कर दूध ही में घोलकर मधु एवं खाण्ड मिलाकर पिलायें।

द्वितीय मास में

नीलकमल, सिंघाड़ा और कसेरू को तण्डुलोदक के साथ पीसकर, उसी में घोलकर खाण्ड मिलाकर पिलायें।

तृतीय मास में

१. क्षीरकाकोली, काकोली और आँवले को पीसकर मन्दोष्ण जल के साथ पिलायें।

२. लालकमल, नीलकमल, कूठ, पद्मकन्द—इन्हें शर्करामिश्रित जल के साथ पीसकर दूध में घोलकर पिलायें।

चतुर्थ मास में

१. नीलकमल तथा कमल की जड़, कटेरी की जड़ और गोखरू—इन्हें दूध के साथ पीसकर, उसी में घोलकर खाण्ड मिलाकर पिलायें।

२. गोखरू, बड़ी कटेरी की जड़, सुगन्धबाला और कमल—इन्हें दूध के साथ पीसकर खाण्ड मिलाकर पिलायें।

पंचम मास में

१. नीलकमल और क्षीरकाकोली को दूध और दूध से चौगुने पानी में सिद्ध कर, दुग्धावशेष रहने पर मधु एवं मिश्री मिलाकर पिलायें।

२. नीलकमल, प्रियंगु और काकोली—इन्हें शीतल जल में पीसकर, दूध में घोलकर मिश्री मिलाकर पिलायें।

षष्ठ मास में

१. बिजौरे के बीज, प्रियंगु, लालचन्दन और नीलकमल—इन्हें दूध के साथ पीस कर दूध ही में घोलकर मिश्री मिलाकर पिलायें। अथवा,

२. चिरौंजी, किशमिश और धान की खील—जल में पीसकर पिलायें।

सप्तम मास में

१. शतावर और मृणाल को दूध के साथ पीस, उसी में घोल एवं मिश्री मिलाकर पिलायें। अथवा,

२. कत्था, सुपारी की जड़, और खीलें—जल में पीस, दूध में घोलकर, मिश्री मिलाकर पिलायें।

अष्टम मास में

१. धनिए को तन्दुलोदक के साथ पीसकर पिलायें। अथवा,

२. ढाक के कोमल पत्तों को जल के साथ पीस, शीतल जल में घोलकर मिश्री मिलाकर पिलायें।

नवम मास में

१. एरण्ड की जड़ और काकोली को शीतल जल के साथ पीस, उसी में घोल कर मिश्री मिलाकर पिलायें। अथवा,

२. पलाश के बीज, काकोली और झिण्टी की जड़ को कांजी के साथ पीसकर पिलायें।

प्रमुख शास्त्रीय एवं पेटेण्ट योग—गर्भोपद्रवों में भी गत अध्याय में वर्णित गर्भरक्षक एवं गर्भपोषक योगों का सफलतापूर्वक व्यवहार किया जा सकता है।

उदावर्त

उदावर्त शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—उद्+आवर्त। उद् का अर्थ है—ऊपर या बाहर एवं आवर्त का है—घुमाव, चक्कर, बवण्डर, भँवर आदि। जिस तरह बाहर की वायु अधिक कुपित होकर बवण्डर का रूप धारण कर लेती है, उसी तरह शरीर के अन्दर की वायु भी कुपित होकर आँधी-बवण्डर से कम हानि नहीं पहुँचाती। सारी क्रियाओं को संचालित करनेवाली वही है। उसके कुपित होने से शरीर की समस्त कियाएँ अव्यवस्थित हो जाती हैं। दूषित हो जाती हैं।

उदावर्त में अपान वायु विशेषरूप से दूषित हो जाती है। जैसा कि ज्ञात हैं कि अपानवायु मुख्यरूप से गुदा में रहती है और श्रोणि (कटि, चक्र, जघन-मण्डल), बस्ति, मेहन और ऊरु (ऊर्ध्व जंघा) में विचरती है। शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र एवं गर्भ को बाहर निकालती है। सामान्यतया इसकी गति नीचे की ओर होती है। परन्तु विकृत हो जाने पर इसकी गति विपरीत दिशा में होने लगती है। उदावर्त में इसके आवर्त नीचे की बजाय ऊपर की ओर जाने लगते हैं। फलतः शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र एवं गर्भ के स्वाभाविक प्रवर्तन की गति अवरुद्ध हो जाती है, उसमें बाधा पड़ने लगती है।

उदावर्त के कारण

साधारणतया उदावर्त रोग के दो कारण बतलाये गये हैं—१. अधारणीय वेगों का धारण या जबर्दस्ती रोकना तथा २. अधिक मात्रा में रूक्ष, कषाय, कटु और तिक्त रसयुक्त भोजन करना। वेगधारण मुख्यतया उदावर्त को उत्पन्न करते हैं और कटु-तिक्त-कषाय आदि पदार्थों के सेवन की अधिकता उदावर्त और आनाह दोनों को उत्पन्न करते हैं—

वातविण्मूत्रजृम्भास्रक्षवोद्गारवमेन्द्रियाः।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसम्भवः॥

—माधव-निदान २७।१

अधोवायु, मल, मूत्र, जंभाई, अश्रु, छींक, उद्गार, वमन, शुक्र, भूख, प्यास, श्वास तथा निद्रा के वेगों को रोकने से उदावर्त की उत्पत्ति होती है—

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्यः उदावर्तं करोति हि॥ —मा० नि० २७।१३

कोष्ठ में स्थित वायु रूक्ष, कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त पदार्थों के सेवन से कुपित होकर शीघ्र ही उदावर्त रोग की उत्पत्ति करता है।

उदावर्त के लक्षण

वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै ।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥
ततो हृद्वस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः ।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान् ।
वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान् ।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥

—मा० नि० २७।१४-१६

वात (अपानवायु), मूत्र, मल, रक्त, कफ तथा मेद का वहन करनेवाले स्रोतों की गति प्रतिलोम हो जाती है । मल सूख कर कड़ा हो जाता है । इससे रोगी के हृदय तथा वस्ति में तीव्र पीड़ा होती है । जी मितलाता है । भोजन में अरुचि हो जाती है । अपानवायु, मल और मूत्र के स्वाभाविक वेगों में रुकावट पैदा हो जाती है । कास, श्वास, प्रतिश्याय, दाह, मोह, प्यास, ज्वर, वमन, हिचकी, सिर के रोग, मनोविभ्रम, श्रवणविभ्रम तथा वातप्रकोपजन्य अन्य अनेक रोग हो जाते हैं ।

उदावर्त आनाह को उत्पन्न करता है । मलमूत्रादि के रुक जाने से पेट फूल जाता है । रोगी को अत्यधिक पीड़ा होने लगती है । इसका वर्णन करते हुए आचार्य माधव ने कहा है—

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन ।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥

—मा० नि० २७।१७

जिस अवस्था में आमरस अथवा पुरीष आमाशय अथवा पक्वाशय में जाकर धीरे-धीरे संचित होता रहे तथा विगुण वात से अवरुद्ध होकर जिस मार्ग से उसे निकलना चाहिए उस मार्ग से न निकल सके, उसी अवस्था को आनाह करते हैं ।

आनाह के लक्षण

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः ।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृल्लास उद्गारविघातनं च ॥
स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा स शकृद्वमेच्च ।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति लिङ्गानि चात्रालसकोद्भवानि ॥

—सु० उ० ५६।२१-२३

आनाह के दो भेद हैं—आमरसजन्य तथा पुरीषजन्य ।

आमरसजन्य आनाह में प्यास, प्रतिश्याय, सिर में जलन, आमाशय में शूल तथा भारीपन, जी मितलाना एवं डकार का न आना आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

पुरीष या पक्वाशयजन्य आनाह में कमर और पीठ अकड़ जाते हैं तथा उनमें पीड़ा होती है । मल तथा मूत्र का आना बन्द हो जाता है । कष्ट से रोगी बेहोश हो जाता है । कभी-कभी पुरीष की वमन भी करता है । वमन में पुरीष की-सी दुर्गन्ध आती है । श्वास तथा अलसक रोग के-से लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं ।

उदावर्त और आनाह कष्टसाध्य रोग माने जाते हैं । गर्भिणी में ये और भी जटिल रूप धारण कर लेते हैं, विशेषकर उस समय जब गर्भ बढ़ी हुई अवस्था में हो । उसकी जरा सी-भी उपेक्षा माँ और बच्चे दोनों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है ।

उदावर्तो हि समुपेक्षित: सहसा सगर्भां गर्भिणीमतिपातयेत् ।

—अ० सं० शा० ४।२५

गर्भवती के उदावर्त की उपेक्षा करने से वह सहसा गर्भ और गर्भवती स्त्री दोनों को समाप्त कर देता है ।

उपचार

यस्या: पुनरुदावर्तविबन्ध: स्यात्तां वातहरस्निग्धान्नपानैरुपाचरेत् । अष्टमे तु मासे मधुकसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । तदसिद्धौ वीरणशालिकुशकाशेक्षुबालिका-वेतसपरिव्याधमूलानां भूतीकानन्ताकाश्मर्यपरूषकमधूकमधुकमृद्वीकानां च पयसा-ऽर्धोदकेनोद्गृह्य रसं तेन प्रियालबिभीतकमज्जतिलकल्कयुक्तेनेषल्लवणोष्णेन निरूहयेत् । विगतविबन्धां च स्नाताशितां सायं तेनैव तैलेनानुवासयेत् ।

—अ० सं० शा० ४।२३-२४

उदावर्त रोग में वातनाशक एवं स्निग्ध औषधियों एवं खानपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

यदि आठवें महीने में इस तरह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो सबसे पहले रुग्णा को मुलेठी से सिद्ध तैल की अनुवासन वस्ति देनी चाहिए । यदि इससे उदावर्त न हटे तो वीरण, शालि, कुश, काश इक्षुबालिका (फुलिया गन्ना) जलवेतस (वेदमुश्क), परिव्याध (वेत) की जड़, तथा अजवाइन, सारिवा, गंभारी, फालसा, मुलेठी और द्राक्षा को दूध में आधा जल मिलाकर पकावें । जब इनका रस निकल जाय तब उसे छानकर उसमें चिरौंजी, बहेड़े की गिरी

की मज्जा, तिल और थोड़ा-सा नमक पीसकर मिला दे। फिर इसी की गरम-गरम सुहाती हुई निरूह वस्ति दें। वस्ति न्युब्ज-स्थिति में देना चाहिए। औषधि देने से जब विबन्ध रुक जाय तब स्नान कराकर भोजन दे। सायंकाल फिर मुलहठी से सिद्ध किये हुए तैल की अनुवासन वस्ति देनी चाहिए।

उदावर्त का सामान्य चिकित्सा-सिद्धान्त

आस्थापनं मारुतजे स्निग्धस्विन्नस्य शस्यते।
पुरीषजे तु कर्तव्यो विधिरानाहिकस्तु यः॥

वातज उदावर्त में प्रथम रोगी को स्नेहन और स्वेदन कराकर आस्थापन कर्म करना (निरूहण वस्ति देना) श्रेष्ठ है। पुरीषजन्य उदावर्त में वक्ष्यमाण आनाह की चिकित्सा करनी चाहिए।

उदावर्त में बरते जानेवाले महत्त्वपूर्ण योग हैं—हिंग्वादि चूर्ण, नाराच चूर्ण, पिपल्यादि क्वाथ, हिंग्वादि वर्ति, फलवर्ति, त्रिवृदादि गुटिका, आगार-धूमादि वर्तियाँ, स्थिराद्यघृत आदि।

अध्याय ३०

गर्भशोष, कामला एवं रक्तपित्त

गर्भशोष : लक्षण एवं निदान

(Atrophy of the Foetus : Symptoms and Aetiology)

कभी-कभी रक्ताल्पता, कुपोषण तथा वातप्रकोपक आहार-विहार के कारण गर्भस्थ शिशु को उचित मात्रा में आहाररस की प्राप्ति नहीं हो पाती। रसधातु के अभाव में उसका उचित पोषण नहीं हो पाता। जिस प्रकार जल के अभाव में पौधे की न केवल वृद्धि ही रुक जाती है, प्रत्युत वह मुरझाने और सूखने भी लगता है; उसी प्रकार रसधातु के अभाव या उसकी कमी से गर्भस्थ शिशु में भी शोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी को गर्भशोष कहते हैं। गर्भशोष के कारण गर्भ के स्पन्दन में कमी आ जाती है। उसकी आकारिक वृद्धि रुक-सी जाती है। फलतः माता के पेट का आकार भी जितना बढ़ना चाहिए, नहीं बढ़ पाता।

गर्भशोष की चिकित्सा

गर्भशोष की चिकित्सा का निर्देश करते हुए कहा गया है—

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानाञ्चापि शुष्यताम्।
सितामधुककाश्मर्यैर्हितमुत्थापने पयः॥ भै० र० स्त्रीरोगा०

अर्थात् वायु के प्रकोप से गर्भ के शुष्क होने पर उसके पोषण के लिए मुलहठी और गम्भारी के फल से सिद्ध दुग्ध में शर्करा मिलाकर गर्भिणी स्त्री को नित्य पिलाना चाहिए। जन्म के उपरान्त भी शोष से ग्रस्त बालक को इसका पान कराने से वह हृष्ट-पुष्ट हो जाता है।

गर्भशोष में भी पच्चीसवें अध्याय में वर्णित उपविष्टक, नागोदर एवं लीनगर्भ के लिए बतलाये गये चिकित्सा-क्रम को अपनाया जा सकता है। वे सभी औषधियाँ इसमें भी लाभदायक सिद्ध होती हैं।

जन्मोपरान्त होनेवाले शोष रोग या सुखण्डी का विस्तृत विवेचन क्षीरान्नादकालीन व्याधियों के अन्तर्गत किया जायेगा।

कामला

(Jaundice)

कामला का प्रधान लक्षण है शरीर की त्वचा का पीला हो जाना। चरक ने इसे पाण्डु-रोग की ही प्रवर्धमान अवस्था माना है। इसके लक्षणों का वर्णन करते हुए माधव ने कहा है—

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥ चि.चि. १६।३५-३६

कामला में नेत्र, त्वचा, मुख और नाखून हल्दी के रंग जैसे हो जाते हैं। मल और मूत्र रक्तमिश्रित पीतवर्ण के दिखलायी पड़ते हैं। रोगी का वर्ण बरसाती मेंढक के समान हो जाता है। उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त रोगी दाह, अपच, दुर्बलता, शरीर-शैथिल्य तथा अरुचि से विशेषरूप से पीड़ित हो जाता है। कामला में पित्त की मात्रा बढ़ जाती है। इसके दो भेद होते हैं—कोष्ठाश्रयी और शाखाश्रयी।

बालकों में कामला के लक्षण
(Neonatal Jaundice)

बालकों में कामला के जो लक्षण व्यक्त होते हैं, उनपर प्रकाश डालते हुए काश्यप ने कहा है—

पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः ।
उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः ॥ काश्यप-सू. २५।३५

नेत्र, नख, मल और मूत्र पीले हो जाते हैं। अग्नि मन्द पड़ जाती है। उत्साह तथा सक्रियता में अत्यधिक कमी आ जाती है।

प्राकृत कामला (Physiological Jaundice)—नवजात शिशुओं में पाया जानेवाला कामला प्रायः प्राकृत या अवैकारिक कामला होता है। इसका प्रधान लक्षण है त्वचा का पीलापन। यह पीलापन अधिकांश नवजात शिशुओं में पाया जाता है। केवल मात्रा की भिन्नता होती है। इसमें समय से पूर्व जनमे बच्चों में लगभग ९० प्रतिशत की त्वचा पीली होती है। यह पीलापन शरीर की समग्र त्वचा पर पाया जाता है। किसी-किसी में मुँह की श्लेष्मलकला पर भी कुछ प्रभाव दिखलायी देता है। पर नेत्रों के श्वेत-पटल इससे अप्रभावित रहते हैं। जन्मोपरान्त ३-४ दिन तक यह पीलापन और भी गहराता मालूम होता है। उसके बाद घटने लगता है। सातवें से लेकर दसवें दिन के बीच यह एकदम समाप्त हो जाता है। कुछ बच्चों में यह पीलापन महीने भर तक बना रहता है। लेकिन उनकी हथेलियों और पैर के तलुओं पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। उनके मल और मूत्र भी अप्रभावित रहते हैं। न तो मल का वर्ण बदलता है और न मूत्र में पित्त-वर्णक (Bile pigments) पाये जाते हैं। रक्त में बिलीरूबिन (Bilirubin) का स्तर अवश्य कुछ ऊंचा उठ जाता है।

प्राकृत कामला का कारण नवजात शिशु के अपरिपक्व यकृत् द्वारा रक्त-रंजकों (बिलीरूबिन) के अतिरिक्त भार को न सम्भाल पाना है। रक्तरंजकों का यह अतिरिक्त भार रक्त के घटकों के तीव्र गति से अवखण्डन या विच्छेदन के कारण होता है। इसका दूसरा कारण कुछ नवजात शिशुओं में उनकी सामूहिक पित्त-नलिका का अपूर्ण विस्फारण (Incomplete dilation of the common bile duct) होता है। ऐसे नवजात शिशुओं में जन्म के तुरन्त बाद या अगले ३-४ दिनों तक पित्त-वर्णक (Biliary pigments) उनके रक्त-संचरण में आकर मिलते रहते हैं। वे ही उसकी त्वचा को पीताभ बना देते हैं।

उक्त दोनों बिन्दुओं को ठीक से समझने के लिए शरीर में पित्त के निर्माण और उसकी क्रिया की थोड़ी जानकारी आवश्यक है। पित्त का वर्ण हरा-पीला होता है। इसका निर्माण यकृत् (Liver) में होता है। उसमें से आकर यह पित्ताशय (Gallbladder) में जमा होता है। पित्त एक छोटी पित्त-नलिका के द्वारा सीधे छोटी आँत में पहुँचता है। इसे सामूहिक पित्त-नलिका (Common bile duct) कहते हैं। पित्ताशयवाहिनी (Cystic duct) नामक एक और छोटी नलिका पित्ताशय को सामूहिक पित्त-नलिका से जोड़ती है। जब भी वसा आमाशय से छोटी आँत में पहुँचती है, यह पित्ताशय और यकृत् दोनों से ही पित्त के प्रवाह को उत्तेजित करती है। पित्त न केवल वसा के पचाने और उसके अवचूषण में सहायक होता है, बल्कि आमाशय से आये अम्लों को भी निष्प्रभावी बना देता है। पित्त में ही एक भूरे रंग का पदार्थ पाया जाता है, जिसे बिलीरूबीन कहते हैं। यह रक्त तथा मूत्र में भी थोड़ी मात्रा में वर्तमान रहता है। पित्तवर्णक ही मल के रंग को पीला बनाते हैं। कामला के रोगी में इन रक्तवर्णकों की ही असामान्य रूप से वृद्धि हो जाने के कारण उनकी त्वचा और श्वेत-पटल का रंग पीला हो जाता है। ऐसे नवजात शिशुओं में जिनकी सामूहिक पित्त-नलिका का पूर्णरूप से विस्फारण नहीं हो पाता उनमें पित्त छोटी आँत में जाने के बजाय रक्त में ही मिलता रहता है। कुछ नवजात शिशु ऐसे भी होते हैं जिनका न तो यकृत् ही ठीक से परिपक्व होता है और न पित्त-नलिका ही पूर्णरूप से विस्फारित होती है।

कामला के कुछ और भी प्रकार हैं—पित्तवाहिनियों की जन्मजात अपरिपक्वता के फलस्वरूप उत्पन्न कामला (Jaundice due to congenital immaturity of bile ducts), सिफिलिसी कामला (Syphlitic Jaundice), पूतिक या विषाक्त कामला (Septic Jaundice), केन्द्रकीय कामला

(Nuclear Jaundice), यकृत्-शोथजन्य कामला (Due to hepatitis) इत्यादि। लेकिन कामला के ये रूप बच्चों में बहुत ही कम पाये जाते हैं।

पित्तवाहिनियों की जन्मजात अपरिपक्वता के कारण उत्पन्न कामला— इसमें त्वचा और श्वेतपटल का रंग गहरा पीला या श्याव-पीत हो जाता है। मल का रंग भी बदल जाता है। मूत्र गाढ़ा-पीला होने लगता है। ऐसे बच्चों का यकृत् निश्चित रूप से बढ़ा हुआ होता है। यह एक प्रकार की विकासात्मक विसंगति (Developmental anomaly) है और इसका उपचार मात्र शल्यक्रिया द्वारा ही सम्भव है। ऐसी शल्यक्रिया भी उन्हीं की की जा सकती है, जिनमें पित्ताशय होता है। केवल सामूहिक पित्त-नलिका में किसी प्रकार का अवरोध ही होता है। ऐसे में पित्ताशय को सीधे छोटी आँत के साथ जोड़ दिया जाता है।

केन्द्रकीय कामला—यह सबसे अधिक गंभीर और घातक होता है। इसकी उत्पत्ति मस्तिष्क के कुछ क्षेत्रों और आधारी गंडिकाओं (Basal ganglions) में विक्षतियों (Lesions) के फलस्वरूप होती है। इसमें आक्षेप (Convulsions), अंशघात (Paresis) और पक्षाघात (Paralysis) भी साथ-साथ पाये जाते हैं। ऐसे रोगियों के शव-परीक्षण में उनके मस्तिष्क में रक्तवर्णकों की उपस्थिति पायी जाती है।

यह नवजात शिशुओं का एक रक्त-संलायी रोग (Haemolytic disease) है और कभी-कभी एक ही माता-पिता के कई बच्चों में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति गर्भावस्था में ही रक्त का निर्माण करने वाले तत्वों के विखंडन के कारण होती है। जन्म के बाद यह संवृत्ति अत्यधिक तीव्र गति से बढ़ने लगती है।

इस प्रकार की विकृति उन्हीं बच्चों में देखी जाती है जो अपनी पितृ परम्परा से तो रीसस-कारक (Rhesus factor) को प्राप्त करते हैं। परन्तु माता में उसका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि रीसस-घनात्मक बच्चा (Rhesus positive child) रीसस-ऋणात्मक (Rhesus negative) माता से उत्पन्न होता है। भ्रूण का रीसस-घनात्मक रक्त (Rhesus positive blood) माता के रक्त के साथ मिलकर एक प्रकार के ऐसे प्रतिपिण्डों (Antibodies) का निर्माण करते हैं, जिन्हें रीसस-विरोधी समूहिकाएँ (Antirhesus agglutinins) कहते हैं। ये प्रतिपिण्ड भ्रूण के रक्त-संचरण में पहुँचकर लोहित-कोशिकाओं (Erythrocytes) के समूहन की सृष्टि करते हैं। लोहित-कोशिकाओं का यह समूहन भ्रूण के रक्त के

आधारभूत तत्वों के विखण्डन (Haemolysis) का कारण बनता है। फलतः विलीरूविन एक बड़ी संख्या में उसमें जमा हो जाते हैं। नवजात शिशु का यकृत् अभी इस सीमा तक विकसित नहीं होता कि वह इन अतिरिक्त विलीरूवीनों को विसंदूषित (Decontaminate) कर ऐसी घुलनशील अवस्था में परिवर्तित कर दे जिससे वे आसानी से शरीर के वाहर निकल जायँ। रक्त में विलीरूवीन का अतिरिक्त मात्रा में जमा हो जाना ही कामला का कारण वनता है। जव ये विलीरूबीन अत्यधिक मात्रा में मस्तिष्क की केशिकाओं में प्रवेश कर जाते हैं तब उनका विषाक्त प्रभाव केन्द्रीय-तन्त्रिका-तन्त्र की विसंगतियों को उत्पन्न करता है।

केन्द्रकीय कामला से ग्रस्त अधिकांश शिशु प्रायः मृत्यु का ग्रास वन जाते हैं। जो बच भी जाते हैं उनमें केन्द्रीय-तन्त्रिका-तन्त्र (Central nervous system) की गंभीर एवं जटिल विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यथा—मस्तिष्क का अविकसित रह जाना, अंशघात, पक्षाघात आदि।

केन्द्रकीय कामला का एकमात्र उपचार रीसस-ऋणात्मक रक्त का प्रतिस्थापन-आधान (Substitution transfusion) है। यह क्रिया पैदा होने के दो दिनों के अन्दर ही की जानी चाहिए। गंभीर स्थितियों में वालक के उत्पन्न होते ही गर्भनाल के द्वारा ही रक्त-आधान कर दिया जाता है। प्रतिस्थापन-रक्ताधान एक जटिल क्रिया है। इसे किसी योग्य और अनुभवी चिकित्सक द्वारा ही सम्पादित किया जाना चाहिए।

ऐसे वालकों के मामले में वड़ी सावधानी बरतने की जरूरत होती है। शुरू में कम से कम २०-२२ दिनों तक उसी को स्तनपान कराना चाहिए जिसने बच्चे को अपना रक्त दिया हो। माता के दूध में अभी भी प्रतिपिण्डों के रहने की सम्भावना रहती है। २०–२२ दिनों में वे स्वतः समाप्त हो जाते हैं। उसके वाद माता बच्चे को अपना दूध पिला सकती है।

चिकित्सा

वाग्भट ने सहज (उल्वक) रोगों के लिए विशेषरूप से बिल्वादि घृत का उपदेश किया है। पाठकों की जानकारी के लिए इसे नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

बिल्वादिमूलबृहतीपञ्चकोलं पलांशकम् ।
धन्वमांसपलान्यष्टौ शशमूर्धनः पलाष्टकम् ॥
साधयेत् षोडशगुणे सलिलेऽष्टांशशेषितम् ।
तेन क्वाथेन कर्षांशं घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥

छगलीमूत्रमदिरादधिक्षीरसमांशकम् ।
विडङ्गसैन्धवाजाजीचविकादेवदारुभिः ॥
सहिस्राहिङ्गुलशुनैः सव्योषैः श्लक्ष्णकल्कितैः ।
तत् पानाद्धन्ति सहजगुल्महिध्मानिलामयान् ॥
पाण्डुरोगं च वातोत्थं स्वस्थवृत्ते च पुष्टिदम् ।

—अ० सं० उ० २।१४०-४३

बिल्वादि पंचमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, गम्भारी तथा पाटला), बड़ी कटेरी, पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ)—ये ग्यारह द्रव्य एक-एक पल तथा जांगल मांस आठ पल, खरगोश का सिर आठ पल—इन सबका सोलह गुने जल में क्वाथ करें। अष्टमांश शेष रहने पर छान लें। फिर इस क्वाथ के बराबर बकरी का मूत्र, मदिरा, दूध और दही लें। घी एक प्रस्थ लें। विडंग, सेंधानमक, जीरा, चव्य, देवदारु, जटामांसी, हींग, लहसुन तथा त्रिकुटा—प्रत्येक एक कर्ष लेकर बारीक चूर्ण कर लें। इन सबके संयोग से यथा-विधि घृत का पाक करें।

इस घृत का पान करने से सहज रोग—गुल्म, हिक्का, वातरोग तथा वातजन्य पाण्डुरोग नष्ट होते हैं। स्वस्थ बालकों को देने से भी यह उनके शरीर को पुष्ट करता है। बल एवं वर्ण को बढ़ाता है।

पाण्डुरोग से पीड़ित बालक के लिए उन्होंने दो योग और भी बतलाये हैं—

१. मूर्वा, आँवला तथा हलदी का चूर्ण मधुमिश्रित गोमूत्र से।

२. त्रिफला और भांगरे के रस से सिद्ध घृत।

प्रमुख कामलाहर योग—मण्डूरभस्म, माणिक्यभस्म, लौहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, रसमाणिक्य, पंचामृतपर्पटी, आरोग्यवर्धनी, ताप्यादिलौह, नवायसलौह, पुनर्नवादिमण्डूर, लोहासव, पुनर्नवासव आदि।

पेटेण्ट योग—लिवोट्रिट : पीडियाट्रिक (झण्डु), लिव-५२ (हि० ड्र० कं०), लिवोमिन (चरक), लिवरोल (वैद्यनाथ) तथा लिवरबून (मार्तण्ड)।

रक्तपित्त

(Haemophilia)

रक्तपित्त एक ऐसा रोग है जिसमें प्रकुपित पित्त से प्रेरित रक्त अनायास शरीर-मार्गों से बाहर आने लगता है। जब रक्त का आना प्रारम्भ होता है तो जल्दी रुकता-जमता नहीं। रक्तपित्त की निरुक्ति करते हुए चरक ने कहा है—

संयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः ।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥

—च० चि० ४।९

रक्त और पित्त इन दोनों का संयोग होने के कारण पित्त द्वारा रक्त को दूषित करने के कारण तथा इन दोनों की गन्ध और वर्ण में समानता होने के कारण विद्वानों ने इस रोग को रक्तपित्त की संज्ञा दी है ।

रक्त के बाहर आने के मार्ग स्वाभाविक भी हो सकते हैं और क्षतज आदि भी । प्रायः स्वाभाविक मार्गों से आने वाले रक्त को आयुर्वेद में रक्तपित्त की संज्ञा दी गयी है । जब यह ऊपर के मार्गों (मुँह, नाक आदि) से बाहर आता है, तब इसे ऊर्ध्वग और जब नीचे के मार्गों (गुदा, योनि या शिश्न) से बाहर आता है तब उसे अधोग रक्तपित्त कहते हैं । जब ऊपर-नीचे दोनों ही ओर के मार्गों से आने लगता है तब इसे उभयग कहते हैं । कभी-कभी रोग की अतिउग्र अवस्था में रक्त समस्त रोमकूपों से एक साथ बाहर आने लगता है ।

शरीर में चोट लगने या व्रण आदि के कारण भी रक्तस्राव होने लगता है । चोट या व्रण से निकलने वाला रक्त या तो स्वतः जमकर निकलने के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है या उपचार करने पर शीघ्र निकलना बन्द हो जाता है । परन्तु एक दोष ऐसा भी होता है जिससे पीड़ित होने पर ज़रा-सी भी चोट-खरोंच लग जाये और रक्त निकलने लगे तो जल्दी रुकता नहीं । सामान्य उपचार से ऐसे रोगी को जल्दी लाभ नहीं होता । कभी-कभी रक्त निकलते-निकलते उसकी मृत्यु तक हो जाती है । यद्यपि आयुर्वेद-संहिताओं में इस प्रकार के रक्तपित्त का कहीं पृथक् से वर्णन नहीं मिलता, परन्तु रक्तपित्त की साध्यता-असाध्यता का वर्णन करते हुए जो कुछ कहा गया है, उसमें इसका संकेत अवश्य मिलता है । यथा—

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ।
यत् त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥—च० चि० ४।१४

जो रक्तपित्त मन्दाग्निवाले पुरुष को होता है और रक्त अति वेग से निकलता है, वह चाहे एकदोषज हो, द्विदोषज हो या त्रिदोषज हो, असाध्य होता है । और भी—

सप्तच्छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः, साध्यमूर्ध्वगम् ।
याप्यं त्वधोगं मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ॥

यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च।
वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥
—च० चि० ४।१६-१७

सिर में ७ छिद्र होते हैं और नीचे दो। ऊध्वर्ग रक्तपित्त साध्य होता है और अधोग याप्य। जो रक्तपित्त दोनों मार्गों से एक साथ प्रवृत्त होता है वह असाध्य होता है और जब शरीर के सभी छिद्रों, रोमकूपों से निकलने लगता है तो उस गिनी न जा सकने वाली गति को आन्तिकीगति अर्थात् प्राणों का हरण करने वाली कही जाती है।

वस्तुत: इस प्रकार का रक्तपित्त एक कुलज रोग है जो केवल बालकों में पाया जाता है। इसे अंगरेजी में हीमोफिलिया (Haemophilia) कहते हैं। यह माता के विकृत बीजदोष से उत्पन्न होता है। यह माता से बालक में आकर तो व्यक्त हो जाता है, परन्तु बालिकाओं में व्यक्त नहीं होता। वे जहाँ भी जाती हैं अपने साथ उस दोषपूर्ण वंशबीज को ले जाती हैं। हाँलाकि उनके अपने रक्त में इस विकृति के कोई लक्षण नहीं पाये जाते पर उनसे वह उनकी पुरुष-सन्तानों में पहुँचकर व्यक्त होता है।

इससे पीड़ित रोगी के रक्त में स्कन्दन या थक्का बनकर जमने की गति बहुत धीमी होती है। फलस्वरूप यदि किसी घाव या चोट से रक्त निकलना शुरू हुआ तो वह एक लम्बे समय तक निकलता ही रहता है। ऐसे बच्चे को यदि कोई चोट लग जाय, चाहे वह अन्दरूनी हो या बाहरी, छोटी हो या बड़ी और उससे रक्तस्राव होने लगे तो वह जल्दी रुकता नहीं। ऐसे में यदि तुरंत प्रभावी उपचार का सहारा न लिया जाय तो वह रक्तस्राव बालक के लिए घातक हो जाता है। अन्दरूनी चोट की हालत में उसके ऊतकों तथा सन्धियों में रिस-रिस कर स्कन्दित रक्त उसमें अनेक असमर्थताओं को उत्पन्न कर सकता है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार इस प्रकार की विकृति का प्रमुख कारण रक्त के प्लाज्मा (Plasma) में एक हीमोफीलिया-रोधी कारक (Anti-haemophilic factor) की कमी है। इसे AHF भी कहते हैं। रक्त के स्कन्दन में सहायक और भी कारक हैं। पर उनमें से किसी की कमी इतनी भयंकर एवं जटिल स्थिति उत्पन्न नहीं करती जितनी हीमोफीलिया-रोधी कारक की कमी करती है।

ऐसे बालकों को प्राय: आपाती स्थितियों (Emergencies) से उतना खतरा नहीं होता, जितना कि लगातार धीरे-धीरे रिसने वाले घावों से होता

है। ऐसा प्रायः दाँत निकालने या टान्सिल के आपरेशन के बाद की स्थितियों में होने लगता है। सामान्य व्यक्तियों में पेट, आँत, गले, नासारन्ध्र या शरीर के ऊतकों से कहीं भी किसी भी रोग, चोट, क्षोभ या किसी औषधि के प्रतिक्रियास्वरूप रक्तस्राव होने लगे तो उपचार द्वारा उसे शीघ्र ही रास्ते पर लाया जा सकता है। लेकिन यदि इसी प्रकार का रक्तस्राव किसी हीमोफीलिया-ग्रस्त रोगी को होने लगे तो उसके जीवन को भयंकर खतरा पैदा हो सकता है।

उपचार

रोधक उपायों के रूप में ऐसे बालकों की अभिघात एवं दुर्घटनाओं से पूर्ण रक्षा आवश्यक है। इसमें शस्त्रकर्म की स्थिति भी यथासम्भव नहीं आने देना चाहिए—

क्षीणमांसबलं वृद्धं बालं शोषानुबन्धिनम्।
अवाम्यमविरेच्यञ्च स्तम्भनैः समुपाचरेत्॥

—भै० र०, रक्तपिताधिकार० ७

जिसका बल और मांस क्षीण हो गया हो, जो वृद्ध, बाल या शोष रोग से पीड़ित हो तथा वमन और विरेचन के अयोग्य हो, ऐसे रोगी के प्रवृत्त हुए रक्त को रोकने का उपाय तुरन्त करना चाहिए।

उपचार

प्रमुख रक्तपित्तहर योग—अकीकभस्म, कपर्दकभस्म, प्रवालभस्म, मुक्ताभस्म, लौहभस्म, संगजरातभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, एलादिबटी, बोलपर्पटी, कामदुधारस, चन्द्रकलारस, रक्तपित्तान्तकरस, दूर्वादिघृत तथा उशीरासव।

पेटेण्ट योग—स्टिपलोन (हि० ड्र० कं०), पोजेक्स (चरक), सेनीलाइन ड्राप्स (डाबर), बावलीघास घनसत्त्व (गर्ग बनौषधि) तथा खटिक, प्रवाल एवं वासा के सूचीवेध।

अध्याय ३१

बीजदोषज फिरंग

(Congenital Syphilis)

फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत् ।
तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥

चूंकि यह रोग फिरंग नामक देश में अधिकता से होता है। इसलिए व्याधि-विशारदों ने इसे फिरंग रोग कहा है।

फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।
बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ध्रुवम् ॥
तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक् ।
स्फुटितो व्रणवद्वेद्यः सुखसाध्योऽपि स स्मृतः ॥
सन्धिष्वाभ्यान्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् ।
शोथश्च जनयेदेषः कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः ॥

—भावप्रकाश : चिकित्साप्रकरण ५९

यह फिरंग रोग तीन प्रकार का होता है—बाह्य, आभ्यान्तर और बहिरन्तर्भव।

बाह्य फिरंग विस्फोट के समान होता है। इसमें पीड़ा कम होती है तथा व्रण के समान फूटता है। इसे सुखसाध्य कहा गया है।

आभ्यान्तर फिरंग सन्धियों में होता है। इसमें आमवात के समान व्यथा होती है। इसमें शोथ भी होता है। इसे कष्टसाध्य कहा गया है।

बहिरन्तर्भव में दोनों के ही लक्षण पाये जाते हैं। इस रोग के उपद्रवों का वर्णन करते हुये आगे उन्होंने कहा है—

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता ।
अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी ॥

कृशता, बल का क्षय, नासाभंग, अग्निमांद्य, अस्थिशोष तथा अस्थियों का टेढ़ा होना—ये फिरंग रोग के उपद्रव हैं।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इस रोग को सिफिलिस (Syphilis) कहते हैं। यह रतिजरोगों (Venereal diseases) में सबसे अधिक खतरनाक माना जाता है। इसकी उत्पत्ति ट्रपोनीमा पैलिडम (Treponema pallidum) जीवाणु से होती है। इसका संक्रमण प्रायः सम्भोगकाल में स्त्री से

पुरुष में और पुरुष से स्त्री में होता है। रोगग्रस्त माता से उसके गर्भस्थ शिशु में भी होता है।

बीजदोषज फिरंग की अवस्थाएँ

इस रोग की तीन अवस्थायें होती हैं—

पहली अवस्था—संक्रमण के कुछ दिन बाद ही संक्रमण से पीड़ित स्थान (जननेन्द्रिय) पर एक कठोर व्रण जैसा बन जाता है। इसे शैंकर (Chancre) कहते हैं।

दूसरी अवस्था—सात से लेकर दस सप्ताह के बीच इसका विष समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है। सारा शरीर विस्फोटों से व्याप्त हो जाता है। मुँह के अन्दर तथा जननेन्द्रिय पर घाव हो जाते हैं। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र और नेत्र भी इसके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाते हैं। इस अवस्था में यह रोग सबसे अधिक संक्रामक होता है।

तीसरी अवस्था—इलाज किया जाय या न किया जाय, कुछ समय बाद समस्त बाहरी उपद्रव शान्त हो जाते हैं। ऊपर से लगता है कि रोग अच्छा हो गया; पर अच्छा होने के बजाय अव्यक्त रूप धारण कर वह अन्दर प्रवेश कर जाता है और कुछ समय (कभी-कभी वर्षों) बाद भयंकर उपद्रवों के रूप में प्रकट होता है। रोगी का सारा शरीर (अन्दर और बाहर) रबर के समान अर्बुदों, जिन्हें गम्मा (Gumma) कहते हैं, से भर जाता है। इसके विषाक्त प्रभाव से रोगी को हृदय-रोग, मस्तिष्क-रोग, गति-विभ्रम, अंशघात, पक्षाघात आदि हो सकते हैं। आँखों की ज्योति भी समाप्त हो सकती है।

बीजदोषज फिरंग

यदि माता में फिरंगरोग का विष पहले से वर्तमान है या गर्भावस्था में बीच में उसको इसका संक्रमण लग जाता है तो माता से यह विष गर्भस्थ शिशु में प्रवेश कर जाता है। ऐसा प्रायः गर्भावस्था के द्वितीयार्ध में अपरा (Placenta) द्वारा होता है। इससे पहले अपरा द्वारा माता और गर्भस्थ शिशु का संसर्ग इतना घनिष्ट नहीं हो पाता कि संक्रमण उसमें प्रवेश कर सके।

फिरंग के विष के प्रभावस्वरूप अनेक बच्चे गर्भ में ही मर जाते हैं। कुछ अंधे, बहरे या अन्य कई तरह की विकलांगताओं से ग्रस्त होकर पैदा होते हैं। जो बच भी जाते हैं, उनमें पैदा होने के बाद यह रोग अपना रंग दिखाता है। शुरू में तो उनमें कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते, पर तीन महीने के अन्दर फिरंग रोग की द्वितीयावस्था के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं। उसके बाद तीसरी अवस्था के भी लक्षण व्यक्त होने लगते हैं।

माता का संक्रमण जितना ही नया होता है, रोग की भयानकता उतनी

ही उग्र होती है। गर्भस्राव, गर्भपात, मृतगर्भ, सहज फिरंग आदि इसी के प्रतिफल हैं। यदि किसी अनुपचारित स्त्री में मूल संक्रमण के दो से पाँच वर्ष के बाद कोई सन्तान जन्म लेती है तो उसमें सहज फिरंग के लक्षण भी अपेक्षाकृत देर से व्यक्त होते हैं।

सहज फिरंग को दो वर्गों में बाँटा गया है—प्रारम्भिक या पूर्ववर्ती सहज फिरंग (Early congenital syphilis) और विलम्बित या परवर्ती सहज फिरंग (Late congenital syphilis)। आगे इनके लक्षणों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रारम्भिक सहज फिरंग

इसमें बच्चा प्रायः समय के पूर्व ही पैदा हो जाता है। वह जन्म के समय सामान्य मालूम होता है। पर दो सप्ताह से लेकर तीन महीने अन्दर ही उसमें संक्रमण का प्रभाव व्यक्त होने लगता है। लक्षण जितनी ही जल्दी व्यक्त होते हैं, रोग उतना ही उग्र होता है। बच्चे की वृद्धि रुक जाती है। शरीर पर शोफ और दिदोरे उभर आते हैं। ये दिदोरे द्वितीय अवस्था की विक्षतियों की विशेषताओं से युक्त होते हैं। शरीर के दोनों ओर के भागों पर ये समान आकार के तथा समान दूरी पर प्रकट होते हैं। इनमें किसी प्रकार की पीड़ा या खुजली नहीं होती। इनका वर्ण ताँबे के समान होता है। ये विक्षतियाँ पेशीपिडिकाओं की तरह जलस्फोटी या व्रण के समान हो सकती हैं। हथेलियों और पैर के तलुओं में विशल्कन (छिलना या खाल उतरना) हो सकता है। मुँह के दोनों कोने फट जाते हैं। मुँह की श्लेष्मलकला के अन्दर भी घाव हो जाते हैं। नाक के अन्दर की श्लेष्मलकला के घाव धीरे-धीरे बीच की तरुणास्थि को समाप्त कर देते हैं जिससे नाक बीच में दब कर घोड़े की काठी का आकार धारण कर लेती है। गुदा तथा योनि के चारों ओर काण्डिलोमेटा (Condylomata) प्रकट हो जाते हैं।

यकृत् की विकृतियों से कामला हो जाता है। वृषण में शोथ हो जाता है। अस्थियों में विक्षतियाँ और शोथ हो जाते हैं। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र भी शीघ्र ही इसके प्रभावक्षेत्र में आ जाता है। मस्तिष्कमेरु-तरल (Cerebrospinal fluid) में कोषों और प्रोटीन की मात्रा बढ़ जाती है। ऐसे में यदि मस्तिष्कावरणशोथ हो जाय तो घातक सिद्ध होता है।

विलम्बित सहज फिरंग

विलम्बित सहज फिरंग के लक्षण अपेक्षाकृत देर से प्रकट होते हैं। इसमें बच्चे का आकार छोटा, शरीर दुबला-पतला एवं रंग फीका या पीताभ होता

है। प्रारम्भिक विक्षतियों के फलस्वरूप उत्पन्न क्षत-चिह्न उसमें व्यक्त हो सकते हैं। उसकी नाक बीच से वैठी हुई हो सकती है। उसमें परिद्वार क्षत-चिह्न (Rhagades) और उभार हो सकते हैं। उसके दूध के दाँत ठीक से विकसित नहीं हो पाते। स्थायी दाँत भी पूर्ण व्यवस्थित नहीं हो पाते। ऊपर के दोनों केन्द्रक ऊपर को उठे हुए हो सकते हैं। तीन वर्ष की वय के बाद कभी भी उसकी अन्तर्जंघिकाएँ खड्गाकार हो सकती हैं। तालु में छेद हो सकता है। नाक एकदम चपटी हो सकती है। उसके घुटने के जोड़ प्रभावित हो सकते हैं। त्वचा, यकृत्, फेफड़ों और लम्बी हड्डियों पर रबर के-से गुम्मड़ (Gummata) निकल सकते हैं। तिल्ली बढ़ सकती है। वृक्कों में शोथ हो सकता है। अन्तराली स्वच्छपटलशोथ (Interstitial Keratitis) हो सकता है। ये सब प्रायः ६ से १२ वर्ष की वय के बीच व्यक्त होते हैं। अनेकानेक उपद्रवों के बीच उसकी आँखों की ज्योति भी समाप्त हो सकती है।

मस्तिष्कावरणीय-वाहिकामय फिरंग (Meningo-vascular syphilis) उसके केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र पर भी स्थायी प्रभाव डालता है। धीरे-धीरे उसकी बौद्धिक क्षमताएँ मन्द होती जाती हैं। आक्षेप, पक्षाघात, जलशीर्षता (Hydrocephaly) आदि के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। दृष्टि क्षीण होते-होते समाप्त हो जाती है। श्रवण-तन्त्रिकाओं या कान के अन्दर की अस्थियों की विकृति के कारण सुनने की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। हृदय और रक्तवाहिनियाँ प्रायः अप्रभावित रहती हैं।

उपचार

फिरंग रोग की चिकित्सा काफी जटिल है। इसके लिए प्रस्तावित अधिकांश योग विष-मिश्रित या उग्रस्वरूप वाले होते हैं। इनका बच्चों पर बहुत हो सोंच-समझ कर प्रयोग करना चाहिए। यथासम्भव सौम्य औषधियों से ही काम चलाने का प्रयास करना चाहिए।

उपदंशहर प्रमुख योग—तालभस्म, पारदभस्म, तुत्थभस्म, प्रवालपिष्टी, अष्टमूर्तिरसायन, व्याधिहरण, गन्धकरसायन, रसशेखर, रसमाणिक्य, प्रवालपंचामृत, चन्दनादिवटी, केसरादिवटी, चोपचीन्यादिचूर्ण, पटोलादिक्वाथ, मंजिष्ठादिक्वाथ, सारिवाद्यासव, खदिरारिष्ट, देवदार्वाद्यरिष्ट, त्रिफलाक्वाथ, भृंगराज-स्वरस।

बाह्य प्रयोग के लिए—करंजादि घृत, काशीसादि घृत, आगारधूमादि तैल जम्ब्वादि तैल, गोजी तैल, कोषातकी तैल, पारदादि लेप, करवीरमूल लेप, त्रिफलासामषी लेप, रसाञ्जनादि लेप, उपदंशारि मलहम इत्यादि।

अध्याय ३२

राजयक्ष्मा

(Tuberculosis)

अनेकरोगानुगतो वहुरोगपुरोगमः ।
राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः ।

—अ० सं० नि० ५।२

राजयक्ष्मा को रोगों में सबसे अधिक बलवान् तथा रोगों का राजा माना जाता है । जिस प्रकार राजा कभी अकेला नहीं चलता, जब भी उसकी सवारी निकलती है, कुछ लोग आगे चलते हैं, कुछ पीछे । ठीक उसी प्रकार यक्ष्मा कभी अकेला नहीं होता । ज्वर, कास, श्वास, पीनस आदि इसके पूर्वरूप हैं। उपद्रव के रूप में कुछ उसके पीछे-पीछे चलते हैं ।

तात्पर्य यह है कि यक्ष्मा अनेक लक्षणों से युक्त एक उपद्रवग्रस्त रोग है । इसका रोगी पहले प्रायः नहीं बचता था ।

राजयक्ष्मा, क्षय, शोष और रोगराट् पर्यायवाची शब्द हैं । इनकी व्याख्या करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—

देहौषधक्षयकृतेः क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः ।
रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु राजनात् ॥

—अ० सं० नि० ५।४

इस रोग से ग्रस्त रोगी का शरीर तो क्षय होता ही है, साथ-साथ शरीर में गयी हुई औषधि का भी क्षय होता है; वह भी अपना कोई प्रभाव नहीं दिखला पाती । शरीर और औषधि दोनों का ही नाश कर देने के कारण इसे 'क्षय' की संज्ञा दी गयी है । प्राणी के शरीर में उत्पन्न होकर यह धीरे-धीरे उसकी रस, रक्त आदि समस्त धातुओं का शोषण करता रहता है, इसलिए इसे 'शोष' कहा गया है । रोगों में सबसे अधिक आभा, सबसे अधिक दीप्ति इसी में होती है, इसीलिए इसको रोगराट् कहा गया है ।

राजयक्ष्मा के लक्षण

(पूर्वरूप)

रूपं भविष्यतस्तस्य प्रतिश्यायो भृशं क्षवः ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं सदनं वह्निदेहयोः ॥

स्थाल्यमत्रान्नपानादौ शुचावप्यशुचीक्षणम् ।
मक्षिकातृणकेशादिपातः प्रायोऽन्नपानयोः ॥
हृल्लासश्छर्दिररुचिरश्नतोऽपि बलक्षयः ।
पाण्योरवेक्षा पादास्य शोफोऽक्ष्णोरतिशुक्लता ॥
बाह्वोः प्रमाणजिज्ञासा काये बैभत्स्यदर्शनम् ।
स्त्रीमद्यमांसप्रियता घृणित्वं मूर्धगुण्ठनम् ॥
नखकेशातिवृद्धिश्च स्वप्ने चाभिभवो भवेत् ।
पतङ्गकृकलासाहिकपिश्वापदपक्षिभिः ॥
केशास्थितुषभस्मादिराशौ समधिरोहणम् ।
शून्यानां ग्रामदेशानां दर्शनं शुष्यतोऽम्भसः ॥
ज्योतिर्गिरीणां पततां ज्वलतां च महीरुहाम् ।

—अ० सं० नि० ५।८-१४

प्रतिश्याय, छींकों का आना, लालास्राव, मुख में मधुरता, अग्नि की मन्दता, शरीर की शिथिलता, थाली, पत्र अथवा खान-पान आदि के पवित्र होने पर भी उसमें अपवित्रता का दर्शन, खान-पान आदि की सामग्री में प्रायः मक्खी, तिनका, वाल आदि का गिर जाना, जी मतलाना, अरुचि, वमन, खाते रहने पर भी शारीरक वल का क्षय, अकारण हथेलियों को देखना, पावों में शोथ, हाथों में सफेदी, शरीर में बीभत्सता के दर्शन, स्त्री, मद्य और मांस में रुचि, घृणा की वृद्धि, वस्त्रादि से मुँह का ढाँपना, नाखून और वालों का अधिक बढ़ना, स्वप्न में अग्नि, गिरगिट, साँप, बन्दर, कुत्ता, पक्षी आदि को देखना; वाल, अस्थि, तुष, राख आदि के ढेर पर चढ़ना; शून्य ग्राम या देशों को देखना, सूखे हुए जलाशयों को देखना, पर्वतों में आग, वृक्षों को जलते हुए या गिरते हुए देखना—ये सभी यक्ष्मा के पूर्वरूप हैं।

रूप या लक्षण

पीनसश्वासकासांसमूर्ध्वस्वररुजोऽरुचिः ।
ऊर्ध्वं विट्स्रंसंशोषावधश्छर्दिस्तु कोष्ठगे ॥
तिर्यक्स्थे पार्श्वरुक्दोषे सन्धिगे भवति ज्वरः ।
रूपाण्येकादशैतानि जायन्ते राजयक्ष्मिणः ॥

—अ० सं० नि० ५।१५-१६

राजयक्ष्मा में दोषों के ऊर्ध्वगामी हो जाने पर पीनस, श्वास, कास, अक्षक प्रदेश में दर्द, सिरदर्द, स्वरभेद और अरुचि की उत्पत्ति होती है। दोषों के कोष्ठ में आ जाने से अतिसार, मलशोष और वमन के लक्षण प्रकट होते

हैं। दोषों के तिरछे हो जाने पर पार्श्वों में दर्द तथा दोष के सन्धि में जाने पर ज्वर की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राजयक्ष्मा के ग्यारह प्रधान लक्षण होते हैं।

उपद्रव

तेषामुपद्रवान् विद्यात् कण्ठोद्ध्वंसमुरोरुजम्।
जृम्भाङ्गमर्दनिष्ठीववह्निसादास्यपूतिताः ॥

—अ० सं० नि० ५।१७

पीनस आदि के कारण गले का बैठना, छाती में दर्द, जम्भाई आना, अंगों का टूटना, थूक-आना, अग्निमांद्य तथा मुख से दुर्गन्ध आना, ये राजयक्ष्मा के उपद्रव हैं।

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप, रूप और उपद्रवों से रोग की जटिलता और गम्भीरता का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है।

बालकों में राजयक्ष्मा का स्वरूप

बालकों में उत्पन्न होनेवाले राजयक्ष्मा को शोष या सुखण्डी कहते हैं। शोष से पीड़ित बालक के रस-रक्त आदि धातुओं के क्षय होते चले जाने के कारण उसका शरीर सूखता चला जाता है। वृद्धवाग्भट ने शोष के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—

अत्यहःस्वप्नशीताम्बुश्लैष्मिकस्तन्यसेविनः।
शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतस्सु रसवाहिषु ॥
अरोचकः प्रतिश्यायो ज्वरः कासश्च जायते।
कुमारः शुष्यति ततः स्निग्धशुक्लमुखेक्षणः ॥

—अ० सं० उ० २।६३-६४

दिन में बहुत सोना, शीतल जल का उपयोग तथा कफदुष्ट-स्तन्य पीना—ये शोष को उत्पन्न करनेवाले प्रधान कारण हैं। इन कारणों से प्रकुपित हुआ कफ बालक के रसवहस्रोतों को अवरुद्ध कर देता है। रसवहस्रोतों के अवरुद्ध हो जाने के कारण अन्य धातुओं का पोषण नहीं हो पाता। वे सूखती जाती हैं। इससे बालक दिनों-दिन कृश एवं बलहीन होता जाता है। अरुचि, प्रतिश्याय, ज्वर तथा कास आदि उत्पन्न हो जाते हैं। बालक सूख जाता है। उसका मुख और आँखें सफेद एवं स्निग्ध हो जाती हैं।

जैसा कि हमने गत अध्याय में देखा कभी-कभी माता के अपचार अथवा बीजदोष के कारण बालक गर्भ में ही सूखने लगता है। या अन्य आदिबल-प्रवृत्त रोगों के समान इसका बीज गर्भ से लेकर ही उत्पन्न होता है और जन्म के बाद वह व्यक्त होता है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में इसे ट्यूबरक्युलोसिस (Tuberculosis) कहते हैं। यह एक संक्रामक रोग है जो माइकोबैक्टीरियम-ट्यूबरक्युलोसिस (Myco-bacterium Tuberculosis) नामक जीवाणु से उत्पन्न होता है। यूँ तो फेफड़े ही सबसे अधिक इससे प्रभावित होते हैं पर स्वरयन्त्र, अस्थियाँ, सन्धियाँ त्वचा, लसिका-ग्रन्थियाँ, आँतें, गुर्दे, तन्त्रिका-तन्त्र आदि भी इसके प्रभाव-क्षेत्र में आ सकते हैं। इसका संक्रमण रोगी द्वारा छोड़ी गयी सांस तथा उसके द्वारा खाये एवं स्पर्श किये गये भोजन-पेय आदि में वर्तमान जीवाणुओं द्वारा फैलता है। रोगी के थूक-खखार, छींक, खाँसी आदि से भी इसके जीवाणु फैलते हैं। थूक के सूख जाने या मिट्टी में मिल जाने पर भी इसके जीवाणु शीघ्र नष्ट नहीं होते। यक्ष्मा से ग्रस्त पशुओं का दूध पीने से भी यक्ष्मा हो सकता है।

वड़े-वड़े शहरों में रहनेवाले वहुत से लोग टी० बी० के जीवाणुओं के प्रति अपने-आप को अरक्षित छोड़ देते हैं। उनमें विभिन्न मात्राओं में संक्रमण घर कर जाता है। आरम्भ में तो उनमें कोई लक्षण नहीं व्यक्त होते। फिर भी शहरों में भीड़-भाड़, प्रदूषण, चारों ओर फैली गन्दगी और अन्य कमजोर करनेवाली वीमारियों के फलस्वरूप उनकी टी० वी० के जीवाणुओं के प्रति रोधी-क्षमता धीरे-धीरे अत्यधिक कमजोर पड़ जाती है और टी० बी० का संक्रमण आसानी से उनमें अपनी जड़ें जमा लेता है।

टी० बी० को दो प्रधान वर्गों में बाँटा गया है—

१. फुप्फुस यक्ष्मा (Pulmonary Tuberculosis)।

२. कंगु यक्ष्मा (Miliary Tuberculosis)।

फुप्फुस यक्ष्मा—इसमें रोग का असर सीधे रोगी के फेफड़ों पर होता है। प्रारम्भिक अवस्था में कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। इसलिए जिन क्षेत्रों में इस रोग की आशंका होती है, वहाँ लोगों को नियमित रूप से अपना एक्स-रे कराते रहना जरूरी होता है। यदि रोग का प्रारम्भिक अवस्था में ही पता लग जाये तो उसका उपचार आसानी से किया जा सकता है।

फुप्फुसीय यक्ष्मा के प्रधान लक्षण हैं—भार में कमी, कमजोरी, खाँसी, खखार में खून का अंश तथा ज्वर जो दिन में धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।

कंगु यक्ष्मा—इसमें जीवाणु अत्यधिक संख्या में शरीर के भिन्न-भिन्न भागों को आक्रान्त करते हैं। वे जिस अंग में भी जाते हैं, वहाँ संक्रमण के ज्वार या बाजरे के आकार के छोटे-छोटे गढ़ बना लेते हैं। लैटिन में इसे 'मीलियरि' कहते हैं; जिसका अर्थ होता है ज्वार या वाजरा। इसी से इसका यह नाम पड़ा। शरीर के जिस अंग में ये गढ़े बन जाते हैं उन्हीं के आधार

पर इसका नामकरण किया जाता है—यथा कशेरुकोपांग यक्ष्मा (Appendiceal or vertebral t.), संध्यस्थि यक्ष्मा (Arthrosteal t.), वक्षभित्ति-यक्ष्मा (Chestwall t.), तन्तुकिलाटी यक्ष्मा (Fibrocaseous t.), ग्रन्थि यक्ष्मा (Glandular t.), आन्त्र यक्ष्मा (Intestinal t.) आदि। इस प्रकार आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इसके अनेक भेद मिलते हैं। इस प्रकार का यक्ष्मा मस्तिष्कावरण तक को प्रभावित करता है जिसे यक्ष्माजन्य मस्तिष्कावरणशोथ (Tubercular Meningitis) कहते हैं। यह एक अति गम्भीर रोग है। मेरुदण्ड का यक्ष्मा (Spinal t.) मेरुदण्ड को झुकाकर कूबड़ जैसा बना देता है।

पिछली शताब्दी के प्रारम्भ तक ऐसा विश्वास किया जाता था कि बच्चों को टी० बी० नहीं होता। लेकिन बाद में इस क्रम में किये गये अध्ययनों से पता चला कि शरीर में इसकी जड़ें प्रायः बचपन में ही जमती हैं। बचपन में इसके लक्षण बड़ों की अपेक्षा अवश्य कुछ कम एवं भिन्न होते हैं। अन्य रोगों के कारण मृत बच्चों में बहुतों में उनकी शव-परीक्षा के दरम्यान टी० बी० की विक्षतियाँ पायी गयीं।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान टी० बी० को वंशपरम्परागत रोग नहीं मानता; लेकिन यदि माता टी० बी० के जीवाणुओं की वाहक या टी० बी० से ग्रस्त है तो गर्भस्थ शिशु भी इसके संक्रमण से प्रभावित हो सकता है। वह जन्म से ही इस रोग का शिकार हो सकता है।

उपचार

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि यक्ष्मा और शोष एक ही रोग के दो नाम है। बालकों में उत्पन्न होने वाले यक्ष्मा को ही बालशोष या सुखण्डी की संज्ञा दी गयी है। अतः वे सभी योग जो बालशोष की चिकित्सा के अन्तर्गत बतलाये गये हैं या क्षीरान्नाद-व्याधियों के अन्तर्गत शोष के प्रकरण में बतलाये जायेंगे, इसमें भी उपयोगी सिद्ध होते हैं।

राजयक्ष्मा-नाशक प्रमुख योग—दशमूलक्वाथ, अश्वगंधादिक्वाथ, त्रयोदशांगक्वाथ, बलादिचूर्ण, शृंग्यर्जुनाद्यचूर्ण, सितोपलादिचूर्ण, तालीसादिचूर्ण, एलादिचूर्ण, कर्पूराद्यचूर्ण, वासावलेह, च्यवनप्राशावलेह, द्राक्षारिष्ट, अरविन्दासव, यक्ष्मारिलौह, यक्ष्मान्तकलौह, शिलाजत्वादिलौह, रजतादिलौह, कुमारकल्याणरस, क्षयकेशरीरस, शृंगाभ्र, चन्द्रामृतरस, कुमुदेश्वररस, रसेन्द्रगुटिका, कल्याणसुन्दर, कांचनाभ्ररस, मृगांकरस, सर्वांगसुन्दररस, मुक्ता-

पंचामृत, लक्ष्मीविलासरस, पिप्पलीघृत, निर्गुण्डीघृत, वलाद्यघृत, अजापंचक-घृत, छागलाद्यघृत, जीवन्त्यादिघृत, चन्दनादितैल, लाक्षादितैल तथा चन्दन-वलालाक्षादितैल ।

क्षीरप तथा क्षीरान्नाद अवस्था में माता अथवा धात्री को पथ्यापथ्य का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। यक्ष्मा में बकरी का दूध आवश्यक पथ्य है।

राजयक्ष्मा के रोगी पर जलवायु-परिवर्तन का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। पहाड़ों पर की जलवायु विशेषरूप से उनके लिये स्वास्थ्यवर्धक सिद्ध होती है।

अध्याय ३३

प्रमेह एवं कुष्ठ

प्रमेह

प्रचुरं वारम्वारं वा मेहति, मूत्रत्यागं करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेहः ।

जिसमें रोगी प्रचुर मात्रा में और वार-वार मूत्रत्याग करता है, उसे प्रमेह कहते हैं । प्रमेह के लक्षण—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।

—अ० हृ० नि० १०।७

मूत्र का अधिक मात्रा में आना और गंदला होना—ये प्रमेह के दो सामान्य लक्षण हैं ।

दोषों के प्रकोप और मूत्र में आने वाली वस्तु, वर्ण, प्रकृति आदि के आधार पर प्रमेह के २० भेद वतलाये गये हैं । लेकिन अन्ततोगत्वा ये सभी मधुमेह में परिवर्तित हो जाते हैं—

कालेनोपेक्षिताः सर्वे यद्यान्ति मधुमेहताम् ।
मधुरं यच्च सर्वेषु प्रायो मध्विव मेहति ।।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ।

—अ० हृ० नि० १०।२०-२१

उपेक्षा करने पर तथा समय के वीतने के साथ-साथ सभी प्रकार के प्रमेह मधुमेह में बदल जाते हैं । शरीर के स्वभाव से ही मधुर हो जाने से सभी प्रमेहों में मधु के समान मूत्र आने लगता है । इसलिए सभी मेहों को मधुमेह की संज्ञा दी जाती है । काश्यप ने भी बच्चों में होने वाले प्रमेह के जो लक्षण वतलाये हैं, वे मधुमेह से ही अधिक मेल खाते हैं—

गौरवं बद्धता जाडयमकस्मान्मूत्रनिर्गमः ।
प्रमेहे मक्षिकाक्रान्तं मूत्रं श्वेतं घनं तथा ।। —का. सू. २५।२२

प्रमेह से पीड़ित बालक का शरीर भारी हो जाता है । उसके स्वभाव में जड़ता आ जाती है । शरीर जकड़ा हुआ-सा मालूम होता है । अकस्मात् मूत्र निकल जाता है । मूत्र का वर्ण श्वेत तथा आकार घन होता है । जहाँ वह मूत्रत्याग करता है, वहाँ मक्खियाँ आकर बैठने लगती हैं ।

प्रमेह के कारण

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥

—च० चि० ६।४

मोटे, मुलायम, गुदगुदे बिस्तर पर सोना, अधिक सोना, दही खाना, ग्राम्य, जलजन्तु तथा आनूप प्राणियों के मांसरस का सेवन, दुग्ध-सेवन, नवीन अन्न, नवीन वर्षाजल, गुड़ (चीनी भी) या गुड़ के बने पदार्थ तथा अन्य तरह-तरह के कफवर्धक पदार्थों का सेवन करना ही प्रमेह का उत्पादक हेतु है ।

गर्भावस्था में जब माता उपर्युक्त चीजों का सेवन करती है तो गर्भस्थ शिशु पर भी उसका प्रभाव पड़ता है ।

मधुमेह की प्रवृत्ति रोगी में कुलज या वंशपरम्परागत भी हो सकती है । इस प्रवृत्ति को वह अपने माता-पिता से अव्यक्त या अप्रभावी विशेषताओं के रूप में प्राप्त करता है । इसका बीज उसमें जन्म से ही वर्तमान रहता है । पैदा होने के बाद अनुकूल परिस्थितियों को पाकर उसके लक्षण व्यक्त हो जाते हैं । चरक ने ऐसे रोगी को 'जातः प्रमेही' कहा है । देखिये—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥

—च० चि० ६।५७

कुलज या वंशपरम्परागत प्रमेह या मधुमेह असाध्य होता है । यह बीज-दोष की उपज है । गर्भाधान-काल में जो बीज उसे माता-पिता से अण्डाणु और शुक्राणु के रूप में प्राप्त होता है, वही दोषपूर्ण होता है । उसी में बालक के मूत्रवहसंस्थान का निर्माण करने वाले अंगों से सम्बन्धित जीन (Gene) प्रमेह या मधुमेह की प्रवृत्ति होती है । वहीं से उसका लगाव सन्तान में भी हो जाता है । इसलिए उसे असाध्य कहा गया है ।

आधुनिक विज्ञान भी अभी तक जीन को ही बदल देने या उसके किसी अंश को परिवर्तित कर देने की विधि का आविष्कार नहीं कर पाया है ।

इतना ही नहीं, इस प्रकार के और भी जो कुलज रोग हैं; चरक ने उन सभी को असाध्य कहा है । इस प्रकार के रोग औषधि, पथ्यापथ्य और सद्वृत्त का पालन करने से दबे तो रह सकते हैं, पर सर्वथा निर्मूल नहीं हो सकते ।

बच्चों में मधुमेह का स्वरूप

दो साल से कम उम्र के बच्चों में तो शायद ही कभी इस रोग के लक्षण

पाये जाते हों। दो साल से पाँच साल की अवस्था के बीच कुछ में इसके लक्षण व्यक्त होते देखे जाते हैं।

मधुमेह से पीड़ित बच्चे का भार तेजी से घटने लगता है। प्यास अत्यधिक बढ़ जाती है। पेशाब बार-बार और अधिक मात्रा में होता है। यहाँ तक कि रात में बिस्तर पर भी सोते में पेशाब हो जाता है। इसलिए शैया-मूत्र से पीड़ित बच्चों की मूत्र-परीक्षा अवश्य करा लेनी चाहिए। बालिकाओं में भग-शोथ के लक्षण भी देखे जाते हैं।

मधुमेह का रोगी अपने को थका-थका-सा और कमजोर अनुभव करता है। स्वभाव से वह चिड़चिड़ा हो जाता है। भूख भी अपेक्षाकृत अधिक लगती है। मीठे की विशेष चाह होती है। त्वचा पर सूखापन और हथेलियों तथा तलुओं पर पीलापन आ जाता है। जबान सूखी, लाल और साफ होती है। साँस में शुक्ता (Acetone) की गंध आती है। बच्चे का शरीर तेजी से क्षीण होने लगता है।

इस रोग का सबसे प्रमुख उपद्रव है—कीटोनमयता (Ketosis)। यदि इसका तत्काल उपचार न किया गया तो रोगी भ्रम, तन्द्रा तथा संन्यास का शिकार हो सकता है। अन्दर की ओर साँस लेने में उसे कठिनाई होने लगती है। किसी-किसी को पेट में पीड़ा होने लगती है। यह पीड़ा बढ़कर एपेण्डिसाइटिस (Appendicitis) की पीड़ा की तरह हो जा सकती है। त्वचा सूखने लगती है। अति-मूत्रता, तेज साँस तथा वमन के कारण निर्जलीभवन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है; फलतः रक्तचाप गिरने लगता है, नाड़ी की गति तेज हो जाती है तथा आँखें निस्तेज होने लगती हैं। अन्य जटिल उपद्रवों में हैं—नासास्राव, नासाशोथ, उच्च रक्तचाप, वृक्क की विकृतियाँ, राजयक्ष्मा तथा कोथ (Gangrene)।

चिकित्सा

प्रमेहनाशक शास्त्रीय योग—

१. आँवले के स्वरस में हरिद्रा का चूर्ण और मधु मिलाकर।

२. हरड़, बहेड़ा, आँवला, देवदारु और मोथे के क्वाथ में मधु मिलाकर।

३. हरड़, बहेड़ा, आँवला, देवदारु, दारुहरिद्रा और मधु के क्वाथ में मधु मिलाकर।

४. त्रिफला का चूर्ण मधु के साथ।

५. लौहभस्म या शुद्धशिलाजीत मधु से।

६. हरीतकी का चूर्ण मधु के साथ।

७. नीम पर की गुर्च का सत्त्व मधु के साथ।

८. शतावर का स्वरस मिश्री मिले दूध में।

९. फलत्रिकादि, मुस्तादि, विडंगादि अथवा मंजिष्ठादि क्वाथ।

१०. एलादि चूर्ण, न्यग्रोधादि चूर्ण, अश्वगंधादि चूर्ण अथवा शतावर्यादि चूर्ण।

११. कुशावलेह, शालसारादिलेह तथा वंगावलेह।

१२. स्वर्णमाक्षिकभस्म अथवा स्वर्णवंग मधु से।

१३. मेहकालानलरस, पंचाननरस, चन्द्रकलागुटिका, मेहमुद्गरवटी, शुक्र-मातृकावटी, प्रमेहकुलान्तक, वंगाष्टक, मेहवज्ररस, चन्द्रप्रभावटी, योगेश्वररस, वसन्तकुसुमाकररस, वंगेश्वररस, सर्वेश्वररस, अपूर्वमालिनीवसन्त अथवा प्रमेहचिन्तामणिरस।

१४. शाल्मली घृत, धान्वन्तर घृत अथवा दाडिमाद्य घृत।

१५. प्रमेहमिहिर तैल।

१६. देवदार्वारिष्ट।

आयुर्वेदीय पेटेण्ट योग—जे० के०–२२ (चरक), लिव–५२ (हि० ड्र० कं०), जम्बूलीन (ऊँझा), उदुम्बरघनसत्त्व टेबलेट (गर्ग वनौषधि भण्डार)।

सूचीवेध—गुड़मार, पलाश, शिलाजीत तथा उदुम्बर।

कुष्ठ

कुष्ठ रोग का समावेश रक्तज विकारों में किया जाता है। यह संसर्ग से फैलता है। इसलिए सुश्रुत ने इसकी गणना औपसर्गिक रोगों में की है।

कुष्ठ रोग ९८ प्रकार का माना जाता है, परन्तु कुछ आचार्यों ने भिन्न-भिन्न नाम देकर इनकी संख्या और भी बढ़ा दी है। व्यापकदृष्टि से त्वचा में होने वाले अधिकांश रोगों का इसमें समावेश किया जा सकता है। इसलिए सुश्रुत ने इसके लिए 'त्वगामय' शब्द का प्रयोग किया है।

मोटे तौर पर कुष्ठ को दो वर्गों में बाँटा गया है—महाकुष्ठ और क्षुद्र कुष्ठ। महाकुष्ठ में लक्षण और वेदना दोनों का बाहुल्य होता है। यह शीघ्रता से उत्तरोत्तर धातुओं में फैलता है। शरीर को अधिक विकृत करता है। चिकित्सा भी लम्बे अरसे तक चलती है। कठिनाई से ठीक होता है। क्षुद्र कुष्ठ के लक्षण सीमित और प्रायः सीमित प्रदेश में होते हैं। ये अपेक्षाकृत ठीक भी जल्दी होते हैं।

अष्टांगसंग्रह में कुष्ठ शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः।

—अ० सं० नि० १४।५

उपेक्षा करने पर कालक्रम से यह रोग सारे शरीर को कुत्सित कर देता है, इसलिए इसको कुष्ठ कहते हैं।

प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् सङ्क्लेद्य चावहेत्।
सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान्॥
लोमत्वक्स्नायुधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रमात्।
भक्षयेत् श्वित्रमस्माच्च कुष्ठवाह्यमुदाहृतम्॥

—अ० सं० नि० १४।५–६

रस-रक्त आदि सभी धातुओं में पहुँचकर और अन्दर फैलकर सब धातुओं को क्लिन्न करके स्वेद, क्लेद और सड़न की-सी गन्ध वाले सूक्ष्म और दारुण कृमियों को यह उत्पन्न करता है। ये कृमि क्रमशः बाल, त्वचा, स्नायु, धमनी और तरुणास्थियों को खाने लगते हैं, फलस्वरूप अनेक स्थानों पर शरीर की आकृति बिगड़ जाती है, अंग-भंग हो जाते हैं।

निदान

मिथ्याहारविहारेण विशेषेण विरोधिना।
साधुनिन्दावधान्यस्वहरणाद्यैश्च सेवितैः॥
पाप्मभिः कर्मभिः सद्यः प्राक्तनैः प्रेरिता मलाः।
सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषम्॥
दूषयन्तः श्लथीकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहिः।
त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत्॥

—अ० सं० नि० १४।२-४

मिथ्या आहार-विहार, विशेषरूप से विरोधी आहार-विहार, साधु पुरुषों की निन्दा, वध, पराये धन का अपहरण आदि पापकर्म, अथवा पूर्वजन्म कृत पापों के कारण प्रेरित दूषित मल तिर्यग्गामी हो शिराओं में पहुँचकर त्वग्लसिका और मांस को दूषित करके उन्हें शिथिल बनाकर अनन्तर बाह्यप्रदेश में फैलते हुए त्वचा को विवर्ण करते हैं। माँ द्वारा किये गये कदाचार का प्रभाव बालक पर पड़ना स्वाभाविक है।

आयुर्वेद में कुष्ठ को एक संचरणशील रोग माना गया है—

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात् प्रायशो गदाः।
सर्वे सञ्चारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः॥

—अ० सं० नि० १४।४३

प्रायः सभी संचरणशील या संक्रामक रोग स्पर्श से, एक साथ आहार, शैया, आसन आदि के सेवन से एक से दूसरे में फैलते हैं। नेत्ररोग और त्वचा

के रोग तो विशेषरूप से संक्रामक होते हैं। यदि माता कुष्ठी है तो सतत संसर्ग के कारण नवजात शिशु के भी रोगग्रस्त हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है।

पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान में महाकुष्ठ को लेप्रोसी (Leprosy) और श्वेतकुष्ठ को ल्यूकोडर्मा (Leucoderma) की संज्ञा दी गयी है। वह लेप्रोसी को संक्रामक परन्तु श्वेतकुष्ठ को संक्रामक नहीं मानता। लेप्रोसी से त्वचा, तन्त्रिकाएँ, पेशियाँ, हड्डियाँ सभी प्रभावित होती हैं, पर श्वेतकुष्ठ मात्र त्वचा पर ही दृष्टिगोचर होता है।

लेप्रोसी का रोग प्रायः उन्हीं प्रदेशों में अधिक पाया जाता है, जहाँ कुपोषण, भीड़-भाड़ और प्रदूषण की बहुतायत होती है। लोग आहार-विहार में स्वास्थ्यविषयक सद्वृत्त के नियमों की अवहेलना करते हैं। इसकी उत्पत्ति माइकोबैक्टीरियम-लेप्रा (Mycobacterium leprae) नामक जीवाणु से होती है। यह जीवाणु भी उसी वर्ग का है जिससे राजयक्ष्मा नामक रोग की उत्पत्ति होती है। यदि समय पर इसका उपचार न किया जाये तो यह व्यक्ति की आकृति को बिगाड़ देता है। उसे विकलांग बना देता है।

इसकी जड़ें प्रायः बाल्यावस्था में ही जमती हैं। यह अत्यधिक निकट के और लम्बे संसर्ग के कारण उत्पन्न होता है। इसकी उद्भवन-अवधि (Incubation period) काफी लम्बी होती है। संक्रमण के बाद वास्तविक लक्षणों के व्यक्त होने में दो वर्ष या उससे भी अधिक समय लग जाता है। इसके मुख्य चार भेद होते हैं—

१. लेप्रोमायुक्त कुष्ठ या कुष्ठिका कुष्ठ (Lepromatous leprosy)।
२. लेप्रोमाविहीन कुष्ठ (Non-lepromatous leprosy)।
३. उभयरूपी कुष्ठ (Dimorphous leprosy)।
४. अनिर्धारित कुष्ठ (Indeterminate leprosy)।

आगे संक्षेप में इनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

लेप्रोमायुक्त कुष्ठ—रोगी के शरीर के दोनों ओर के अंगों पर अनेक समरूप विक्षतियाँ होती हैं। इनमें से अनेक एक-दूसरी से मिली हुई होती हैं। शुरू में ये छोटी-छोटी पिड़िकाओं या ददोरों के रूप में प्रकट होती हैं। बाद में बढ़कर पर्विकाओं (ग्रन्थियों) या बड़े-बड़े चकत्तों का रूप धारण कर लेती हैं। चेहरे, हाथ-पैर और नितम्बों पर ये बहुतायत में पायी जाती हैं। कुछ समय के उपरान्त अन्तःप्रकोष्ठिका (Ulnar), बहिर्जंघिका (Peroneal), अन्तर्जंघिका (Tibial) और बाह्यकर्ण में स्थित परिसरीय तंत्रिकाएँ

(Peripheral nerves) भी इसके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाती हैं। उनमें ये दोनों ओर समान रूप से मोटी हो जाती हैं। पार्श्व से एक-तिहाई के लगभग भौंहे गायब हो जाती हैं। नाक की श्लेष्मलकला के क्षतिग्रस्त होने से नासारक्तस्राव होने लगता है। परितारिकारोमक पिण्ड में शोथ आ जाता है। वृषण में भी शोथ उत्पन्न हो जाता है।

लेप्रोमोत्तर कुष्ठ—इसमें क्षत संख्या में तो कम परन्तु आकार में काफी बड़े और अलग-अलग होते हैं। प्रभावित स्थान ताप, मृदु स्पर्श और पीड़ा के प्रति बहुत ही कम संवेदनशील होते हैं। कुछ में तो संवेदना एकदम समाप्त हो जाती है। असंवेदी चित्ती कुष्ठ (Masculo anaesthetic leprosy) की तरह उनका रंग हलका पड़ जाता है। या यक्ष्माभ कुष्ठ (Tuberculoid leprosy) की तरह घाव अन्दर को बैठ जाते हैं। परिसरीय-तंत्रिकाएँ भी शीघ्र ही इससे ग्रस्त हो जाती हैं पर उनमें उत्पन्न घनत्व या मोटापन असमरूप एवं अनियमित होता है। घनत्व प्रायः ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेते हैं। तंत्रिकी कुष्ठ के समान कभी-कभी तंत्रिकाएँ तो दूषित हो जाती हैं, परन्तु त्वचा पर विक्षतियाँ नहीं पायी जातीं।

उभयरूपी कुष्ठ—इसमें विक्षतियाँ लेप्रोमायुक्त और लेप्रोमोत्तर के बीच के ढंग की पायी जाती हैं।

अनिर्धारित कुष्ठ—इसमें मात्र हलके रंग के चकत्ते पाये जाते हैं। उनमें संवेदना वर्तमान रहती है।

बीच-बीच में रोग के जटिल रूप धारण करने पर ज्वर बढ़ जाता है। पुराने घाव बड़ा आकार धारण कर लेते हैं। नये क्षत उत्पन्न होने लगते हैं।

बच्चों में प्रायः लेप्रोमोत्तर या अनिर्धारित ढंग का ही कुष्ठ अधिक पाया जाता है। बच्चों की त्वचा पर कहीं भी पीला या लाल रंग का कोई कण्डु-दाह रहित चकत्ता दिखलायी दे, हाथ-पैरों में बराबर झिनझिनी या शून्यता मालूम हो, त्वचा पर किसी स्थानविशेष की संवेदना समाप्त हो जाये, शरीर पर पीड़ारहित फफोले उभरने लगें, कोई घाव अधिक लम्बे समय तक ठीक न हो अथवा उसकी तंत्रिकाओं में घनत्व या मोटापन प्रतीत हो तो तुरंत इस बात का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए कि कहीं उनमें लेप्रोसी का संक्रमण तो नहीं घर कर गया है। ये उपसर्ग अन्य कारणों से भी हो सकते हैं, परन्तु साथ ही लेप्रोसी की संभावना भी व्यक्त करते हैं।

रोगी के नाक के स्राव या मैल तथा त्वचा पर के व्रणों के रेखाछिद्रों से लिये गये स्राव का परीक्षण करने पर उसमें माइक्रोबैक्टीरियम-लेप्रा की उपस्थिति निःसंदिग्ध रूप से रोगी के कुष्ठ से पीड़ित होने को प्रमाणित करती है।

चिकित्सा

कुष्ठनाशक प्रमुख शास्त्रीय योग—

१. आँवला और खदिर की छाल का क्वाथ मधु का प्रक्षेप देकर।

२. आँवला और खदिर की छाल के क्वाथ में बाकुची के चूर्ण और मधु का प्रक्षेप देकर।

३. काले तिल का चूर्ण ३ भाग और बाकुची का चूर्ण २ भाग मिलाकर।

४. मात्र बाकुची का चूर्ण मन्दोष्ण जल से।

५. गुर्च का स्वरस और मधु।

६. गोमूत्र अथवा गोमूत्र में हरीतकी का चूर्ण मिलाकर।

७. आरग्ग्वादिक्वाथ, मंजिष्ठादिक्वाथ, आटरूपादिक्वाथ, बिभीतकादि क्वाथ ता नवकषाय।

८. पंचनिम्वचूर्ण, सप्तसमयोग तथा मंजिष्ठादिचूर्ण।

९. कूशारगुग्गुलु, अमृतागुग्गुलु तथा पंचतिक्तघृतगुग्गुलु।

१०. वंगभस्म, तालभस्म, कासीसभस्म तथा स्वर्णभस्म।

११. आरोग्यवर्धनीबटी, सर्वांगसुन्दरीबटी, संशमनीबटी, शशिलेखाबटी आदि।

१२. श्वेतारिरस, तालकेश्वररस, रसमाणिक्य, माणिक्यरस, कुष्ठारिरस, सर्वेश्वररस, व्याधिहरणरसायन, गन्धकरसायन आदि।

१३. सारिवाद्यारिष्ट, खदिरारिष्ट अथवा मंजिष्ठारिष्ट।

१४. तिक्तघृत, महातिक्तघृत, महाखदिरघृत, सोमराजीघृत तथा गुडूचीघृत।

बाह्य प्रयोगार्थ—

१५. कुष्ठराक्षस तैल, कुष्ठकालानल तैल, महामरिच्यादि तैल, कन्दर्पसार तैल, सोमराजी तैल, कनकक्षीरी तैल, गुञ्जादि तैल, करवीर तैल आदि।

१६. करवीरादि लेप, करञ्जादि लेप, हरीत्क्यादि लेप, पारदादि लेप, चित्रकादि लेप, मरिचादि लेप आदि।

१७. चालमोंगरे की मज्जा और गंधक का चूर्ण एक साथ मिलाकर।

प्रमुख आयुर्वेदिक पेटेण्ट योग—

१८. खदिर सूचीवेध, कुष्ठौन सूचीवेध (सिद्धि), कुष्ठहर सूचीवेध (जी० एम० मिश्रा), चालमोंगरा सूचीवेध, ताम्रभस्म सूचीवेध, रसमाणिक्य सूचीवेध तथा स्वर्णक्षीरी सूचीवेध (बुन्देलखण्ड)।

अध्याय ३४

अर्श एवं नवजात यकृत्‌शोथ

अर्श

(Haemorrhoid)

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ॥ अ. हृ. नि. ७।२

वात आदि दोष त्वचा, मांस एवं मेद को दूषित करके गुदा, नासिका आदि स्थानों में अनेक प्रकार की आकृति वाले मांसाकुरों को उत्पन्न कर देते हैं। इन्हीं को अर्श कहते हैं। ये शत्रु के समान पीड़ा देते हैं, इसलिये इन्हें अर्श कहा गया है—'अरिवद्विशसन्तीत्यर्शांसि।' —अ. सं. नि. ७।२

अर्श के भेद

समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि सहजानि जन्मोत्तरकालजानि च। पुनश्च द्विविधानि शुष्काण्यार्द्राणि च। —अ० सं० नि० ७।२

अर्श के दो भेद हैं—सहजन्य (अर्थात् जन्म से होने वाले) और जन्म के बाद उपन्न होने वाले। इसके पुनः दो भेद हैं–शुष्क तथा आर्द्र। बोलचाल की भाषा में शुष्क को बादी और आर्द्र को खूनी कहते हैं।

बड़ी आँत के साढ़े चार अंगुल लम्बे, सबसे निचले हिस्से को गुदा कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इसमें तीन वलियाँ या पेशियाँ होती है। इनमें से प्रत्येक की लम्बाई डेढ़ अंगुल की होती है। इन्हें प्रवाहिणी, संवरणी और विसर्जिनी के नाम से पुकारा जाता है। बाहर डेढ़ यव परिमाण का गुदोष्ठ होता है। सबसे पहली प्रवाहिणी वली गुदोष्ठ से मात्र एक अंगुल की दूरी पर होती है।

तत्र सहजानां गुदवलीबीजोपतप्तसिरायतनम्। तस्या द्विविधो हेतुर्मातापित्रोरपचारो दैवं च। ताभ्यां सन्निपातप्रकोपः। तस्मात्तान्यसाध्यानि। एतेन कुलजाः सर्वे विकारा व्याख्याताः। —अ० सं० नि० ७।३

इनमें गुदा की वलियाँ जन्मजात उत्तप्त बीजों का स्थान हैं। इस सहजन्य अर्श के दो कारण हैं—माता-पिता का अपचार तथा दैव। इन दोनों कारणों से तीनों दोषों का एक साथ प्रकोप होता है। इसलिये इन्हें असाध्य माना जाता है।

ठीक इसी प्रकार से अन्य कुलज रोगों की भी उत्पत्ति होती है। उनका कारण भी माता-पिता से प्राप्त दूषित बीज होता है।

चरक ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—

द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित्, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः मातापित्रोरपचारः, पूर्वकृतं च कर्म, तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण, अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः।

—च० चि० १४।५

अर्श दो प्रकार के होते हैं। कुछ सहज या जन्मकाल से ही होते हैं और कुछ जन्म हो जाने के बाद उत्पन्न होते हैं। गुदा की वल्लियाँ ही सहज अर्श उत्तप्त बीजों का स्थान हैं। आयुर्वेद के अनुसार गुदा का निर्माण माता के आर्तव अर्थात् माता से प्राप्त बीज के अंश से होता है। गुदा की वल्लियों का निर्माण करने वाला बीजभाग जब दूषित होता है (अर्श को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त होता है) तभी सहज अर्श की उत्पत्ति होती है। आर्तव-बीज की दुष्टि के भी दो कारण होते हैं—माता-पिता का अपचार (अपराध या दुष्कर्म) तथा पूर्वजन्म में किया हुआ दुष्कृत्य।

यही कारण अन्य सहज विकारों का भी होता है। वे जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं। अर्श के अंकुर भी जन्म के साथ ही शरीर में अव्यक्त रूप में वर्तमान होते हैं। समय पाकर ने व्यक्त हो जाते हैं।

जन्मजात या सहज अर्श के लक्षण

विशेषतस्तु सहजानि दुर्दर्शनपरुषपाण्डूपचितदारुणान्यन्तर्मुखानि बहूपद्रवोपद्रुतानि च भवन्ति।

—अ० सं० शा० ७।४

जन्मजात अर्श के अंकुर कठिनाई से दिखलायी देने वाले, कठोर, पाण्डु-वर्ण, पुष्ट, दारुण, अन्तमुख तथा अनेक उपद्रवों से युक्त होते हैं।

काश्यप ने वच्चों में पाये जाने वाले अर्श के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुये कहा है—

बद्धपक्वपुरीषत्वं सरक्तं वा कृशात्मनः।
गुदनिष्पीडिनं कण्डूं तोदं चार्शांसि लक्षयेत्॥ का. सू. २५।२३

यदि वच्चे का मल बंधा हुआ, कड़ा तथा पक्व हो, साथ में रक्त आता हो, गुदास्थान में वेदना हो, खुजली होती हो, चुभने की-सी पीड़ा हो, वह शरीर और मन दोनों से दुर्बल मालूम होता हो तो समझना चाहिए कि वह अर्श से पीड़ित है।

अंगरेजी में इसका तकनीकी नाम 'Haemorrhoid' है। बोलचाल की भाषा में इसे 'Piles' कहते हैं। इसमें गुद-मलाशय-पथ के अन्तिम छोर की शिरा बढ़ जाती है। कभी-कभी उसमें शोथ भी उत्पन्न हो जाता है और मांसांकुर बाहर निकल आते हैं। प्रायः खून आने लगता है। इसमें रोगी को काफी पीड़ा होती है। अधिकांश केसों में इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम होता। मलावरोध की हालत में अधिक जोर लगाना, काँखना तथा अधिक मात्रा में रेचक औषधियों का उपयोग कभी-कभी इसको जन्म देते देखा जाता है।

उपचार

अर्श मुख्यरूप से अजीर्ण की उपज है। अजीर्ण से मन्दाग्नि और मन्दाग्नि से मलावरोध होता है। मलावरोध में शौच के समय जोर लगाने से गुदा की वल्लियों पर विशेष जोर पड़ता है और वे दोषयुक्त हो जाती हैं। सहज अर्श में जन्म से ही पाचन-तन्त्र दुर्बल होते हैं। इसलिए अर्श के रोगी के चिकित्सा-क्रम में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उसे अजीर्ण और मलावरोध न होने पाये। उसे भोजन सुपाच्य और ऐसे तत्त्वों से युक्त देना चाहिए जिससे पेट स्वतः साफ होता रहे। क्षीरप-अवस्था में स्वयं माता को अपना आहार-विहार दुरुस्त रखना चाहिए, अन्यथा स्तन्य-दोष से शिशु में अव्यक्त रूप में वर्तमान अर्श व्यक्त रूप धारण कर ले सकता है।

बच्चों में मलावरोध और अजीर्ण को दूर करने के लिए विशेषरूप से तत्सम्बन्धी प्रकरणों में देखना चाहिए।

अर्शनाशक प्रमुख शास्त्रीय योग—

१. अग्निमुखलौह, शंकरलौह, तारामण्डूर, पुनर्नवामण्डूर, रसपर्पटी, बोलपर्पटी, अभ्रकभस्म, प्रवालपिष्टी, तृणकान्तमणिपिष्टी तथा मुक्तापिष्टी।

२. बाहुशाल गुड़, एरण्ड पाक तथा कुटजावलेह।

३. अर्शकुठार, बोलबद्ध, कामदुधारस तथा नित्योदयरस।

४. अर्शोघ्नीवटी, प्राणदावटी, चन्द्रप्रभावटी, कांकायनवटी, शूरण-मोदक आदि।

५. स्वादिष्ट विरेचनचूर्ण, पंचसकारचूर्ण, समशर्करचूर्ण, मरिच्यादिचूर्ण, विजयचूर्ण।

६. उशीरासव, अभयारिष्ट, दन्त्यारिष्ट तथा फलारिष्ट।

७. कनशीशादितैल, पिपल्यादितैल, क्षारतैल।

प्रमुख आयुर्वेदिक पेटेण्ट योग—

८. पाइलेक्स (हि० ड्र० कं०), टेवलेट तथा मलहम ।

९. अर्शोनिट (चरक) ।

१०. अभयासन (झण्डु) ।

११. अर्शान्तक कैंपसूल (ज्वाला) तथा अर्शहारी कैंपसूल (पंकज) ।

बाह्य प्रयोगार्थ—पाइलेक्स (हि० ड्र० कं०), अर्शोनिट (चरक), अर्शान्तक मलहम (धन्वन्तरि) ।

सूचीवेध—अनन्तमूल, जिमीकन्द (जी० एम० मिश्रा), अर्शान्तक सूचीवेध (ए० वी एम०), अर्शोघ्न सूचीवेध (सिद्धि), कुटजा (प्रताप फार्मा) तथा ववासीर सूचीवेध (बुन्देलखण्ड) ।

नवजात यकृत्शोथ
(Neonatal Hepatitis)

नवजात की त्वचा का सामान्य से अधिक पीला होना प्रायः यकृत्शोथ का परिणाम होता है । इसके लक्षण अवैकारिक कामला से भिन्न होते हैं । यकृत्शोथ से पीड़ित बच्चे में लक्षण न केवल अधिक और उग्र होते हैं, बल्कि उनकी त्वचा भी अधिक पीली होती है । इस विकृति से पीड़ित बच्चों की मृत्यु-दर भी अधिक होती है ।

बाल-यकृत्शोथ का कारण पित्त-नलिका (Common bile duct) का जन्मजात अवरोध या उसका संकुचित होना अथवा माता का विषाणुओं से आक्रान्त होना हो सकता है । ये विषाणु दो प्रकार के होते है—विषाणु-ए और विषाणु-बी । विषाणु-ए से संक्रमी यकृत्शोथ (Infective hepatitis) और विषाणु-बी से सीरमी यकृत्शोथ (Serum hepatitis) की उत्पत्ति होती है । यदि स्त्री संक्रमी यकृत्शोथ से पीड़ित होती है तो उससे गर्भस्थ शिशु के आक्रान्त होने की सम्भावना नहीं के बराबर होती है, लेकिन यदि वह, विशेष रूप से गर्भ के अन्तिम महीनों में, सीरमी यकृत्शोथ से पीड़ित होती है तो गर्भ के आक्रान्त होने और उसकी मृत्यु हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है । सीरमी यकृत्शोथ से पीड़ित गर्भवती स्त्री को यदि इम्युनोग्लोबुलिन (Immunoglobulin) दिया जाता रहे तो उससे गर्भ सुरक्षित रहता है ।

नवजातावस्था में कुछ अन्य रोगों के विषाणु भी यकृत्शोथ को उत्पन्न कर सकते हैं, यथा—काक्सेकी (Coxsackie), हरपीज सिम्प्लेक्स (Herpes

simplex) आदि। सहज फिरंग (Congenital syphilis) के विषाणु तथा टॉक्सोप्लाज्मता (Toxoplasmosis) भी इस विकृति को जन्म दे सकते हैं।

नवजात-यकृत्शोथ नवजात शिशुओं या बच्चों में बाद में उत्पन्न होनेवाले सिरोसिस (Cirrhosis) का कारण भी बन सकता है। अनेक मामलों में जहाँ सिरोसिस का स्पष्ट कारण नहीं पता चलता, सम्भवतः यही कारण होता है।

यकृत्शोथ और सिरोसिस के लक्षण, निदान, सम्प्राप्ति आदि की विस्तृत चर्चा क्षीरान्नादकीलीन व्याधियों के अन्तर्गत यकृत्विकृतिजन्य रोगों के प्रसंग में की जायेगी।

अध्याय ३९

जन्मजात विसंगतियाँ एवं कुरचनाएँ

(Congenital Anomalies and Deformities)

गर्भस्थ शिशु के विकास-क्रम में कभी-कभी ऐसे कारक उत्पन्न हो जाते हैं जो उनके सामान्य विकास को अव्यवस्थित बना देते हैं। उसके अंग-प्रत्यंगों में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अंगों का आकार-प्रकार जैसा होना चाहिए, नहीं हो पाता। उनमें अनेक रचनागत दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ये दोष मामूली हुए तब तो कोई बात नहीं और यदि बढ़े हुए हों तो अंग की आकृति को ही बिगाड़ देते हैं। जिस संस्थान में ये होते हैं उसकी कार्यप्रणाली को दोषपूर्ण बना देते हैं। इन बढ़ी हुई विसंगतियों से न केवल बालक का शरीर प्रभावित होता है, प्रत्युत मन भी प्रभावित होता है। आधुनिक आयुर्विज्ञान इन विसंगतियों का कारण प्रायः किसी-न-किसी प्रकार का संक्रमण अथवा माता या शिशु को होनेवाले संक्रामक या अज्ञात रोग को मानता है। ये संक्रमण गर्भस्थ शिशु के विकास को अनेक रूपों में प्रभावित करते हैं और उनके अंगों की रचना को दोषपूर्ण बना देते हैं।

आयुर्वेद में प्रायः सभी जन्मजात विसंगतियों और कुरचनाओं को बीज-दोषज या गर्भावस्था में माता द्वारा किये गये अपचार, कदाचार का परिणाम माना जाता है। इस सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त का निरूपण करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—

यस्य यस्याङ्गावयवस्य बीजे बीजांशे वा उत्पत्तिर्भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते। नोपजायतेऽनुपतापात्। —अ० सं० शा० २।३३

बालक के जिस-जिस अंग का, बीज या बीज के जिस भाग से निर्माण होता है, बीज के दूषित होने से बालक के उस-उस अंग में विकृति उत्पन्न हो जायेगी। और यदि बीज सर्वथा निर्दोष होगा, उसमें किसी भी प्रकार की विकृति नहीं होगी तो बालक के किसी भी अंग में विकार उत्पन्न नहीं होगा।

गत पृष्ठों में हमने देखा कि बालक को एक बीजकोष (Ovum) माता से और एक बीजकोष (Sperm) पिता से प्राप्त होता है। इनमें से प्रत्येक में

२३-२३ वंशलक्षणसूत्र या क्रोमोसोम्स (Chromosoms) होते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम में एक बड़ी संख्या में वंशलक्षणवीज या जीन (Gene) होते हैं। इनमें से एक-एक जीन एक-एक वंशलक्षण का वाहक होता है। इन्हीं के माध्यम से माता-पिता की वंशानुगत विशेषताएँ सन्तान में आती हैं और विकसित होती हैं। इनमें से जिस विशेषता का वहन करनेवाला या जिस अंग का निर्माण करनेवाला जीन विकारग्रस्त होगा, वालक की वही विशेषता या वही अंग विकारग्रस्त होगा।

बीजदोष के साथ-साथ माता का कदाचार, कुपथ्यसेवन एवं सद्वृत्त की अवहेलना आग में घी का काम करता है। माता के कुपित दोष गर्भस्थ शिशु पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। उसमें अनेक प्रकार की कुनिर्मितियों, असमर्थताओं तथा रोगों का बीज उसी समय से पड़ जाता है। इनका वर्णन करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—

यदा च लब्धगर्भाऽन्वक्षमेव वातलान्यासेवते तदाऽस्या वायुः प्रकुपितः शरीरमनुसर्पन् गर्भाशयेऽवतिष्ठमानो गर्भस्य जडबधिरमूकमिन्मिणगद्गदखञ्जकुब्जवामनहीनाङ्गाधिकाङ्गत्वान्यन्यं वा वातविकारं करोति।—अ० सं० शा० २।३४

और जब गर्भवती हो जाने पर भी स्त्री निरन्तर वातकारक पदार्थों का सेवन करती रहती है, तब उस स्त्री के शरीर में प्रकुपित वायु शरीर में गति करता हुआ गर्भाशय में रुक कर गर्भ में निम्न विकारों को उत्पन्न करता है— जड़ता, बधिरता, मूकत्व (गूँगापन), मिन्मिनत्व (अनुनासिक स्वर से बोलना) गद्गद (हकलाना), खंजत्व (लंगड़ापन), कुब्जत्व (कुबड़ापन), वामनत्व (नाटापन), अंगों का हीन होना, अधिक होना तथा अन्य वात-विकार।

तथा वायुवत् पित्तमपि खलतिपलितश्मश्रुहीनतात्वङ्नखकेशपैङ्गल्यादीनि।

—अ० सं० शा० २।३४

और जब स्त्री गर्भवती होने की हालत में निरन्तर पित्तकारक आहार-विहार का सेवन करती रहती है, तब उसके शरीर में प्रकुपित हुआ पित्त वायु के समान ही गति करता हुआ गर्भाशय में पहुँच कर गर्भ में निम्न रोगों को उत्पन्न करता है—बालों का गिरना, बालों का असमय सफेद होना, दाढ़ी-मूँछ के बालों का न आना, त्वचा, नाखून और बालों का पिंगल वर्ण का होना।

श्लेष्मा तु कुष्ठकिलाससदन्तत्वादीनि। त्रिवर्गो मिश्रान् विकारान्।

—अ० सं० शा० २।३४

और जब गर्भवती स्त्री निरन्तर कफकारक आहार-विहार का सेवन करती रहती है तो उसका प्रकुपित कफ गर्भाशय में पहुँचकर गर्भ में निम्न

विकारों को उत्पन्न करता है—कुष्ठ, किलास, बच्चे के गर्भ में ही दाँत निकल आना आदि।

गर्भवती स्त्री में प्रकुपित तीनों दोष तीनों दोषों के मिश्रित लक्षणों वाले रोगों को उत्पन्न करते हैं।

अपि च। दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धत्वम्। तदेव वातानुगतं विकृत-रूक्षारुणाक्षम्। पित्तानुगतं पिङ्गाक्षम्। श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षम्। रक्तानुगतं रक्ताक्षमिति। —अ० सं० शा० २।३५

और भी—यदि तेज धातु दृष्टिभाग में न पहुँचे तो बच्चा जन्म से ही अन्धा होता है। यही तेजधातु जब वायु के साथ मिलकर दृष्टिपटल में पहुँचता है तब विकारयुक्त, रूक्ष एवं अरुणवर्ण वाली आँख को उत्पन्न करता है, जब पित्त के साथ मिलकर पहुँचता है तब पिंगलवर्ण की (पिली) आँख को उत्पन्न करता है; जब कफ के साथ मिलकर पहुँचता है तब श्वेतवर्ण की; और जब रक्त के साथ पहुँचता है तब लालवर्ण की आँख को पैदा करता है।

विसंगतियों का स्वरूप

त्वचा की एक जन्मजात विकृति वाहिका-स्फीति (Telangiectasis) है जो रक्त-केशिकाओं के विस्फार के कारण बालक की त्वचा पर श्याव-अरुण धब्बों के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार के धब्बे प्रायः पीठ, गर्दन या नाक पर दिखलायी देते हैं। बच्चों के जोर से चिल्ला कर रोते समय ये अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

वाहिकामय विसंगतियाँ (Vascular anomalies) झरबेरी के आकार के छोटे-छोटे वाहिकामय अर्बुदों (Vascular tumours) के रूप में प्रकट होती हैं। बालक के बढ़ने के साथ ही इनका आकार भी बढ़ता जाता है। ये शरीर की त्वचा पर कहीं भी हो सकते हैं। इनका शीघ्रातिशीघ्र उपचार कराना जरूरी है, अन्यथा वृद्धावस्था में ये दुर्दम अर्बुदों (Malignant tumours) का रूप धारण कर सकते हैं।

पाचन-संस्थान की विकृतियाँ सबसे अधिक व्यापकरूप में पायी जाती हैं, जैसे—खण्ड-ओष्ठ (Cleft lips), खण्ड-तालु (Cleft palate) आदि।

हाथ-पैरों में इनके अनेक रूप देखने को मिलते हैं, यथा—हाथ या पैरों में छः उँगलियाँ होना, उँगलियों का जुड़ा हुआ होना, पूर्ण या आंशिक रूप से विकसित होना, एक या अनेक का न होना, पूरे हाथ या पैर का ही आंशिक या पूर्ण अभाव, पैरों का अन्दर की ओर मुड़ा होना इत्यादि।

गुदा या मूत्रस्थान का अपने स्थान पर न होना, छेद का बन्द होना, छिद्र का जहाँ पर होना चाहिए उससे नीचे, ऊपर या अ-स्थान पर होना—ये विसर्जन-संस्थान की विकृतियाँ हैं।

सर का असाधारण रूप से बड़ा होना (Hydrocephaly), असाधारण रूप से छोटा होना (Microcephaly), मस्तिष्क का अपने स्थान से च्युत होकर आगे नथुनों के पास तक या पीछे सर के पिछले भाग में पहुँच जाना (Hernia of the brain), सुषुम्ना का अव्यवस्थित होना (Spina bifida) आदि केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल की मुख्य विकृतियाँ हैं।

पित्त-वाहिका (Bile ducts) का अपूर्ण विस्फार, अवरुद्ध या शोषपूर्ण होना, जठरनिर्गम मार्ग (Pyloric opening of the stomach) का संकुचित होना, वृहद् अन्त्र का विस्फार आदि कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कुनिर्मितियाँ हैं।

इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण विसंगतियों का आगे कुछ विस्तार के साथ विवेचन किया जा रहा है।

जलशीर्ष
(Hydrocephalus)

जलशीर्ष एक ऐसा रोग है जिसमें मस्तिष्कावरण के अन्दर प्रमस्तिष्क की दरारों में मस्तिष्क-सुषुम्ना-तरल (Cerebrospinal fluid) के अत्यधिक मात्रा में बढ़ या एकत्रित हो जाने के कारण सिर का आकार असाधारण रूप से बड़ा हो जाता है। जलशीर्ष के समान ही 'हाइड्रोसेफलस' शब्द भी दो शब्दों से मिलकर बना है—हाइड्रो (Hydro) तथा सेफलस (Cephalus)। 'हाइड्रो' का अर्थ है जल और 'सेफलस' का अर्थ है शीर्ष। इसका यही नाम अभी भी प्रचलित है।

जलशीर्ष स्वतन्त्ररूप में या अयुक्त सुषुम्ना (Spina bifida) के साथ भी हो सकता है। अयुक्त-सुषुम्ना सुषुम्ना की एक ऐसी जन्मजात विकृति है जिसमें रीढ़ की छोटी-छोटी अस्थियाँ, जो मिलकर सुषुम्ना के लिए एक छिद्र जैसा बनाती हैं, ठीक से विकसित नहीं होतीं। फलतः सुषुम्ना का विकास भी सामान्य रूप से नहीं हो पाता। उसमें अनेक रचनागत दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

कभी-कभी किसी-किसी गर्भस्थ शिशु का सर इतना बड़ा होता है कि प्रसव करने के लिए उसका विसंपीड़न (Decompression) आवश्यक हो जाता है। किसी का सिर पैदा होते समय तो सामान्य होता है पर बाद में धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। इस जन्मोत्तर वृद्धि का भी कारण प्रमस्तिष्कमेरु-

तरल के निर्माण, संचरण तथा अवशोषण की कोई जन्मजात विकृति ही होती है।

चित्र १४—जलशीर्षता : शेष शरीर के अनुपात में सिर की विशालता।

यह स्थिति प्रायः जन्मजात (Congenital) होती है, परन्तु कभी-कभी अर्जित (Acquired) भी। जन्मजात जलशीर्षता को प्राथमिक जलशीर्षता (Primary hydrocephalus) कहते हैं। प्राथमिक जलशीर्षता प्रायः मस्तिष्क की कुरचनाओं की उपज होती है। मस्तिष्क की कुरचनाएँ प्रमस्तिष्क तरल के प्रवाह को अवरुद्ध कर देती हैं। जिससे वह वहीं एकत्रित होने लगता है। कभी-कभी प्रसवकाल में प्रमस्तिष्क पर लगे आघातजनित (Intracranial birth injury) रक्तस्राव या जननिकस्तर से उत्पन्न अन्तर्निलय रक्तस्राव (Intraventricular haemorrhage of germinal layer origin) के अवरुद्ध हो जाने से भी मस्तिष्क में इस तरह की स्थिति पैदा हो जाती है। कभी-कभी अन्तर्गर्भाशयीय टॉक्सोप्लाज्मता (Toxoplasmosis), साइटोमेगालीविषाणु (Cytomegalo virus) या उपदंश (Syphilis) के कारण भी ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है।

अर्जित जलशीर्षता कम ही पायी जाती है। यह प्रायः अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होती है, इसलिए इसे द्वितीयक या गौड़ जलशीर्षता

(Secondary hydrocephalus) कहते हैं। बच्चों में गौड़ जलशीर्षता का प्रमुख कारण मस्तिष्क-अर्बुद (Brain tumour) या मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) होता है।

इसके रोग-लक्षणों का प्राकटच बहुत कुछ रोग के प्रारम्भ होने की अवस्था, रोग की अवधि और उसके फलस्वरूप होने वाले तंत्रिकीय ह्रास पर निर्भर करता है। जीर्ण रोगियों का प्रमुख लक्षण उनके कपाल के ऊपरी भाग का निम्न भाग अथवा शेष शरीर के अनुपात में असाधारण रूप से बढ़ जाना है। उनका चेहरा प्रायः सामान्य नजर आता है, परन्तु कपाल असाधारण रूप में बड़ा। कपाल का बढ़ जाना मस्तिष्क की एक हद तक गंभीर क्षति से रक्षा भी करता है।

सामान्य जलशीर्षता धीरे-धीरे स्वयमेव ठीक हो जाती है, परन्तु बढ़ी हुई होने पर उसका उपचार आवश्यक है। जटिल केसों में यदि उपचार की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो जल का अनुपात बढ़ता जाता है और मस्तिष्क का ह्रास होता जाता है। इससे सिर तो बढ़ता जाता है पर बुद्धि का ह्रास होता जाता है। बौद्धिक-ह्रास की मात्रा रोग की गंभीरता और तीव्रता पर निर्भर करती है। ऐसे बालक प्रायः बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े हुए (Mentally retarded) होते हैं। उसमें संस्तम्भता (Spasticity), आक्षेप (Convulsions), अंधापन (Blindness) आदि लक्षण प्रकट हो सकते हैं। संस्तम्भता में मांसपेशियों में अचानक उग्र एवं अनैच्छिक आकुंचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अर्जित जलशीर्षता जिसका आक्रमण दो वर्ष की अवस्था के बाद होता है, उसमें सर के आकार की तो असाधारण रूप से बढ़ने की सम्भावना नहीं रहती, परन्तु अक्षिबिम्बशोफ (Pappilloedema) के साथ-साथ अन्तर्कपालीय तनाव (Intracranial tension) के अन्य लक्षण एवं उपद्रव प्रकट होने लगते हैं। इनमें संस्तम्भता, पैरों की शक्ति का ह्रास, स्मृति-लोप एवं बौद्धिक ह्रास प्रमुख हैं।

उपचार

प्रमस्तिष्क को अनावश्यक ह्रास से बचाने के लिए इसका उपचार शीघ्रातिशीघ्र कराने की आवश्यकता होती है। शीघ्र उपचार के लिए शीघ्र निदान जरूरी है। इसके लिए जो बच्चे अपक्व एवं कम भारवाले (Low weight babies) होते हैं अथवा जिनमें प्रसवकाल में आघात लगा होता है, उन पर खास नजर रखने की जरूरत होती है। ऐसे बच्चों के कलान्तराल

(Fontanelle) तनावग्रस्त और अपनी ही उम्र के औसत बच्चों की अपेक्षा अधिक चौड़े होते हैं। आँखें नीचे की ओर झुकी और श्वेतपटल (Sclera) कृष्णमण्डल (Iris) से उभरा हुआ मालूम होता है। सिर के घेरे की माप भी औसत बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। लेकिन इस सम्बन्ध में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कुछ अपक्व बच्चों की वृद्धि अपेक्षाकृत तेज होती है और कुछ में वंशानुक्रम से ही सिर बड़ा होता है। जिनके सिर वंशपरम्परा से ही बड़े होते हैं उनके सिर का ऊपरी भाग सपाट या समतल होता है, परन्तु जलशीर्षता से ग्रस्त बालक के सिर का ऊपरी भाग गोलाकार होता है।

इसका एकमात्र सफल उपचार शल्य-क्रिया ही है। इसमें कान के पीछे सिर की त्वचा के नीचे से एक ट्यूब लगाकर एक ऐसे पार्श्वपथ का निर्माण किया जाता है, जिसका एक सिरा तो सिर में रहता है और दूसरा ग्रीवा की धमनी में। प्रमस्तिष्क-मेरु-तरल (Cerebrospinal fluid) इसी पार्श्वपथ से धीरे-धीरे प्रमस्तिष्क से निकल कर रक्तसंचरण की प्रमुख धारा में मिलने लगता है। पार्श्वपथ में एक वाल्व (Valve) भी रहता है जो सिर से तरल को नीचे की ओर तो आने देता है, परन्तु नीचे से ऊपर की ओर नहीं जाने देता। जैसे-जैसे अतिरिक्त तरल निकलता जाता है, सिर का आकार घट कर सामान्य होता जाता है और शरीर के अन्य भागों में, जिनको उसकी जरूरत है, तरल के पहुँचने से शरीर की वृद्धि होती जाती है।

मस्तुलुंगक्षय

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम्।
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा॥

—सु० शा० १०।४२-४३

मस्तुलुंग के क्षय से ताल्वस्थि नीचे को झुक जाती है। बालक दीन, हीन और प्यास से व्याकुल होने लगता है।

मस्तुलुंग प्रमस्तिष्क-मेरु-तरल (Cerebrospinal fluid) का वाचक है। यह बात निम्न उद्धरण से और भी स्पष्ट हो जाती है—

शिरसोऽपहृते शल्ये बालवर्तिं निवेशयेत्।
बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुङ्गं व्रणात् स्रवेत्॥
हन्यादेनं ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत्।
व्रणे रोहति चैकैकं शनैर्बालमपक्षिपेत्॥

—सु० चि० २।६९-७०

सिर में लगे शल्य को निकाल कर व्रण को बालवर्ति (बालों की बनी वत्ती) से भर देना चाहिए। व्रण में बालवर्त्ति का प्रवेश न कराने से मस्तुलुंग का स्राव होने लगता है। मस्तुलुंग के स्राव से कुपित हुआ वायु रोगी के प्राणों का हरण कर लेता है। व्रण जैसे-जैसे भरने लगे एक-एक बाल धीरे-धीरे निकालते रहना चाहिए।
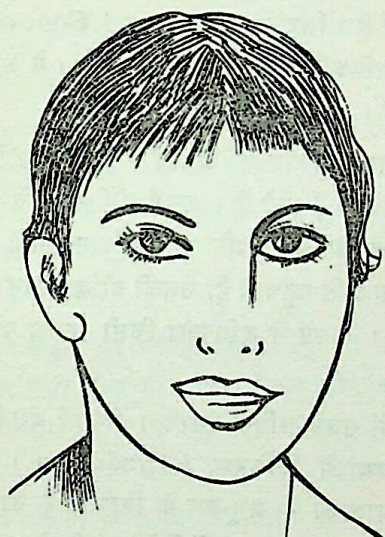
चित्र १५—मस्तुलुंगक्षय : शेष शरीर के अनुपात में शरीर की लघुता।

ताल्वस्थि नवजात शिशु के कलान्तरालों (Fontanelles) का बोधक है। मस्तिष्कमेरु-तरल के क्षय हो जाने से प्रमस्तिष्क का आकार छोटा हो जाता है। प्रमस्तिष्क के सिकुड़ने से कलान्तरालों, विशेषरूप से अग्र कलान्तराल का नीचे की ओर झुक जाना स्वाभाविक है।

मस्तुलुंग का क्षय जन्मजात अथवा जन्मोत्तर कारणों की उपज भी हो सकता है। जिस प्रकार जलशीर्षता में सिर का आकार असाधारण रूप से बड़ा हो जाता है, उसी प्रकार गर्भावस्था में मस्तुलुंग के क्षय से सिर का आकार छोटा भी रह जा सकता है।

सिर के असाधारण रूप से छोटा होने को अंगरेजी में 'माइक्रोसेफली' (Microcephaly) कहते हैं। 'माइक्रो' का अर्थ होता है छोटा और 'सेफली' का अर्थ होता है सिर। इससे पीड़ित रोगी में प्रायः गर्भावस्था में ही किसी विकासात्मक विकृति के कारण मस्तिष्क का विकास अवरुद्ध हो जाता है। फलतः सिर भी विकसित होकर सामान्य आकार ग्रहण नहीं कर पाता। ग्रीन-

फील्ड तथा उल्फसन ने, अपने एक अध्ययन में, इस विकृति से पीड़ित बच्चों के शव-परीक्षण के उपरान्त देखा कि उनमें से अधिकांश का मानसिक-विकास चौथे या पाँचवें महीने में ही अवरुद्ध हो गया था।

माइक्रोसेफली से पीड़ित बच्चों का सर्वप्रधान लक्षण है—सर का शेष शरीर के अनुपात में असाधारण रूप से छोटा होना। कुछ की लम्बाई भी अपेक्षाकृत कम होती है। सिर शंकु के आकार (Cone-shaped) का और ठुड्डी तथा माथा अल्पविकसित या अपगमित होते हैं। ये अति-सक्रिय, परेशान एवं बेचैन-से रहते हैं।

समुचित मानसिक विकास के अभाव में ये भी बौद्धिक दृष्टि से हीन (Mentally retarded) होते हैं। इनमें बौद्धिक-क्षति की मात्रा रोग की तीव्रता, गंभीरता एवं रोग की अवधि पर निर्भर करती है। जिसके प्रमस्तिष्क को जितनी ही अधिक क्षति पहुँचती है, उसकी बौद्धिक क्षमताएँ भी उसी मात्रा में न्यून हो जाती हैं। इनमें से अधिकांश किसी भाषा को सीखने में असमर्थ होते हैं।

इसके कारणों में सबसे अधिक प्रधानता दोषपूर्ण वंशबीज, अन्तर्गर्भाशय-संक्रमण तथा गर्भावस्था में विकिरण (Irradiation) को दी जाती है। हिरोशिमा और नागासाकी में अणु-बम के विस्फोट के बाद माइक्रोसेफली के अनेक केस पाये गये। जन्मोत्तर कारणों में ऐसे सभी रोग, जो शरीर में गंभीर निर्जलीभवन (Dehydration) की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, प्रमस्तिष्क-मेरु-तरल में भी ह्रास का कारण बन सकते हैं। मस्तिष्क को गंभीर रूप में प्रभावित करनेवाले कुछ गंभीर रोग भी इस तरल का अवशोषण कर इस तरह की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। लेकिन दो वर्ष की वय के उपरान्त मस्तुलुंग का क्षय होने पर भी सिर का आकार तो ज्यों-का-त्यों रहता है, परन्तु बौद्धिक प्रक्रियाओं में ह्रास एवं गड़बड़ी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में माइक्रोसेफली को असाध्य माना गया है।

उपचार

सुश्रुत ने मस्तुलुंगक्षय को एक वातप्रधान रोग माना है। प्रकुपित वात न केवल प्रमस्तिष्कमेरु-तरल का, प्रत्युत सारे शरीर का अवशोषण करने लगती है। इसी से बालक दीन-हीन एवं कृश होता जाता है। इस रोग में सर्व-शरीर-व्यापकता पायी जाती है। शरीर और मन दोनों समानरूप से प्रभावित होते हैं। इसलिए इसकी चिकित्सा में सुश्रुत ने मधुरादिगण की औषधियों से सिद्ध घृत का पान करने और उसी का अभ्यंग करने की

व्यवस्था की है। मधुरादिगण की औषधियाँ जीवनीय (Life-saving), मेध्य, बलकारक एवं पौष्टिक होती हैं।

पंगुता

चलने की शक्ति का अभाव पंगुता का द्योतक है। सुश्रुत ने इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्॥

—सु० नि० १।७७

प्रकुपित वायु कटि-प्रदेश में स्थित होकर जब एक टांग की कण्डरा को आक्षिप्त (आकुंचन, खिंचाव एवं पीड़ा से युक्त) कर देती है तब मनुष्य खंज (लंगड़ा) हो जाता है और जब दोनों टांगों की कण्डराओं का वध कर देती है, तब वह पंगु हो जाता है।

बच्चे प्रायः ९ महीने की उम्र में खड़ा होने का प्रयास करने लगते हैं, १०-११ महीने में किसी चीज का सहारा लेकर और १२-१३ महीने में बिना सहारे के खड़े होने लगते हैं। १४ महीने का होते-होते दो-तिहाई और डेढ़ साल का होते-होते प्रायः सभी बच्चे बिना सहारे के चलने लगते हैं। चलने की योग्यता के विकास में व्यक्तिगत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। कुछ बच्चे जल्दी चलते हैं, कुछ देर से।

यदि औसत उम्र के बाद कुछ समय बीत जाने पर भी कोई बच्चा खड़ा-होना, चलना नहीं सीख पाता तो समझना चाहिए कि जरूर उसमें कहीं-न-कहीं कोई दोष है। अतः उसका समुचित उपचार करना चाहिए।

चलने की क्रिया में समर्थ होने के लिए बच्चे के कटि-प्रदेश के नीचे की अस्थियों, पेशियों एवं नाड़ियों का समुचित विकास और परिपक्वता जरूरी है। जब तक ये परिपक्व एवं शक्तिसम्पन्न नहीं होती, बच्चा चलने में समर्थ नहीं हो सकता। इन अंगों की कुरचना, विकृति एवं रोगग्रस्तता ही बालक में पंगुता का कारण होती है। बालकों में शोष, फक्क तथा बाल-पक्षाघात पंगुता के प्रधान कारण होते हैं।

उपचार

यदि कुरचनाजन्य आंगिक दोष शल्यसाध्य हो तो उसका समुचित उपचार कराना चाहिए।

यदि बालक शोष, फक्क या पक्षाघात से पीड़ित है तो उन रोगों का

समुचित इलाज करना चाहिए। रोगमुक्त होने के बाद सम्बन्धित अंगों के शक्ति-सम्पन्न होने पर बालक स्वतः चलने लगता है।

यदि किसी असाध्य स्थिति के कारण उसमें कोई स्थायी असमर्थता उत्पन्न हो गयी है तो उसे चलने में सहायक कृत्रिम अंगों-उपकरणों का सहारा लेना चाहिए।

भावप्रकाश में खंज एवं पंगुता के सामान्य चिकित्सा-सूत्र का निर्देश करते हुये कहा गया है—

उपाचरेदभिनवं खञ्जं पङ्गुमथापि च।
विरेकास्थापनस्वेदगुग्गुलुस्नेहवस्तिभिः॥ भा.प्र. वातव्याधि. १५२

नवीन खंजता या पंगुता की चिकित्सा विरेचन, आस्थापन-वस्ति, स्वेदन, गुग्गुलु के सेवन और स्नेहबस्ति से करनी चाहिए।

मूकत्व
(Aphonia)

मूक का अर्थ है—बोलने की शक्ति से रहित या गूंगा। सुश्रुत ने इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दवाहिनी।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिणगद्गदान्॥

—सु० नि० १।८५

कफ के सहित प्रकुपित वायु शब्दवाहिनी-धमनी (तन्त्रिकाओं) का अवरोध कर मनुष्य में बोलने की क्रिया को अशक्त या विकृत बना देती है। इसी से उसमें गूंगापन, मिन्मिनत्व (अनुनासिक स्वरवाला) तथा गद्‌गद (तुतलाना) रोग की उत्पत्ति होती है।

मू कत्व क्षणिक भी हो सकता है और स्थायी भी। किसी रोग के उपद्रव-स्वरूप उत्पन्न मूकत्व क्षणिक होता है और उस रोग के ठीक हो जाने पर स्वतः ठीक हो जाता है।

मूकत्व जन्मजात भी हो सकता है और अर्जित भी। जन्मजात मूकत्व में बच्चा बोलने योग्य अवस्था को प्राप्त होने पर भी बोलना नहीं शुरू करता। अर्जित में वह सामान्य बच्चों की तरह बोलना शुरू करता है, भाषा-विकास के विभिन्न स्तरों से गुजरता है परन्तु बीच में ही कहीं किसी विकार के उत्पन्न हो जाने से उसकी बोलने की शक्ति समाप्त हो जाती है।

जन्मजात मूकत्व स्वरयन्त्र की किसी स्थानीय या व्यापक कुरचना, बोलने से सम्बन्धित तन्त्रिकाओं तथा प्रमस्तिष्क के बोलने के केन्द्र में विकृति या

कभी-कभी बहरेपन के कारण भी होता है। जो सुनता नहीं, वह बोलना नहीं सीख पाता।

अर्जित मूकत्व वाणी के अत्यधिक दुरुपयोग, गले की खराबी, स्वरयन्त्र की तन्त्रिकाओं के किसी रोग, पेशीय-आकुंचन, पक्षाघात, हिस्टीरिया, स्वर-यन्त्र के कैन्सर आदि की उपज हो सकता है।

उपचार

बच्चे की पहली आवाज जन्मरुदन के रूप में फूटती है। यदि पैदा होने के बाद वह नहीं रोता तो जातकर्मीय अध्याय में बतलाये गये उपाय करने चाहिए।

यदि बच्चा औसत आयु को प्राप्त हो जाने पर भी नहीं बोलता तो भी घबड़ाना नहीं चाहिए। कुछ बच्चे स्वभावतः देर से बोलना शुरू करते हैं।

यदि बच्चे के अन्दर कोई रचना-सम्बन्धी दोष है तो उसका सुधार कराना चाहिए। कोई असमर्थताजनक रोग है तो उसका उपचार कराना चाहिए।

यदि बच्चा जन्म से ही पूर्ण बधिर है तो उसकी विकृति का उपचार कराना चाहिए। यदि विकृति असाध्य है तो विशेषज्ञों की देख-रेख में बोलने का प्रशिक्षण दिलाना चाहिए। यह कार्य वाणी-उपचार (Speech therapy) के विशेषज्ञ ही कर सकते हैं।

मूकत्व में सारस्वतचूर्ण, सारस्वतारिष्ट, ब्राह्मीघृत, कल्याणघृत, कल्याणावलेह, प्रवालभस्म, सप्तामृतलौह आदि अच्छा काम करते हैं।

वामनता
(Dwarfism)

वामन का अर्थ होता है—बौना अथवा नाटा। व्यक्ति जिस समाज में रह रहा हो, उस समाज के व्यक्तियों की औसत लम्बाई से उसकी लम्बाई का अधिक कम होना ही वामनता या बौनापन कहलाता है।

पीयूष-ग्रन्थि (Pituitary gland) का स्राव (Hormone) प्राणी की लम्बाई को प्रभावित करता है। जिन लोगों की पीयूष-ग्रन्थि आंशिक या पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाने के कारण उनमें अन्तःस्राव का निर्माण कम हो जाता है या बन्द हो जाता है, तो उनका कद बढ़ना भी बन्द हो जाता है और वे वामन रह जाते हैं।

वामनता के दो मुख्य भेद होते हैं—जन्मजात (Congenital type) तथा जरामूलक (Senile type)।

जन्मजात वामनता में शिशु की पीयूष-ग्रन्थि जन्म के पूर्व से ही निष्क्रिय रहती है। ऐसे शिशुओं में उनके अंग-उपांगों की वृद्धि तो औसत अनुपात में होती है, परन्तु वृद्धि की गति वहुत ही कम रहती है। इनमें अनेक मात्रात्मक भेद दृष्टिगोचर हो सकते हैं। आकारिक दृष्टि से दस वर्ष का वच्चा चार वर्ष के वच्चे के समान और बीस वर्ष का युवक दस वर्ष के बच्चे के समान लग सकता है। ऐसे व्यक्ति मानसिक दृष्टि से तो हीन नहीं होते, परन्तु यौन-ग्रन्थियों के अन्तःस्राव की कमी के कारण उनमें अपनी अवस्था के अनुरूप यौन-परिपक्वता विकसित नहीं हो पाती।

जरामूलक वामनता अर्जित होती है। जन्म के समय वच्चे की पीयूषग्रन्थि सामान्य रूप से सक्रिय रहती है, परन्तु वाद में किसी कारणवश, हो सकता है किसी रोग के कारण, नष्ट हो जाती है या एकाएक वह काम करना बंद कर देती है। ऐसी स्थिति में वच्चे को वृद्धि से सम्वन्धित अन्तःस्राव मिलना वन्द हो जाता है। जिस वय में यह घटना घटती है, वही पर उसकी वृद्धि रुक जाती है। यदि होती भी है तो वहुत कम और अत्यन्त धीमी गति से। इसका प्रभाव दूसरी ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों पर भी पड़ता है। उनका भी उत्पादन अत्यधिक कम या वन्द हो जाता है। यौन-विकास भी जहाँ-का-तहाँ अवरुद्ध हो जाता है। भूख कम हो जाती है। शरीर के ऊतकों में भी रिक्तता आने लगती है। फलतः शरीर पर वृद्धावस्था के समान झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं।

पहले इस अवस्था को असाध्य माना जाता था। जो वामन पैदा होते थे, वे आजीवन वामन ही रह जाते थे। परन्तु आज-दिन अन्तःस्रावी-उपचार (Hormonal therapy) ने इसके इलाज की सम्भावनाएँ बढ़ा दी हैं। इसका एकमात्र उपचार पीयूष-ग्रन्थि के अन्तःस्राव को रोगी के अन्दर पहुँचाना है। रोग का निदान जितनी ही कम अवस्था में हो जाय, उसके ठीक होने की सम्भावना उतनी ही अधिक रहती है। यदि कम उम्र में ही इलाज आरम्भ कर दिया जाय तो जन्मजात वामन को लम्बाई की दृष्टि से पूर्ण परिपक्व बनाया जा सकता है।

वामनता का एक और अपसामान्य रूप भी होता है, जिसे अवटुवामनता (Cretinism) कहते हैं। जिस व्यक्ति में अवटु-ग्रन्थि (Thyroid gland) का अभाव होता है या जिसकी अवटु-ग्रन्थि जन्म के समय से ही अथवा उसके वाद ठीक से काम नहीं करती, वह भी शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से वामन रह जाता है। जो वच्चा अपने जन्मकाल से ही पीयूष-ग्रन्थि के अन्तःस्राव की हीनता का शिकार रहता है, उसके शरीर की वृद्धि

अत्यधिक मन्द हो जाती है। वह मोटा एवं थुलथुला-सा हो जाता है। उसकी त्वचा रूक्ष, भद्दी और मोटी लगती है; हाथ-पैर ठूठ की तरह लगते हैं; सर वड़ा होता है; वाल मोटे और कड़े होते हैं; पलकें उनींदी जैसी लगती हैं; पेट वाहर को निकला हुआ होता है। उसमें यौन-परिपक्वता भी नहीं पायी जाती। बौद्धिक दृष्टि से भी वह हीन (Mentally retarded) होता है। उसमें वौद्धिक ह्रास की मात्रा अवटु-ग्रन्थि के अन्तःस्राव की गंभीरता और उपचार के प्रारम्भ होने की उम्र पर निर्भर करती है। अन्तःस्राव की गंभीरता कम हो और उपचार भी शीघ्रातिशीघ्र शुरू कर दिया जाय तो उसमें मानसिक ह्रास की मात्रा भी कम होगी। ठीक इसके विपरीत यदि गंभीरता अधिक हो और उपचार की ओर भी सावधानी न बरती जाय तो ह्रास की मात्रा अधिक होगी।

इस अवस्था का भी एकमात्र उपाय अन्तःस्रावी-उपचार (Hormonal therapy) है। अवटु-ग्रन्थि (Thyroid gland) के अन्तःस्राव को रोगी में पहुँचा कर ही उसे किसी हद तक लाभ पहुँचाया जा सकता है।

आयुर्वेद में वामनता की गणना वातरोगों में की गयी है (देखें—चरक सूत्रस्थान अध्याय २०)। इसमें दोष, दूष्य और लक्षणों की गंभीरता का ध्यान रखते हुए वातनाशक चिकित्सा ही किसी हद तक प्रभावी हो सकती है।

ओष्ठभेद : खण्डोष्ठ
(Cleft Lips)

तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनौष्ठो द्विधाकृतः।

—अ० सं० उ० २५।४

वात के प्रकोप से जब ओष्ठ (ऊपर का ओठ) दो खण्डों में विभक्त हो जाता है, तब उसे खण्डोष्ठ कहते हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में इस विकृति को हेयर लिप्स (Hare lips) या क्लेफ्ट लिप्स (Cleft lips) कहते हैं। हेयर का अर्थ है खरगोश। खरगोश का ओष्ठ स्वभावतः दो खण्डों में विभक्त होकर नासारन्ध्रों तक खिंचा रहता है। इसी आधार पर इस विकृति का यह नाम पड़ा।

ओष्ठ का इस प्रकार का खण्डन चोट से भी हो सकता है, पर प्रायः यह विकृति जन्मजात ही होती है। इसमें दरार ओष्ठ के किनारे से प्रारम्भ होकर नासाछिद्रों तक चली जाती है। यह दरार कभी एक ओर के ओष्ठ को प्रभा-

वित करती है और कभी दोनों ओर के ओष्ठ को। एक ओर के ओष्ठ को प्रभावित करने की स्थिति में यह प्रायः बायीं ओर ही होती है।

चित्र १६—ओष्ठ-भेद : बालिका के ऊपर के फटे ओंठ की दरार नाक तक चली गयी है।

खण्डोष्ठ की विकृति स्वतन्त्र रूप से भी हो सकती है, पर प्रायः खण्डतालु (Cleft palate) के साथ ही पायी जाती है।

तालुविकृति : खण्डतालु
(Cleft Palate)

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः।
श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात् ॥

—सु० नि० १६।४५

पित्तसहित वात के प्रकोप से तालुप्रदेश में शोष हो जाता है तथा वह विदीर्ण भी हो जाता है। साथ में श्वासकष्ट भी होता है।

तालु की यह विदीर्णता अर्जित भी हो सकती है, परन्तु यह प्रायः जन्मजात होती है। जन्मजात विदीर्णता को ही आधुनिक आयुर्विज्ञान में खण्डतालु (Cleft palate) कहते हैं। इस विकृति से पीड़ित बच्चों में तालु बीच से जुड़ा हुआ नहीं होता।

गर्भस्थ शिशु के सामान्य विकास-क्रम में उसके ओठ, जबड़े और तालु दोनों पार्श्व से बढ़ना शुरू होते हैं और आकर केन्द्र में मिल जाते हैं। कभी-कभी दोनों भागों के सामान्य रूप में विकसित होकर न मिल पाने से बीच में

विवर या दरार रह जाती है। यह दरार छोटी भी हो सकती है और बड़ी भी। साथ ही इसमें स्थानिक भिन्नता भी पायी जाती है।

दरार मुख के पिछले भाग में स्थित कोमल तालु (Soft palate) या अगले भाग में स्थित कठोर तालु (Hard palate) कहीं पर भी पायी जा सकती है। कठोर तालु की दीवार नासागुहा (Nasal cavity) से मिल जाती है। यह दरार ओष्ठ या अस्थिमय दन्त-उलूखल-कटक (Bony alveolar ridge) को दो हिस्सों में बाँट दे सकती है। गम्भीर स्थिति में मुँह का ऊपरी भाग और ओष्ठ दो अलग-अलग हिस्सों में बँट जाते हैं।

आगे के चित्र में खण्डित तालु की तीन स्थितियाँ दिखायी गई हैं—(क) में मुख के एकदम पिछले भाग में कोमल तालु में थोड़ा-सा अनजुड़ा भाग एक छोटी-सी दरार के रूप में दिखलायी पड़ता है; (ख) में दरार एक ओर ऊपर तक चली गयी है; तथा (ग) में दरार अपेक्षाकृत चौड़ी और दोनों ओर है।
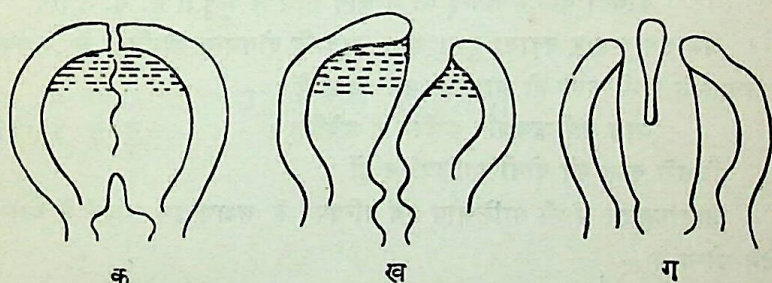
चित्र १७—तालु-विकृति : खण्डतालु के तीन रूप। मुँह के अन्दर ठीक पीछे की ओर झाँक कर देखने पर (क) तालु के अन्तरतम छोर कोमल-तालु में दरार; (ख) दरार आगे को एक ओर बढ़ती चली गयी है; तथा (ग) दो भागों में बँटी दरार : द्विपार्श्वीय पूर्ण खण्डित तालु।

इन दोनों ही विकृतियों से पीड़ित बच्चे, जब तक उनके ओष्ठ को शल्यक्रिया द्वारा उचित स्थिति में न लाया जाय, माँ का स्तनपान करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसी हालत में दूध को निकालकर बोतल में भर कर ही पिलाना पड़ता है।

खण्डोष्ठ और खण्डतालु की विकृतियों का अभी तक कोई निश्चित कारण ज्ञात नहीं हो सका है।

ये दोनों ही विकृतियाँ शल्य-साध्य हैं। खण्डोष्ठ को जन्म के बाद कुछ ही महीनों में, बालक में थोड़ी शक्ति आ जाने पर, ठीक किया जा सकता है। पर खण्डतालु का शल्योपचार बालक के २-३ वर्ष का हो जाने पर ही शुरू किया जा सकता है। उसको सामान्य रूप में लाने के लिए २-३ आपरेशन करने पड़ सकते हैं।

कर्णपाली-विकृति

(Cleft or Absence of Lobule of the Ear)

कर्णपाली की विकृतियों में दो प्रमुख हैं—कर्णपाली का फटा हुआ होना तथा कर्णपाली का न होना। इनमें पहली विकृति अभिघातज भी हो सकती है और जन्मजात भी। दूसरी विकृति प्रायः जन्मजात होती है। इनके उद्धरण प्रकारान्तर से संहिताओं में देखने को मिलते हैं। सुश्रुत ने सूत्रस्थान के 'कर्ण-व्यधबन्धविधि' नामक सोलहवें अध्याय में इनका वर्णन इस प्रकार किया है—

एवं विवर्धितः कर्णश्छिद्यते तु द्विधा नृणाम्।
दोषतो वाऽभिघाताद् वा सन्धानं तस्य मे श्रुणु॥ सु. सू. १६।९

अब इस प्रकार बढ़ाया हुआ कान वातादि दोषजन्य व्याधियों से अथवा आघात से कभी-कभी दो भागों में कट जाता है।

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदिह। —सु. सू. १६।११

जिसके कान की दोनों पालियाँ न हों।

अष्टांगहृदय में भी पालिशोष एवं तन्त्रिका के लक्षण इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य हैं—

सिरास्थः कुरुते वायुः पालिशोषं तदाह्वयम्।

सिराओं में स्थित वायु पालि को सुखाकर पालिशोष उत्पन्न करती है।

कृशा दृढा च तन्त्रीवत् पाली वातेन तन्त्रिका।

वायु के कारण पालि पतली, दृढ़ एवं तन्त्री की भाँति हो जाती है।

कान की जो जन्मजात विकृतियाँ या कुरचनाएँ देखने में आती हैं, उनमें मुख्य हैं—वाह्यकर्ण का अभाव, कर्णपालि का अभाव, कान का चमगादड़ों के कान की तरह असाधारण रूप से वाहर को निकला हुआ होना या अभिघात के फलस्वरूप कान के किसी भाग का कटा-फटा होना। यद्यपि इन कुरचनाओं से सुनने की क्रिया में विशेष हानि नहीं होती पर देखने में अच्छी नहीं लगतीं। प्लास्टिक सर्जरी द्वारा इनमें से अधिकांश को ठीक किया जा सकता है।

प्रसवोत्तर व्याधियाँ

२२ कौ०

अध्याय ३६

नाभिरोग, आक्षेपक एवं नेत्राभिष्यन्द

नाभि रोग

(Diseases of the Umbilicus & Umbilical Cord)

बालकों में नाभि के रोग प्रायः असम्यक् नाड़ी-कल्पन के कारण उत्पन्न होते हैं। नाभिनालोच्छेदन के समय यदि पूरी सावधानी नहीं वरती गयी; सूत्र या नाड़ी काटने के लिए प्रयोग में लायी गयी कैंची, ब्लेड या चाकू तथा वस्त्र आदि में किसी तरह की गन्दगी या संक्रमण रह गया तो व्रणयुक्त नाड़ी दूषित हो जाती है। कभी-कभी यह दोष नाड़ी के द्वारा यकृत् या रक्त में पहुँचकर ज्वर, वमन, प्रवाहिका, कामला आदि को उत्पन्न कर देता है।

नाभि-नाल की जीवाणुमयता

नाभि-नाल विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं के लिए सबसे अधिक सुग्राह्य स्थान होता है। जीवाणुओं के प्रवेश से उसमें स्थानीय पूतिता (Local sepsis), पूतिजीवरक्तता (Septicaemia), नवजात धनुस्तम्भ (Tetanus neonatorum), प्रतिहारी-शिराघनास्रता (Portal vein thrombosis) या पर्युदर्याशोथ (Peritonitis) आदि विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, जो बालक के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन इस प्रकार की जटिल स्थितियाँ प्रायः उत्पन्न नहीं होतीं; दोष नाभि या उनके आस-पास तक ही सीमित रहता है।

नाभि-पाक

नाभि के दूषित होने से प्रायः उसमें पाक उत्पन्न हो जाता है और वह सूज जाती है। नाभि-पाक का समुचित उपचार न होने से ही अन्य रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इसलिए चरक और वृद्धवाग्भट ने इस क्रम में पहले नाभि-पाक का ही उल्लेख किया है—

तस्य चेन्नाभिः पच्येत, तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुसुरदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैले-नाभ्यज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्। —चरक-शा० ८।४४

यदि नाभि पकने लगे तो लोध, मुलेठी, प्रियंगु, देवदारु और हलदी के कल्क से विधिपूर्वक बनाये हुए तैल का अभ्यंग करे। तैल सिद्ध करने वाले इन्हीं द्रव्यों के चूर्ण का पके हुए भाग पर अवचूर्णन करे।

वृद्धवाग्भट ने भी लगभग यही बात कही है—

यष्टीलोध्रनिशाश्यामाकल्कपक्वेन सेचयेत् ।
नाभिं पाके तु तैलेन तच्चूर्णैश्चावचूर्णयेत् ॥ —अ० सं० उ० २।१३४

मुलेठी, लोध, हलदी और कालीनिशोथ—इनके कल्क से तैल पकाकर उसी से परिषेक करें और इन्हीं वस्तुओं के चूर्ण को लगायें।

नाभिगत आन्त्रवृद्धि

नाभि पाक होने से नाभि अधिक कमजोर हो जाती है। इस कमजोरी के साथ-साथ यदि बालक मलावरोध, निरुद्धप्रकाश या रोदनाधिक्य का भी शिकार होता है तो पेट पर अधिक तनाव पड़ने से आँत का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि ऊपर-नीचे होती-सी मालूम होती है। वह धौंकनी के समान फूलती-पचकती है। इस अवस्था को नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) कहते हैं। बिना नाभि-पाक के भी बालक को लगातार मलावरोध बना रहने से इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

चरकोक्त नाभि-विकार

चरक के अनुसार असम्यक् नाड़ी-कल्पन से चार प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं—

असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामाभ्योत्तुण्डिता-पिण्डलिका-विनामिका-विजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम् । —चरक-शा० ८।४५

१. **उत्तुण्डिता**—इसमें नाड़ी लम्बाई-चौड़ाई में उत्तुण्डित अर्थात् मोटी और बाहर को निकली हुई-सी होती है।

२. **पिण्डलिका**—नाड़ी पिण्ड के आकार की गोल तथा कठिन हो जाती है।

३. **विनामिका**—नाड़ी किनारों से ऊँची शोथयुक्त तथा मध्य में दबी-सी रहती है।

वृद्धवाग्भट ने उत्तुण्डिता और पिण्डलिका को उन्नत और विनामिका को अनुन्नत नाभि कहा है।

४. **विजृम्भिका**—नाभि का बार-बार घटना-बढ़ना या ऊपर-नीचे होना। जिस समय बालक रोता या मल का त्याग करता है, उस समय पेट पर भार पड़ने से नाभि फूल जाती है, अन्यथा दबी रहती है।

वस्तुतः चरकोक्त उक्त चारों विकार स्वतन्त्र विकार न होकर एक विकार नाभिगत आन्त्रवृद्धि के ही चार भेद मालूम होते हैं।

वालक की आयु-वृद्धि के साथ-साथ नाभि का आयाम-व्यायाम तो नहीं बढ़ता पर आन्त्र की लम्बाई और मोटाई वढ़ती जाती है। इससे यह विकार आगे चलकर स्वतः शान्त हो जाता है।

नाभिनाल-व्रण

कभी-कभी नाभिपाक बढ़कर नाभिनालव्रण (Umbilical fistula) का रूप धारण कर लेता है। इसमें मल, मूत्र तथा श्लैष्मिक स्राव के अंश की उपस्थिति पीतक-आन्त्रवाहिनी (Vitello-intestinal duct), यूरेकस (Urachus) या अन्ध-कोष्ठ (Blind pouch) की उपस्थिति का संकेत देती है। कभी-कभी नाल के ठीक से न बँधे होने, क्षति, स्थानीय संक्रमण, पूतिजीवरक्तता (Septicaemia) या रक्तस्रावी उपसर्गों के कारण उससे रक्तस्राव भी हो सकता है।

नाभि-पालिप

यह पीतक-आन्त्रवाहिनी, यूरेकस या अन्ध-कोष्ठ का श्लैश्मिक अवशेष होता है। यह रक्ताभ पर्विका या पिण्ड (Red nodule) के आकार का दिखलायी पड़ता है।

चिकित्सा

चरक ने नाभिगत रोगों की चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त का निर्देश करते हुए कहा है—

तत्राविदाहिभिर्वातपित्तप्रशमनैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिर्भिश्चोपक्रमेत गुरुलाघवमभिसमीक्ष्य। —च० शा०, ८।४५

नाभि रोगों के प्रशमनार्थ अविदाही, वातपित्तशामक अभ्यंग, उत्सादन, परिषेक, घृतसेवन आदि चिकित्सा करनी चाहिए। इस चिकित्सा में दोषों की गुरुता और तारतम्यता का ध्यान रखना चाहिए।

उन्नत-नाभि—

... ...नालपातेऽपि चोन्नताम्।
नाभिं छागेन शकृता दग्धेनान्तर्विचूर्णयेत्॥—अ० सं० उ० २।१३२

नाल के गिर जाने पर भी यदि उभार हो तो बकरी की मींगनी को जलाकर उसकी राख या क्षार को नाभि पर छिड़के।

अनुन्नत नाभि—

अभ्रगन्धाञ्जनाजाविविड्यष्टीमधुकादिभिः।
रोपयेच्चूर्णितैर्नाभिं स्नेहयुक्तैरनुन्नताम्॥—अ० सं० उ० २।१३३

जो नाभि उठी हुई तो न हो पर उसमें व्रण वन चुका हो, उसपर असगन्ध, अंजन, मुलेठी तथा बकरी और भेड़ की मींगनी—इनके सूक्ष्म चूर्ण को घी में मिलाकर लेप करना चाहिए।

नाभि-तुण्डी—

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः॥

—अ० सं० उ० २।१३५

नाभितुण्डी में वातनाशक स्नेह, स्वेद और उपनाह वरतें। सुश्रुत ने भी इसमें वायु के अनुलोमन, स्नेहन, स्वेदन और उपनाह का उपदेश किया है। वायुदोष का शमन ही इसका प्रधान उपचार है।

आक्षेपक

आक्षेप का शाव्दिक अर्थ है—फेंकना, उछालना, खींचना आदि। शरीर के किसी अंग-विशेष या समस्त शरीर में खिचाव जैसे झटकों की अनुभूति आक्षेप कहलाता है। जब इस प्रकार के झटकों की अनुभूति प्राणी बार-बार करता है और वे दौरों का-सा रूप ले लेते हैं, तब उसे आक्षेपक कहते हैं। सुश्रुत ने इसकी परिभाषा निम्न शव्दों में दी है—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।
तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः।
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः॥ —सु० नि० १।५०-५१

जब कुपित वात शरीर की समस्त धमनियों (वातवाहिनियों) में प्रवेश कर जाता है, तब बार-बार आक्षेपों की आवृत्ति होने लगती है। इस प्रकार बार-बार आक्षेप के दौरे आने से इसे आक्षेपक कहते हैं।

चरक ने इसकी सम्प्राप्ति और निरुक्ति का और भी सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः।
पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः॥

—च० चि० २८।५०

कुपित हुई वायु जब हाथ, पैर, सिरा, स्नायु, कण्डरा को सुखाकर शरीर में बार-बार खिचाव उत्पन्न करती है, तब उसे आक्षेपक कहते हैं।

आक्षेपक वस्तुतः कोई स्वतन्त्र रोग नहीं बल्कि एक लक्षण है, जो अनेक रोगों में उपसर्ग के रूप में पाया जाता है। आक्षेपक के दौरे के समय रोगी

की मांसपेशियाँ स्वतः गतिशील हो जाती हैं। उनपर से उसका नियन्त्रण समाप्त हो जाता है।

आक्षेपक गतियों के अनेक कारण हो सकते हैं, यथा—विषमयता, उदर-क्रिमि, ज्वर, हनुस्तम्भ, अलर्क विष, रक्ताल्पता आदि। छोटे-छोटे बच्चों में दन्तोद्भवन में अतिसार, रिकेट आदि से पीड़ित होने पर आक्षेप आते देखे जाते हैं।

छोटे-छोटे बच्चों में ऐसे दौरे प्रायः थोड़ी अवधि तक ही रहते हैं और स्वतः शान्त भी हो जाते हैं। अभिभावकों को उसकी अपेक्षा उसके मूल रोग पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए जिसके कारण वे आक्षेप उत्पन्न होते हैं।

दौरे अनेक रूप धारण कर सकते हैं। उस अवधि में रोगी एकदम चेतना-शून्य हो जा सकता हैं, मुँह से लालास्राव हो सकता है, मुँह से फेन आ सकता है। ऑक्सीजन की कमी से उसका वर्ण श्याव हो जा सकता है। अपस्मार में इस प्रकार के दौरे एक महत्त्वपूर्ण लक्षण के रूप में पाये जाते हैं, जो किसी सामयिक या मानसिक विकृति की उपज होते हैं।

नवजात शिशुओं में दौरों का आना प्रायः गम्भीर अवस्था का द्योतक है। उनमें इसका कारण प्रायः केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र का ही कोई-न-कोई विकार होता है। नवजात शिशुओं में आक्षेपक के सबसे व्यापक कारण संक्रमण की प्रक्रियाएँ होती हैं, यथा—नवजात-टिटेनस (Tetanus neonatorum), पूतिजीवरक्तता (Septicaemia), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) या जन्मजात अथवा सहज टॉक्सोप्लाज्मता (Congenital Toxoplasmosis)। रक्तस्राव (Haemorrhage), अवदृढ़तानिका-रक्तस्तम्भन (Subdural haematoma) अथवा अनॉक्सिता (Anoxia) से उत्पन्न प्रसवकालीन प्रमस्तिष्कीय क्षतियों (Cerebral birth injuries) का महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान आता है। विकासशील देशों में बेरी-बेरी (Beri-beri) भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता है। मस्तिष्क के जन्मजात विकार भी इसका कारण हो सकते हैं, परन्तु उनका निदान अपने आप में एक कठिन समस्या है।

कभी-कभी औषधियों की विषमयता भी नवजात में आक्षेपक की उत्पत्ति का कारण बन जाती है। गर्भावस्था में माता द्वारा अधिक मात्रा में सेवन की गयी मद्य या मद्यसारयुक्त वस्तुएँ या औषधियाँ, अफीम या अफीम के योग से तैयार की गयी औषधियाँ अथवा बालक को अज्ञान या अन्धविश्वास-वश दी गयी औषधियाँ, उनमें आक्षेपों को जन्म देने का कारण बन जाती हैं।

चिकित्सा

रोगी को आराम से बिस्तर पर लिटा दें। आसपास से लोगों को हटा दें ताकि रोगी को पर्याप्त मात्रा में शुद्ध वायु मिल सके।

आक्षेपक में, जैसा कि आपने ऊपर देखा, मूल रोग का उपचार जरूरी है। मूल रोग के शान्त होते ही दौरे स्वतः शान्त हो जाते हैं।

आक्षेपक में दिये जाने वाले योग—बालार्करस (केसर-गोरोचनयुक्त), ब्राह्मीवटी, बृहत्वातचिन्तामणि, वातकुलान्तक, चिन्तामणिचतुर्मुख, शंसमनी-वटी, अपतन्त्रकारिवटी, पंचगव्यघृत, चैतसघृत, सारस्वतारिष्ट तथा मांस्यादि-क्वाथ।

बाह्य-प्रयोगार्थ योग—शरीर पर शतधौतपुराणघृत या वातघ्न तैलों की मालिश तथा माहेश्वर धूप।

प्रज्ञापराधजन्य नेत्राभिष्यन्द
(Opthalmia Neonatorum)

नेत्राभिष्यन्द (Opthalmia) या नेत्रश्लेष्मावरण-शोथ (Conjuncti-vitis) आँखों का एक सामान्य रोग है। बोलचाल की भाषा में इसे 'आँख आना' या 'आँख दुखना' कहते हैं। इस अवस्था में नेत्र की श्लेष्मलकला (Conjunctiva) में रक्त की अधिकता या शोथ हो जाता है। इसके चार प्रमुख लक्षण हैं—

१. लालिमा—रक्त की अधिकता के कारण श्लेष्मलकला लाल हो जाती है। रक्त जितना ही अधिक होता है, लाली भी उतनी ही अधिक होती है।

२. स्राव—रोग की अवस्था में स्राव की मात्रा बढ़ जाती है। रोग के सौम्य स्वरूप का होने पर स्राव श्लेमल स्वरूप का ही होता है, परन्तु रोग के उग्र रूप धारण लेने पर इसमें पूय भी आने लगता है। रात में सोते समय बहे स्राव के सूख जाने के कारण पलकें आपस में चिपक जाती हैं।

३. पीड़ा—प्रारम्भ में पीड़ा कम होती है पर जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है पीड़ा भी तेज होती जाती है और बढ़कर कड़कन का रूप धारण कर लेती है। ऐसा लगता है जैसे आँखों में बालू के कण भर गये हों। नेत्रों की पीड़ा से सर में भी पीड़ा होने लगती है।

४. प्रकाश-संत्रास—रोगी को प्रकाश बर्दाश्त नहीं होता। प्रकाश में उसकी आँखें नहीं खुलतीं। वह अँधेरे में ही रहना चाहता है।

यह रोग सामान्य होने के बावजूद इसकी उपेक्षा करने पर अनेक उपद्रवों तथा जटिल नेत्र-रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाता है।

भेद या प्रकार

आयुर्वेद में नेत्राभिष्यन्द चार प्रकार का माना गया है—वातज, पित्तज, कफज और रक्तज। संहिताओं में इनके लक्षणों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में निमित्त-भेद से इसे प्रायः निम्न पाँच भागों में बाँटा जाता है—

१. प्रदाहजन्य (Catarrhal)—इसके भी तीन भेद हैं–तीव्र (Acute), जीर्ण (Chronic) तथा कोषीय (Follicular)।

२. प्रत्यूर्जताजन्य (Allergic)—इसके भी अनेक उपभेद माने जाते हैं।

३. सपूय (Purulent or blennorrhoea)—इसके भी दो प्रधान भेद हैं—पूयमेहज (Gonorrheal) तथा नवजात-नेत्राभिष्यन्द (Opthalmia neonatorum)।

४. कला सम्वन्धी (Membranous)—रोहिणीजन्य (Diptheritic) तथा अन्य।

५. विषाणुजन्य (Virus infection)।

कुछ ग्रन्थों में संक्रमणजन्य नेत्राभिष्यन्द को नेत्रस्राव की प्रकृति और अंगों की विषमयता के आधार पर निम्न तीन वर्गों में बाँटा गया है—सीरमी (Serous), श्लेष्मपूयी (Mucopurulent) तथा पूयी या कलायुक्त (Purulent or Membranous)।

नवजात नेत्राभिष्यन्द

नवजात शिशु में होने वाले नेत्राभिष्यन्द को ही नवजात-नेत्राभिष्यन्द (Opthalmic neonatorum) कहते हैं। इस रोग की उत्पत्ति माता के प्रजनन-पथ में वर्तमान पूयमेह के जीवाणुओं के संक्रमण के कारण होती है। प्रसवकाल में आवश्यक सावधानी न बरतने के कारण पूयमेह का विष बच्चे की आँखों में लग जाता है। उसी से इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसलिए इसे प्रज्ञापराधजन्य नेत्राभिष्यन्द की संज्ञा दी गयी है। माँ-बाप के अपराध या असावधानी का फल ही बालक को भोगना पड़ता है। पहले बच्चों में उत्पन्न अन्धता (Blindness) का लगभग ५० प्रतिशत कारण प्रज्ञापराधजन्य नेत्राभिष्यन्द ही हुआ करता था। वर्तमान काल में प्रसवकालीन देखभाल, सतत वढ़ती चिकित्सा-सुविधा और पूयमेह की सफल चिकित्सा के कारण इसमें काफी कमी आयी है।

पहले यह मान्यता थी कि इस प्रकार का संक्रमण मात्र सूजाक के जीवाणुओं के कारण ही होता है। पर इधर अनेक केसों में पाया गया है कि

सौम्यस्वरूप में इसकी उत्पत्ति अन्य जीवाणुओं के कारण भी हो सकती है, यथा—क्लेमाइडिया-आकुलो-जेनिटेलिस (Chlamydia oculo-genetalis) या स्टैफिलोकोकी (Staphylococci)।

शुरू में यह रोग साधारण रक्ताधिक्य या द्रवाधिक्य के साथ शुरू होता है; आँखों में हलकी लाली आ जाती है और उनसे पानी वहने लगता है और शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लेता है। लाली बढ़ने लगती है। स्राव श्लेष्म-पूयी (Mucopurulent) फिर पूयी (Purulent) होने लगता है। पलकें सूजकर इतनी लाल हो जाती हैं कि बालक आँखों को खोल नहीं सकता। पीड़ा से छटपटाता और कानों को खींचता है। कान के नीचे की रसायनी-ग्रन्थि शोथयुक्त हो जाती है। ज्वर हो जाता है। समय रहते यदि शीघ्र उपचार न किया गया तो कनीनिका (Cornea) में घाव हो जाते हैं। व्रणीभवन (Ulceration) से वह छिद्रयुक्त (Perforated) हो जाती है। कभी-कभी गलकर वह जाती है और नेत्र के भीतरी उपांग लेन्स (Lens) फूटकर बाहर निकल आते हैं। इससे बालक अपने नेत्रों की ज्योति सदा-सदा के लिए खो देता है।

चिकित्सा

जन्म के एक सप्ताह के अन्दर यदि बच्चे की आँख से किसी तरह का असामान्य स्राव आने लगे तो तुरंत सतर्क हो जाना चाहिए। इस अवस्था में स्वभावतया बच्चों की आँख से प्रायः आँसू नहीं निकलते।

रोग के विशिष्ट लक्षणों-चिह्नों तथा नेत्र-स्राव की अनुवीक्षणात्मक परीक्षा के द्वारा ही रोग का निश्चयात्मक निदान किया जा सकता है।

प्रसव के पूर्व यदि इस बात का पता लग जाय कि माता का प्रजनन-पथ पूयमेह के विष से युक्त है तो निरोधक उपाय के रूप में प्रसव के पूर्व उत्तर-वस्ति द्वारा उसकी सफाई कर देनी चाहिए।

प्रसव होते ही शिशु की आँखों की सफाई का पूरा ध्यान रखें। इसका विवेचन सैद्धान्तिक खण्ड में 'नवजात शिशु की परिचर्या' नामक प्रकरण में किया जा चुका है।

इस संदर्भ में ऐन्टी-बायटिक-ड्राप्स (Antibiotic drops) तथा सिलवर-नाइट्रेट का एक प्रतिशत घोल (1% Solution of silver-nitrate) अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। रोग का निश्चय हो जाने पर पूयमेहजन्य-नेत्राभिष्यन्द की चिकित्सा करनी चाहिए। कुकूणक के लिए निर्धारित चिकित्सा भी इसमें लाभदायक सिद्ध होती है।

अध्याय ३७

स्तनशोथ, विस्फोट, राजिका, परिदग्ध-छवि एवं मुखपाक

स्तनशोथ

(Engorgement of the Breast)

कुछ नवजात शिशुओं में, चाहे वे लड़का हो या लड़की, उनकी स्तन-ग्रन्थियाँ वढ़ी हुई पायी जाती हैं। ये बड़े आकार के बादाम या सुपारी के बराबर होती हैं। दबाने पर कभी-कभी उनमें से पीयूष (Colostrum) जैसा पदार्थ कुछ मात्रा में निकलता है। हालाँकि ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। इससे उन ग्रन्थियों के ऊतकों को क्षति पहुँच सकती है। छिद्रों के खुल जाने से पूय-जन्य जीवाणुओं का संक्रमण हो सकता है। सपूय शोथ हो सकता है जिसे नवजात का स्तनशोथ कहते हैं। फलस्वरूप लड़की के बड़े हो जाने पर भी उसकी दुग्ध-ग्रन्थियों के सामान्य विकास और प्रक्रिया में बाधा पहुँच सकती है। वे विकारग्रस्त हो सकती हैं।

कभी-कभी किशोरावस्था में बालिकाओं के समान बालकों के स्तनों में भी उभार आने लगता है। लेकिन बालकों में यह उभार प्रायः एक सीमा तक आकर ही रुक जाता है और बिना किसी उपचार के स्वतः शान्त भी हो जाता है। फिर वे सामान्य स्थिति में आ जाते हैं।

विस्फोट

शरीर के किसी अंग-विशेष या समस्त शरीर पर उत्पन्न होने वाले फफोलों को विस्फोट कहते हैं। इसकी परिभाषा सुश्रुत ने निम्न शब्दों में दी है—

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वराः पित्तरक्ततः।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति॥

—सु० नि० १३।१८

रक्त तथा पित्त के प्रकोप से, अग्नि से जले हुए के समान, शरीर के किसी प्रदेश-विशेष में या समस्त शरीर पर ज्वर सहित जो स्फोट (फफोले) उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें विस्फोटक कहते हैं।

निदान

विस्फोटों के निदान पर आचार्य माधव ने प्रकाश डालते हुए कहा है—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु॥

त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान्॥
—माधवनिदान ५३।१-२

१. चरपरे, खट्टे, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, रूखे तथा खारे पदार्थों का सेवन।

२. अजीर्ण।

३. अध्यशन : पहले खाये हुए भोजन के पचने के पूर्व ही पुनः भोजन कर लेना।

४. धूप का सेवन, धूप में घूमना, खेलना-कूदना।

५. ॠतु-दोष—ॠतुओं का अतियोग, हीनयोग एवं मिथ्यायोग, ॠतु-परिवर्तन।

६. ॠतु के विपरीत आहार-विहार एवं आचरण।

क्षीरप अवस्था में माता के विपरीत आचरण करने से उसका स्तन्य दूषित हो जाता है और वह दोष स्तनपायी वालक में आ जाते हैं। क्षीरान्नाद तथा अन्नाद अवस्था में वालक स्वयं भी इस प्रकार का आचरण कर सकता है। ऐसा करने से वात आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। ये प्रकुपित दोष त्वचा में आश्रित होकर रक्त, मांस तथा अस्थियों को दूषित कर ज्वर-पूर्वक विविध प्रकार के भयंकर विस्फोटों को उत्पन्न कर देते हैं।

भेद

माधव ने विस्फोट के सात भेद वतलाये हैं और उनका वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

शिरोरुक्शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम्।
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम्॥ —मा. नि. ५३।४

सिर में पीड़ा, शरीर में शूल की अधिकता, ज्वर, प्यास, सन्धियों में भेदने के समान पीड़ा तथा स्फोटों का कृष्णवर्ण का होना।

पित्तज विस्फोट

ज्वरदाहरुजास्रावपाकतृष्णाभिरन्वितम्।
पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम्॥ —मा. नि. ५३।५

ज्वर, दाह, प्यास, पीड़ा, स्राव, विस्फोटों के पकने की प्रकृति तथा उनका पीला-लाल वर्ण का होना।

कफज विस्फोट

छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः।
अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोटः कफात्मकः॥ —मा.नि. ५३।६

वमन, अरुचि, जड़ता, खुजली, कठोरता तथा पाण्डुता; वेदना का न होना तथा विस्फोटों का देर से पकना।

वातपित्तज विस्फोट

वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम्। —मा. नि. ५३।७

इनमें वात और पित्त के मिले हुए लक्षण पाये जाते हैं और तीव्र वेदना होती है।

वातकफज विस्फोट

कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम्।—मा. नि. ५३।७

खुजली, स्तिमितता (शरीर के गीले चमड़े से आवृत्त होने के समान प्रतीत होना) तथा भारीपन।

कफपित्तज विस्फोट

कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः। — मा. नि. ५३।८

खुजली, दाह, वमन तथा ज्वर।

त्रिदोषज या सन्निपातिक विस्फोट

मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान्॥
दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात्त्रिदोषजः॥ मा. नि. ५३।९

त्रिदोषज विस्फोट बीच में दबे हुए, किनारों पर उठे हुए, कठोर और कम पकने वाले होते हैं। इनका वर्ण लाल होता है। जलन होती है। रोगी में प्यास, मूढ़ता, वमन, मूर्च्छा, पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, कम्पन तथा तन्द्रा के लक्षण पाये जाते हैं। इन्हें असाध्य माना गया है।

रक्तज विस्फोट

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना॥ मा. नि. ५३।१०

रक्तज विस्फोट गुंजा या प्रवाल के समान रक्तवर्ण के होते हैं। ये पित्त-प्रकोपक कारणों से प्रकुपित रक्त से उत्पन्न होते हैं।

विस्फोटों की साध्यतासाध्यता

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः।
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः॥ मा. नि. ५३।११

एक दोष से उत्पन्न हुए विस्फोट साध्य, दो दोषों से उत्पन्न होने वाले कृच्छ्रसाध्य और तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले अनेक उपद्रवों से

युक्त और अति कष्टकर विस्फोट असाध्य होते हैं। रक्तपित्तज स्फोटों को भी घोर असाध्य माना है।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इन्हें इम्पेटिगो (Impetigo) की संज्ञा दी गयी है। यह एक संक्रमणजन्य रोग है। इसकी उत्पत्ति Streptococci या Staphylococci नामक जीवाणुओं या इनके संयुक्त प्रभाव से होती है। इससे त्वचा पर फफोलों की तरह के घाव हो जाते हैं। कुछ में पीप भी भर जाता है। कुछ ही दिनों के अन्दर ये फूट जाते हैं और इन पर भूरे रंग की पपड़ी-सी पड़ जाती है। ये बड़े ही संक्रामक और तेजी से फैलने वाले होते हैं। ये शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैलते जाते हैं। चूंकि ये घाव खुजली-प्रधान होते हैं, इसलिए रोगी इन्हें खुजलाते-खुजलाते खरोंच या नोंच डालता है। उसके हाथों में लगे स्राव से अन्यत्र भी संक्रमण फैलता है।

शिशुओं में इम्पेटिगो (Impetigo neonatorum) को एक गम्भीर रोग माना जाता है। यदि यह किसी एक को हो जाता है तो आस-पास के बच्चों में तेजी से फैलना शुरू हो जाता है। बच्चों में इसके घाव न केवल बड़े होते हैं, बल्कि तेजी से शरीर के एक भाग से दूसरे भागों में फैल जाते हैं। उनमें विषाक्तता अन्दर तक पहुँच जाती है और कभी-कभी वृक्कशोथ (Nephritis) होकर उनकी मृत्यु तक हो जाती है। इसलिए बच्चों में जैसे ही इसके लक्षण दिखलायी दें, उसे तुरंत दूसरे बच्चों के सम्पर्क से हटा देना चाहिए और सावधानी पूर्वक उपचार करना चाहिए।

चिकित्सा

रक्तदोषहरं यद्यद् यद्यत् पित्तप्रणाशनम्।
सर्वमत्र प्रयोक्तव्यं विविच्य भिषजा सदा॥

जैसा कि हमने देखा विस्फोटक रोग प्रायः रक्त एवं पित्त की दुष्टि से होता है, इसलिए इसमें जो-जो औषधियाँ रक्तदोष एवं पित्तदोष का शमन करने वाली हों, उन्हीं का विचारपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

अन्तःप्रयोग के लिए—प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी, गिलोयसत्त्व, गंधकरसायन, अमृतादिक्वाथ, एलाद्यारिष्ट तथा पटोलपत्रादिक्वाथ।

लेप—१. इन्द्रयव को तण्डुलोदक के साथ पीसकर।

२. नीलोफर, लालचन्दन, लोध, खस तथा श्वेत अनन्तमूल—समभाग में पीसकर।

३. शिरीश की छाल, जटामांसी, राल, लोध, मुलेठी, निर्गुण्डी के बीज,

मूर्वा, नीलकमल, लालकमल तथा सिरस के फल—समभाग में चूर्णित कर शतधौतघृत के साथ।

४. हल्दी, दारुहल्दी, खस, सिरस की छाल, नागरमोथा, लोध, सफेद चन्दन और नागकेशर समभाग में जल के साथ पीसकर।

राजिका

राजिका का अर्थ है राई या सरसों। शरीर पर राई या सरसों के आकार की छोटी-छोटी फुंसियों के उभरने को ही राजिका की संज्ञा दी गयी है। आयुर्वेद में इसकी गणना छुद्र रोगों के अन्तर्गत की गयी है। बोलचाल की भाषा में इन्हें अँभौरी या घमौरी कहते हैं। वृद्धवाग्भट ने राजिका का वर्णन निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है--

> **घर्मस्वेदपरीतेङ्गे पिटकाः सरुजो घनाः।**
> **राजिकावर्णसंस्थानप्रमाणा राजिकाह्वयाः॥**
>
> —अ० सं० उ० ३६।१३

धूप या पसीने से युक्त अंग में थोड़ी दर्द वाली, निविड़ घनी, राई के रंग-रूप वाली और उसी आकार की जो फुंसियाँ निकलती हैं, उन्हें राजिका कहते हैं।

अंगरेजी में इन्हें प्रिकली-हीट (Prickly heat) कहते हैं। ये अत्यधिक सूक्ष्म आकार की चुनचुनाहट से युक्त, लाल रंग की पिड़िकाएँ होती हैं और प्रायः गर्दन, चेहरे, सीने, पीठ, जंघाओं और काँख या बगल में ही अधिक निकलती हैं। ये वे अंग हैं जिनमें पसीना अधिक निकलता है और जिनके दबने या रगड़ खाने की अधिक सम्भावना होती है। स्वेदन और अंगों का परस्पर रगड़ खाना इनके सहायक कारक हैं। इसलिए ये प्रायः गर्मी, विशेषरूप से बरसात की सड़ी गर्मी में जबकि मौसम गर्म के साथ-साथ नम भी होता है, अधिक निकलतीं हैं। बालक तथा मेदस्वी इनके प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं।

ये स्वतः निकलती और शरीर के ठण्डा हो जाने पर स्वतः शान्त भी हो जाती हैं। कभी-कभी ज्यादा बढ़ जाने पर दाह और खुजली से रोगी को परेशान कर देती हैं। उस स्थित में इनका उपचार आवश्यक हो जाता है।

चिकित्सा

वाग्भट ने इसमें संशोधन-चिकित्सा का उपदेश किया है। रोगी को वमन-विरेचन करायें। संशोधन-कर्म की तभी जरूरत पड़ती है जब रोग अधिक बढ़ा हुआ हो और बच्चा मलावरोध से पीड़ित हो। मलावरोध को दूर

करने के लिए छोटे बच्चों को हरड़ घिसकर पिलावें। बड़े बच्चों को मधुर-विरेचन या शिवाक्षार-पाचन चूर्ण दें।

शरीर की सफाई का पूरा ध्यान रखें। नहलाने के पानी में किसी मृदु कीटाणुनाशक का प्रयोग करें। नहलाने के बाद उसके शरीर को मोटे कपड़े या तौलिये से रगड़ कर पोछ दें। पोछने के बाद शरीर पर किसी अच्छे शामक पाउडर (Prickly heat powder) को छिड़क दें। जिन स्थानों पर अंभौरियाँ अधिक हों वहाँ विशेषरूप से छिड़कें। वाग्भट ने इनपर निम्न लेप लगाने को कहा है—

विशेषतो राजिकामपाकशर्करामूर्वाकण्टकशर्कराभिः क्षीरपिष्टाभिर्लेपयेत्।

—अ० सं० उ० ३७।८

'विशेषरूप से राजिका में अपाशर्करा, मूर्वा और कण्टकशर्करा को दूध में पीसकर लेप करें।' इन योगों में दूध प्रायः कच्चा लिया जाता है। अपा-शर्करा का अर्थ प्रायः कुम्हार के आँवे की कच्ची मिट्टी और कण्टकशर्करा का अर्थ आधी पकी हुयी मिट्टी किया जाता है। इसके लिए लोग चिकनी पीली या मुलतानी मिट्टी भी व्यवहार में लाते हैं। शरीर पर वरफ रगड़ने से भी शान्ति मिलती है।

परिदग्ध-छवि

'परि' एक उपसर्ग है जिसे अन्य शब्दों के साथ जोड़ने से प्रायः निम्न अर्थों की उपलब्धि होती है—सर्वतोभावेन, भली-प्रकार, अतिशय, पूर्णतया आदि। दग्ध का अर्थ है जला हुआ। अतः परिदग्ध का अर्थ हुआ भली प्रकार या अत्यधिक जला हुआ। छवि शब्द का प्रयोग चमड़े की रंगत और चमड़े या चर्म दोनों के लिए किया जाता है। अतः परिदग्धछवि का शाब्दिक अर्थ हुआ—भली प्रकार जल जाने के बाद त्वचा पर बने या अवशिष्ट निशान या चिह्न।

कुछ लोग सीमित अर्थ में परिदग्धछवि शब्द का प्रयोग नवजात शिशु के शरीर, विशेषरूप से नितम्ब तथा पीठ या पखौरे पर पाये जाने वाले श्याव या नीलवर्ण के धब्बों (Spots) के लिए भी करते हैं, जिन्हें आज की भाषा में जन्म-चिह्न (Birth marks) कहते हैं। इनमें से अधिकांश धीरे-धीरे स्वतः लुप्त हो जाते हैं। पर कभी-कभी कुछ बने भी रह जाते हैं। बोलचाल की भाषा में जिसे लहसुन कहते हैं, इसी कोटि की वस्तु है। आयुर्वेद में इन सबको पित्त-दग्ध माना गया है।

तीव्रता या उग्रता के आधार पर दग्ध को प्रायः तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—

प्रथम श्रेणी—इन दग्धों में मात्र त्वचा लाल हो जाती है। प्रदाह होता है। न तो छाले पड़ते हैं और न मांस का कोई भाग नष्ट होता है। इस प्रकार के दग्ध केवल त्वचा की ऊपरी पर्त या वाह्यत्वचा को प्रभावित करते हैं। ये जल्द ही ठीक हो जाते हैं। त्वचा पर इनका कोई चिह्न अवशेष नहीं रह जाता।

द्वितीय श्रेणी—दूसरी श्रेणी के दग्ध वाह्यत्वचा को नष्ट कर देते हैं और वाह्यत्वचा के नीचे अन्तस्त्वचा तक पहुँच जाते हैं। ये लोमकूपों और श्वेद-ग्रन्थियों को नष्ट कर देते हैं। इनमें अत्यधिक पीड़ा होती है। संक्रमण भयावह होता है और प्रायः अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। व्रणों के ठीक हो जाने के वाद भी इनके चिह्न वहुत दिनों तक वने रहते हैं।

तृतीय श्रेणी—इस श्रेणी के दग्ध त्वचा की अन्तर्तम पर्त तक को जला कर नष्ट कर देते हैं। दग्धस्थान सफेद या तारकोल की तरह काला हो जाता है। वहाँ के ऊतक निर्मोक या मृत होकर नष्ट हो जाते हैं। नीचे से कच्चा-लाल मांस झलकने लगता है। तृतीय श्रेणी के दग्धों का क्षेत्र यदि २·५ सेन्टीमीटर की परिधि से अधिक हुआ तो जल्दी भरता नहीं। वहाँ मांस-रोपण की आवश्यकता पड़ सकती है।

कभी-कभी दग्ध मांसपेशी तथा अस्थियों तक गहरे पहुँच जाते हैं। इन्हें अत्यधिक गंभीर माना जाता है। कुछ लोग इन्हें चतुर्थ श्रेणी का दग्ध भी कहते हैं।

तृतीय श्रेणी के दग्धों के चिह्न प्रायः गहरे और स्थायी होते हैं।

आयुर्वेद में चिकित्सा की एक विधा अग्नि-कर्म भी है। इसमें पीड़ित स्थान को विधिवत् जला दिया जाता है। जलाने से जो व्रण बनते हैं, उनका संहिता-ग्रन्थों में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसी संदर्भ में प्रमाद-दग्ध की भी चर्चा की गयी है। जब व्यक्ति असावधानी के कारण अपनी गलती से जल या जला दिया जाता है तो उसे प्रमाद-दग्ध कहते हैं। प्रमाद-दग्ध को भी चार प्रकार माना गया है—तुत्थ दग्ध, दुर्दग्ध, सम्यक् दग्ध तथा अति दग्ध। इनका वर्णन करते हुये वृद्धवाग्भट ने कहा है—

प्रमाददग्धं पुनश्चतुर्विधं भवति। तुत्थं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं च। तत्र यद्विवर्णमूष्यतेऽतिमात्रं तत्तुत्थम्। यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्रोषादाहरुजश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद् दुर्दग्धम्। पक्वतालफलवर्णं समस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च सम्यग्दग्धम्।

अतिदग्धे तूग्ररुजता धूमायनं मांसावलम्बनं सिरादिव्यापदो गम्भीरव्रणता ज्वर-दाहतृण्मूर्च्छाच्छर्दयः, शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवाः कृच्छ्रेण रोहणं रूढे च विवर्णतेति। स्नेहदाहस्तु कष्टतरो भवति। स हि स्नेहस्य सूक्ष्ममार्गानुसारित्वाद् दूरमनुप्रविशतीति। —अ० सं० सू० ४०।६

१. तुत्थ दग्ध—जो विकृत वर्णवाला हो और जिसमें अत्यधिक जलन होती हो, उसे तुत्थ दग्ध कहते हैं। 'तुत्थ' शब्द के स्थान पर कहीं-कहीं 'तुच्छ' पाठ भी मिलता है। सुश्रुत में इसके स्थान पर प्लुष्ठ पाठ है। इन तोनों शब्दों का तात्पर्य लगभग एक ही है—झुलसना। इसमें छाले नहीं पड़ते।

२. दुर्दग्ध—जिसमें फफोले उठ जाते हैं, तीव्र उषा (चिरचिराहट), दाह एवं वेदना होती है तथा जो देर से ठीक होता है, उसे दुर्दग्ध कहते हैं। इसमें त्वचा ताम्रवर्ण की-सी हो जाती है।

३. सम्यक् दग्ध—जिसका वर्ण ताल के पके फल के सदृश लाल हो जाता है, और जिसकी स्थिति सम हो उसे सम्यक् दग्ध कहते हैं।

सम्यक् दग्ध का अन्यत्र विस्तृत वर्णन किया गया है। त्वचा पर सम्यक् दग्ध होने पर वह चिड़-चिड़ कर जलती है, दुर्गन्ध आती है और त्वचा संकुचित हो जाती है। मांस का सम्यक् दग्ध होने पर उसका वर्ण जंगली कबूतर के समान नीला हो जाता है, शोथ एवं वेदना अल्प मात्रा में होती है तथा व्रण शीघ्र ही सूखकर संकुचित हो जाता है। सिरा के सम्यक् दग्ध होने पर दग्धस्थान पर काले वर्ण का उभरा-सा व्रण हो जाता है। सिरा से बहता हुआ रक्त रुक जाता है। पर पाँच-सात दिनों तक लसिकामिश्रित पीला स्राव आता रहता है। स्नायु, सन्धि अथवा अस्थि के सम्यक् दग्ध होने पर वहाँ काला एवं रक्तवर्ण का व्रण हो जाता है। ठीक हो जाने पर भी वह खुरदरा एवं स्थायी बना रहता है।

४. अति दग्ध—अति दग्ध में भीषण वेदना, धूम निकलना, मांस के लोथड़े लटकना, सिरा आदि का नष्ट हो जाना, व्रण का गहरा होना, ज्वर, दाह, तृषा, मूर्च्छा एवं छर्दि आदि उपद्रव पाये जाते हैं। व्रण बड़ी ही कठिनता से भरता है। भर जाने पर भी वहाँ का वर्ण विकृत बना रहता है। स्नेह द्वारा जलना और भी कष्टप्रद होता है। सूक्ष्म होने के कारण वह गहराई में दूर तक प्रवेश कर जाता है।

प्रमादवश जल जाने की दुर्घटनाएँ प्रायः बच्चों और स्त्रियों के साथ ही अधिक होती हैं।

चिकित्सा

दग्ध स्थान के बदले हुए वर्ण को प्राकृत वर्ण का बनाने के लिए आयुर्वेद में अनेक योगों का उल्लेख किया गया है। उनमें से प्रमुख निम्न हैं—

१. पीत चन्दन, प्रियंगु, आम की गुठली, नागकेसर, मंजिष्ठा तथा घृत—इन सबको सम-प्रमाण में लेकर, कूटने योग्य द्रव्यों को चूर्णित कर, गोवर के रस के साथ पीसकर लेप करने से क्षत-स्थान का वर्ण पूर्ववत् हो जाता है।

२. चौपायों की चमड़ी, रोयें, खुर, सींग तथा अस्थि इन्हें समान प्रमाण में लेकर, भस्म बनाकर, तेल में मलहम जैसा बनाकर लेप करने से क्षतस्थान का नष्ट हुआ वर्ण पुनः पूर्ववत् हो जाता है।

३. मैनसिल, हरताल, मजीठ, लाक्षा, हरिद्रा तथा दारुहरिद्रा—इन्हें सम प्रमाण में ले, चूर्ण वना, घी और मधु के साथ पीसकर लेप करने से क्षतस्थान की त्वचा का वर्ण पूर्ववत् हो जाता है।

४. व्रण की ग्रन्थि में ग्रन्थि की तरह चिकित्सा या क्षार का प्रयोग करना चाहिए।

५. मंजिष्ठाद्य तैल और पंचगुण तैल भी इस सम्वन्ध में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जो दग्धव्रण या उनके चिह्न औषधि से साध्य न हों, उनकी त्वचा-रोपण के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

६. वाग्भट ने विशेष रूप से वच्चों के लिए निम्न लेप का उपदेश किया है—

> **परिदग्धच्छविं बालं दिह्यान्मूर्वातिलोत्पलैः।**
> **शमीपत्रशिरीषत्वक्सारिवामधुकामयैः ॥**

मूर्वा, तिल, कमल, शमी के पत्ते, शिरीष की छाल, अनन्तमूल, मुलेठी तथा खस का लेप करना चाहिए।

मुखपाक

(Stomatitis)

वोलचाल की भाषा में इसे मूँहा या मुँह-आना कहते हैं। इसका वर्णन वृद्धवाग्भट ने निम्न रूप में किया है—

> **करोति वदनस्यान्तर्व्रणान् सर्वसरोऽनिलः।**
> **सञ्चारिणोऽरुणान् रूक्षानोष्ठौ ताम्रौ चलत्वचौ ॥**
> **जिह्वा शीतासहा गुर्वी स्फुटिता कण्टकाचिता।**
> **विवृणोति च कृच्छ्रेण मुखं पाको मुखस्य सः ॥**

—अ० सं० उ० २५।६६-६७

सम्पूर्ण मुख में व्याप्त, गति करती हुई वायु मुख के अन्दर व्रणों को उत्पन्न करती है। ये व्रण लाल और रूक्ष होते हैं। इनकी त्वचा उतरती रहती है। इनके कारण ओठ भी लाल हो जाते हैं। जिह्वा शीत-स्पर्श को सहन नहीं करती। वह भारी, फटी-फटी और कांटों से भरी हुई दिखलायी देती है। रोगी मुख को कठिनाई से खोल पाता है। इसी को मुखपाक कहते हैं।

सुश्रुत ने इसे सारे मुख में व्यापक रूप से उत्पन्न होने के कारण सर्वसर रोग कहा है और इसे वातज, पित्तज तथा कफज तीनों प्रकार का माना है। यथा—

सर्वसरास्तु वातपित्तकफशोणितनिमित्ता:।
स्फोटै: सतोदैर्वदनं समन्ताद्यस्याचितं सर्वसर: स वातात्।
रक्तै: सदाहैस्तनुभि: सपीतैर्यस्याचितं चापि च पित्तकोपात्॥
कण्डूयुतैरल्परुजै: सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन।
रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञ:॥

—सु० नि० १६।६४-६६

वातज मुखपाक—इसमें सारा मुख पीड़ायुक्त व्रणों से व्याप्त हो जाता है।

पित्तज मुखपाक—सारा मुख दाहयुक्त, लाल तथा पीले रंग के व्रणों से व्याप्त हो जाता है।

कफज मुखपाक—इसमें सारा मुख कण्डूयुक्त, अल्पपीड़ादायक, समान आकार वाले श्वेतवर्ण के स्फोटों से व्याप्त हो जाता है।

रक्त के दोष से स्वतन्त्र रोग न होकर पैत्तिक मुखपाक के जैसे ही लक्षण उत्पन्न होते हैं।

काश्यप ने विशेष रूप से बालकों में मुखरोग के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है—

लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्यथा:।
पीतमुद्गिरति क्षीरं नासाश्वासी मुखामये॥ —का. सू. २५।८

बालक के मुखरोग से पीड़ित होने पर उसके मुख से अत्यधिक लालास्राव होता है। वह स्तनों से मुँह नहीं लगाता। स्तनपान करने में अरुचि हो जाती है। उसके मुँह में अत्यधिक पीड़ा होती है। फलत: जो दूध पीता भी है उसे उगल देता है। नाक से साँस लेता है।

यह रोग प्राय: बच्चों को ही होता है। इससे पीड़ित होने पर उनके मुँह में, जबान पर, कभी तालु में तथा गले के अन्दर तक सफेद रंग के छोटे-छोटे दाने उभर आते हैं। कभी-कभी इनमें लाली भी आ जाती है। पीड़ा होती

है। वच्चा तकलीफ से बेचैन हो जाता है। यदि रोग बढ़ा तो साथ में ज्वर, कास अतिसार आदि उपद्रव भी होने लगते हैं।

इसे अंगरेजी में स्टोमेटाइटिस (Stomatitis) कहते हैं। इसमें सारे मुँह में शोथ उत्पन्न हो जाता है। ओठ, जिह्वा, गाल के अन्दर के भाग, तालु, मसूढ़े—सभी प्रभावित होते हैं। इन अंगों में शोथ स्थानीय क्षोभ, संक्रमण या अन्यान्य रोगों के उपसर्ग के रूप में भी उत्पन्न हो सकता है। एक वर्ष से कम उम्र के वच्चों में इसका सर्वप्रधान कारण थ्रश (Thrush) और एक वर्ष से तीन वर्ष तक के वच्चों में एक प्रकार का विषाणु (Virus), जिसे सरल हर्पीज (Herpes simplex) कहते हैं, माना जाता है।

थ्रश एक प्रकार का मुँह में उत्पन्न होनेवाला संक्रमण है जो खमीर की तरह (Yeast-like) के फफून्द (Fungus), जिसे कैंडिडा ऐल्बीकैन्स (Candida albicans) कहते हैं, से उत्पन्न होता है। इसे बच्चे के मुँह की श्लैष्मिक झिल्ली पर मलाई की तरह सफेद पर्तों के रूप में देखा जा सकता है। ये प्रायः हलक में नहीं होते। ये एक प्रकार के मृदु, चिपचिपे एवं भुरभुरे पदार्थ से बनते हैं। ये झिल्ली पर विशेष चिपके नहीं होते। इन्हें आसानी से हटाया जा सकता है। हटाने पर त्वचा प्रायः लाल निकलती है। ये धब्बे छितराये हुए भी हो सकते हैं और घने-सटे हुए भी। घने-सटे हुए धब्बे जिह्वा पर मैल की मोटी पर्त के रूप में दिखलायी देते हैं। कमजोर तथा बीमार बच्चों की जबान पर इस तरह के मैल का पाया जाना एक सामान्य बात है।

वच्चों में यह रोग प्रायः दूषित स्तन, दूषित स्तन्य अथवा दूध पिलाने की बोतलों की गंदगी से उत्पन्न होता है। मुँह की ठीक तरह से सफाई न करना भी इसका कारण हो सकता है।

उपचार

उँगली में विसंक्रिमित रूई लपेट कर हलके से साफ करें।

टंकण या फिटकिरी की भस्म मधु में मिला कर दिन में २—३ बार लगायें। शंशमनी बटी या बालगुटी खिलायें।

यदि मलावरोध हो तो शुद्ध रेड़ी का तैल या अभयारिष्ट स्वल्प मात्रा में प्रयोग करें। अतिसार की स्थिति में शृंग्यादि चूर्ण और संशमनी बटी दें। कमजोरी या रक्ताल्पता हो तो मण्डूरबटक का प्रयोग करें। आवश्यकतानुसार लौहभस्म, अभ्रकभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मुक्ताभस्म, प्रवाल तथा जहरमोहरा खताई पिष्टी आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है।

अध्याय ३८

गुदा के रोग

(Diseases of the Rectum)

गुदभ्रंश

(Prolapse of the Rectum)

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः ।
रूक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत् ॥ —सु० नि० १३।६१

रूक्ष तथा दुर्बल शरीर वाले व्यक्तियों में प्रवाहण (काँखना, जोर लगाना यथा—पेचिश-मलावरोध आदि की अवस्था में) तथा अतिसार की अधिकता से कभी-कभी जो गुदद्वार निकल कर बाहर आ जाता है, उसे गुदभ्रंश कहते हैं ।

यह दो प्रकार का होता है—पूर्ण और अपूर्ण । पूर्ण में सम्पूर्ण गुद-द्वार निकल कर बाहर आ जाता है । यह प्रायः छोटे बच्चों को ही होता है । अपूर्ण में गुद-द्वार का थोड़ा-सा अंश—केवल श्लेष्मल त्वचा—निकल कर बाहर आ जाती है । यह अधिकांशतः युवकों में होता है । अपूर्ण गुदभ्रंश प्रायः मलत्याग के बाद स्वतः दब तो जाता है पर यदि इसके उपचार की ओर समुचित ध्यान न दिया गया तो यह स्थायी रूप धारण कर लेता है ।

उपचार

स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत् ।
सुस्विन्नं तं मृदूभूतं पिचुना सम्प्रवेशयेत् ॥

—च० चि० १९।४७

गुदा में जकड़ाहट या गुदभ्रंश से पीड़ित रोगी पर पहले स्नेहन और स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए । ठीक से स्नेहन और स्वेदन के उपरान्त जब गुदा मृदु हो जाय तब उसे पिचु से दबाकर भीतर कर देना चाहिए ।

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत् ।
कारयेद्गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः ।
क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चान्त्रवर्जिताम् ॥

पक्त्वा तस्मिन् पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम् ।
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत् ॥

—सु० चि० २०।६१-६३

सुश्रुत ने स्नेहन और स्वेदन के उपरान्त गुदा को ऊपर चढ़ाकर अधोवायु के निकलने के लिए, मध्य में छेद वाली चमड़े की गोफणवंध से पट्टी बाँधने और धीरे-धीरे स्वेदन करने का भी विधान किया है । इसके लिए साफ रवड़ या चमड़े का एक टुकड़ा लेकर, जिसके वीचोवीच छेद हो और दोनों ओर पट्टी लगी हो, गुदा पर ठीक इस प्रकार रखकर जिससे उसका छेद ठीक गुदा के द्वार पर रहे, गोफण वँध लगाकर ऐसे बाँध देना चाहिए कि पट्टी उसे ठीक से साधे रहे । ऐसा न करने से वायु के अनुलोमन होते समय चढ़ायी गयी गुदा पुनः वाहर निकल आ सकती है ।

दूध में वृहत्पंचमूल तथा आँतरहित चूहे को पकाकर, उस दूध में वातघ्न औषधियों के कल्क को मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिए । इस तेल के पीने और लगाने से कष्टसाध्य गुदभ्रंश रोग भी शान्त हो जाता है ।

गुदपाक
(Proctitis)

बालस्य गुदपाकाख्यो व्याधिः पित्तेन जायते ।

—भावप्रकाश अ० १७

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नी कारयेत् क्रियाम् ।
रसाञ्जनं विशेषेण नानालेपनयोर्हितम् ॥

—भैषज्यरत्नावली अ० १७

बालकों की गुदा के पक जाने पर पित्तनाशक क्रिया करें । विशेष रूप से रसौत को पानी के साथ पीसकर स्वल्प मात्रा में बालक को पिलायें और उसी का लेप करें ।

भावप्रकाश में शंख, रसौत और मुलेठी का चूर्ण भी गुदभ्रंश में लाभदायक वतलाया गया है ।

गुदकुट्ट

मलोपलेपात् स्वेदाद् वा गुदे रक्तकफोद्भवः ।
ताम्रो व्रणोऽन्तः कण्डूमान् जायते भूर्युपद्रवः ॥
केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्ते तु पौतनम् ।
पृष्ठारुर्गुदकुट्टं च केचिच्च तमनामकम् ॥

—अ० सं उ० २।१२१-२२

बालक की गुदा में मल अथवा पसीने के लगे रहने से रक्त और कफजन्य व्रण हो जाता है। इसका रंग लाल होता है। गुदा के अन्दर खुजली तथा और भी अनेक उपद्रव होते हैं। कुछ इसे मातृकादोष और कुछ इसे पूतना से सम्बन्धित मानते हैं। कोई इसे पृष्टारू, कोई गुदकट्ट और कोई अनामक रोग के नाम से पुकारते हैं।

उपचार

तत्र धात्र्याः पयः शोध्यं पित्तश्लेष्महरौषधैः।
सितशीतं च शीताम्बुयुक्तमन्तरपानकम्॥
सक्षौद्रताक्ष्र्यशैलेन व्रणं तेन च लेपयेत्।
त्रिफलाबदरीप्लक्षत्वक्क्वाथपरिषेचितम्॥
कासीसरोचनातुत्थमनोह्वालरसाञ्जनैः।
लेपयेदम्लपिष्टैर्वा चूर्णितैर्वावचूर्णयेत्॥
सुश्लक्ष्णैरथवा यष्टीशङ्खसौवीरकाञ्जनैः।
सारिवाशङ्खनाभिभ्यामसनस्य त्वचाथ वा॥

—अ. सं. उ. २।१२३-२६

१. पित्तनाशक औषधियों से धात्री के दूध का शोधन करें।

२. श्वेतचन्दन को शीतल जल में घिसकर हर बार स्तनपान के बीच में बालक को चटायें।

३. श्वेतचन्दन को मधु और रसौत के साथ घिसकर व्रण पर लगायें।

४. त्रिफला, बेल और पिलखन की छाल के क्वाथ से परिषेक करें।

५. कसीस, गोरोचन, तुत्थ, मैनसिल, हरताल तथा रसौत—इनको छाँछ या बिजौरे नींबू के रस के साथ पीसकर लेप करें।

६. उक्त औषधियों के बारीक चूर्ण को घाव पर छिड़कें।

७. मुलेठी, शंखनाभि और सौवीरांजन अथवा सारिवा, शंखनाभि और असन की छाल—इनके बारीक चूर्ण को व्रण पर छिड़कें।

८. यदि लालिमा और खुजली अधिक हो तो जोंक लगवाकर रक्तस्राव करायें।

ठीक इसी से मिलते-जुलते एक रोग का वर्णन भैषज्यरत्नावली में पश्चाद्रुज के नाम से किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिए उसे भी नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

पश्चाद्रुज

दुष्टमन्नादिभिर्मातुः स्तन्यं सम्पिबतः शिशौ।
यदा प्रकुपितं पित्तं गुदं समभिधावति॥

तदा सञ्जायते तत्र जलौकोदरसन्निभः ।
व्रणः सदाहो व्यक्तोष्मा तदास्य स्याज्ज्वरः परः ।
हरितं पीतकं वाऽपि वर्च्चस्तेन भवेद् ध्रुवम् ।
व्रणः पश्चाद्रुजो नाम व्याधिः परमदारुणः ॥

दुष्ट अन्न (अर्थात् बासी, रूक्ष, अम्ल, कटु, विदाही तथा गरिष्ट भोजन एवं पेय) के प्रयोग से दूषित हुए माता के दूध को पीनेवाले बच्चे का पित्त प्रकुपित होकर गुदा स्थान में जाकर संचित हो जाता है। वह संचित पित्त वहाँ की माँस आदि धातुओं को दूषित कर जोंक के पेट के आकार का शोथ-युक्त व्रण उत्पन्न कर देता है। उसमें खूब जलन होती है। बालक सारे शरीर में दाह का अनुभव करने लगता है। ज्वरग्रस्त हो जाता है। हरे-पीले दस्त आने लगते हैं। इसी को पश्चाद्रुज कहते हैं। यह बहुत दुःखदायी होता है।

उपचार

चन्दनं शारिवे द्वे च शङ्खिनीति समायुते ।
पश्चाद्रुजे प्रलेपोऽयमवलेहस्तु शस्यते ॥

रक्तचन्दन, श्वेतसारिवा, कृष्णसारिवा और शंखपुष्पी को जल के साथ पीसकर ४ रत्ती के लगभग मधु के साथ बालक को चटा देने और उसी का व्रण पर लेप करने से रोग की शान्ति होती है।

सनिरुद्ध-गुद
(Stricture of the Rectum)

वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः ।
निरुणद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥

—सु० नि० १३।५५-५६

अपानवायु तथा मल-मूत्र के वेगों को बलात् रोकने से कुपित हुआ वायु गुदा में जाकर महास्रोतस का अवरोध कर गुदामार्ग को संकुचित कर देता है। मार्ग के संकुचित हो जाने से मल कठिनाई से और कम मात्रा में बाहर निकल पाता है। इस प्रकार उत्पन्न हुए कष्टसाध्य रोग को सन्निरुद्ध गुद कहते हैं।

इसे Stricture of the rectum कहते हैं। प्रायः गुदा में व्रण होकर उनके स्थान पर संकोच होने से यह रोग पैदा होता है। इसमें पहले मलावरोध होता है और फिर कभी ढीला मल भी होता है। इसमें मल कड़ा फीते

के समान चिपटा-सा निकलता है। साथ में कभी-कभी आँव और खून भी आता है।

चिकित्सा

सन्निरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम्।
प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत्॥
विसर्पोक्तेन विधिना साधयेदग्निरोहिणीम्।
सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया॥

—सु० चि० २०।४६-४७

निरुद्धगुद में निरुद्धप्रकश की चिकित्सा-विधि का अनुसरण करना चाहिए।

अध्याय ३९

प्राणवहस्रोतस की व्याधियाँ

(Diseases of Respiratory Tract)

प्राणवहस्रोतस (Respiratory tract) के मुख्य अंग हैं—नाक, मुँह, गला, श्वासनली तथा फेफड़े। इनमें से फेफड़े ही इन सबका केन्द्रबिन्दु हैं।

आयुर्वेद के अनुसार प्राणवहस्रोतस की प्रमुख व्याधियाँ हैं—प्रतिश्याय (Cold and coryza), कास (Cough or bronchitis), स्वरभेद (Hoarseness), श्वास (Asthma), हिक्का (Hiccough), उरःक्षत (Empyema), राजयक्ष्मा (Tuberculosis) तथा श्लेष्मक ज्वर (Influenza)—विशेष रूप से बच्चों में इन रोगों के जो रूप पाये जाते हैं, उनका वर्णन संक्षेप में आगे किया जा रहा है।

प्रतिश्याय

(Cold & Coryza)

मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः।
स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते॥
स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते।

—का० सू० २५।३७-३८

जो बच्चा स्तनपान करते हुए बार-बार मुँह से साँस लेता है, जिसकी नाक से स्राव होता है, ललाट गर्म रहता है, स्रोतों का बार-बार स्पर्श करता या मलता है, छींकता तथा खाँसता है, उसे पीनस या प्रतिश्याय से पीड़ित जानना चाहिए। इसी को बोलचाल की भाषा में सर्दी-जुकाम कहते हैं।

जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में बच्चे प्रायः सर्दी-जुकाम का शिकार होते रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से यह रोग या तो विषाणुजन्य (Virus) होता है या प्रत्यूर्जताजन्य (Allergic)। चार महीने से कम उम्र के बच्चों में, खासकर खुश्क मौसम में, अक्सर नाक का अवरोध हो जाता है और सांस लेते समय वे अजीब-सी आवाज करने लगते हैं। कुछ माताएँ इसी को सर्दी समझ लेती हैं। सर्दी नासास्राव के साथ शुरू होती है। इसके शुरू होते ही बच्चे की नाक से पानी जैसा बहने लगता है। छींकें आती हैं। आँखों, सिर और बदन के दूसरे हिस्सों में दर्द होता है। कभी-कभी हलका बुखार भी हो जाता

है। कुछ दिन के बाद नाक से आनेवाला स्राव गाढ़ा और खुश्क होने लगता है। कभी-कभी अतिरिक्त जीवाणुओं के संक्रमण से सर्दी लम्बे समय तक खिंच जाती है। नाक से गाढ़ा और पीप की-सी दुर्गन्ध वाला स्राव आने लगता है। आयुर्वेद के अनुसार वस्तुतः यही पीनस की अवस्था है।

उपचार

तिनकों या सींक में लगी रूई की छोटी-छोटी फुरेरियों से उसकी नाक साफ करें। यदि बच्चा कुछ बड़ा है तो उसका एक नासारन्ध्र बन्द कर दूसरे से बारी-बारी से रेचन करना अर्थात् साँस जरा झटके से बाहर निकालना सिखायें। इससे नाक स्वतः साफ होती रहेगी और बच्चे को साँस लेने में तकलीफ कम होगी। पानी को उबाल कर ठण्डा करने के बाद उसकी कुछ बूंदें नाक में डालें। इससे नाक में जमा स्राव मुलायम पड़कर आसानी से निकल जायेगा।

मौसम गर्म हो या ठण्डा; यह एक सामान्य नियम है कि नमी या आर्द्रता साँस लेने में सहायता पहुँचाती है, बन्द नथुनों को खोलती है और खुश्की सांस लेने में परेशानी पैदा करती है। जाड़े का मौसम हो तो जिस कमरे में बच्चा हो वहाँ पानी उबालें। वायुमण्डल में नमी पैदा हो जायेगी। गर्मी के दिन हों तो थाली या प्लेटों में पानी भर कर कमरे में रख दें या भींगे हुए तौलिये फैला दें।

बच्चे को पेट के बल लिटाकर उसका सर थोड़ा उठा दें। इससे भी उसे साँस लेने में सुविधा होगी।

बच्चे को शुद्ध वायु में रखें। कुछ माताएँ यह सोचकर कि ठण्डी हवा लगकर सर्दी हो गयी है, बच्चे को अनावश्यक कपड़ों से लाद देती हैं तथा बंद जगहों में रखती हैं। इससे बच्चे को लाभ की जगह हानि ही होती है।

प्रतिश्यायनाशक योग—बालज्वरांकुश, बालरोगान्तकरस, बालार्करस, रसपिपरी, चन्द्रशेखररस, प्रवालभस्म, शृंगभस्म, गोदन्तीभस्म, लक्ष्मीविलास-रस, त्रिभुवनकीर्तिरस।

पुराने घी में सेंधा नमक मिलाकर गर्म हाथ से बच्चे की छाती तथा पीठ पर मालिश करें। इसी प्रकार अन्य कफनाशक तेलों की भी मालिश की जा सकती है।

कास

(Cough or Bronchitis)

कास या खाँसी एक सुरक्षात्मक प्रतिवर्त (Protective reflex) है। श्वासनली में जब भी कोई ऐसा पदार्थ चला जाता है जो वहाँ पर अवरोध

उत्पन्न करने वाला या क्षोभ उत्पन्न करने वाला हो तो प्रकृति कास के द्वारा उसे बाहर निकालने का प्रयास करती है। श्वास के साथ गये धूल के कण, खाते समय जल्दबाजी या असावधानी के कारण छिटक कर श्वासनली में गया कोई खाद्य-पदार्थ का टुकड़ा तथा फेफड़ों या नासारन्ध्रों से आया श्लेष्मा श्वसनी में क्षोभ उत्पन्न कर सकते हैं। यदि खाँसने से कुछ नहीं निकलता फिर भी खाँसी आती रहती है तो हो सकता है कि वह किसी अन्य रोग या आन्तरिक विकृति का परिणाम हो।

बच्चों में खाँसी के अनेक कारण हो सकते हैं। यदि किसी बच्चे को लगातार हलकी-हलकी खाँसी आती रहती है तो हो सकता है कि वह किसी वस्तु-विशेष के प्रति प्रत्यूर्जता का परिणाम हो। बच्चों में बार-बार होनेवाला विषाणुओं का संक्रमण भी खाँसी को उत्पन्न कर सकता है। प्रायः बच्चों को सर्दी और खाँसी साथ-साथ होती है। हो सकता है मंद-मंद ज्वर भी हो। कुछ समय बाद सर्दी और बुखार तो ठीक हो जाते हैं, परन्तु खाँसी कभी-कभी हफ्तों तक बनी रहती है। बीच में लगता है कि वह घट रही है, लेकिन फिर तेज हो जाती है। सर्दी और बुखार भी आ जाते हैं। पुनः वही चक्र चलने लगता है। बच्चे कफ थूकते नहीं, प्रायः निगल जाते हैं। यह भी एक परेशानी का कारण होता है।

यदि खाँसी जल्दी ठीक नहीं होती तो उसके मूल कारण का पता लगाने की कोशिश करनी चाहिए। बच्चों में यह प्रायः सर्दी, इन्फ्लुएन्जा, गले की खराश, श्वसनीशोथ, गलतुण्डिकाशोथ (Tonsilitis) या कान के दर्द के कारण हो सकती है। यह खसरा, कुकुर-कास (Whopping cough) या किसी प्रकार की एलर्जी के पूर्वरूप के रूप में भी प्रकट होती है।

कासनाशक योग—टंकणभस्म, स्फटिकभस्म, प्रवालभस्म, श्रृंगभस्म, अभ्रकभस्म, बालरोगान्तक, बालार्क, रसपिपरी, चन्द्रशेखर, चन्द्रामृतरस, माणिक्यरसादि बटी, सितोपलादि चूर्ण, तालीसादि चूर्ण, बालचातुर्भद्रिका, पुष्करादि चूर्ण, द्राक्षासव, कुमार्यासव, कुटजारिष्ट इत्यादि।

मुलहठी का चूर्ण मधु के साथ।

मुलहठी के चूर्ण में थोड़ी-सी भुनी लौंग मिलाकर मधु के साथ।

भटकटैया के फूल की केसर पीसकर मधु के साथ।

भुना हुआ चौकिया सुहागा और भुनी हुई फिटकरी का चूर्ण समभाग में माता के दूध या मधु में मिलाकर।

लहसुन की भस्म मधु में मिलाकर।

कुकुर-कास
(Whopping Cough or Pertusis)

कुकास या कुकुर-खांसी श्वसन-संस्थान के ऊपरी भाग तथा श्वसनी-नलिकाओं की एक वहुत ही गंभीर और संक्रामक बीमारी है। यह बच्चों का रोग है और उन्हें प्रायः १० वर्ष से कम की अवस्था में ही होता है। यह जितना ही कम उम्र में हो उतना ही गम्भीर माना जाता है। कुछ को यह एक से अधिक वार भी आक्रान्त करता है।

इसकी उद्भवन-अवधि ७ से १४ दिन तक मानी जाती है। शुरू में यह तेज सर्दी, छींकें, नाक से आवाज, बुखार और लगातार बनी रहनेवाली तेज खाँसी के रूप में प्रकट होता है। यह हालत लगभग एक-दो सप्ताह तक बनी रहती है। उसके वाद खाँसी का रूप और भी विगड़ जाता है। वह कुत्ते के भौंकने का-सा रूप ले लेती है। खाँसते-खाँसते रोगी का चेहरा तमतमा जाता है। वमन तक कर देता है। छाती में दर्द होने लगता है। कभी-कभी नाक से खून भी आने लगता है। यह स्थिति रोग के शुरू होने के समय से लेकर चार सप्ताह तक रहती है। उसके वाद लक्षण धीरे-धीरे घटने लगते हैं।

आजकल कुकास की रोकथाम के लिए प्रायः शुरू में ही बच्चों को टीके (Triple antigen) लगा दिये जाते हैं। जिनको ये ठीक समय पर लग जाते हैं उनको यह रोग होता भी है तो उग्र रूप धारण नहीं करता।

उपचार—जब तक ज्वर का वेग शान्त न हो जाय, रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। उसे ऐसी जगह पर रखें जहाँ शुद्ध वायु काफी मात्रा में प्रवेश कर सके। इससे खाँसी के वेग में कमी आती है। पोषणयुक्त और संतुलित आहार दें, जिससे रोगी का भार घटने न पाये। यदि खाँसी के दौरों के बाद कै हो जाती हो तो भोजन कई बार में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दें।

औषधि योग—प्रवालपिष्टी, शुभ्राभस्म, शृंगभस्म, गोदन्तीहरतालभस्म, कामदुधारस, कण्टकार्यावलेह, कण्टकारीघृत, द्राक्षासव।

हिक्का या हिचकी
(Hiccup)

अकस्मान्मारुतोद्गारः कृशे हिक्का प्रवर्तते।

—काश्यप-सू० २५।१७

कृश एवं कमजोर वालक में एकदम से वायु की डकार आये तो हिक्का होने की सम्भावना होती है।

इसे अंगरेजी में Hiccup कहते हैं। हिक्का नवजात शिशु की एक सामान्य प्रतिक्रिया है। कभी-कभी तो यह जोरदार और विस्फोटक ध्वनि के

साथ आती है। शुरू के कुछ महीनों में स्तनपान के वाद हिचकी आना एक आम वात है। इसे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए। ये अपने-आप आती और अपने-आप बन्द भी हो जाती हैं। वन्द न हो रही हो तो वच्चे को जरा-सा पानी पिला दें या उसकी करवट वदल दें। वहुत सम्भव है हिचकियाँ बन्द हो जायँ।

उपचार—जरा-सा कुटकी या स्वर्णगैरिक का चूर्ण मधु के साथ दें।

श्वसनक ज्वर
(Pneumonia)

श्वसनक ज्वर एक तीव्र औपसर्गिक व्याधि है। इसमें फुप्फुसों के एक या अनेक भागों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमें फुप्फुसों की छोटी-छोटी थैलियों, वायुकोशों (Alveoli) में एक प्रकार का तरल भर जाता है। यह तरल रक्त का कोई संघटक या कोई अन्य पदार्थ भी हो सकता है।

श्वसनक ज्वर के अनेक भेद हो सकते हैं। इनमें सवसे व्यापक जीवाणु-जन्य न्यूमोनिया (Bacterial pneumonia) है। यह प्रधान रूप से न्यूमोकॉकी (Pneumococci) नामक जीवाणु से उत्पन्न होता है। कभी-कभी स्ट्रेप्टोकॉकी (Streptococci) अथवा स्टैफिलोकॉकी (Staphylococci) भी इसकी उत्पत्ति का कारण हो सकते हैं।

प्रभावित अंश या भाग के आधार पर भी इसका नामकरण किया जाता है। जब यह फेफड़े के किसी एक या एक से अधिक खण्डों को प्रभावित करता है तव इसे खण्डीय न्यूमोनिया (Lobar pneumonia) और जब यह मात्र एक खण्ड के किसी एक अंश को ही प्रभावित करता है तब इसे खण्डकीय न्यूमोनिया (Lobular pneumonia) कहते हैं। जब यह फेफड़े के श्वसन-पथ के वायुकोशों को प्रभावित करता है तव इसे ब्राँकोन्यूमोनिया (Broncho-pneumonia) या श्वसनी-फुप्फुसशोथ कहते हैं।

इसी तरह वायरसी न्यूमोनिया (Viral pneumonia) विषाणुओं से उत्पन्न होता है। चूषण न्यूमोनिया (Aspiration pneumonia) फेफड़ों में वाहर से किसी तरह के पदार्थ के आ जाने से होता है।

जीवाणुजन्य न्यूमोनिया में शुरू में तो कुछ ही वायुकोश प्रभावित होते हैं। प्रभावित कोशों की श्लैष्मिककलाओं में शोथ उत्पन्न हो जाता है। कुछ में छिद्र भी हो जाते हैं। इन छिद्रों से वाहर का तरल और रक्तकोश अन्दर आ जाते हैं। संक्रमण दूसरे वायुकोशों में भी फैलने लगता है। जैसे-जैसे वायुकोश तरल से भरते जाते हैं, उनकी ऑक्सीजन को रक्त में पहुँचाने की शक्ति में कमी आती जाती है। फलतः शरीर के समस्त कोशों को व्यवस्थित ढंग से

काम करने के लिए आवश्यक ऑक्सीजन नहीं मिल पाती। ऑक्सीजन न मिलने से शरीर के समस्त अंग धीरे-धीरे अपना काम करना वन्द करने लगते हैं। यह गम्भीर स्थिति शीघ्र ही घातक सिद्ध हो सकती है।

वालकों में यह रोग विशेष रूप से, शीघ्र ही गम्भीर रूप धारण कर लेता है। इसके उपद्रवस्वरूप फुप्फुसावरणशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, उदरावरण-शोथ, प्रलाप, हृद्-शोथ आदि उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः एक वर्ष से लेकर चार वर्ष की वय के वीच बच्चे न्यूमोनिया का अधिक शिकार होते हैं।

न्यूमोनिया किसी भी कारण से उत्पन्न हो, पर उसका प्रारम्भ और लक्षण प्रायः एक जैसे होते हैं। रोग के प्रारम्भ में जुकाम जैसा हो जाता है। हलका ज्वर रहता है। एक-दो दिन बाद सर्दी एवं कँपकँपी लगकर जोर का बुखार चढ़ जाता है। उसके साथ थोड़ी-बहुत खाँसी आती है। कफ भी निकलता है। छाती में दर्द होता है। सांस की गति तेज हो जाती है। रोगी अत्यन्त कमजोर हो जाता है। कभी-कभी प्रलाप भी करने लगता है। छाती में कफ बोलता है। शुरू के ५–७ दिनों तक बुखार १०४ से १०५ डिग्री तक रहता है। जवान पर सफेद मैल चढ़ जाती है। फिर जैसे-जैसे रोग बढ़ता है, जबान सूखती जाती है। उस पर काँटे-से उभर आते हैं। शुरू में वलगम कम मात्रा में चिकना और झागदार आता है। उसमें थोड़ा-सा लोहित वर्ण का खून भी रहता है। वाद में कफ अधिक आने लगता है। यह कफ चिकना होता है और पक जाने के कारण इसका वर्ण पीला होता है। श्वास की गति ३० से ४० वार तक और नाड़ी की गति १२० से १४० बार प्रति मिनट तक हो जाती है। रोगी को साँस लेने में कठिनाई होती है। वह छिछली चलने लगती है। पहले कुछ दिनों तक नाड़ी की गति तीव्र होती है, फिर धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है। छाती पर स्टेथेस्कोप लगाकर सुनने से जगह-जगह पर पानी के वुलवुलों के फूटने की-सी आवाज सुनाई देती है।

श्वसनक ज्वर, ब्रॉंको-न्यूमोनिया एवं डब्बा-पसली-नाशक योग—श्रृंगभस्म, अभ्रकभस्म, वालपंचभद्र, वालरोगान्तकरस, चन्द्रशेखररस, माणिक्यरसादि-गुटिका, वालजीवनवटी। मल्लसिन्दूर (इसे बहुत सोच-समझकर, बहुत जरूरी होने पर ही उपयोग में लायें)।

स्वर-भेद

(Hoarseness)

स्वर का मंद अथवा सामान्य से भिन्न हो जाना स्वरभेद कहलाता है। स्वरभंग तथा स्वरघ्न इसी के पर्याय हैं। वोलचाल की भाषा में इसे गला-बैठना कहते हैं। सुश्रुत ने इसके लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है—

योऽतिप्रताम्यन् श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥

—सु० नि० १६।६१

जो मनुष्य अत्यन्त कष्ट के साथ निरन्तर साँस लेता हो, जिसका स्वर भिन्न हो गया हो, जिसका कण्ठ शुष्क और विमुक्त-सा प्रतीत हो तथा जिसके वायु-मार्ग (श्वासनली, श्वसनी तथा फेफड़े) कफ से लिप्त हो गये हों, उस रोगी के इस वातजन्य रोग को स्वरघ्न कहते हैं ।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इसे Hoarseness कहते हैं । यूँ तो यह विकृति अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है, परन्तु इसका सर्वप्रधान कारण स्वरयन्त्रशोथ (Laryngitis) है । वच्चे के अत्यधिक और जोर-जोर से रोने-चिल्लाने के कारण भी उसके स्वरयन्त्र में शोथ उत्पन्न हो जा सकता है । कभी-कभी स्वरयन्त्र अथवा श्वसन-पथ के अन्य स्थानों (यथा—फुप्फुस आदि) में जीवाणुओं अथवा विषाणुओं के संक्रमण के कारण भी स्वरयन्त्र में शोथ आ जाता है । सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने वाले रोग (राजयक्ष्मा, फिरंग आदि) भी स्वरयन्त्र को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करते हैं । स्वरयन्त्र में लगी चोट, घाव, असामान्य वृद्धियाँ तथा वाक्तन्तुओं (Vocal cords) में उत्पन्न विकृतियाँ भी स्वर में भेद उत्पन्न कर देती हैं । संवेगात्मक क्षोभ, पेशीय तनाव आदि भी—खासकर वच्चा यदि थका हुआ या मानसिक दवाव की हालत में हो—उसके स्वर को सामान्य नहीं रहने देते ।

श्वास
(Asthma)

निष्टनत्युरसाऽत्युष्णं श्वासस्तस्योपजायते ।

—काश्यप-सू० २५।१७

श्वासरोग में बालक की छाती से अत्यन्त गरम-गरम साँसे निकलती हैं ।

श्वासरोग लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को अधिक होता है । इसके तीन प्रमुख कारण हैं—एजर्ली, संवेगात्मक गड़बड़ी तथा संक्रमण । इनमें से कोई एक कारण भी श्वासरोग को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु प्रायः अनेक कारण मिलने से ही ऐसा होता है ।

एलर्जी की प्रवृत्ति प्रायः वंशानुगत होती है । साँस लेते समय नाक से प्रवेश करने वाले प्रत्यूर्जताजनक पदार्थ (यथा—धूल, पराग, पालतू पशुओं के रोयें आदि) ही इस रोग को उत्पन्न करते हैं । खाने के मात्र ऐसे पदार्थ जिनकी गन्ध रोगी को सह्य न हो, इस रोग को उत्पन्न कर सकते हैं ।

संवेगात्मक दृष्टि से प्रायः अधीर प्रकृति के, क्षुब्ध एवं चिन्तित रहनेवाले तथा अत्यधिक संवेदनशील बच्चे ही इस रोग से अधिक ग्रस्त होते हैं। ऐसे बच्चों के मां-बाप भी प्रायः मानसिक दृष्टि से अस्थिर होते हैं। बालक से उनकी अपेक्षाएँ उसकी सामर्थ्य से अधिक होती हैं। उनकी अपनी चिन्ताएँ और क्षोभ बालक को भी मानसिक रूप से क्षुब्ध बना देते हैं। यही कारण है कि इस रोग से पीड़ित बच्चे जब घर से कहीं अन्यत्र या किसी छात्रावास आदि में चले जाते हैं तो उनका रोग स्वतः ठीक हो जाता है। ऐसे बालकों का बौद्धिक स्तर भी प्रायः उच्चकोटि का होता है। इनकी अपेक्षा मन्द बुद्धि वाले बालक इस रोग का शिकार अपेक्षाकृत कम होते हैं।

यदि रोग संक्रमणजन्य है तो इसका कारण प्रायः विषाणु ही होते हैं।

इस रोग का आक्रमण एक बारगी होता है। श्वसनी-आकर्ष (Bronchospasms) श्वासनली में अवरोध उत्पन्न कर देते हैं। बच्चे को साँस छोड़ने में कष्ट होने लगता है। गले में घुरघुराहट होने लगती है। हंफनी-सी आने लगती है। कुछ बच्चों में रोग का आक्रमण होने के पहले नाक से काफी मात्रा में स्राव आने लगता है। तेज आक्रमण में बालक का रंग स्याह पड़ जाता है। वह अत्यधिक भयभीत हो जाता है।

श्वसनी-आकर्ष जैसे एक-बारगी शुरू होता है वैसे ही एक-बारगी में प्रायः समाप्त भी हो जाता है, परन्तु दमे का दौरा बना रहता है। वह धीरे-धीरे ही शान्त होता है। इसका कारण संकुचित श्वसनियों में अवशेष स्राव हो सकता है। जब तक खाँसी के माध्यम से सारा स्राव नहीं निकल जाता, दौरा शान्त नहीं होता।

शैशवावस्था में दमे के सारे लक्षण व्यक्त नहीं होते। श्वास लेने में कठिनाई साफ समझ में नहीं आती। परन्तु जब उसके अल्प लक्षण भी थोड़े-थोड़े समय के लिए बार-बार प्रकट हों, साथ में विशेष बुखार या सर्दी के अन्य लक्षण न हों तो समझ लेना चाहिए कि बच्चे में श्वास-कष्ट हो सकता है।

उपचार—बच्चे को अधिक से अधिक आराम दें। उसे ऐसी जगह पर रखें जहाँ शुद्ध हवा पर्याप्त मात्रा में आती हो और वहाँ धूप का प्रवेश हो।

बच्चे को जिस पदार्थ से एलर्जी मालूम हो उसे उससे दूर रखें। चार वर्ष से कम उम्र के बच्चे की त्वचा-परीक्षा सम्भव नहीं। अतः इस मामले में अनुमान और विवेक से ही अधिक काम लेना होता है। पदार्थों को एक-एक कर देखना होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चे की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के अनुरूप ही उससे अपेक्षाएँ रखनी चाहिए। उसकी रुचि का ध्यान रखना

चाहिए। उसकी इच्छाओं के विपरीत अपनी इच्छाएँ उस पर नहीं लादनी चाहिए। क्षोभ और चिन्ता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों से उसकी रक्षा करनी चाहिए। स्वस्थ मनोरंजन का पर्याप्त प्रवन्ध करना चाहिए। जिससे उसका जी वहलता रहे और वह प्रसन्न रहे।

स्वर-भेद तथा श्वास-नाशक योग—इन रोगों में भी लक्षणानुसार प्रतिश्याय, कास, कुकास तथा श्वसनक-ज्वर में वतलाये गये योगों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

उरोघात या उरःक्षत
(Empyema)

मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः।
स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते॥
स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते।
उरोघाते तथैव स्यान्निष्टनत्युरसाऽधिकम्॥

—का० सू० २५।३७-३८

जो वालक स्तनपान करता हुआ वार-वार मुँह से साँस लेता है, जिसकी नासिका से स्राव वहता है, ललाट तप्त रहता है, स्रोतों का वार-वार स्पर्श करता है, छींकता है, खाँसता है तथा छाती से गरम-गरम साँसें निकालता है, उसे उरोघात से पीड़ित समझना चाहिए।

उरोघात या उरःक्षत का वर्णन—आयुर्वेद-संहिताओं में,—राजयक्ष्मा के संदर्भ में किया गया है। इससे पीड़ित रोगी के फेफड़े में घाव हो जाता है। छाती में सूई के चुभने के समान तीव्र वेदना होती है। खाँसी आती है। कफ के साथ खून आता है। इसके प्रमुख लक्षणों में पार्श्वशूल, उरःशूल, कास, रक्तच्छर्दि, वल, वर्ण तथा अग्नि का क्षय, ज्वर, अतिसार, मानसिक अस्थिरता तथा पीले, वदवूदार और खून मिले कफ का आना है।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इसे अन्तःपूयता (Empyema) की संज्ञा दी जा सकती है। सामान्यतया इस शब्द का प्रयोग फुप्फुसावरणी गुहा (Pleural cavity) में पूयोत्पत्ति के लिए किया जाता है। यह स्थान फेफड़ों के फुप्फुसावरणीय आंतरांग-आच्छद (Visceral sheet of pleura) और सीने की दीवार के पास के फुप्फुसावरण के अग्र आच्छद (Parietal sheet of pleura) के वीच होता है। इस रोग की उत्पत्ति फेफड़े की दीवार से रगड़ खाकर फेफड़े के फोड़े के फट जाने अथवा फेफड़ों या फुप्फुसावरण के निकट के उदरीय क्षेत्रों में संक्रमण के कारण होती है। इसकी उत्पत्ति

जीवाणुजन्य न्यूमोनिया, राजयक्ष्मा आदि रोगों के उपद्रवस्वरूप भी हो सकती है।

वातश्लेष्मक ज्वर या इन्फ्लूएञ्जा
(Influenza or Flu)

इन्फ्लुएञ्जा या फ्लू (Influenza or flu) विषाणुजन्य एक जटिल संक्रामक रोग माना जाता है। इसके मुख्य लक्षण कँपकँपी, ज्वर, सरदर्द, बदन में दर्द, भोजन के प्रति अरुचि, कमजोरी तथा नाक और गले की श्लैष्मिककलाओं का शोथ है। इसका हलका आक्रमण प्रायः सर्दी लगने के साथ होता है पर सर्दी की अपेक्षा कमजोरी अधिक मालूम होती है। मन गिरा-गिरा-सा रहता है। कभी-कभी यह संक्रामक रोग के रूप में भी फैलता है।

फ्लू का विषाणु रोगी की प्रतिरोधी-क्षमता को बहुत कम कर देता है। छोटे-छोटे बच्चों में कभी-कभी न्यूमोनिया का रूप धारण कर गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर देता है।

क्षीरपकालीन व्याधियाँ

अध्याय ४०

दुष्टस्तन्यजन्य रोग

(Diseases Due to Deformed or Defective Lactation)

दोष-प्रकोपक आहार-विहार से माता या धात्री का दूध दूषित हो जाता है। इस दूषित दूध को पीने से बालक में जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन्हें दुष्ट-स्तन्यजन्य रोग कहते हैं।

दूध किसी एक, दो या तीनों दोषों से एक साथ दूषित हो सकता है। इनमें एकदोषज तथा त्रिदोषज दुष्टियों की चर्चा आयुर्वेद के ग्रन्थों में विशेष रूप से की गयी है। द्विदोषज दुष्टियों में सम्बद्ध दोषों के मिले-जुले लक्षण पाये जाते हैं।

आगे वातज, पित्तज, कफज तथा त्रिदोषज स्तन्यदुष्टि से उत्पन्न व्याधियों के लक्षण संक्षेप में दिये जा रहे हैं।

वातदुष्टस्तन्यपानजन्य रोग

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्धविण्मूत्रमारुतः॥

—माधवनिदान ६८।१

बालक वात से दूषित दूध को पीने से वातरोगों से पीड़ित हो जाता है। उसका स्वर क्षीण और अंग कृश हो जाते हैं। मल, मूत्र और वायु का निकलना बन्द हो जाता है। इसके पीने से बच्चे को पूर्ण तृप्ति भी नहीं होती।

पित्तदुष्टस्तन्यपानजन्य रोग

स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापित्तरोगवान्।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन्॥ मा. नि. ६८।२

पित्त से दूषित दूध को पीने वाला बालक पित्तजनित रोगों से ग्रस्त हो जाता है। वह अत्यधिक स्वेद, मलभेद या अतिसार, कामला आदि से ग्रस्त हो जाता है। उसका शरीर गर्म रहता है। प्यास अधिक लगती है।

कफदुष्टस्तन्यपानजन्य रोग

कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान्।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः॥ मा. नि. ६८।३

कफ से दूषित दूध को पीने से बालक कफजनित रोगों से पीड़ित हो जाता है। उसे लार अधिक आती है। नींद अधिक आती है। वह जड़वत्, आलसी एवं निष्क्रिय बना रहता है। चेहरे और आँखों पर सूजन आ जाती है। जी मिचलाता है।

चिकित्सा

आयुर्वेद में स्तन्यदोषों के निवारणार्थ बालक एवं धात्री दोनों की चिकित्सा का विधान है। जिस स्तन्य का पान करने से बालक रोगग्रस्त हुआ है, उसका शोधन जरूरी है; अन्यथा मात्र बालक की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होने का। वह फिर वही दूध पियेगा और पुनः स्तन्यदोष का शिकार हो जायेगा। आगे जिन योगों का उल्लेख किया जा रहा है वे मात्रा तथा अनुपान भेद से दोनों को दिया जा सकता है।

वातज स्तन्य-दुष्टि—

वातज स्तन्यदुष्टि में प्रथम तीन दिन तक निम्न क्वाथों में से किसी एक का पान कराकर बाद में वातहर औषधियों से सिद्ध (या वात-व्याधि में बतलाये गये) घृतों में से किसी एक का पान करायें —

१. दशमूलक्वाथ।

२. देवदारु, सरल काष्ठ, कुटकी, वच, कूठ, पाठा, भारंगी, पिप्पली, बिच्छू बूटी, चित्रक, अजवाइन, सोंठ तथा गोलमिर्च का क्वाथ।

उक्त विधि से धात्री का स्नेहन कर उसे मृदु विरेचन दें तथा वातनाशक ओषधियों से अभ्यंग, स्वेदन, प्रलेप तथा मर्दन करें।

पित्तज स्तन्य-दुष्टि—

निम्न क्वाथों में से किसी एक का सेवन करायें—

१. गिलोय, पटोलपत्र, अनन्तमूल, शतावरी, नीम की छाल और लाल चन्दन।

२. त्रिफला, चिरायता, कुटकी और मोथा।

३. जीवक, ऋषभक, काकोली, मुलेठी, कायफल तथा काकड़ासिंगी।

४. पटोलादिगण, सारिवादिगण, न्यग्रोधादिगण या पद्मकादिगण की औषधियों का चूर्ण मधु के साथ दें।

५. इन्हीं औषधियों से सिद्ध घृत का सेवन करायें।

६. पित्तनाशक विरेचन दें।

७. शीतल अभ्यंग, प्रलेप एवं परिषेक का व्यवहार करें।

कफज स्तन्य-दुष्टि—

१. सैंधव और पिप्पली से युक्त घृत बच्चे को पिलायें।

२. सैंधव, मुलेठी और मैनफल के पुष्प—इनका चूर्ण मधु में मिलाकर बच्चे के अंग पर लगायें। इससे सुखपूर्वक मृदु वमन होकर विकार निकल जायेगा। धात्री को तीक्ष्ण वमन करायें।

३. वमन के पश्चात् पेयादि क्रम का पालन करें।

४. फिर निम्न क्वाथों में से किसी एक का सेवन करायें—

(क) वृहत्पंचमूल, मुस्ता, वच तथा अतीस।

(ख) तगर, देवदारु, इन्द्रजौ, कलौंजी (मंगरैला) तथा बिच्छू बूटी।

(ग) आरग्ध्वादि या मुस्तादिगण की औषधियों का क्वाथ।

५. रूक्ष तथा उष्ण नस्य, धूम, गण्डूष, प्रलेप, परिषेक आदि का व्यवहार करें।

द्वन्द्वज-त्रिदोषज-दुष्टस्तन्यपानजन्य रोगों के लक्षण

द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम्। —मा० नि० ६८।४

दो-दो दोषों से दुष्ट दूध को पीने से दो-दो दोषों के तथा तीनों दोषों से दुष्ट दूध को पीने से तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण पाये जाते हैं।

त्रिदोषज दुष्टि से उत्पन्न रोग-समूह को आयुर्वेद में क्षीरालस या क्षीरालसक की संज्ञा दी गयी है। आगे संक्षेप में इसका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

क्षीरालस या क्षीरालसक

क्षीरालस शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। अलस की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'**न लसति व्याप्रियते इति।**' इसके शाब्दिक अर्थ हैं—अक्रियाशील, काहिल, सुस्त, श्रान्त, क्लान्त तथा चेष्टाहीन। यह अकर्मण्यता या जड़ता का बोधक है। अलसक शब्द का प्रयोग भी प्रायः इसी अर्थ में किया जाता है।

वृद्धवाग्भट ने इसे क्षीरालसक की संज्ञा दी है और त्रिदोषजनित होने के कारण एक ही प्रकार का माना है। शार्ङ्गधर ने इसे दोषों की प्रधानता के आधार पर तीन प्रकार का माना है। वृद्धवाग्भट के अनुसार इसका लक्षण और निदान प्रस्तुत किया जा रहा है—

यदा पुनर्धात्री सन्निपातप्रकोपनान्यासेवेत तदास्यास्त्रयो मला युगपद्दुष्टाऽभिप्रपन्नाः क्षीरवहा रसायनीः समनुसृत्य सङ्कीर्णलिङ्गं स्तन्यमावहन्ति। तच्चेद-

विज्ञानात् सततमप्रत्यवेक्षणात् प्रमादाद् वा मातुः कुमारः पिबति ततः स तेन सलिलोपममच्छं विच्छिन्नमामं दुर्गन्धि नानावर्णवेदनं फेनिलमतिसार्यते। पीत-श्वेतमूत्रताविष्टम्भतृष्णाज्वरच्छर्दिविजृम्भिकाशुष्कोद्गारारुचिभ्रमाङ्गभङ्गविक्षेप-कूजनघ्राणाक्षिमुखपाकदृष्ट्युपप्लवस्वरसादादयश्चास्य प्रादुर्भवन्ति। तं क्षीरा-लसकमत्ययं चाचक्षते। —अ० सं० उ० २।१७

क्षीरालसक के लक्षण

क्षीरालसक से पीड़ित बच्चे का मल पानी के समान स्वच्छ, फुटकीदार, टुकड़े-टुकड़े, आमगन्धी (सड़ी मछली के समान दुर्गन्ध वाला), नाना रंगों का तथा झागदार होता है। मूत्र पीला या सफेद होता है। पेट में भारीपन, ज्वर, वमन, जम्भाई, सूखी डकारें, अरुचि, भ्रम, अंगों का टूटना, हाथ-पैर फेंकना, कराहना, आँतों में गुड़गुड़ाहट, नाक, आँख और मुख का पकना, नेत्रों में ज्योति की कमी या अभाव, गला बैठ जाना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

निदान

जब धात्री तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले आहार-विहार का सेवन करती है, तब उसके तीनों दोष प्रकुपित होकर एक-साथ छाती में आकर दुग्धवाहिनी नलिकाओं में प्रवेश कर दुग्ध को दूषित कर देते हैं। और जब अज्ञान, असावधानी, प्रमाद अथवा आलस्य के वशीभूत हो वह तीनों दोषों से दूषित इस दूध को बालक को पिला देती है या पिलाती रहती है तो वह क्षीरालसक का शिकार हो जाता है।

उपचार

वृद्धवाग्भट के अनुसार क्षीरालसक की शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है—

तत्र धात्रीं बालं च पूर्वमेवाशु वामयेत्। विहितसंसर्गयोश्च मुस्तापाठाति-विषाकुष्ठकटुकानां क्वाथं पानाय दद्यात्। रास्नाजमोदाप्रियङ्गुभद्रदारूणां वा। पाठातेजोवतीपुनर्नववृश्चिकालीनां वा। भूनिम्बामृताकुटजफलसारिवाणां वा। वचाहरिद्रादिगणयोर्वा। पाठादिमहाकषायस्य वा। जम्ब्वाम्रतिन्दुककपित्थपत्राणां वा। बिल्वभङ्गस्य वा। अनुबन्धे च यथाव्याधि प्रतिकुर्वीत।

—अ० सं० उ० २।१८

सर्वप्रथम धात्री तथा बालक दोनों को वमन कराकर उनके कोष्ठ का शोधन करें। इस काम में जरा भी देरी नहीं करनी चाहिए। कोष्ठ-शोधन के

बाद दोषों के शमन के लिए निम्न क्वाथों में से कोई एक यथाविधि तैयार करके दोनों को उचित मात्रा में सेवन कराना चाहिए—

१. मुस्ता, पाठा, अतीस, कूठ तथा कुटकी।

२. रास्ना, प्रियंगु, अजवाइन, पाठा, तेजबल, पुनर्नवा तथा विच्छू-बूटी।

३. चिरायता, गिलोय, इन्द्रजौ तथा अनन्तमूल।

४. वचादिगण, हरिद्रादिगण या पाठादि महाकषाय।

५. जामुन, आम, तिन्दुक तथा कैथे की पत्तियाँ।

६. बेल को तोड़कर उसका गूदा।

रोग के उपद्रवस्वरूप जो लक्षण फिर भी शेष रह जायँ, उनकी रोगानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

क्षीरालस-नाशक प्रमुख योग—मण्डूरभस्म, शृंगभस्म, प्रवालभस्म, जहरमोहरा, खताई पिष्टी, बालयकृदरि लौह, कुमारकल्याणरस, बसन्तमालती रस, सर्वांगसुन्दररस, गन्धकरसायन, बालरोगान्तक तथा बालार्करस।

लाक्षादि, चन्दनबलालाक्षादि अथवा बालरक्ष तैल की सम्पूर्ण शरीर पर मालिश करें। इसमें शोषनाशक चिकित्सा भी लाभकारी होती है।

ऊपर क्षीरालसक रोग के जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें से अधिकांश आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में वर्णित बाल-यकृद्दाल्युदर रोग (Infantile cirrhosis) में पाये जाते हैं। अन्य लक्षणों के साथ-साथ यकृत् की वृद्धि इसका प्रधान लक्षण है। अधिकांश रोगियों में यकृत् के साथ-साथ प्लीहा भी बढ़ी रहती है। साथ में ज्वर, अरुचि, प्यास, वमन, डकारें, पाण्डु, रक्तच्छर्दि, रक्तपित्त, कामला, सर्वांगशोथ, जलोदर आदि भी उपद्रवस्वरूप पाये जाते हैं।

अध्याय ४२

कार्श्य, मलावरोध एवं छर्दि

कार्श्य

कृशता दो प्रकार की होती है—एक तो रोगजन्य और दूसरी स्वतः उद्भूत। जब बच्चे की अग्नि सामान्य हो, भूख लगती हो और स्तनपान या भोजन भी ठीक से कर रहा हो, फिर भी दुबला हो या दुबला होता जाय तो उसे कार्श्य रोग कहते हैं। इसका वर्णन करते हुये योगरत्नाकर में कहा गया है—

यथा तु दुर्बलो बालः खादन्नपि च वह्निमान्।
बिदारीकन्दगोधूमयवचूर्णं घृताप्लुतम्॥
खादयेत्तदनु क्षीरं श्रृतं समधुशर्करम्।
सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा॥
मत्स्याक्षकं शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम्।
अर्कपुष्पी घृतं क्षौद्रं चूर्णितं कनकं वचा॥
सहेमचूर्णं कैडर्यं श्वेतदूर्वा घृतं मधु।
चत्वारोऽभिहिताः प्राश्या अर्धश्लोकसमापनाः॥
कुमाराणां वपुर्मेधाबलपुष्टिकराः स्मृताः॥

इसमें कार्श्य रोग के लिए निम्न योगों को उपयोगी बताया गया है—

१. बिदारीकन्द, गेहूँ और जौ को समान भाग लेकर, खूब महीन पीस कर, उसमें गोघृत मिलाकर औटाये हुए दूध में शीतल होने पर मधु तथा शर्करा का प्रक्षेप देकर, उसी में मिलाकर चटायें-खिलायें।

२. स्वर्णभस्म, कूठ और वच का चूर्ण मधु तथा घृत मिलाकर, या

३. मत्स्याक्षी, शंखपुष्पी, स्वर्णभस्म, मधु और गोघृत मिलाकर, या

४. हुरहुर का चूर्ण, स्वर्णभस्म, वच का चूर्ण गोघृत और मधु में मिलाकर, या

५. स्वर्णभस्म, कायफल, श्वेतदूर्वा, गोघृत और मधु मिलाकर बच्चे को दें। इससे उसके शरीर, मेधा और बल की पुष्टि होती है।

इनके अतिरिक्त कुमारकल्याणरस, अश्वगंधाघृत, अरविन्दासव या शोष

रोग में दिये जाने वाले प्राय: सभी योग सिद्ध हो सकते हैं। बदन पर लाक्षादि तैल की मालिश करनी चाहिए।

बच्चा यदि स्तनपायी है तो माता को पुष्टिकर भोजन देना चाहिए।

मलावरोध
(Constipation)

बच्चों की मल-त्याग करने की आदतें अलग-अलग होती हैं। एक बच्चा ३-४ दिन के बाद मल-त्याग करता है तो दूसरा दिन में ३-४ बार। इसका यदि उनके सामान्य स्वास्थ्य पर कोई असर नहीं पड़ता, दोनों फल-फूल रहे हैं तो दोनों स्थितियाँ सामान्य मानी जायेंगी।

बच्चों का मल-त्याग करना दो प्रमुख बातों से सम्बद्ध है—उसका भोजन और सक्रियता। जो बच्चे दूध, माँस या चिकनी चीजें अधिक खाते हैं, उनको मल देर से आता है। ठीक इसके विपरीत जो बच्चे हरी सब्जियाँ, फल और तरल पदार्थ अधिक लेते हैं, उन्हें मल जल्दी आता है। यदि बच्चा मात्र स्तनपायी है तो उसकी माता के खान-पान का उसपर असर पड़ेगा। सक्रिय बच्चों को भी मल शीघ्र आता है, सुस्त बच्चों का मल भी आँतों में सुस्त हो जाता है।

प्राय: यात्रा के दौरान, जगह बदल जाने पर, किसी दूसरे के घर या बीमारी की हालत में जब कि बच्चे पर्याप्त मात्रा में भोजन या तरल पदार्थ नहीं लेते, उन्हें मलावरोध की शिकायत हो जाती है।

मलावरोध हो जाने पर भी जल्दी बच्चे को रेचक दवा नहीं देनी चाहिए। रेचक औषधियाँ उनके पेट को आगे के लिए कमजोर बना देती हैं। यदि एक बार आदत पड़ गयी तो फिर आगे बच्चा रेचक औषधियों को लिये बिना नियमित रूप में मलत्याग नहीं करेगा।

यदि किसी नवजात शिशु को मल कड़ा और कठिनाई से आ रहा हो तो उसके खाने में चीनी और तरल की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। एक चम्मच मधु या थोड़ी-सी चीनी उबाल कर ठण्डे किये हुए पानी में मिलाकर दूध के साथ दें। बच्चा थोड़ा बड़ा हो तो एकाध चम्मच सन्तरे या टमाटर का रस भी दिया जा सकता है। इससे मल का कड़ापन दूर हो जायेगा। क्षीरान्नाद या अन्नाद अवस्था में भोजन की आदतों में थोड़ा परिवर्तन उसमें सहायक सिद्ध होता है। भोजन में हरी सब्जियों, फल और तरल की मात्रा बढ़ा दें। फल भी ऐसे दें जो मलावरोध को दूर करने में सहायक होते हैं, यथा—पपीता, सन्तरा, आम, अंगूर, अंजीर आदि। केला और सेव स्वभावत:

कब्ज करने वाले हैं। मेवों में मुनक्का और किशमिश कब्ज को दूर करने में सहायक हैं।

बच्चे को सक्रिय बनायें। उसे हाथ-पैर फेंकने, खेलने-कूदने का अधिक-से-अधिक अवसर प्रदान करें। बराबर गोद या पालने का ही आदी न बना दें।

उसमें समय पर मल-मूत्र त्याग करने की आदत विकसित करें। उचित समय पर उचित भोजन उसके समय पर मलत्याग में सहायक होता है।

फिर भी यदि जरूरत ही आ पड़े तो औषधि के रूप में उसे वय के अनुरूप कुछ बूँद शुद्ध रेड़ी का तेल, गुलकन्द या बड़ी हरड़ पानी में घिसकर दी जा सकती है। यदि अर्जीर्ण मालूम हो तो घिसी हुई बड़ी हरड़ में ही थोड़ा-सा काला नमक भी मिला दें। यदि किसी रोग-विशेष के कारण मलावरोध हो तो उसकी चिकित्सा करें।

छर्दि
(Vomitting)

छर्दि या वमन अपने आप में कोई रोग नहीं, प्रत्युत अन्य रोगों का एक लक्षण मात्र है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। बहुत छोटे बच्चे जिनकी उम्र प्रायः तीन महीने से कम होती है, इधर दूध पीते हैं और उधर उगल देते हैं। कभी तो यह मुँह और कभी मुँह और नाक दोनों से निकल पड़ता है। कभी-कभी कुछ माताएँ सोचती हैं कि जो दूध बच्चे को दिया जा रहा है वह ठीक से पच नहीं रहा है।। वे दूध बदल देती हैं। इस दूध के साथ भी वही होता है। प्रायः इस प्रकार की छर्दि से बालक को कोई हानि नहीं होती। इसे एक प्रतिवर्त मात्र समझना चाहिए।

कभी-कभी बच्चे को लेने-उठाने में, खासकर दूध पीने के बाद, पेट दब जाता है और कै हो जाती है। आवश्यकता से अधिक दूध पी लेने या कोई उलटी-सीधी चीज मुँह में डाल लेने से भी कै हो सकती है। कै हो जाने के बाद बच्चा स्वतः शान्त हो जाता है।

यदि कै ज्यादा हो रही हो, जोर के साथ हो रही हो, लगातार हो रही हो या कै के साथ में अन्य लक्षण (यथा—ज्वर, अतिसार आदि) भी हों तो तत्काल आवश्यक उपाय करना चाहिए।

उपचार

प्रायः छर्दि का कारण मन्दाग्नि या अजीर्ण होता है। यदि ऐसा है तो तत्काल उसका उपाय करना चाहिए। दूध ठीक से न पच रहा हो तो उसमें पानी की मात्रा बढ़ा दें। साथ में मिलाकर या दूध पिलाने के बाद आधा या

एक चम्मच चूने का पानी दें। कब्ज हो तो उसे दूर करने की कोशिश करें। कै को रोकने के लिए—

१. मुलेठी का चूर्ण मधु या माँ के दूध के साथ।

२. तेज कै हो तो मुलेठी के चूर्ण में समभाग भुनी बड़ी इलायची का चूर्ण भी मिला दें।

३. बालचातुर्भद्रिका २ से ८ रत्ती मधु के साथ।

४. बालार्क रस—एक-एक गोली दिन में ३–४ बार मधु के साथ चटायें।

इनके अतिरिक्त अमृतधारा, पोदीनाहरा, अर्ककपूर, एलादिचूर्ण का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता है।

उलटियाँ अधिक हो रही हों तो पेट पर गर्म पानी का सेंक और राई का पतला प्लास्टर भी लाभ करता है। अधिक निर्जलीभवन न होने पाये, इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

अध्याय ४२

ज्वर एवं अतिसार

ज्वर

(Fever)

बच्चों में ज्वर आना एक सामान्य बात है। तेज ज्वर अपने आप में कोई रोग नहीं बल्कि किसी-न-किसी रोग का लक्षण होता है। इसका कारण प्राय: संक्रमण या कोई अन्य रोग होता है, यथा—अतिसार, टांसिलाइटिस या गलतुण्डिकाशोथ, न्यूमोनिया, टाइफाइड, कान में दर्द एवं संक्रमण आदि। यह उस क्रिया का प्रतिफल है जिसके सहारे बच्चे का शरीर रोगाणुओं से मुकाबला कर रहा होता है।

ज्वर देखना या तापमान लेना

तापमान थर्मामीटर से देखा जाता है। थर्मामीटर एक काँच की नली जैसा होता है, जिसका एक सिरा पतला और प्राय: धातु से ढँका रहता है। इसमें पारा रहता है जो शरीर के ताप के अनुपात में ही नली में ऊपर की ओर चढ़ता है। नली के शेष भाग पर फॉरेनहाइट (एफ.) या सेन्टीग्रेड (सी.) या दोनों तरह के चिह्न अंकित होते हैं। इन्हीं चिह्नों के सहारे ताप की माप की जाती है। सामान्य प्रौढ़ों में ताप की जो माप सामान्य मानी जाती है वहाँ पर एक तीर का निशान (किसी-किसी में लाल) बना रहता है। इससे अधिक होने पर ही ताप को सामान्य से अधिक माना जाता है। अधिक ताप होना रोगी के ज्वरग्रस्त होने का प्रमाण है।

थर्मामीटर का प्रयोग करने के पहले देख लेना चाहिए कि पारा तीर के निशान से नीचे है या नहीं। यदि नहीं तो उसे झटक कर नीचे कर लेना चाहिए। वह कितना ही नीचे चला जाय इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

तापमान प्राय: तीन स्थानों पर लिया जाता है—मुँह, बगल और गुदा। मुँह से बच्चे का तापमान लेना सम्भव नहीं। बगल में भी हो सकता है उसकी घुण्डी ठीक से दबे या न दबे। इसलिये ५-६ वर्ष की वय तक के बच्चे में गुदा का तापमान ही सबसे अधिक भरोसे का तापमान होता है। यद्यपि वह सामान्य तापमान से एक डिग्री अधिक होता है। इसके लिए अलग ढंग का थर्मामीटर भी

आता है। गुदा द्वारा तापमान लेना हो तो वच्चे को विस्तर या अपनी जांघों पर पट लिटा दें। थर्मामीटर की घुण्डी को चिकना करने के लिए उसमें थोड़ी सी वैसलीन लगा दें। उसके वाद उसे लगभग एक इंच तक गुदा में प्रवेश करा दें। हथेली के सहारे उसके दोनों नितम्बों को इस प्रकार सटा कर रखें जिससे थर्मामीटर का ऊपरी भाग आपकी मध्यमा और तर्जनी उँगलियों के बीच सिगरेट की तरह दवा रहे। लगभग दो मिनट के वाद थर्मामीटर को निकाल कर वैसलीन को रूई से पोछ दें और तापमान को पढ़ लें। यदि
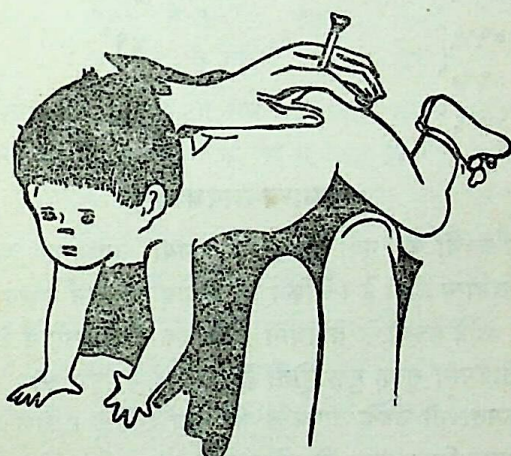
चित्र १८—गुदा द्वारा तापमान लेना।

तापमान १००° फा० (या ३७·७° सें०) है तो उसे सामान्य समझें। पुराने थर्मामीटर फारेनहाइट माप के हैं। लेकिन अव नये थर्मामीटर सेन्टीग्रेड वाले आ रहे हैं। इसलिए अब इन्हीं का अभ्यास करना चाहिए। फारेनहाइट को सेन्टीग्रेड में वदलने के लिए नीचे लिखे फार्मूले का प्रयोग किया जाता है—

$$C = \frac{(F-32) \times 5}{9}$$

थर्मामीटर पर आनेवाली महत्त्वपूर्ण मापों को नीचे की परिवर्तन-तालिका में सेन्टीग्रेड और फारेनहाइट दोनों में दिखलाया जा रहा है—

फारेनहाइट	सेंटीग्रेड
९७·७°	३६·५°
९८·४°	३६·९°
९८·६°	३७°

९९·५°	३७·५°
१००°	३७·८°
१००·४°	३८°
१०१·१°	३८·४°
१०२°	३८·९°
१०३·१°	३९·५°
१०४°	४०°
१०४·९°	४०·५°
१०५·९°	४१°
१०६·७°	४१·५°
१०७·६°	४२°

सामान्य तापमान

अधिकांश बच्चों का गुदा द्वारा लिया गया तापमान ३७·७° सें० या १००° फा० सामान्य होता है। लेकिन उनका यह तापमान बराबर एक समान नहीं रहता। छोटे बच्चों के तापमान में अधिक उतार-चढ़ाव देखने में आता है। उनका तापमान सुबह कुछ होता है, दोपहर में कुछ और रात में कुछ। अत्यधिक सक्रियता भी उनके तापमान को बढ़ा देती है। खेल कर आये हुए बच्चे का तापमान लिया जाय तो निश्चय ही कुछ अधिक होगा। इसी तरह मौसम का भी प्रभाव पड़ता है। गर्मियों में उनका तापमान अपेक्षाकृत अधिक रहता है।

कभी-कभी आप देखेंगे कि बच्चे का सिर जल रहा है लेकिन पैर ठण्डे हैं; कभी ठीक इसका उलटा, यानि पैर जल रहे हैं और सिर ठण्डा है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। असली तापमान वही है जो थर्मामीटर बतलाता है। इसी प्रकार कभी सिर से पसीना आने लगता है, कभी हथेलियों से और कभी पैर के तलवों से। इसका भी कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

बच्चों में एक और विशेषता देखी जाती है। उनका ताप बड़ी तेजी से बढ़ता है। एकाध घण्टे पहले वह अच्छा-भला खेल रहा होता है। अब आपके पास आया तो उसका शरीर बुरी तरह तप रहा है। उनका बुखार जितनी तेजी से चढ़ता है उतनी ही तेजी से उतरता भी है। तेज बुखार से परेशान होकर आप उसे डाक्टर के यहाँ लेकर जा रहे हैं और रास्ते में ही या चिकित्सक के यहाँ पहुँचते-पहुँचते आपने देखा कि उसका ताप काफी नीचे आ गया है। ऐसा

प्रायः जाड़े में अधिक घटता है। बाहर की ठण्ड उसके शरीर के ताप को घटा देती है।

किस ताप को सामान्य, किसको साधारण और किसको तेज माना जाय, इसे नीचे की तालिका में देखा जा सकता है—

	फारेनहाइट	सेंटीग्रेड
सामान्य तापमान	९७·५° से ९८·८° तक	३६·४° से ३७·१° तक
हलका बुखार	९९° से १०२° तक	३७·२° से ३८·९° तक
स्पष्ट बुखार	१०२° से १०३·५° तक	३८·९° से ३९·७° तक
तेज बुखार	१०३·५° से अधिक	३९·७° से अधिक

बच्चों में तेज बुखार भी उतना खतरनाक नहीं होता जितना कि बड़ों में। हाँ, यह जिस बीमारी के लक्षण के रूप में प्रकट हो रहा है वह खतरनाक हो सकती है। बच्चों का गुदा का तापमान भी प्रायः ४०° या ४१° सें० से अधिक नहीं जाता। यदि ऐसा होता है तो समझ लेना चाहिए कि उसके शरीर के ताप-नियन्त्रक-यन्त्र में कहीं-न-कहीं कोई बड़ी गड़बड़ी आ गयी है। मस्तिष्कशोथ या लू लग जाने पर ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है। यदि बच्चे की केस-हिस्ट्री में ऐसा संकेत है कि भूतकाल में उसमें ज्वर के साथ ही आक्षेप के भी लक्षण प्रकट हुए हैं तो विशेष सावधानी की जरूरत है।

यदि बुखार अधिक दिनों तक बना रहे और पसीने के रूप में शरीर का तरल बाहर निकलता रहे तो निर्जलीभवन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि तरल की शीघ्र ही क्षतिपूर्ति न की जाय तो अधिवृक्क या गुर्दों के काम में रुकावट पड़ने लगती है। फलतः शरीर की रसायन-क्रिया गड़बड़ा जाती है।

कभी-कभी एक वर्ष से तीन वर्ष तक के कुछ बच्चों में तापमान के ३९·७° सें० या १०३·५° फा० से ऊपर जाने पर मिरगी के-से दौरे पड़ने लगते हैं। पाँच वर्ष की उम्र के बाद प्रायः इस तरह का उपसर्ग नहीं देखा जाता।

उपचार

बच्चे को अधिक-से-अधिक आराम दें और उसके बुखार को नियन्त्रित करने का प्रयास करें। यदि बुखार किसी रोग के उपद्रवस्वरूप प्रकट हुआ है तो उस मूल रोग का पता लगाने की कोशिश करें। मूल रोग का उपचार किये बिना केवल बुखार उतारने की कोशिश से विशेष लाभ नहीं होने का, हानि अवश्य हो सकती है।

बच्चे का ताप-नियन्त्रक केन्द्र पूरी तौर से विकसित नहीं होता। वह अपने शरीर के ताप का नियन्त्रण अपनी त्वचा द्वारा ऊष्मा के क्षय से करता है। इसलिए यह जरूरी है कि बुखार की हालत में उसे हलके कपड़े पहनाये जायँ। अधिक कपड़ों से लाद देने या ढँक देने से उसकी इस स्वाभाविक क्रिया में बाधा पड़ती है। इससे ताप कुछ और बढ़ भी जा सकता है।

लगातार और तेज बुखार से शरीर का तरल अंश घट जाता है। उसकी पूर्ति के लिए बालक को पानी या अन्य तरल पदार्थ अधिक से अधिक दें।

यदि बच्चा दूध के साथ-साथ ठोस भोजन भी लेने लगा हो तो जब तक बुखार तेज हो, ठोस खाद्य पदार्थ न दें। बुखार में यूं भी भूख मर जाती है। बुखार कम होने पर जब बच्चे को भूख लगने लगे तब हलका, सुपाच्य एवं स्वादिष्ट भोजन हलकी मात्रा में ही देना शुरू करें।

बुखार अधिक हो तो पूरे शरीर को ठण्डे पानी से स्पंज करें। आवश्यक हो तो पानी में थोड़ा बरफ मिला लें। लेकिन पानी किसी हालत में बच्चे के लिए असह्य न हो। स्पन्जिग से बच्चों को काफी आराम मिलता है। इसे तब तक करें जब तक उनका ताप घटकर ३८·५° सें० या १०१° फा० तक न आ जाये। कभी-कभी इसमें ३० से ४५ मिनट तक लग जाते हैं।

निम्न योगों में से कोई भी आवश्यकतानुसार दिया जा सकता है—

१. कुटकी का चूर्ण मधु के साथ।

२. नागरमोथा, हरड़, नीम की छाल, पटोलपत्र और मुलेठी का मन्दोष्ण क्वाथ।

३. बालचातुर्भद्रिका।

४. बालार्करस।

५. बालज्वरांकुश, बालरोगान्तक, बालसंजीवन आदि।

इनके अतिरिक्त गोदन्तीभस्म, शृंगभस्म, प्रवालपिष्टी आदि भी आवश्यकतानुसार दी जा सकती हैं।

जीर्ण ज्वर में—लघुवसन्तमालती, स्वर्णवसन्तमालती तथा बालार्क रस। लाक्षादि तैल, चन्दनबलालाक्षादि तैल मालिश के लिए।

अतिसार
(Diarrhoea)

पतले मल का अधिक मात्रा में, बार-बार सरण या निकलना अतिसार कहलाता है। इसमें कभी श्लेष्मा या रक्त अथवा दोनों मिले रहते हैं। प्रवा-

हिका या पेचिश जिसमें ऐंठन एवं पीड़ा के साथ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मल निकलता है, अतिसार का ही एक भेद माना जाता है।

मल का तरल, अर्ध-तरल, झागदार, दुर्गन्धयुक्त, हरा-पीला, फटा-फटा या चावल के धोवन की तरह होना अतिसार का ही लक्षण है। उसका रूप और वर्ण जैसा भी हो, उसका पतला होना और वार-वार आना ये दो अनिवार्य लक्षण हैं।

नवजात शिशु जन्म के तुरन्त या कुछ देर बाद हरे रंग का चिपचिपा एवं लेसदार पदार्थ त्याग करता है। इसे जातबिष्ठा या मिकोनियम (Meconium) कहते हैं। चार-पाँच दिनों में इसका रंग बदल कर सामान्य हो जाता है। इस बीच उसे कभी हरा और कभी पतला मल आ सकता है। इसे अतिसार नहीं समझना चाहिए। ऊपर का या कृत्रिम दूध पीनेवाले बच्चों की तुलना में माता का स्तनपान करनेवाले बच्चों का मल अपेक्षाकृत ढीला होता है।

नवजात शिशुओं में मलत्याग की बारम्बारता भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। वे जितनी बार दूध पीते हैं, प्रायः उतनी ही बार मलत्याग करते हैं। वे दिन में ७-८ वार भी मलत्याग कर सकते हें। वहुत-सी माताएँ इसे अति-सार समझ कर अनावश्यक रूप से उपचार के निमित्त उतावली हो जाती हैं। जब तक बच्चा देखने में सामान्य हो, सक्रिय हो, प्रसन्न हो, स्तनपान कर रहा हो और उसका भार सामान्य रूप में बढ़ रहा हो तब तक वह कितनी बार पाखाना क्यों न करे, चिन्ता की कोई बात नहीं।

आरम्भ में वर्ष, दो वर्ष तक बच्चे की आँतें बड़ी सुग्राही होती हैं। वे जरा में ही गड़बड़ा जाती हैं। बच्चे का दूध बदला, दूध में चीनी अधिक हो गयी, कोई खाद्य पदार्थ (फलों का रस, फल या अन्य कोई ठोस पदार्थ) दिया गया नहीं कि उन्हें पतला पाखाना होने लगा। बहुत-सी चीजें जो कुछ बड़े वच्चे पचा लेते हैं, छोटे बच्चे नहीं पचा पाते। संक्रमण या जीवाणु भी उन्हें बड़ी जल्दी प्रभावित करते हैं। इसलिए शुरू के वर्ष-दो-वर्ष तक अधिक सावधान रहना पड़ता है। जब भी उन्हें कोई नयी चीज दी जाती है, बहुत सोच-समझ कर और धीरे-धीरे ही दी जाती है।

प्रायः दूषित स्तन्य या उदर तथा आंतों का जीवाणुजन्य संक्रमण अतिसार का सबसे महत्वपूर्ण कारण होता है। पाखाना ठीक होते-होते यदि एक-बारगी ढीला होने लगे तो समझना चाहिए कि बच्चे की आंतों में किसी तरह का

संक्रमण पहुँच गया है। ऐसे में न केवल पाखाना ढीला होने लगता है बल्कि उसका रंग बदल जाता है; प्रायः हरा होने लगता है, रूप बदल जाता और गन्ध बदल जाती है।

अतिसार प्रायः सौम्य होता है। इसके शुरू होते ही यदि उचित सावधानी बरती गयी तो जल्द ठीक हो जाता है।

अतिसार के साथ-साथ यदि निम्न लक्षणों में से कोई एक भी या अधिक हों तो उसे गम्भीर समझना चाहिए—(१) मल का एकदम पतला होना, (२) मल के साथ श्लेष्मा या रक्त का होना, (३) साथ में मिचली और कै का भी होना, (४) ज्वर का १०१° फा० या उससे अधिक होना, (५) बच्चे का एकदम सुस्त एवं निष्क्रिय हो जाना तथा (६) आँखों का धँस जाना तथा उनके नीचे स्याहवृत्त-सा बन जाना।

अतिसार सौम्य भी हो तो भी उसका तत्काल उपचार जरूरी है। अधिक पाखाने हो जाने से बच्चे में निर्जलीभवन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो उसके लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

उपचार

निम्न योगों में से कोई भी एक योग दें—

१. मीठे अतीस को पानी के साथ घिसकर या उसका चूर्ण मधु के साथ।

२. जायफल और सोंठ को पानी के साथ पत्थर पर घिसकर या उसका चूर्ण मधु के साथ। घिसा हुआ ही बच्चों को अधिक लाभ करता है।

३. नागरमोथा, पीपल, मंजीठ और काकड़ासिंगी का चूर्ण मधु के साथ।

४. लोध, पीपल और सुगन्धबाला का चूर्ण मधु के साथ।

५. राल और धाय के फूल का चूर्ण मधु के साथ।

६. बेलगिरी, धाय के फूल, सुगन्धबाला, लोध और गजपीपल का क्वाथ या अवलेह बनाकर मधु मिलाकर बालक को दें।

७. मंजीठ, धाय के फूल, लोध और सारिवा का क्वाथ बना कर मधु का प्रक्षेप देकर पिलायें।

बालातिसार में उपयोगी योग—बालार्करस, बालसंजीवनरस, पंचसूत, सर्वांगसुन्दररस, माणिक्यरसादिबटी, लक्ष्मीनारायणरस, आनन्दभैरवरस, धातक्यादि चूर्ण तथा बालचातुर्भद्रिका।

रक्तातिसार में—कर्कटादिक्वाथ, धातक्यादि क्वाथ, बालकुटजावलेह।

निरोधक उपचार

चिकित्सा से कहीं अधिक उसके लिए आवश्यक सुरक्षात्मक उपायों की ओर ध्यान देना चाहिए। इससे बालक को अतिसार से ग्रस्त होने की सम्भावना कम रहेगी। ये उपाय निम्न हैं—

१. स्तनपान ही करायें। प्रायः ऊपर का या कृत्रिम दूध पीने वाले बच्चे ही अतिसार का शिकार अधिक होते हैं।

२. कम-से-कम एक वर्ष तक और हो सके तो दो वर्ष तक बच्चे को उबाल कर ठण्डा किया हुआ पानी ही पीने को दें। उसके लिए दूध तैयार करने में भी इसी पानी का उपयोग करें।

३. दूध उबालने, बनाने और पिलाने वाले बर्तनों की भली प्रकार सफाई करें। हो सके तो उनको उबाल लिया करें। निपुल आदि यथा-समय बदल दिया करें।

४. बच्चे को तथा उसके खाने-पीने के पदार्थों, पहनने के कपड़ों आदि को मक्खी-मच्छर आदि से बचायें।

५. मल-मूत्र की उचित सफाई होती रहे। उसे वहीं पड़ा न रहने दें। पाट हो तो उपयोग के बाद तुरंत ढक दें, फ्लश हो तो तुरंत बहा दें।

६. कूड़े-कचरे को बच्चे के कमरे के नजदीक न रखें।

७. बच्चे की देखरेख के लिए उत्तरदायी व्यक्ति खुद अपनी सफाई का भी पूरा ध्यान रखें। बच्चे की खाने-पीने की कोई चीज छूने के पहले हाथों को साबुन से धो लिया करें।

अतिसरण की अवस्था में शरीर का जलीय अंश और लवण बाहर आने लगते हैं। यदि ये अधिक मात्रा में बाहर आने लगें तो शरीर में निर्जलीभवन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति खतरनाक होती है। बच्चे की उम्र जितनी ही कम होती है, निर्जलीभवन का खतरा उतना ही अधिक होता है। शुरू में बच्चे का मुँह सूखता है, प्यास बढ़ जाती है और चिड़चिड़ाहट अधिक होने लगती है। निर्जलीभवन की मात्रा जितनी बढ़ती जाती है उसी अनुपात में पेशाब की मात्रा कम होने लगती है। कम होते-होते पेशाब होना एकदम बंद हो जाता है। उसके ओठ झुलस-से जाते हैं। आँखें धँस जाती हैं। उनकी चमक कम हो जाती है। त्वचा को चुटकी से दबाने पर उसे सामान्य अवस्था में आने में समय लगता है।

अतिसरण में निर्जलीभवन ही मुख्य समस्या होती है। ऐसे में बच्चे को अधिक-से-अधिक पानी या तरल पदार्थ लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। सेव या अनार का रस, चाय, कार्बनयुक्त पेय, चीनी और नमक के विशेष रूप से तैयार किये गये घोल तथा अधिक पानी मिला दूध दिया जा सकता है। लेकिन जो भी दिया जाय थोड़ा-थोड़ा करके देना चाहिए। अधिक मात्रा में एक साथ देने पर कै हो जा सकती है। एक लीटर पानी में आधा चम्मच नमक और पाँच चम्मच चीनी डालकर खूब मिला लें और उसी को एक-एक चम्मच करके दें। यह अतिसार में बहुत ही लाभदायक है। चाहें तो इसमें थोड़ा-सा मोसम्मी का रस भी मिलाया जा सकता है।

क्षीरान्नादकालीन व्याधियाँ

अध्याय ४३

दन्तोद्भेदकालीन व्याधियाँ

(Diseases Due to or During the Period of Dentition)

दाँत निकलने की अवधि में अधिकांश बच्चों को अनेकानेक प्रकार के रोगों से पीड़ित होते हुए देखा जाता है। इनका वर्णन करते हुए वाग्भट ने कहा है—

दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतम्। विशेषेण तु तन्मूला ज्वरशिरोऽभिताप-तृष्णाभ्रमाभिष्यन्दकुकूणकपोथकीवमथुकासश्वासातिसारविसर्पाः।

—अ. सं. उ. २।१९

बच्चों में दाँतों का निकलना सभी रोगों का आयतन है। इस अवधि में बालक विशेषरूप से ज्वर, सिर-दर्द, प्यास, चक्कर आना, आँखों का दुखना, कुकूणक, पोथकी, वमन, कास, श्वास, अतिसार, विसर्प आदि से पीड़ित होता है। दन्तोद्भवनकाल में उत्पन्न होने के कारण ही इन्हें दन्तोद्भवजन्य व्याधियाँ या दन्तोद्भेदगत की संज्ञा दी जाती है। इन्हें प्रायः एक लक्षण-समूह के रूप में देखा गया है।

जब बच्चे के दाँत निकलने को होते हैं तब उसके मुँह से लार अधिक आने लगती है। मसूढ़े सूज जाते हैं। उनमें पीड़ा तथा तनाव की अनुभूति होती है। बच्चा चीजों को मसूढ़ों से दबाने लगता है। इस अवधि में कुछ चिड़चिड़ाहट भी बढ़ जाती है। इन लक्षणों को दन्तोद्भवन का पूर्वरूप माना जाता है।

कुछ ऐसे ही विचार इस सम्बन्ध में डॉ॰ हर्चिसन ने भी प्रकट किये हैं—

'Teething is often accompanicd by unpleasant symptoms in the young child. The gums may become hot, swollen and tender. The child is feverish, irritable and restless. Not infrequently the digesation is upset. There may be constipation and diarrhoea and spots may appear on the skin. Bronchitis is another possible complication and occasionally convulsions may arise in an unstable child.'

छोटे बच्चों में दन्तोद्भवन-काल में प्रायः अनेक प्रकार के अरुचिकर लक्षण देखे जाते हैं। मसूढ़े गर्म, शोथयुक्त तथा स्पर्शासह्य हो सकते हैं। बच्चा ज्वर-

ग्रस्त, चिड़चिड़ा और बेचैन हो सकता है। प्रायः उसमें पाचन-सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वह मलावरोध या अतिसार से ग्रस्त हो सकता है। उसकी त्वचा पर चकत्ते-से दिखलायी पड़ सकते हैं। अस्थिर स्वभाव के बच्चों में श्वसनीशोथ औरे आक्षेप भी संभावित उपद्रवों के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

उक्त उपद्रवों में प्रायः ज्वर, वमन, अतिसार और कास अधिकांश बच्चों में देखने को मिलते हैं। आगे संक्षेप में इन्हीं की चर्चा की जा रही है—

ज्वर—दन्तोद्भवनकाल में ज्वरभाव एक सामान्य उपद्रव है। पर किसी-किसी बच्चे में जब भी कोई दाँत निकलने को होता है तो उसे तेज बुखार हो जाता है और दाँत निकलने के बाद स्वतः शान्त भी हो जाता है।

अतिसार—दन्तोद्भवनकाल में अतिसार भी एक सामान्य उपद्रव है। ऐसे में मल पतला तो जरूर होता है पर उसका रंग सामान्य होता है। उसमें अनपचा अंश प्रायः नहीं होता। इस अतिसार से बच्चे के भार में भी कमी नहीं आती। भोजन में परिवर्तन का भी उस पर कोई असर नहीं देखा जाता। यह अतिसार भी दाँत निकल आने पर प्रायः स्वतः शान्त हो जाता है।

कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि दन्तोत्पत्ति के समय अतिसार एक स्वाभाविक एवं लाभप्रद प्रक्रिया है। इसे रोका नहीं जाना चाहिए। उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं है। बच्चों में अतिसार एक ऐसा रोग है जिसकी ओर से सतत सावधान रहना जरूरी है। उसकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अत्यधिक बढ़ जाने पर यह घातक सिद्ध हो सकता है। अतः एक सीमा से बढ़ने पर इसका उपचार आवश्यक है।

वमन—दन्तोद्भवन के उपसर्ग के रूप में यह लक्षण प्रायः उन बच्चों में अधिक प्रकट होता है जो दूध के साथ-साथ ठोस खाद्य भी ले रहे होते हैं। मसूढ़ों की सूजन और स्पर्शाक्षमता के कारण वह उसे ठीक से चबा नहीं पाते और प्रायः यूँ ही निगल जाते हैं। फलतः वह पचता नहीं और वमन के रूप में बाहर आ जाता है। ऐसे में उनकी वमन में अनपचे ठोस भोजन का अंश ही अधिक निकलता है। यह वमन भी दन्तोद्भेद के बाद स्वतः शान्त हो जाता है।

कास—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस अवधि में बच्चे को प्रायः लालास्राव अधिक होता है। जाग्रतावस्था में यह स्वाभाविक रूप से मुँह के बाहर आता रहता है। परन्तु सो जाने पर, चाहे दिन हो या रात, वह स्राव

बाहर नहीं निकल पाता । फलतः मुँह में ही एकत्रित होकर गले में जाकर स्वरयन्त्र के मुख को अवरुद्ध कर देता है। बच्चे को बेचैनी होने लगती है। खाँसी उस स्राव को बाहर निकालने के लिए ही उपसर्ग के रूप में प्रकट होती है।

दन्तोद्भवन-काल में उत्पन्न आक्षेप, पामा, शीतपित्त आदि प्रायः अन्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। आक्षेप प्रायः उन्हीं बच्चों में देखे जाते हैं जो रिकेट या अन्य किसी प्रकार की मानसिक दुर्बलता या विकृति से पीड़ित होते हैं।

दन्तोद्भेदगत के अन्तर्गत इन सभी उपसर्गों को प्रायः एक ही लक्षण-समूह के रूप में देखा जाता है और उसी के अनुरूप उनकी चिकित्सा भी की जाती है। कोई उपसर्ग जब अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है, तब उसकी पृथक् से चिकित्सा आवश्यक हो जाती है।

उपचार

वाग्भट ने दन्तोद्भेदकालीन उपसर्गों के उपचार की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने लगानेवाली और खाने वाली दोनों ही प्रकार की औषधियों का उल्लेख किया है।

मसूढ़ों पर लगाने-मलने वाली औषधियाँ—

१. पिप्पली का चूर्ण और मधु ।

२. घाय के फूल, आँवलें का चूर्ण और मधु ।

३. कबूतर, बटेर या तीतर के शुष्क मांस का चूर्ण और मधु ।

खाने के लिए—बच, छोटी कँटेरी, बड़ी कँटेरी, पाठा, कुटकी, अतीस, मुस्ता तथा मधुर वर्ग की औषधियों (काकोल्यादिगण) से सिद्ध घृत। इसे वाग्भट ने अनुभूत कहा है।

विशिष्ट उपसर्गों पर विशिष्ट उपचार

वातज्वर में—१. देवदारु, मुस्ता, मुलेठी, मंजीठ तथा मिश्री से सिद्ध क्वाथ ।

२ भद्रदारु, मुस्ता, मुलेठी, बिदारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, सोंठ, मिर्च, भारंगी, बिच्छू-बूटी, शतावरी—इनके क्वाथ से सिद्ध घृत। पिलाने के साथ-साथ इसका अभ्यंग भी करना चाहिए।

पित्तज्वर में—१. लाज (धान का लावा या खील), नीमकमल, पिप्पली, मुलेठी, अंजन (रसांजन या रसौत), शर्करा—इनका चूर्ण मधु के साथ।

२. लाजा, पिप्पली तथा गजपीपल का क्वाथ मधु एवं मिश्री मिलाकर। उक्त दोनों ही योग ज्वर के साथ-साथ अतिसार, प्यास और वमन को भी शान्त करते हैं।

कफज्वर—१. रास्ना, इलायची, तगर, अग्निमंथ, मीठा सहिजन, देवदारु, वेल, कूठ, वरणा, हरेणु तथा सौंफ—इनका चूर्ण मधु के साथ तथा इनसे सिद्ध तैल का अभ्यंग।

२. मुलेठी, त्रिकुटा, वच, पिप्पलीमूल, लाजवन्ती, वरगद आदि क्षीरीवृक्षों से सिद्ध घृत मधु के साथ। यह अग्निदीपक भी है।

अतिसार, तृष्णा और वमन—पित्तज्वर में वर्णित योग संख्या १ और २।

३. प्रियंगु, रसांजन, मोथा—इनका चूर्ण चावल के धोवन में मधु मिलाकर।

४. वेल की मज्जा, गजपिप्पली, धातकी, लोध्र तथा खस—इनके चूर्ण में मधु मिलाकर।

५. त्रिफला, धातकीपुष्प, पद्माख, कच्ची वेलगिरी तथा श्योनाक से सिद्ध घृत। योग संख्या ४ तथा ५ विशेष रूप से अतिसारनाशक हैं।

आमातिसार तथा रक्तातिसार—गजपिप्पली या देवदारु के चूर्ण को शर्करा के साथ।

सिर-दर्द—शीत प्रलेप घी मिलाकर लगायें।

कैथ, चांगरी, वेर और मकोय के पत्तों का लेप। यह लेप वमन और अतिसार में भी लाभ करता है।

कुकूणक और पोथकी—इन रोगों का विशिष्ट उपचार करें।

आँख के अन्यान्य रोगों—नेत्राभिष्यन्द आदि में—

१. मैनसिल, शंखनाभि, पिप्पली तथा मुलेठी—इनको मधु के साथ घिस कर आँखों में अंजन के समान लगायें।

२. पिप्पली, चावल, मूँग, चमेली की कलियाँ, जौ तथा नीलकमल की पत्तियाँ—इनको पीसकर बत्ती बनाकर आँखों में लगायें।

कुछ सामान्य योग

पटोलनिम्बकुटजसप्तपर्णं सदीप्यकम्।
देवदारुविडङ्गानि सरलो माक्षिकं घृतम्॥
लीढं ज्वरमतीसारं कासं पाण्ड्वामयं वमिम्।
हन्याच्च मातृकादोषान् रोगानन्यांश्च तद्विधान्॥

—अ. सं. उ. २।४९-५०

परवल, नीम, कुटज, सप्तपर्ण, अजवायन, देवदारु, विडंग, सरल काष्ठ के

चूर्ण को मधु और घृत के साथ चटाने से ज्वर, अतिसार, कास, पाण्डु, वमन, माता के दूधजन्य दोष तथा अन्य रोग भी नष्ट होते हैं।

रजनी दारु सरलश्रेयसी बृहतीद्वयम्।
पृश्निपर्णी शताह्वा च लीढं माक्षिकसर्पिषा॥
ग्रहणीदीपनं श्रेष्ठं मारुतस्यानुलोमनम्।
अतीसारज्वरश्वासकामलापाण्डुकासजित्॥
बालस्य सर्वरोगेषु पूजितं बलवर्णदम्।

—अ. सं. उ. २।५४-५५

हल्दी, देवदारु, सरल काष्ठ, गजपिप्पली, कँटेरी, बड़ी कँटेरी, पृश्निपर्णी तथा सौंफ—इनका चूर्ण मधु और घृत के साथ चटाने से बालक की अग्नि दीप्त होती है और वायु का अनुलोमन होता है। यह अतिसार, श्वास, ज्वर, कामला, पाण्डु तथा कास को नष्ट करता है। यह बालकों के सभी रोगों में लाभदायक तथा बल एवं वर्ण को देने वाला है।

पथ्यासौवर्चलक्षारवेल्लव्योषाग्निहिङ्गुभिः।
तिक्तया च घृतं सिद्धं समक्षीरं व्यपोहति॥
शूलानाहगुदभ्रंशश्वासकासविलम्बिकाः। —वही, २।५८

हरड़, सौवर्चल, यवक्षार, विडंग, त्रिकटु, चित्रक, हींग तथा कुटकी—घी में समभाग दूध मिलाकर इनसे सिद्ध घृत शूल, आनाह, गुदभ्रंश, श्वास, कास विलम्बिका आदि रोगों को नष्ट करता है।

समङ्गाधातकीलोध्रकुटन्नटबलाद्वयैः।
महासहाक्षुद्रसहामुद्गबिल्वशलाटुभिः॥
सकार्पासीफलैस्तोये साधितैः साधितं घृतम्।
क्षीरमस्तुयुतं हन्ति शीघ्रं दन्तोद्भवोद्भवान्॥
विविधानामयानेतद्वृद्धकाश्यपनिर्मितम्। —वही, २।६०

मंजीठ, धातकीपुष्प, लोध्र, कुटन्नट (केवटीमोथा अथवा स्योनाक), बला, अतिबला, महासहा (शालपर्णी), क्षुद्रसहा (मासपर्णी), मुद्गपर्णी, कच्चा बेल तथा कपास के फल—इनके क्वाथ में दूध और मस्तु (दही का पानी या कांजी) से सिद्ध घृत दन्तजन्य रोगों को नष्ट करता है। यह अनेक रोगों को दूर करने वाला है।

आधुनिक चिकित्सा-क्रम

बच्चे के मसूड़ों पर केवल मधु, मधु में यवक्षार या सुहागे की खील मिलाकर उससे मालिश करें। खाने के लिए इस सम्बन्ध में आयुर्वेद का सबसे

प्रसिद्ध योग दन्तोद्भेदगदान्तक रस है। इसका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

दन्तोद्भेदगदान्तक रस

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
अजमोदायमानीभ्यां निशया मधुकेन च ॥
दारुदार्वीविडङ्गैलानागकेशरनीरदैः ।
शटीशृङ्गीविडैर्व्योम्ना शङ्खायोहेममाक्षिकैः ॥
विधाय पयसा पिष्टैर्वटिका वल्लसम्मिताः ।
दन्तघर्षेऽभ्यवहृतौ योजयेच्च प्रयोगवित् ॥
प्रयोगादस्य दन्तानां त्वरयोद्गमतो गदाः ।
ज्वराक्षेपातिसाराद्या निवर्त्तन्ते न संशयः ॥

—भैषज्यरत्नावली, वालरोगा० १६०-६२

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ, अजमोद, अजवाइन, हरिद्रा, मुलेठी, देवदारु, दारुहरिद्रा, वायविडंग, छोटी इलायची, नागकेसर, मोथा, कचूर, काकड़ासिगी, विड लवण, अभ्रकभस्म, शंखभस्म, लौहभस्म और स्वर्णमाक्षिकभस्म—एक-एक तोला लेकर श्लक्ष्ण चूर्ण बनाकर दूध अथवा जल के साथ खरल कर एक वल्ल (३ रत्ती) की गोलियाँ वना लें। इसी वटी को पानी के साथ घिसकर मसूढ़ों या दन्तपाली में लगाकर धीरे-धीरे घर्षण करने तथा मुख द्वारा सेवन करने से वच्चों के दाँत आसानी से और शीघ्र निकल आते हैं तथा दन्तोद्भेदजन्य रोग—यथा ज्वर, आक्षेप और अतिसार आदि नष्ट हो जाते हैं।

इसकी १–१ गोली दिन में दो वार जल या माता के दूध के साथ देनी चाहिए।

वच्चों के दन्तोद्भवन-काल में उनके मसूड़ों से एक प्रकार का विषमय रस उत्पन्न होता है। वच्चा उसे निगल जाता है। यह रस आमाशय में जाकर पाचन-क्रिया को विगाड़ देता है। यकृत् के निर्वल होने से जब आँतों में भी इस विषाक्त रस का पित्त द्वारा रूपान्तर नहीं हो पाता तो बच्चे को हरे-पीले तथा फटे-फटे दूध जैसे दस्त आने लगते हैं। इस विष के रक्त में पहुँच जाने पर ज्वरभाव उत्पन्न हो जाता है। वातनाड़ियों और वात-केन्द्रों के प्रभावित होने से आक्षेप आने लगते हैं। इन सब विकारों का मूल मसूढ़ों से स्रवित विषमय रस होता है। दन्तोद्भेदगदान्तक-रस आमाशय में उत्पन्न होनेवाले रसों और यकृत् से निकलने वाले पित्त की मात्रा को बढ़ाकर उसे

सबल बनाता है। इससे विषाक्त स्राव का रूपान्तर हो जाता है और वह ज्वर, अतिसार या आक्षेप आदि विकारों को जन्म देने में समर्थ नहीं हो पाता।

दन्तोद्भेदगदान्तक-रस के अतिरिक्त कनकसुन्दररस, मुक्तादिवटी, रस-पिपरी तथा कुमारकल्याण-घृत भी दन्तोद्भव रोगों पर अच्छा काम करते हैं।

किसी भी उपसर्ग के विशेषरूप से बढ़ जाने पर उसकी उस रोग के अन्तर्गत वर्णित चिकित्सा करनी चाहिए।

आनुषंगिक उपाय

१. बालक तथा माता की खुराक में कैल्शियम तथा विटामिन पर्याप्त मात्रा में दें।

२. बालक के मसूढ़े टीसते रहते हैं। उसको कोई कड़ी वस्तु चूसने के लिए दें। यह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिससे उसके मसूढ़ों को क्षति न पहुँचे। साथ ही यदि वह उसका रस निगल भी जाय तो उसे कोई हानि न हो। मुलेठी का टुकड़ा इसके लिए सर्वोत्तम है। इसका चिकित्सात्मक मूल्य भी है। कड़ी चीज चबाने से बालक की हन्वास्थि उपचित हो जाती है, जिससे उसकी दाँतों की पंक्तियाँ सुन्दर निकलती हैं।

३. बालक को तरल पदार्थ पर्याप्त मात्रा में दें।

४. मलावरोध न होने पाय, इस बात का पूरा ध्यान रखें।

५. कुछ लोग इस अवधि में मसूढ़ों में हल्का चीरा लगाने की राय देते हैं ताकि दाँत आसानी से निकल आयें। लेकिन यह श्रेयस्कर नहीं है। इससे दाँतों में विकृति आ जाती है तथा पूतिता (Sepsis) का भी भय रहता है।

६. दाँतों और मुख की सफाई का पूरा ध्यान रखें। ३-४ वर्ष का हो जाने पर उसकी स्वतः दातुन अथवा ब्रश करने की आदत डालें। दातुन कड़ी हो तो उसे भिगोकर नरम कर दें तथा उसके सिरे को किसी चीज से कूटकर उसकी कूची बना दें। उसे जो मंजन या पेस्ट दें वह न केवल सुस्वादु और रुचिकर हो, बल्कि उसमें कोई तीखी चीज न पड़ी हो। इसके लिए दशन-संस्कार मंजन सर्वोत्तम है।

दशन-संस्कार मंजन—

सोंठ, बड़ी हरड़ का छिलका, मोथा, कत्था, कपूर, सुपारी की अन्तर्धूम भस्म, काली मिर्च, लौंग तथा दालचीनी—प्रत्येक समभाग, शुद्ध खड़िया मिट्टी सबके बराबर—इन सबको अलग-अलग बारीक पीस, कपड़छन कर मिला लें। इस मंजन को दाँतों पर मल कर कुल्ला करने से दाँत तथा मसूढ़े स्वस्थ बने रहते हैं।

अध्याय ४४

कुकूणक एवं तालुकण्टक

कुकूणक

कुकूणक या कुक्कुणक बच्चों के नेत्रवर्त्म या पलक (Eye-lids) में उत्पन्न होने वाला एक रोग-विशेष है, जो आयुर्वेद के अनुसार दूषित स्तन्य के पान करने से होता है। इसके लक्षणों का वर्णन करते हुए काश्यप ने कहा है—

अभीक्ष्णमस्रं स्रवते न च क्षौवति दुर्मनाः ।
नासिकां परिमृद्‌गाति कर्णं वाञ्छति दुःखितः ॥
ललाटमक्षिकूटं च नासां च परिमर्दति ।
नेत्रे कण्डूयतेऽभीक्ष्णं पाणिना चाप्यतीव तु ॥
स प्रकाशं न सहते अश्रु चास्य प्रवर्तते ।
वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुक्कुणकम् ॥

—काश्यप-खिल० १३।९-११

आँखों से निरन्तर पानी बहते रहना, छींक न आना, मन का अप्रसन्न एवं दुखी रहना, नाक-कान को बराबर कुरेदते रहना, मस्तक, आँख तथा नाक को मसलना, आँखों में अत्यधिक खुजली, प्रकाश को न सहन कर सकना, आँसुओं का बहते रहना तथा नेत्रवर्त्म में शोथ—इन लक्षणों से युक्त रोग को कुकूणक समझना चाहिए।

सुश्रुत ने भी ७६ प्रकार के नेत्र-रोगों का वर्णन करने के बाद कुकूणक का पृथक् से वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा है कि यह रोग विशेष रूप से बालकों में ही उत्पन्न होता है—

षट्सप्ततिर्नयनजा य इमे प्रदिष्टा रोगा भवन्त्यमहतां महताञ्च तेभ्यः ।
स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः ॥

—सु० उ० १९।८-९

उन्होंने इनके लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

मृद्‌गाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं
नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम् ।
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रबद्धं, ... —सु० उ० १९।९

इस रोग के हो जाने पर बालक के नेत्रों में अत्यधिक खुजली होती है। फलस्वरूप वह बराबर अक्षिकूट, नासा और ललाट को मसलता या रगड़ता रहता है। ऐसा करते रहने से उसके वर्त्म में शोथ हो जाता है, जिससे वह आँखों को खोल नहीं सकता। सूर्य का प्रकाश उसके लिए असह्य होता है। उसकी आँखों से निरन्तर आँसू बहते रहते हैं।

निदान

सुश्रुत तथा काश्यप ने इसे माता के दूषित स्तन्य से उत्पन्न माना है—

प्रदुष्टदोषसंज्ञं तु यदा पिबति दारकः।
लवणाम्लनिषेवित्वान्मातापुत्रौ रसादिह ॥
आहारदोषात् तस्यास्तु बालस्यानन्नभोजिनः।
अनुप्रवेशादाक्षेपादुष्णसत्त्वावनादपि ॥
जायते नयनव्याधिः श्लेष्मलोहितसम्भवः।

—काश्यप–खिल० १३।६-८

माता के अपथ्य, कुपथ्य, परस्पर-विरोधी एवं विधि-विपरीत भोजन एवं सद्वृत के नियमों की अवहेलना से दूषित हुए दूध को जब शिशु पीता है तो वह माता के लवण एवं अम्ल रस के सेवन करने से उससे उत्पन्न हुए आहार-दोष से अन्न का सेवन न करने वाले अर्थात् मात्र दूध पर आश्रित रहने वाले शिशु में प्रवेश करके आक्षेप एवं उष्णता के कारण कफ तथा रक्त से उत्पन्न होने वाला नेत्र-रोग हो जाता है। सुश्रुत ने इसे कफ, वायु, पित्त और रक्त से उत्पन्न माना है—'स्तन्यप्रकोपं कफमारुतपित्तरक्तैः'।

वाग्भट ने कुकूणक को दन्तोद्भवजन्य रोग माना है—

कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः। —अ० हृ० उ० ८

आधुनिक रोगों से तुलना करते हुए इसे रोहेयुक्त वर्त्म (Trachomatic lids), नवजात शिशु के नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmia neonatorum) या पुटकी-नेत्रश्लेष्मलाशोथ (Follicular conjunctivitis) के समकक्ष दिखलाने का प्रयास किया गया है। इसके लक्षण कुछ-कुछ तीनों से मिलते हैं। परन्तु जब हम आचार्यों की इस बात की ओर ध्यान देते हैं कि यह रोग मात्र क्षीरप या क्षीरान्नाद-अवस्था में ही होता है तो यह नवजात शिशुओं के नेत्राभिष्यन्द के अधिक निकट मालूम होता है।

नवजात-नेत्राभिष्यन्द बालकों में उत्पन्न होने वाला एक भयंकर रोग है। पहले माना जाता था कि इसकी उत्पत्ति का कारण सूजाक का विष है।

प्रसवकाल में माता के प्रजनन-पथ में वर्तमान सूजाक का विष प्रजनन-पथ से बाहर आते हुए बच्चे की आँखों में लग जाता है और उसी से वे रोगग्रस्त हो जाते हैं। पर आधुनिक खोजों से लोग इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इसकी उत्पत्ति अन्य जीवाणुओं के फलस्वरूप भी हो सकती है, यथा—क्लेमाइडिया-आकुलो-जेनिटेलिस (Chlamydia Oculo-genitalis) तथा स्टैफिलोकॉकी (Staphylococci) पर अन्य जीवाणुओं से उत्पन्न होने पर यह उतना उग्र रूप नहीं धारण करता।

इससे पीड़ित होने पर बच्चा रोता है और कानों को खींचता है। प्रसव के दूसरे या तीसरे दिन उसके नेत्र सहसा शोथयुक्त हो जाते हैं। पलकें लाल एवं इतनी सूज जाती हैं कि बच्चा आँखों को खोल नहीं सकता। आँखों से पानी बहता है। पहले तो यह पतला होता है पर बाद में पीपयुक्त और गाढ़ा हो जाता है। बच्चा ज्वरग्रस्त हो जाता है। उसके कान के नीचे की रसायनी ग्रन्थि भी सूज जाती है। आँखों में इतनी भयंकर पीड़ा होती है कि बच्चा उनका स्पर्श करते ही रोने लगता है।

सामान्य या सौम्य आक्रमण होने पर एकाध सप्ताह के बाद रोग के लक्षणों में कमी आने लगती है। लेकिन यदि आक्रमण उग्रस्वरूप का हुआ तो कृष्णमण्डल (Iris) में पाक होकर उसमें घाव—स्वच्छमण्डलीय-व्रण (Corneal ulcer) हो जाता है। उचित चिकित्सा न की गयी तो स्वच्छ-मण्डल (Cornea) गलकर नष्ट हो जाता है। लैंस (Lens), नेत्र के अन्य भीतरी उपांग आदि गलकर बह जाते हैं। नेत्रों में गढ़ा पड़ जाता है। बालक की नेत्र-ज्योति सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है।

रोग-निर्णय के लिए नेत्रस्राव की परीक्षा की जाती है। उसमें पूयमेह के जीवाणुओं की उपस्थिति निस्संदिग्ध रूप से नवजात-नेत्राभिष्यन्द को प्रमाणित करती है।

कुकूणक की चिकित्सा

काश्यप ने निदान के अनुरूप ही कुकूणक के लिए निम्न चिकित्सा-सूत्र का उल्लेख किया है—

तस्य चिकित्सितं श्रेष्ठं व्याख्यास्यामि यथा तथा।
धात्रीं तु तस्य वामयेद्युक्तं चैव विपाचयेत् ॥
तस्या वान्तविरिक्ताया निर्दुह्य च स्तनावुभौ।
भोजनानि च सर्वाणि यथायुक्तं प्रदापयेत् ॥

पथ्यं भुञ्जीत खादेत विपरीतं च वर्जयेत् ।
प्रयता शुद्धवस्त्रा स्यादक्लिष्टाऽमलिना तथा ॥

—काश्यप-खिल० १३।१२-१४

बालक की धात्री को वमन करायें तथा युक्तिपूर्वक उसके दोषों का पाचन करें। वमन तथा विरेचन के वाद उसके दोनों स्तनों का दूध दोहन करके (ब्रीस्ट-पम्प आदि की सहायता से) निकाल दें। उसे पथ्यानुसार भोजन दें। अपथ्य का त्याग करायें। वह शुद्ध निर्मल वस्त्र धारण करे तथा प्रसन्न एवं साफ-सुथरी रहे।

ततो वर्त्मनि बालस्य निर्भुज्याथ प्रमृज्य च ।
निर्मुच्य रुधिरं दुष्टं कुर्याद्धीरोऽवसेचनम् ॥ —वही, १३।१५

उसके वाद बालक की आँखों को सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे खोलकर साफ करें। उनमें से दूषित रक्त निकाल कर पानी के छींटे दें।

इसके बाद आंखों में डालने, पलकों पर लेप करने, सेंकने आदि के अनेक योग दिये गये हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

१. भृङ्गराज के पत्ते और बेल के पत्तों को सुरामण्ड में पीसकर आश्च्योतन करें।

२. बेर के पत्तों के कल्क अथवा क्वाथ को मुलेठी के साथ मिलाकर मुँह पर लेप करें।

३. भृङ्गराज, नील, तुलसी, श्वेत सरसों तथा हल्दी के कल्क का पलकों पर लेप करें।

४. हल्दी की त्वचा और पिप्पली को सुरामण्ड में पीस, अंजनवर्ति वनाकर उपयोग में लायें।

५. पुण्डरीक, हल्दी, लोध्र, शर्करा और मधु में उष्ण जल मिलाकर आँखों का परिषेक करें।

६. बाँस के पत्ते, मुलेठी, सैंधव, लालकमल तथा नीलकमल—ईषद् उष्ण जल में मिलाकर परिषेक करें।

७. गिलोय के क्वाथ में कूट और गुड़ को पीसकर उसके जल से नेत्रों का परिषेक करें।

८. कैथ, बल्ल तथा खदिर, अथवा मुलेठी और दारुहरिद्रा को बकरी के दूध में पीसकर आश्च्योतन करें।

९. लोध तथा मुलेठी को पीसकर घी में भून लें। पश्चात् वस्त्र में बांधकर गिलोय के गर्म-गर्म क्वाथ में लटकाकर शुद्ध कर लें। यह प्रयोग अनेक नेत्ररोगों को नष्ट करने वाला है।

दो अन्य प्रयोग जो कुकूणक में गुणकारी पाये गये हैं, वे निम्न हैं—

१०. हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध, पुनर्नवा, सोंठ, छोटी कँटेरी तथा बड़ी कँटेरी—इन्हें जल के साथ पीसकर किंचित् उष्ण लेप करें।

११. सोंठ, मिर्च, पीपल, दालचीनी, मैनसिल, हरताल और करंज के बीज की गिरी—श्लक्ष्ण चूर्ण कर बालकों की पलकों में अंजन करें।

तालु-कण्टक
(Depression of Fontanelles)

यहाँ तालु शब्द शिरस्तालु या बच्चे के सिर पर पाये जानेवाले कोमल गढ़े कलान्तराल (Fontanelles) का वाचक है। मुख्यरूप से इसी के रोगग्रस्त हो जाने के कारण इस रोग का नाम तालु-कण्टक रखा गया है। इसका वर्णन करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—

> तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम्।
> तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ —अ० सं० उ० २।११५

कुपित हुआ कफ तालुमांस में तालुकण्टक नामक रोग को उत्पन्न करता है। इसमें तालु-प्रदेश नीचे की ओर झुक जाता है। इसके लक्षणों का वर्णन करते हुए उन्होंने आगे कहा है—

> तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम्।
> तृडास्यकण्ड्वक्षिरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ —वही, २।११६

तालुकण्टक के लक्षण—तालु का नीचे गिरना, स्तनद्वेष, कठिनाई से स्तनपान करना, मल का पतला होना, प्यास, मुखरोग, कण्डू, नेत्रों का पीड़ित होना, गर्दन को कठिनाई से सीधा रख पाना तथा वमन।

तालुकण्टक एवं तालुपात

सुश्रुत ने तालुपात का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

> मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत्।
> तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥
> पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा। —सु० शा० १०।४२

बालक के कपाल में दो तालु होते हैं—अग्र तालु (Anterior fontanelles) और पश्चतालु (Posterior fontanelles)। अग्रतालु सिर में

ऊपर की ओर और पश्चतालु पीछे की ओर होता है। पीछे का तालु जन्म के वाद शीघ्र ही भर जाता है। पूर्वतालु के भरने में लगभग डेढ़ वर्ष का समय लगता है।

बाल्यावस्था में जब तक यह तालु बन्द नहीं हो जाता, इससे बच्चे के स्वास्थ्य, मस्तिष्क के विकारों तथा हृदय-स्पन्दन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती रहती हैं। अतिसार, प्रवाहिका, वमन तथा अन्य क्षीणता-जनित विकारों में इसमें निम्नता (Depression) आ जाती है। यह नीचे की ओर झुक जाता है। शोफ, फक्क अथवा रिकेट से पीड़ित बच्चों में यह देर से भरता है।

मस्तिष्कावरणशोथ तथा मस्तिष्क के अर्बुद जैसे विकारों में यह तनाव-ग्रस्त और ऊपर को उठा हुआ प्रतीत होता है।

ऊपर के उद्धरण में सुश्रुत ने कहा है कि मस्तुलुंग के क्षय के कारण शिशु की तालु-प्रदेश की हड्डी नीचे की ओर आ जाती है। बालक तृषा और दीनता से युक्त हो जाता है।

मस्तुलुंग प्रमस्तिष्क (Brain) का वाचक है। मस्तिष्क के चारों ओर आवरण के भीतर एक प्रकार का जलीय पदार्थ भरा रहता है। ऐसे सभी रोगों में जिसमें निर्जलीभवन (Dehydration) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, मस्तिष्क के जल में भी कमी आ जाती है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा हो जाता है। सिर के अन्य स्थानों पर अस्थियों के कारण इसका पता नहीं चलता, परन्तु तालु-प्रदेश में अस्थियों के होने के कारण उसमें निम्नता आ जाती है। उक्त उद्धरण में वस्तुतः मस्तुलुंगक्षय से मस्तुलुंगजक्षय ही समझना चाहिए।

तालु की निम्नता का आन्तरिक कारण मस्तिष्क के जलीय अंश का क्षय और बाह्य कारण वायु का दबाव है। हमारे शरीर पर बाहर की वायु का बहुत दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव या अस्थियों का आवरण होने के कारण हमें उसका पता नहीं चल पाता। शरीर में जहाँ पर भी पोलापन या निर्वात स्थिति मिल जाती है, बाहर का वायु उस स्थान को दबाता है। फुप्फुसक्षयजन्य यक्ष्मा में भी जब फुप्फुस अन्दर से विवरयुक्त हो जाते हैं तब बाहर की वायु का दवाव पड़ने से पर्शुकान्तरीय स्थान भीतर की ओर धँस जाते हैं। अक्षक (हंसली की हड्डी) के ऊपर और नीचे दोनों ओर गढ़े-से पड़ जाते हैं। ठीक इसी प्रकार मस्तिष्क के जल के क्षय हो जाने पर बालकों का तालु भी नीचे की ओर बैठ जाता है।

तालुपात की स्थिति में रोगी-शिशु की दशा बड़ी ही शोचनीय हो जाती है। उसका शरीर कृश एवं क्षीण हो जाता है। मांसपेशियाँ पिलपिली हो जाती हैं। आखें, गाल और पेट भीतर को धँस जाते हैं। वेचैनी बढ़ जाती है। वह प्यास से व्याकुल होने लगता है।

कुछ लोग तालुकण्टक और तालुपात को एक ही या एक ही कोटि का रोग मानते हैं, जैसा कि रसरत्नसमुच्चय के निम्न उद्धरण से प्रकट होता है—

श्लेष्मा हृत्तालुमांसस्थः करोति कुपितः शिशोः।
तालुकण्टकमेतेन तालुस्थाने च निम्नता॥

कुछ लोग दोनों को अलग-अलग रोग मानते हैं। उनके अनुसार तालुपात तालुकण्टक का एक लक्षण है।

कुछ विद्वानों ने तालुकण्टक को आधुनिक एडिनॉयड (Adenoids) के समकक्ष और कुछ ने इसे एक प्रकार का थृश (Thrush) माना है।

तालुकण्टक की चिकित्सा

तत्रोत्क्षिप्य यवक्षारक्षौद्राभ्यां प्रतिसारयेत्।
तालु तद्वत् कणाशुण्ठीगोशकृद्रससैन्धवैः।
शृङ्गवेरनिशाकुष्ठं कल्कितं वटपल्लवैः॥
बध्वा गोशकृता लिप्तं कुकूले स्वेदयेत्ततः।
रसेन लिम्पेत्तात्वास्यं नेत्रे च परिषेचयेत्॥
हरीतकीवचाकुष्ठकल्कं माक्षिकसंयुतम्।
पीत्वा कुमारः स्तन्येन मुच्यते तालुकण्टकात्॥

अ० सं० उ० २।११७-१९

तालु को ऊपर उठाकर उस पर यवक्षार और मधु अथवा पिप्पली, सोंठ, गोबर के रस और सैंधा नमक से प्रतिसारण करें-मलें।

अदरख, हल्दी और कूठ के कल्क को बरगद के कोमल पत्तों में बांधकर, उस पर गोबर का लेप चढ़ाकर तुष या उपलों की आग में स्वेदन करें। फिर इसको निचोड़कर रस निकालें। इस रस का तालु और मुख पर लेप करें और नेत्रों में भी डालें।

हरड़, वच और कूठ—इनके कल्क को मधु या माता के दूध के साथ पिलायें। इसे पीकर बच्चा तालुकण्टक रोग से मुक्त हो जाता है।

इसी योग को भैषज्यरत्नावली में तालुपात में भी देने को कहा गया है—

हरीतकीवचाकुष्ठकल्कं माक्षिकसंयुतम् ।
पीत्वा कुमारः स्तन्येन मुच्यते तालुपातनात् ॥
भै० र०, वालरोगा० ७९

सुश्रुत ने तालुपात में वालक को मधुरगण की औषधियों से सिद्ध घृत को पान कराने, उसी का अभ्यंग और ठण्डे जल से वालक को उद्वेलित करने की बात कही है। मधुरगण की औषधियाँ बलकारक एवं जीवनीय होती हैं। आँखों तथा चेहरे पर ठण्डे पानी के छींटे देने से चेतनता आती है।

सर्वांगसुन्दररस भी इसमें उपयोगी पाया गया है।

अध्याय ४९

कृमि, छर्दि, अजीर्ण एवं मृद्भक्षणजन्य पाण्डु

कृमि

सुश्रुत ने तीन प्रकार के कृमियों का उल्लेख किया है—कफ से उत्पन्न होनेवाले, पुरीष से उत्पन्न होनेवाले तथा रक्त से उत्पन्न होनेवाले। ये क्रमशः आमाशय, पक्वाशय तथा धमनियों में उत्पन्न होते हैं। इनमें से बालकों में पुरीषजन्य कृमि ही अधिक पाये जाते हैं।

पुरीषजन्य कृमि सात प्रकार के होते हैं—अजवा, विजवा, किप्य, चिप्य, गण्डूपद, चुरु और द्विमुख। इनके स्वरूप का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने आगे कहा है—

श्वेताः सूक्ष्मास्तुदन्त्येते गुदं प्रतिसरन्ति च।
तेषामेवापरे पुच्छैः पृथवश्च भवन्ति हि॥
शूलाग्निमान्द्यपाण्डुत्वविष्टम्भबलसङ्क्षयाः।
प्रसेकारुचिहृद्रोगविड्भेदास्तु पुरीषजैः॥ —सु० उ० ५४।९-१०

ये कृमि वर्ण में श्वेत तथा सूक्ष्म आकृतिवाले होते हैं। ये जहाँ पर होते हैं काटने की-सी पीड़ा करते हैं। इनकी गति गुदा की ओर होती है। इनमें से कुछ पूंछ पर चिपटे होते हैं। ये पुरीषजन्य कृमि शूल, अग्निमांद्य, पाण्डु, मलावरोध, बल का क्षय, लालास्राव, अरुचि, हृदयरोग तथा अतिसार को उत्पन्न करते हैं।

रक्ता गण्डूपदा दीर्घा गुदकण्डूनिपातिनः।
शूलाटोपशकृद्भेदपक्तिनाशकराश्च ते॥ —वही, ५४।११

इनमें से गण्डूपदकृमि लाल रंग का, लम्बा तथा केंचुए के आकार का होता है। यह गुदा में खुजली पैदा करता है। शूल, आटोप तथा अतिसार को उत्पन्न करनेवाला तथा पाचकाग्नि को नष्ट करनेवाला होता है।

इनसे उत्पन्न होनेवाले उपसर्गों का और भी विस्तार से वर्णन करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः।
वृद्धास्ते स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः॥

तदाऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः ।
ते पञ्च नाम्ना कृमयः ककेरुकमकेरुकाः ॥
सौसुरादाः सलूनाख्या लेलिहा जनयन्ति च ।
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः ।
रोमहर्षाग्निसदनगुदकण्डूर्विनिर्गमात् ॥

—अ० सं० नि० १४।५५-५८

पुरीषज कृमि पक्वाशय में उत्पन्न होकर नीचे गुदा की ओर गति करते हैं। बहुत बढ़ जाने पर आमाशय की ओर मुख कर लेते हैं। तब रोगी की डकारों एवं सांस से मल की-सी गन्ध आने लगती है।

ये आकार में चपटे, गोल, पतले और मोटे होते है। रंग भूरा, पीला, सफेद या काला होता है। इनके पाँच नाम हैं—ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सलून तथा लेलिह।

इनका कार्य मलभेद, शूल, विष्टम्भ, कृशता, परुषता तथा पाण्डु को उत्पन्न करना है। ये रोमहर्ष, अग्निमांद्य, गुदा में कण्डू उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी गुदा के बाहर भी निकल आते हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में निम्न पाँच प्रकार के परजीवी या कृमियों की कल्पना की गयी है—अमीबा (Amoeba), जियार्डिया (Giardia), गोल-कृमि (Round-worm), सूत्र-कृमि (Thread-worm) तथा अंकुश कृमि (Hook-worm)। आगे संक्षेप में इनका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

अमीबा—अमीबा से उत्पन्न रोग को अमीबियेसिस (Amoebiasis) या अमीबिक जन्तुबाधा या अमीबिक इन्फेस्टेशन (Amoebic Infestation) कहते हैं। यह आँतों की एक व्यापक बीमारी है। यद्यपि इसका पता लगाना कठिन होता है। अमीबा अमीबायुक्त भोजन-सामग्री (प्रायः कच्ची या अधपकी) के साथ आँतों में प्रवेश कर अमीबियेसिस को उत्पन्न करता है। इसके फलस्वरूप पेट में हलका-हलका दर्द, मल का ढीला होना, मल में श्लेष्मा तथा रक्त की उपस्थिति तथा मलावरोध आदि उपसर्ग पैदा हो जाते हैं। कभी-कभी अमीबा यकृत् में पहुँचकर अमीबाजन्य यकृत्शोथ (Amoebic hepatitis) को उत्पन्न कर देता है। कभी-कभी इसमें व्रण भी उत्पन्न हो जाता है जो रोगी के लिए बड़ा ही कष्टकारक होता है। इसी प्रकार अमीबा फेफड़ों या शरीर के अन्य अंगों में पहुँचकर उन्हें भी रोगग्रस्त बना दे सकता है। पर अधिकांशतः इनका प्रभाव आँतों तक ही सीमित रहता है। मल-परीक्षा में

भी ये बड़ी मुश्किल से पकड़ में आते हैं। प्रायः कई-कई बार परीक्षा करनी पड़ती है।

जियार्डिया—इसका संक्रमण हमारे देश में बहुतायत से पाया जाता है। वह भोजन, जल, मक्खियों तथा यूँ भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैल जाता है। एक समय था कि जब चिकित्सक इसे हानिरहित मानते थे। लेकिन अब वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इनकी उपस्थिति भी प्राणी के लिए कष्ट-दायक हो सकती है। इससे ग्रस्त बच्चे प्रायः अतिसार का शिकार हो जाते हैं और उन्हें अनपचा, दुर्गन्धयुक्त तथा अधिक मात्रा में मल होने लगता है। यह ठीक होता है और फिर हो जाता है। मल-परीक्षा में यह आसानी से पकड़ में आ जाता है।

गोल-कृमि—इस कृमि की लम्बाई २० से २५ सेन्टीमीटर तक होती है। यह प्रायः गुदा के रास्ते और कभी-कभी मुँह के रास्ते भी बाहर निकल आता है। इनके अण्डे जल्दी नष्ट नहीं होते और मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं। जहाँ बच्चे खुले स्थानों पर मल त्याग करते हैं और जहाँ गन्दगी रहती है, वहीं यह रोग अधिक फैलता है। इसका संक्रमण बिना धोई, बिना पकी भोज्य सामग्री, पेय जल, अथवा यूँ भी गन्दी जगहों पर खेलते हुए बच्चों को लग सकता है।

इससे ग्रस्त बच्चों में प्रायः निम्न उपसर्ग देखे जाते हैं—जी मिचलाना, अरुचि, अग्निमांद्य, भार में कमी, ठीक से नींद न आना तथा कभी-कभी पेट में तेज दर्द। लेकिन ये उपसर्ग जल्दी प्रकट नहीं होते। मल-परीक्षा से ही इसकी उपस्थिति का ज्ञान होता है।

सूत्र-कृमि—ये छोटे-छोटे, तागों के समान महीन तथा लम्बाई में ३ से लेकर १५ मिलीमीटर तक लम्बे होते हैं। इनकी मादा मल से अलग होकर गुदद्वार के पास ही अण्डे देती है। वहीं ये झुण्ड बनाकर रहते हैं। प्रायः बाहर भी निकल आते हैं। खुजलाते समय ये बच्चे के नाखूनों में आ जाते हैं। वहीं से ये खाने, कपड़े आदि में फैलते हैं। खाते समय पुनः बच्चे के पेट में पहुँच जाते हैं। इससे न केवल पुनः उस बच्चे में बल्कि परिवार के अन्य सदस्यों में भी वे कृमि पहुँच कर उनकी आँतों में अपना अड्डा जमा लेते हैं। इनका एकमात्र लक्षण गुदद्वार या लड़कियों के भगस्थान में खुजली या क्षोभ है। कभी कभी इस क्षोभ के फलस्वरूप ही बच्चा नींद में चौंक कर रोने लगता है।

अंकुश-कृमि—ये कृमि अपेक्षाकृत बड़े बच्चों और ग्राम-प्रदेश के निवासियों में ही अधिक पाये जाते हैं। इनकी लम्बाई एक से डेढ़ सेन्टीमीटर के

लगभग और मोटाई वाल के बराबर होती है। इनके माथे पर हुक की तरह के टेढ़े दो दाँत होते हैं। इसलिए इनको हुकवर्म के नाम से पुकारा जाता है।

मल त्याग करते समय इसके अण्डे मल के साथ ही निकल कर जमीन पर फैल जाते हैं। बच्चों के नंगे पैर खेलते समय या गंदी मिट्टी के सम्पर्क में आने से इनकी इल्लियाँ त्वचा के रास्ते उनमें प्रवेश कर जाती हैं। आँतों में पहुँच कर एक जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए ये ही कृमियों का रूप धारण कर लेती हैं।

ये आँतों में रहकर बच्चों का खून चूसने लगती हैं। यदि कृमियों की संख्या अधिक हुई और बच्चों को पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में न मिला तो शीघ्र ही इसके दुष्परिणाम प्रकट होने लगते हैं। बच्चे का रंग पीला पड़ जाता है। वह अनमना-सा और सुस्त नजर आने लगता है। रोग अधिक बढ़ा तो श्वासावरोध के लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं। बच्चा भोजन अधिक करता है, पेट चढ़ा रहता है और कै होती है। रोग पुराना हो जाने पर कै कई-कई दिन वाद होती है। उसका रंग श्याव तथा गंध तीखी खट्टी होती है।

इस रोग से ग्रस्त बच्चे के रक्त की परीक्षा कर उसमें हीमोग्लोबिन की कमी का और मल की परीक्षा कर हुक-वर्म की उपस्थिति का पता लगाया जा सकता है।

उपचार

१. प्याज का रस पिलाने से बच्चों के सूत्रकृमि नष्ट हो जाते हैं।

२. पेट पर वकायन या नीम की जड़ की छाल को पीस कर लेप कर दें। पेट के सारे कीड़ें निकल जायेंगे।

३. सुबह उठते ही २ तोले गुड़ खिला दें। १० मिनट विश्राम करने दें। पेट के कीड़े एक स्थान पर जमा हो जायेंगे। अब खुरासानी अजवाइन का चूर्ण ठण्डे पानी से तथा कबीला या बायविडंग अथवा दोनों का सम्मिलित चूर्ण गर्म जल से दें। पेट के सारे कीड़े मर जायेंगे या गुदा के रास्ते बाहर निकल जायेंगे।

४. पलाशपत्र-स्वरस तथा पलाश के बीजों का चूर्ण भी कृमियों को नष्ट करता है।

शास्त्रीय योग—वालार्क रस, कृमिघातिनी बटी, कृमिकुठार रस, विडंगादि लौह, विडंगादि चूर्ण, कुमार्यासव, विडंगारिष्ट।

पेटेण्ट योग—कृमिहर सीरप (वैद्यनाथ), कृमिहन एवं पिपराजिन सीरप (डाबर), क्रूमीनिल सीरप (चरक), ऐन्थिलसिन (मार्तण्ड) तथा कृमिघ्न कैपसूल (गर्ग वनौषधि भण्डार)।

छर्दि

काश्यप ने बच्चों में छर्दि के निम्न लक्ष वतलाये हैं—

अनिमित्तमभीक्ष्णं च यस्योद्‌गारः प्रवर्तते।
निद्राजृम्भापरीतस्य छर्दिस्तस्योपजायते॥ काश्यप-सूत्र० २५।१६

अकारण वार-वार डकार आना, निद्रा और जंभाई से यह समझ लेना चाहिए कि वच्चे को कै होनेवाली है।

वस्तुत: जी मितलाना या कै होना अपने आप में कोई रोग नहीं, बल्कि अन्य रोगों का एक लक्षण है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं।

प्रायः तीन महीने से कम उम्र के कुछ बच्चे दूध पीने के बाद कै कर देते हैं। दूध उनके मुँह और कभी-कभी नाक से भी निकल आता है। सम्भव है कि पेट के दब जाने के कारण उसने कै कर दी हो। कुछ को अक्सर और कुछ को कभी-कभी दूध पीने के बाद कुछ दूध उलटने की आदत-सी हो जाती है। इससे कोई हानि नहीं होती। यदि बच्चा सामान्य रूप से ठीक है, वह स्वस्थ एवं प्रसन्न लगता है, उसका भार सामान्य रूप से बढ़ता जा रहा है तो चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है।

कभी-कभी किसी (प्रायः सर्वप्रथम जन्मे) बच्चे में तीसरे और छठे सप्ताह के बीच दूध पीने के तुरन्त या कुछ देर के बाद प्रक्षेपक-छर्दि (Projectile vomitting) के लक्षण देखे जाते हैं। उसकी कै इतनी जोरदार होती है कि कै किया हुआ पदार्थ दूर जाकर गिरता है। साथ में ज्वर या अतिसार के कोई लक्षण नहीं दिखलाई देते। ऐसा बच्चा हो सकता है जठरनिर्गम-संकीर्णता का शिकार हो। उसका आमाशय से आँत में जाने वाला द्वार संकीर्ण हो। इस स्थिति में कोई दवा काम नहीं करती। मात्र आपरेशन द्वारा उस विकृति को ठीक किया जाना ही इसका इलाज है।

कुछ बच्चों को खांसी के दौरों के साथ कै होती है। जैसा कि प्रायः काली खांसी में देखा जाता है। कुछ को शरीर के अन्य भागों (जैसे कि टान्सिल या मध्यकर्ण) में संक्रमण के कारण भी कै होती है। कुछ कड़ी उम्र के बच्चे संवेगात्मक रूप से उत्तेजित या क्षुब्ध होने पर कै कर देते हैं। कुछ रोते-रोते कै कर देते हैं। कुछ इच्छा के विपरीत जबर्दस्ती खिलाये जाने पर कै कर

देते हैं। ऐसे सभी मामलों में कारण के अनुरूप ही उपचार की व्यवस्था करनी चाहिए।

पेट या आँतों में किसी प्रकार के संक्रमण के उत्पन्न हो जाने पर जो कै होती है, वह लगातार और प्रायः एक ही ढंग की होती है। साथ में बुखार, पेट में दर्द, अतिसार आदि के लक्षण भी उपस्थित हो जाते हैं। ऐसे में शीघ्र ही उपचार की आवश्यकता होती है अन्यथा अधिक कै हो जाने से बच्चे में निर्जलीभवन की स्थिति उत्पन्न हो जा सकती है।

आरम्भ में तो बच्चे को घण्टे भर में ४–५ कै हो जा सकती हैं। पहले अनपचे पदार्थ निकलते हैं और बाद में मात्र पतली कै होती है और उसमें थोड़ा-सा वर्णहीन पदार्थ निकलता है।

उसकी प्यास बढ़ जाती है। बराबर दूध या पानी माँगता है। लेकिन जो पीता है, तुरन्त कै कर देता है। कभी-कभी तो स्थिति यहाँ तक बिगड़ जाती है कि जो भी दवा दी जाती है उसे भी कै कर देता है।

यदि बच्चा आमतौर से कै करने का आदी नहीं है और एकबारगी जोरदार कै करता है तो तुरन्त उसका तापमान देखना चाहिए। बहुत से संक्रमण कै के साथ ही शुरू होते हैं। यदि तापमान सामान्य है और कै करने के बाद वह शान्त एवं सामान्य दिखलाई दे रहा है तो कोई चिन्ता की बात नहीं। यदि उसका तापमान बढ़ जाता है या उसे फिर कै आती है तो कारण का पता लगाना आवश्यक हो जाता है

उपचार

पीतं पीतं वमेद्यस्तु स्तन्यं तन्मधुसर्पिषा।
द्विवार्ताकीफलरसं पञ्चकोलञ्च लेहयेत्॥

—भैषज्य-बालरोगा० ४६

जो बालक स्तनपान करके बार-बार वमन कर देता हो उसे छोटी कंटकारी और बड़ी कण्टकारी के फलों का स्वरस या पंचकोल का चूर्ण असमभाग घृत और मधु में मिलाकर चटायें।

मिषिकृष्णाञ्जनं लाजा शृङ्गीमरिचमाक्षिकैः।
लेहः शिशोर्विधातव्यश्छर्दिकासज्वरापहः॥ —वही, ४४

सौंफ, पिप्पली, रसांजन, शालि धान्य का लावा, काकड़ासिंगी तथा काली मिर्च के चूर्ण को मधु के साथ चटाने से वमन, कास और ज्वर नष्ट होते हैं।

आम्रास्थिलाजसिन्धूत्थैर्लेहः क्षौद्रेण छर्दिनुत् । —वही, ४७

आम की गुठली की गिरी, धान के लावा और सेंधा नमक के चूर्ण को मधु के साथ चटाने से वमन बन्द हो जाती है।

पिप्पलीमरिचानां च चूर्णं समधुशर्करम् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य हिक्काच्छर्दिनिवारणम् ॥ —वही, ४८

पिप्पली और काली मिर्च के चूर्ण को मधु, शर्करा और जंबीरी नींबू के रस में घोलकर पिलाने से हिचकी और वमन ठीक हो जाती हैं।

छर्दिहर योग—बलार्करस, बालसंजीवन, चन्द्रशेखररस, बालबटी, बालचातुर्भद्रिका, एलादि चूर्ण, पंचकोल चूर्ण, सूतशेखर, कर्पूरासव तथा द्राक्षादि पानक।

पेटेण्ट योग—पोदीना हरा (डाबर), सूक्तिन (अलार्सिन), वोमीटैब (चरक)।

अजीर्ण

खायी हुई वस्तु का जीर्ण न होना, न पचना ही अजीर्ण कहलाता है। अजीर्ण प्रायः अग्निमांद्य की उपज होता है। अरुचि, वमन, शूल, आध्मान तथा अतिसार इसके उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

अजीर्ण से पीड़ित होने पर बच्चा सुस्त हो जाता है। जी मिचलाता है। मुँह से पानी आता है। जो भी खाता है उसी की डकार आती है। कभी-कभी पेट अफर जाता है। पेट में पीड़ा होती है। बेचैनी बढ़ जाती है। कभी-कभी पतला पाखाना होने लगता है। उसमें भोजन का अनपचा अंश होता है।

क्षीरप-अवस्था में अजीर्ण का कारण प्रायः स्तन्य की विकृति होती है। कभी-कभी आवश्यकता से अधिक दूध पिला देने या पहले पिलाये हुए दूध के पचने के पूर्व ही पुनः दूध पिला देने से भी अजीर्ण की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बच्चा फटे दूध के समान कै करने लगता है।

क्षीरान्नाद-अवस्था में स्तन्य की विकृति के साथ-साथ अन्न की विकृति भी अजीर्ण का कारण हो सकती है। अध्यशन, विषमाशन, असात्म्य पदार्थों का सेवन, अति गुरु, अति शीत, अति रूक्ष तथा अति स्निग्ध पदार्थों का सेवन, वेग-धारण, मानसिक उद्वेग तथा कृशकारी रोगों के बाद अग्नि का मंद हो जाना प्रायः अजीर्ण का कारण होता है। कभी-कभी देश, काल या ऋतु के वैषम्य के कारण भी बदहजमी हो जाती है।

चिकित्सा

१. चूने का पानी।

२. अजवाइन या सौंफ का अर्क अथवा क्वाथ मिश्री मिलाकर।

३. हरड़ और कालानमक पत्थर पर घिसकर।

४. यमानीपंचक—अजवाइन, श्वेतजीरा, लौंग, जायफल और विड नमक—इनका समभाग में चूर्ण अथवा चूर्ण को तवे पर हलका भूनकर, जल डालकर गाढ़ा होने तक पाक करें। फिर एक-एक रत्ती (१२५ मिलीग्राम) की गोलियाँ बना लें। मात्रा १ से ३ गोली तक।

५. बालार्करस, कुमारकल्याणरस, बालवटी, बालसंजीवन, संजीवनीबटी, बालचातुर्भद्रिका, लवणभास्करचूर्ण, रसपिपरी तथा शिवामोदक।

पेटेण्ट योग—इनफी (झण्डु), बालगुटी (झण्डु), बोनीसन (हि० ड्र० कं०), जन्मघुटी, शिशुसंजीवनी (ऊँझा), कुमारकल्याण घुटी (धन्वन्तरि), बालघुटी (ज्वाला), बालामृत, ग्राइप-वाटर तथा अर्क पोदीना (वैद्यनाथ), जन्मघुटी, पुदीना हरा, ग्राइप-वाटर (डाबर), ग्राइपको (मेहता), बाल-कण्डु (झण्डु या मेहता)।

यकृत्रोगों में उपयोग में आने वाले योग भी अजीर्ण में लाभदायक सिद्ध होते हैं। वमन, शूल, अतिसार आदि उपद्रवों की विशिष्ट चिकित्सा यथा-स्थान देखें।

मृद्भक्षणजन्य पाण्डु

मिट्टी खाने की आदत के कारण उत्पन्न पाण्डु को मृद्भक्षणजन्य पाण्डु कहते हैं। मिट्टी स्वयं तो पचती नहीं, अन्य खाये गये पदार्थों का भी पाचन एवं शोषण नहीं होने देती। इससे रस का निर्माण समुचित रूप में नहीं हो पाता। रस के अभाव में रक्त, मांस, मेद आदि धातुओं का पोषण भी नहीं होता। धातुओं का पोषण न होने से इन्द्रियों की कार्यक्षमता में कमी आ जाती हैं, शरीर का बल घटने लगता है और ओज की हानि होने लगती है। शरीर का रंग पीला पड़ जाता है।

निदान की विशिष्टता के कारण ही इस प्रकार के पाण्डु को आचार्यों ने एक अलग कोटि में रक्खा है। इसके लक्षणों का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है—

शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम्॥

—च० चि० १६।३०

मृत्तिकाजन्य पाण्डु में अक्षिकूट (Ocular margin), कपोल, भौंहें, पैर, नाभि तथा मूत्रेन्द्रिय में शोथ उत्पन्न हो जाता है। उदर में क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी रक्त एवं कफ से मिश्रित मल का त्याग करने लगता है।

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्षयेत्।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्योजसी तथा।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम्॥

—च० चि० १६।२७-२९

जो मिट्टी खाने के आदी हो जाते हैं उनमें मिट्टी की प्रकृति के अनुरूप ही दोष कुपित हो जाते हैं। यदि मिट्टी कसैली हुई तो वायु कुपित होगी, खारी हुई तो पित्त कुपित होगा और यदि मधुर हुई तो कफ कुपित होगा। साथ-ही-साथ रसादि धातुएँ भी दूषित हो जायेंगी। रूक्ष होने के कारण मिट्टी खाये हुए अन्न को भी रूक्ष बना देती है। सिराओं के मुखों को अवरुद्ध कर देती है। सिराओं का मुख अवरुद्ध हो जाने से रस का शोषण नहीं होता। फलतः अन्य धातुओं का भी पोषण नहीं हो पाता। इससे इन्द्रियों का बल, तेज, वीर्य और ओज नष्ट होता है। पाण्डु की उत्पत्ति होती है जो शरीर के बल, वर्ण और अग्नि को नष्ट करता है।

भावमिश्र ने पाण्डुरोग के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है—

मृद्भक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्राऽऽलस्यनिपीडितः।
सकासश्वासशूलार्त्तः सदाऽरुचिसमन्वितः॥

जिसे मिट्टी खाने के कारण पाण्डु रोग होता है, वह आलस्य एवं तन्द्रा से युक्त रहता है। खाँसी, दमा और शूल से पीड़ित रहता है। भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है।

शेष लक्षण भावमिश्र ने भी चरक के समान ही वर्णित किये हैं।

उपचार

सबसे पहले बच्चे की यत्नपूर्वक मिट्टी खाने की आदत छुड़ानी चाहिए अन्यथा कोई भी औषधि काम नहीं करेगी।

जब बच्चे घुटनों के बल चलने लगते हैं, तभी उन्हें इधर-उधर से उठाकर मिट्टी खाने की आदत पड़ जाती है। जहाँ बच्चा घुटनों के बल चलने लगे

उसे कभी-कभी थोड़ा-सा च्यवनप्राश चटा देना चाहिए। इसकी आदत पड़ जाने से उसे मिट्टी खाने की आदत नहीं लगेगी। च्यवनप्राश में स्वतः सभी रस वर्तमान होते हैं।

यदि मिट्टी खाने की आदत पड़ गयी हो तो मिट्टी में कटु एवं तिक्त रसों को मिश्रित कर उसे खाने को दें। बालक स्वतः मिट्टी खाना छोड़ देगा।

मिट्टी खाने से उत्पन्न पाण्डुरोग के शमनार्थं वृद्धवाग्भट ने निम्न योग का उल्लेख किया है—

पाठावेल्लद्विरजनीमुस्ताभार्ङ्गीपुनर्नवैः ।
सबिल्वत्र्यूषणैः सर्पिवृश्चिकालीयुतैः शृतम् ॥
लिहानो मात्रया रोगैर्मुच्यते मृत्तिकोद्भवैः ।

—अ० सं० उ० २।१४६

पाठा, वायविडंग, हलदी, दारुहलदी, नागरमोथा भारंगी, पुनर्नवा, बेलफल, त्रिकटु तथा काकनासा—इनसे सिद्ध किया हुआ घृत बालक को चटाने से वह मृत्तिकाजन्य पाण्डु से मुक्त हो जाता है।

अध्याय ४६

पारगर्भिक, फक्क तथा शोथ

पारगर्भिक या परिभव

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायोऽपिबन्नपि ।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः ॥
युज्यते कोष्ठवृध्या च तमाहुः पारगर्भिकम् ।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम् ॥

—अ० सं० उ० २।९७-९८

यह एक कुपोषणजनित (Due to malnutrition) रोग है, जो शिशु द्वारा गर्भिणी माता का दूध पीने से होता है। सगर्भावस्था में अधिकांश पोषकतत्त्व गर्भ के पोषण में लग जाते हैं, इसलिए दूध की पोषकता कम हो जाती है। बालक की वृद्धि एवं विकास के लिए आवश्यक सभी पोषकतत्त्व इसमें उचित मात्रा में नहीं पाये जाते। इसलिए मात्र इसी दूध पर आश्रित रहने वाले बच्चे कुपोषण का शिकार हो जाते हैं। दूध के साथ-साथ अन्न खाने वाले बच्चे (क्षीरान्नाद) भी कम-से-कम दूध से मिलने वाले आवश्यक तत्त्वों से वंचित रह जाते हैं। अतः वे भी यदि इस दूध को पीते हैं तो उन पर भी कुपोषण का कुछ-न-कुछ असर होता ही है। इसलिए क्षीरप और क्षीरान्नाद दोनों ही पारगर्भिक रोग का शिकार हो सकते हैं। इस रोग से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं।

पारिगर्भिक के लक्षण—कास, अग्निमान्द्य, वमन, तन्द्रा, कार्श्य, अरुचि, भ्रम और पेट का बढ़ा होना।

उपचार

पारिगर्भिक रोग में अग्नि को दीप्त करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिए—

'पारगर्भिके रोगे तु पूज्यते वह्निदीपनम्'।

इसके लिए वृद्धवाग्भट ने निम्न घृत के सेवन का विधान किया है—

पिप्पलीपिप्पलीमूलकटुकादेवदारुभिः ।
क्षारद्वयबिडाजाजीबिल्वमध्याग्निदीप्यकैः ॥
दधिसौवीरकसुरामण्डैश्च विपचेत् घृतम् ।
हन्ति प्रयुक्तं तत्काले रोगान् पारिभवाश्रयान् ॥

अ० सं० उ० २।९९-१००

पिप्पली, पिप्पलीमूल, कुटकी, देवदारु, स्वर्जिकाक्षार, यवक्षार, काला नमक, वेलगिरी, जीरा, चित्रक और अजवाइन—इनके कल्क से दही, कांजी और सुरामण्ड के संयोग से घृत का पाक करें। इस घृत का प्रयोग करने से पारिगर्भिक रोग नष्ट हो जाता है। आगे उन्होंने इस घृत को परम पथ्य, वल-वर्णकारक एवं अग्निवर्धक बतलाया है। जो बच्चा दूध पीने के साथ ही वायु के साथ मल का त्याग कर देता हो, उसे भी इसी घृत का सेवन कराना चाहिए।

पारिगर्भिक के उपद्रवस्वरूप यदि बच्चे की क्षुधा अत्यधिक बढ़ जाय तो उसे निम्न योग देना चाहिए—

> **अत्युद्रिक्तक्षुधं बालं परिभूतं तु लेहयेत्।**
> **बिदारीयवगोधूमकणाचूर्णं घृताप्लुतम्॥**
> **पाययेदनु च क्षीरं श्रृतं समधुशर्करम्।** —वही, १०३-१०४

बिदारीकन्द, जौ, गेहूँ और पिप्पली का चूर्ण घी में मिलाकर दें और ऊपर से मधु और शर्करामिश्रित गर्म दूध पिलायें।

बहेड़े की मज्जा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलेठी और मोरठ अथवा तालमखाने को बकरी के दूध में पका कर दें।

गुरु एवं स्निग्ध भोजन दें।

बालशोष की चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली सभी औषधियों का पारगर्भिक में भी सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। इन औषधियों की जानकारी के लिए बालशोष का प्रकरण देखें।

फक्क रोग
(Rickets)

फक्क एक कुपोषण, असमर्थता एवं क्षीणताजनित रोग है, जिसमें बालक के विकास की गति बहुत ही मंद या अवरुद्ध हो जाती है। वह दिन-पर-दिन क्षीण एवं कृश होता जाता है। उसकी हड्डियाँ, माँसपेशियाँ आदि कमजोर हो जाती हैं। फलतः उसका क्रियात्मक विकास (Motor development) भी प्रभावित होता है। काश्यप ने फक्क-रोग की परिभाषा निम्न प्रकार दी है—

> **बालः संवत्सरा(पन्नः)पादाभ्यां यो न गच्छति।**
> **स फक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्॥**
>
> —काश्यप० चि० फक्क० ३

एक वर्ष का हो जाने के बाद भी जो बालक अपने पैरों पर न खड़ा हो सके और न चल सके तो उसे फक्क-रोग से पीड़ित समझना चाहिए।

फक्क के भेद

क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसम्भवम् ।
फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तं क्षीरजं तत्र वर्णितम् ॥

—काश्यप० चि० फक्क० १०

फक्क रोग तीन प्रकार का होता है—क्षीरज, गर्भज और व्याधिजन्य । आगे संक्षेप में इनका वर्णन किया जा रहा है ।

क्षीरज फक्क

धात्री श्लैष्मिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेतिसंज्ञिता ।
तत्क्षीरपो बहुव्याधिः कार्श्यात् फक्कत्वमाप्नुयात् ॥

— वही, ४

जिस धात्री का दुग्ध श्लैष्मिक होता है, उसे फक्क-दुग्धा कहते हैं । उस धात्री के दूध का सेवन करने वाला बालक अनेकानेक प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जाता है । रोगों से आक्रान्त होने के कारण कृशता आ जाती है और कृशता के कारण उसे फक्क रोग हो जाता है ।

गर्भज फक्क

गर्भिणीमातृकः क्षिप्रं स्तन्यस्य विनिवर्तनात् ।
क्षीयते म्रियते वाऽपि स फक्को गर्भपीडितः ॥ —वही, ११

जिस शिशु की माता शीघ्र ही गर्भवती हो जाती है तो उसका दूध शीघ्र ही सूख जाता है । दूध न मिलने से बालक दिन-पर-दिन वह क्षीण होता जाता है और अन्ततः उसकी मृत्यु हो जाती है । इसे गर्भ द्वारा पीड़ित फक्क रोग कहते हैं ।

गर्भवती हो जाने से माता का दूध कम हो जाता है । माता जो कुछ भी खाती-पीती है, उसके अधिकांश भाग से गर्भ का पोषण होता है । फलतः उसके दूध में अब पहले जितनी मात्रा में पोषकतत्त्व भी नहीं होते । इस दूध के पीने से बच्चा दिन-पर-दिन कमजोर होता जाता है । यदि उसे ऊपर से पर्याप्त मात्रा में पोषकतत्त्व नहीं उपलब्ध होते तो उस बच्चे का रोगग्रस्त हो जाना निश्चितप्राय है ।

व्याधिजन्य फक्क

निजैरागन्तुभिश्चैव······रो ज्वरादिभिः ।
अनाथः क्लिश्यते बालः क्षीणमांसबलद्युतिः ॥
संशुष्कस्फिचबाहूरुर्महोदरशिरोमुखः ।
पीताक्षो हृषिताङ्गश्च दृश्यमानास्थिपञ्जरः ॥

प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्रपुरीषकृत् ।
निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानुगमोऽपि वा ॥
दौर्बल्यान्मन्दचेष्टश्च मन्दत्वात् परिभूतकः ।
मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चासन्नमृत्युरुक् ॥
विशीर्णहृष्टरोमा च स्तब्धरोमा महानखः ।
दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति ॥
अतिविण्मूत्रदूषिकाशिङ्घाणकमलोद्भवः ।
इत्येतैः कारणैर्विद्याद्व्याधिजां फक्कतां शिशोः ॥

—काश्यप० चि० फक्क० १२-१७

निज एवं आगन्तुक ज्वर आदि रोगों से ग्रस्त हो जाने के कारण अनाथ वालकों का मांस, बल एवं द्युति क्षीण हो जाती है। उनके नितम्ब, बाहु तथा जंघाएँ शुष्क हो जाती हैं। पेट, सिर और मुख बड़े हो जाते हैं। आँखें पीली पड़ जाती हैं। अंग हर्षयुक्त (रोमहर्ष) होते हैं और शरीर अस्थि-पंजर मात्र रह जाता है। उनके शरीर का निचला भाग विशेषरूप से म्लान दिखलायी पड़ता है। मूत्र एवं मल की प्रवृत्ति होती रहती है। धीरे-धीरे कमर के नीचे का भाग निश्चेष्ट हो जाता है और बालक हाथों और घुटनों के बल चलने या घिसकने लगता है। दुर्बलता के कारण उसकी चेष्टाएँ मन्द पड़ जाती हैं। चेष्टाओं के मन्द हो जाने से कृमि, कीट, मक्खियाँ आदि उसे आक्रान्त करती रहती हैं। फक्क रोगी के रोम विशीर्ण (सूखे-से), हृष्ट तथा स्तब्ध होते हैं। नख बड़े-बड़े होते हैं। उसके पास जाने से दुर्गन्ध आती है। वह मलिन एवं क्रोधी होता है। उसकी श्वास की गति असामान्य होती है। मलमूत्र की अधिकता होती है। नासिका तथा अन्य स्रोतों से दूषित मल आता है। ये लक्षण व्याधिजन्य फक्करोग के परिचायक हैं।

फक्करोग की चिकित्सा

कल्याणकं पिबेत् फक्कः षट्पलं वा यथाऽमृतम् ।
सप्तरात्रात् परं चैनं त्रिवृत्क्षीरेण शोधयेत् ॥
शुद्धकोष्ठस्ततः फक्कः पि······ । —वही

फक्क रोगी को कल्याणकघृत, षट्पल घृत अथवा अमृत घृत का पान कराना चाहिए। इससे स्नेहन हो जाने पर सात दिन के अनन्तर त्रिवृत्त क्षीर के द्वारा उसका शोधन करना चाहिए। कोष्ठ का शोधन हो जाने के बाद उसे ब्राह्मी घृत का सेवन कराना चाहिए।

पुनर्नवैकपर्णीभ्यामेरण्डशतपुष्पयोः ।
द्राक्षापीलुत्रिवृद्दूर्वा भृतं क्षीरं प्रयोजयेत् ॥ —वही

रास्ना, मुलेठी, पुनर्नवा, एकपर्णी, एरण्ड, सौंफ, द्राक्षा, पीलुत था त्रिवृत् के द्वारा पकाये हुए दूध का प्रयोग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त मांसयूष तथा संस्कार किये हुये दूध के साथ शालि के चावल का नित्य सेवन कराना चाहिए।

इन्हीं उपर्युक्त औषधियों से ही तैल सिद्ध कर फक्क रोगी के शरीर पर अभ्यंग करना चाहिए।

कफाधिकं चेन्मन्येत मूत्रमिश्रं पयः पिबेत्।
प्रयोगेण हिताशी च फक्करोगैर्विमुच्यते॥ —वही

यदि रोगी में कफ की प्रधानता हो तो दूध में गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिए। इसके प्रयोग तथा पथ्य-सेवन से फक्क रोग दूर हो जाता है।

बस्तयः स्नेहपानानि स्वेदाश्चोद्वर्तनानि च।
वातरोगेषु बालानां संसृष्टेषु विशेषतः॥ —वही

यदि फक्क के साथ-साथ वात रोगों का संसर्ग हो तो उन बालकों की वस्ति, स्नेहपान, स्वेदन तथा उद्वर्तन आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। उसे सुखकारी आसन देना चाहिए। सुखकारी शैया पर लिटाना चाहिए।

त्रिचक्रं फक्करथकं प्राज्ञः शिल्पिकनिर्मितम्।
विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत्॥ —वही

युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा के साथ-साथ बुद्धमान् वैद्य को किसी कुशल बढ़ई से एक तीन पहियों वाला फक्क-रथ बनवाकर उसी के सहारे धीरे-धीरे उस फक्क रोग से पीड़ित बालक को चलने का अभ्यास कराना चाहिए।

इस रोग को अंगरेजी में रिकेट्स (Rickets) कहते हैं। यह मुख्य रूप से हड्डियों का रोग माना जाता है और विटामिन-डी की कमी से उत्पन्न होता है।

इस रोग से पीड़ित बच्चों की हड्डियों में जल्दी कड़ापन नहीं आता। वे मृदु एवं झुकी हुई होती हैं। उनके सिरों पर उपास्थियाँ विकसित हो जाती हैं। कपाल के कलान्तराल जल्दी नहीं जुड़ते। पेशियाँ और उनके बंधन भी कमजोर होते हैं। फलतः ऐसे बच्चे जल्दी बैठ, रेंग या चल भी नहीं पाते। उनके दाँतों का भी ठीक से विकास नहीं हो पाता। नींद प्रायः गड़बड़ रहती है।

लक्षणों की तीव्रता एवं जटिलता बहुत-कुछ विटामिन-डी की कमी की मात्रा पर निर्भर करती है। अस्थियों के ऊतक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा

कैल्शियम का सही उपयोग कर सकें, इसके लिए शरीर में विटामिन-डी की उचित मात्रा में उपस्थिति आवश्यक है। रिकेट के रोगी की अस्थियों तथा रक्तप्रवाह में फॉसफोरस की भी कमी पायी जाती है। कैल्शियम की कमी से कभी-कभी अपतानिका (Tetany) की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मांसपेशियों में असामान्य रूप से कड़ापन आ जाता है और उनमें बुरी तरह ऐंठन होने लगती है।

प्राय: गरीबों की वस्तियों में जहाँ पर्याप्त मात्रा में शुद्ध हवा और धूप नहीं मिलती, विटामिन तथा खनिजों से युक्त संतुलित आहार नहीं मिलता, पर्याप्त दूध नहीं मिलता तथा उचित रूप में चिकित्सा-सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होतीं, वहाँ वच्चे इस रोग का अधिक शिकार होते हैं। धूप प्रकृति से उपलब्ध विटामिन-डी का सबसे बड़ा स्रोत है।

एलोपैथिक चिकित्सा में इस रोग के उपचार के लिए सामान्यतया रोगी के शरीर में अधिक-से-अधिक विटामिन-डी को पहुँचाने की कोशिश की जाती है।

इस रोग के रोगी को पर्याप्त मात्रा में खनिजों, विटामिन-डी, कैल्शियम तथा फॉसफोरस युक्त आहार देना चाहिए।

आयुर्वेद में इसमें भी शोष-रोग में व्यवहार में आने वाली औषधियों का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है।

शोष

शोष का शाब्दिक अर्थ है सूखना या रस से हीन होना। जिस रोग में प्राणी की रस, रक्त आदि धातुओं का धीरे-धीरे क्षय होता जाता है और वह सूखता जाता है, उसे शोष कहते हैं। इसका वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः।
दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिर्महाबलः॥ —सु० उ० ४१।३

जिस रोग के पूर्वरूप में अनेक रोग आगे चलते हों और उपद्रवस्वरूप अनेक रोग पीछे चलते हों, उस कठिनता से जाने-समझे और कठिनता से दूर किये जाने वाले महाबली रोग को शोष कहते हैं।

शोष, क्षय एवं राजयक्ष्मा पर्यायवाची हैं। ये एक ही रोग के तीन नाम हैं—

संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः॥

राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेव किलामयः ।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः ।। —वही, ४।१४-५

रस, रक्त आदि धातुओं का शोषण करने से इसे शोष तथा शरीर की सभी बाह्य एवं आन्तरिक क्रियाओं का क्षय कर देने के कारण क्षय कहा जाता है। (किंवदन्ती है कि) प्राचीन काल में यह रोग नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को हुआ था, इसलिए कुछ विद्वान् इसे राजयक्ष्मा भी कहते हैं।

अतः शास्त्रों में बाल-शोष नाम से जिस रोग का वर्णन किया गया है वह बालकों का क्षय या राजयक्ष्मा ही है। वाग्भट ने इसका वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

अत्यहःस्वप्नशीताम्बुश्लैश्मिकस्तन्यसेविनः ।।
शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रसवाहिषु ।
अरोचकः प्रतिश्यायो ज्वरः कासश्च जायते ।।
कुमारः शुष्यति ततः स्निग्धशुक्लमुखेक्षणः । अ. हृ. उ. २।४४-४६

बाल-शोष के लक्षण—अरोचक, प्रतिश्याय, ज्वर, कास, मुख तथा नेत्रों का स्निग्ध तथा श्वेत होना एवं बच्चे का दिन-प्रति-दिन सूखते जाना।
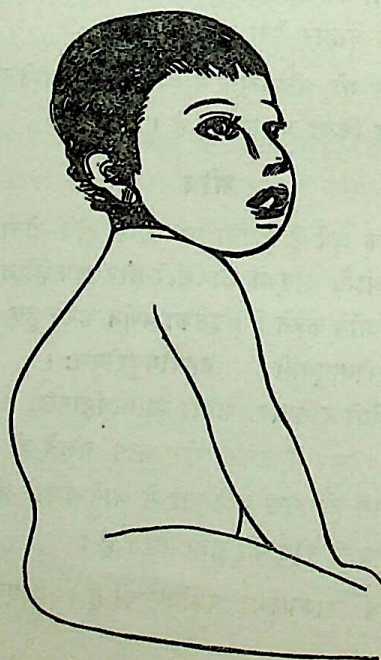
चित्र १९—बालशोष (रिकेट्स) से पीड़ित बालक : अस्थिमार्दव के कारण रीढ़ की हड्डी धनुषाकार हो गयी है।

बाल-शोष का निदान—इसके तीन प्रधान कारण बतलाये गये हैं—दिन में अधिक सोना, शीतल जल का पीना तथा कफ से दूषित स्तन्य का पान करना। इस कफकारक आहार-विहार से प्रकुपित कफ अधिक मात्रा में उत्पन्न होकर रसवाहीस्रोतों का अवरोध कर देता है। रसवाहीस्रोतों के अवरुद्ध हो जाने से रस के अभाव में अन्य धातुओं का भी पोषण नहीं हो पाता। वे दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जाती हैं। फलतः बच्चा दुबला होता जाता है।

छोटे बच्चों में राजयक्ष्मा (Tuberculosis) के सभी लक्षण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होते। बड़े बच्चों में जो लक्षण व्यक्त होते हैं, उनमें प्रधान हैं—भूख न लगना, भार में कमी, ज्वर, थकावट, आलस्य तथा विकास की गति का अवरुद्ध हो जाना। लक्षणों की एकरूपता के अभाव में इसका निदान एक कठिन समस्या होती है। इसके जीवाणु प्रायः कफ या अन्य स्रावों में पाये जाते हैं।

बाल-शोष का उपचार

बाल-शोष के उपचार के दो पक्ष हैं—बन्द स्रोतों का खोलना तथा धातुओं का पोषण।

सैन्धवव्योषशार्ङ्गेष्टापाठागिरिकदम्बकान्।
शुष्यतो मधुसर्पिर्भ्यामरुच्यादिषु योजयेत्॥
अशोकं रोहिणीयुक्तं पञ्चकोलं च चूर्णितम्।
बदरीधातकीधात्रीचूर्णं वा सर्पिषा द्रुतम्॥ —अ. हृ. उ. २।४६-४८

१. सेंधा नमक, त्रिकटु, गुंजामूल, पाठा तथा महकदम्ब—इन्हें मधु और घृत के साथ दें। इससे अरुचि भी दूर होती है।

२. पंचकोल और कुटकी के चूर्ण को घी के साथ पतला करके चटायें।

३. बेर, धाय के फूल और आँवले के चूर्ण को घी के साथ दें।

स्थिरावचाद्विबृहतीकाकोलीपिप्पलीनतैः।
निचुलोत्पलवर्षाभूभार्गीमुस्तैश्च कार्षिकैः॥
सिद्धं प्रस्थार्धमाज्यस्य स्रोतसां शोधनं परम्।
सिंह्यश्वगन्धासुरसाकणागर्भं च तद्गुणम्॥
यष्टयाह्वपिप्पलीरोध्रपद्मकोत्पलचन्दनैः।
तालीससारिवाभ्यां च साधितं शोषजिद् घृतम्।
भृङ्गीमधूलिकाभार्गीपिप्पलीदेवदारुभिः ॥
अश्वगन्धाद्विकाकोलीरास्नर्षभकजीवकैः ।

शूर्पपर्णीविडङ्गैश्च कल्कितैः साधितं घृतम् ।।
शशोत्तमाङ्गनिर्यूहे शुष्यतः पुष्टिकृत्परम् ।
अ० हृ० उ० २।४८-५३

१. शालपर्णी, वच, कँटेरी, वड़ी कँटेरी, काकोली, पिप्पली, तगर, जलवेतस, कमल, पुनर्नवा, भार्गी और मुस्ता—प्रत्येक एक कर्ष (१ तोला) आधा प्रस्थ (३२ तोला) घी में इनको सिद्ध करें। यह घी शोष से पीड़ित बालक के वन्द स्रोतों को खोलने में उत्तम है।

२. कँटेरी, अश्वगन्धा, तुलसी और पिप्पली के कल्क से सिद्ध घृत भी वन्द स्रोतों को खोलने में उत्तम है।

३. मुलेठी, पिप्पली, लोध, पद्माख, कमल, चन्दन, तालीसपत्र और सारिवा से सिद्ध घृत शोषनाशक है।

४. काकड़ासिंगी, मधूलिका, भार्गी, पिप्पली, देवदारु, अश्वगन्धा, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना, ऋषभक, जीवक, मुद्गपर्णी और वायविडंग—इनके कल्क से शशक के सिर से बनाये क्वाथ में सिद्ध घृत सूखते हुए वच्चे के लिए अत्यधिक पुष्टिकारक है।

वचावयःस्थातगरकायस्थाचोरकैः शृतम् ।
बस्तमूत्रसुराभ्याञ्च तैलमभ्यञ्जने हितम् ।। अ० हृ० उ० २।५३

शोषनाशक तैल—वच, आमलकी, तगर, हरड़ और चोरक के कल्क, बकरे के मूत्र और सुरा में सिद्ध किया हुआ तैल मालिश के लिए उत्तम है।

शास्त्रोक्त लाक्षादि तैल भी शोष-रोग की उत्तम औषधि है। यह ज्वर, कास, श्वास, क्षय, उन्माद, अपस्मार एवं समस्त वातरोगों में लाभदायक है।

बालशोष में उपयोग में आनेवाली अन्य महत्त्वपूर्ण औषधियाँ हैं—शृंगभस्म, प्रवालपिष्टी, मण्डूरभस्म, शम्बूकभस्म, कुक्कुटाण्डत्वग्भस्म, कुमारकल्याणरस, बसन्तमालती, सर्वांगसुन्दररस, शिलाजित्वादि लौह, गन्धकरसायन, सुधाषटक योग, वालपंचभद्र, मुक्तादि वटी तथा अरविन्दासव—इनमें से अन्तिम तीन योग सिद्धयोगसंग्रह के हैं। अरविन्दासव भी शोषरोग में विशेष लाभदायक है।

अभ्यंग के लिए—लाक्षादि तैल, बला तैल, चन्दनबलालाक्षादि तैल, बालरक्षक तैल आदि।

पेटेण्ट योग—शिशुशोषान्तक कैपसूल (गर्ग), शोषान्तक कैपसूल (ज्वाला), कैल्सीपर्ल टेवलेट (मेहता), कैल्सीलौह कैपसूल (ज्वाला), शिशुसंजीवनी (ऊंझा), लाइम-वाटर, लिक्वीटोन सीरप, (चरक), बालामृत (वैद्यनाथ), लालशर (डावर) बालशर्वत (गुरुकुलकांगड़ी) ।

बाह्य प्रयोगार्थ—शोषान्तक तैल (ज्वाला), संजीवन लाल तैल (मेहता), शंखपुष्पी तैल (वैद्यनाथ) ।

सूचीवेध—अनन्तमूल, काकजंघा, कैल्शियम, प्रवाल, बालरोगान्तक, मूँगा, शम्बूक, श्रृंग, शक्तिभस्म; शोषान्तक, शंखभस्म आदि ।

अध्याय ४७

यकृद्-विकृतिजन्य व्याधि तथा गण्डमाला

यकृद्-विकृतिजन्य व्याधि

आयुर्वेद में यकृत् और प्लीहा में होनेवाले रोगों का प्रायः एक साथ वर्णन किया गया है। प्लीहा वाम पार्श्व में हृदय के नीचे उदर के ऊपरी भाग में स्थित है। इसे रक्त से उत्पन्न और रक्तवाही शिराओं का स्रोत कहा गया है।

विदाही तथा अभिष्यन्दी पदार्थों को खाने से दूषित रक्त एवं कफ प्लीहा को बढ़ा देते हैं। धात्री यदि उक्त पदार्थों का सेवन करेगी तो उसका दूषित स्तन्य बालक की प्लीहा को बढ़ा देगा।

जिसकी प्लीहा बढ़ जाती है उसे हलका बुखार रहता है। अग्नि मन्द हो जाती है। बल क्षीण हो जाता है। रंग पीला पड़ जाता है। दोषों की प्रधानता के आधार पर इसके चार भेद किये गये हैं—

रक्तज प्लीहावृद्धि—क्लान्ति, भ्रम, दाह, विवर्णता, शरीर की गुरुता, मोह तथा रक्तोदर।

वातज प्लीहावृद्धि—कोष्ठ में जकड़ाहट, उदावर्त तथा सर्वत्र पीड़ा।

पित्तज प्लीहावृद्धि—ज्वर, पिपासा, दाह, मोह तथा शरीर का वर्ण पीला होना।

कफज प्लीहावृद्धि—पीड़ा कम, शोथ अधिक, कठोर तथा भारी, भोजन के प्रति अरुचि।

> **अधो दक्षिणतश्चापि हृदयाद् यकृतः स्थितिः।**
> **तत्तु रञ्जकपित्तस्य स्थानं शोणितजं मतम्॥**
> **प्लीहामयस्य हेत्वादि समस्तं यकृदामये।**
> **किन्तु स्थितिस्तयोर्ज्ञेया वामदक्षिणपार्श्वयोः॥** —भावप्रकाश चि०

दाहिने पार्श्व में हृदय के नीचे यकृत् की स्थिति है। यकृत् भी रक्त से उत्पन्न होता है। ये रंजक-पित्त का स्थान है। प्लीहा रोग के जो भी हेतु, सम्प्राप्ति तथा लक्षण बतलाये गये हैं, वे ही यकृत् के भी समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि एक की स्थिति वाम पार्श्व में है और दूसरे की दक्षिण पार्श्व में।

यकृत् रोगों की समुचित जानकारी के लिए यकृत् की संरचना और उसकी कार्य-प्रणाली का ज्ञान आवश्यक है।

यकृत् की संरचना एवं कार्य

यकृत् हमारे शरीर की न केवल सबसे बड़ी, बल्कि सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। यद उदर में दाहिनी ओर ऊपर के हिस्से में मध्यच्छद (Diaphragm) के ठीक नीचे पसलियों के पिंजड़े में सुरक्षित है। इसका निर्माण असंख्य कोशों और सूक्ष्म रक्तवाहिनियों से होता है। यह शरीर का रसायन-संसाधन-संयत्र (Chemical processing plant) है, जो आँतों से भोजन के अन्तिम रूप में पाचन हुए रस को रक्तवाहिनियों के द्वारा ग्रहण करता है। इसमें से कुछ को तो वह अपने पास सुरक्षित रखता है और शेष को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित कर शरीर के जिस भाग को उसकी जरूरत होती है, वहाँ उसे भेज देता है। रस को रक्त आदि धातुओं में बदलने का यही मूल आधार है। इसके मुख्य कार्य निम्न हैं—

१. पित्त का उत्पादन—यकृत् निरन्तर एक हरे-पीले रंग का क्षारीय रस, जिसे पित्त कहते हैं, बनाता रहता है। यह दिन भर में लगभग सवा किलो-ग्राम पित्त बनाता है, जो पित्ताशय (Gallbladder) में संगृहीत होता है। वहाँ से जब भी जरूरत होती है, विशेषरूप से जब भोजन वहाँ पहुँचता है, पित्तवाहिनी-नलिका द्वारा ग्रहणी (Duodenum) में पहुँच कर चिकने पदार्थों के विघटन और पाचन की क्रिया सम्पादित करता है। कभी-कभी पित्त-नलिका में विकृति के कारण वह संकुचित या अवरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में पित्त लौटकर रक्त में मिलने लगता है और व्यक्ति पाण्डु या कामला (Jaundice) का शिकार हो जाता है।

२. भोजन के विषाक्त प्रभावों से सुरक्षा—पित्त पाचक के साथ-साथ कृमिघ्न एवं विषनाशक भी है। जब भी कोई मादक या विषाक्त पदार्थ हमारे शरीर में पहुँचता है, यकृत् उसे निष्प्रभावी बनाने का पूरा प्रयास करता है। जब मद्य या विष की मात्रा अधिक हो जाती है तब वह मजबूर हो जाता है। इनसे सबसे अधिक क्षति उसी को पहुँचती है।

३. ग्लाइकोजिन का निर्माण और संचय— यकृत् कार्बोहाइड्रेट को ग्लाइ-कोजिन के रूप में परिवर्तित कर संचित रखता है। आपाती परिस्थितियों में जरूरत पड़ने पर वह उसे ग्लूकोस के रूप में बदलकर रक्त में मिला देता है। यह शक्ति एवं ऊर्जा का बहुत बड़ा स्रोत है। सच पूछिये तो रक्त-शर्करा के

आय-व्यय का यही नियन्त्रक है। यकृत् की इस क्रिया में गड़बड़ी होने से ही व्यक्ति मधुमेह का शिकार हो जाता है।

४. **रक्त का उत्पादन, शोधन और संचय**—यकृत् रक्त के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आँतों द्वारा शोषित रस प्रतिहारिणी शिरा (Portal vein) द्वारा यकृत् में आता है। यकृत् में पहुँचकर यह शिरा अनेक सूक्ष्म नलिकाओं में विभाजित हो जाती है। यकृत् उस रस में रासायनिक परिवर्तन करके उसे शरीरोपयोगी बनाता है। इसके बाद वह रक्त में मिलकर यकृत्-शिरा (Liver-vein) द्वारा हृदय के दाहिने हिस्से में चला जाता है। इसके साथ-साथ यकृत् रक्त का भण्डारण भी करता है। शरीर की रक्तराशि का लगभग एक चौथाई भाग हर समय यकृत् में ही संगृहीत रहता है।

उक्त विवरण से आप आसानी के साथ अनुमान लगा सकते हैं कि यकृत् की विकृति या कमजोरी न केवल पाचन-क्रिया को कमजोर बना दे सकती है वल्कि शरीर के लिए जीवनोपयोगी अन्य महत्त्वपूर्ण क्रियाओं में भी गड़बड़ी पैदा कर सकती है।

यकृत् के रोग प्रायः भोजन के नियमों की अवहेलना, मद्यपान, सद्वृत्त के नियमों की अवहेलना, शारीरिक परिश्रम के अभाव तथा संक्रमण के कारण उत्पन्न होते हैं। नवजात में कभी-कभी माता द्वारा गर्भावस्था में किया गया कदाचार, संक्रमण या जन्मजात कुनिर्मितियाँ भी इसका कारण होती हैं। दुर्घटनाओं से भी इसको हानि पहुँच सकती है। यद्यपि यकृत् अनेक रोगों से प्रभावित होता है पर बहुत कम ऐसे रोग हैं जो स्वयं यकृत् में उत्पन्न होते हैं।

यकृत् के रोगों का मुख्य लक्षण त्वचा की पाण्डुता है, जो रक्त में अत्यधिक मात्रा में विलीरूविन की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होती है। इसका प्रधान कारण यकृत् के दो प्रमुख रोग होते हैं—यकृत्-शोथ (Hepatitis) और सिरोसिस (Cirrhosis)। आगे संक्षेप में इन्हीं की चर्चा की जायेगी।

यकृत्-शोथ

यकृत्-शोथ एक विषाणुजन्य रोग है। इसका कारण दो प्रकार के विषाणु (Virus) होते हैं—विषाणु-ए और विषाणु-बी। विषाणु-ए संक्रमी यकृत्-शोथ (Infective hepatitis) को उत्पन्न करता है और विषाणु-बी सीरमी यकृत्-शोथ (Serum hepatitis) को उत्पन्न करता है।

संक्रमी यकृत्-शोथ का विषाणु खाने-पीने की चीजों के साथ मुख या गुदा के रास्ते शरीर के अन्दर पहुँचता है। इसकी उद्भवन-अवधि (Incubation

period) १४ से लेकर २१ दिनों तक होती है। यह रोग गन्दे स्थानों या गन्दगी में रहनेवाले लोगों के बीच संक्रामक रोग के रूप में भी फैल सकता है।

सीरमी यकृत्-शोथ संक्रमित रक्त तथा उसके उत्पादनों (यथा प्लाज्मा), संक्रमणयुक्त इन्जेक्शन की सूइयों-सीरिंजों, ऑपरेशन में काम में आनेवाले यन्त्रों आदि के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका विषाणु कभी-कभी तो सीधे (इन्जेक्शन देने या ऑपरेशन के समय) और कभी-कभी त्वचा पर लगी खरोंच, कटे का घाव आदि के द्वारा रक्त-संचरण में प्रवेश कर जाता है। कभी-कभी यह रक्ताधान (Blood transfusion) के उपद्रव के रूप में भी प्रकट होता है। इसकी उद्भवन अवधि छः सप्ताह से लेकर छः महीने तक की होती है।

संक्रमी यकृत्-शोथ एकबार हो जाने के बाद प्रायः दुबारा नहीं होता। लेकिन सीरमी यकृत्-शोथ दुबारा भी हो सकता है। इनको दो अलग-अलग परन्तु परस्पर सम्बन्धित विषाणुओं से उत्पन्न अलग-अलग प्रकार का रोग माना जाता है। इनके लक्षण प्रायः एकसमान होते हैं। शुरू में भोजन के प्रति अरुचि, ज्वर और सिरदर्द के लक्षण प्रकट होते हैं। बाद में रोग के बढ़ने पर त्वचा तथा शरीर के प्रायः सभी विवरों की आन्तरिक श्लैष्मिककला का रंग पीला हो जाता है। यकृत् और तिल्ली दोनों बढ़ जाते हैं। उन्हें स्पर्श करने पर पीड़ा होती है। भूख एकदम समाप्त हो जाती है। पेशाब काला-भूरा तथा मल का रंग पीला हो जाता है। यह अवस्था दो से लेकर पाँच सप्ताह तक रहती है। उसके बाद पाण्डुता तो समाप्त हो जाती है पर कमजोरी और भोजन के प्रति अरुचि के लक्षण बने रहते हैं। कभी-कभी पाण्डुता फिर से आ जाती है।

यदि किसी गर्भवती स्त्री को इन दोनों में से किसी का भी संक्रमण लग जाय तो उसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है। यद्यपि इसकी अधिक संभावना विषाणु-बी से ही आक्रान्त होने पर ही होती है।

इसके रोगी उपचार करने पर प्रायः ठीक हो जाते हैं। केवल सीरमी शोथ कभी-कभी सिरोसिस में बदल कर भयंकर रूप धारण कर लेता है।

सूत्रण रोग या सिरोसिस

यह एक जीर्ण एवं जटिल रोग है। इसमें यकृत् के बहुत से कार्यक्षम कोश नष्ट हो जाते हैं। चर्बीवाले तथा रेशेदार ऊतक (Fatty and fibrous tissues) उनका स्थान ले लेते हैं। रोग के बढ़ने पर यकृत् में रक्तसंचार की क्रिया अव्यस्थित हो जाती है। यकृत् का आकार बढ़ जाता है। उदर में तरल के एकत्रित होने से पेट बढ़ जाता है। रोगी जो भी खाता है ठीक से

नहीं पचता। जी मितलाता है। कै होती है। उसका भार दिनों-दिन कम होता जाता है। पैरों में सूजन आ जाती है। त्वचा का रंग पीला पड़ जाता है। यकृत् में जैसे-जैसे रेशेदार ऊतकों की वृद्धि होती जाती है, उसमें सिकुड़नें और झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। उसकी आकृति बिगड़ जाती है। पेट पर नीली नसें उभर आती हैं।

इस रोग के अनेक जटिल उपद्रव हो सकते हैं। गुदा की अतस्फीत शिराओं (Varicose veins) से अर्श के समान रक्तस्राव हो सकता है। ग्रासनली या हलक से रक्तस्राव हो सकता है। आमाशय या पक्वाशय में घाव (Peptic ulcer) हो जा सकते हैं। यकृत्-संन्यास की स्थिति (Liver-coma) उत्पन्न हो जा सकती है, जिसमें रोगी रह-रह कर अपनी चेतना खो देता है। तीव्र मलावरोध के कारण जोर लगाते-लगाते आँतों का हर्निया (Hernia) हो सकता है। चर्बीरहित भोजन लेते-लेते उसे देखने तक की इच्छा समाप्त हो जा सकती है।

यह रोग बढ़ जाने पर प्रायः घातक सिद्ध होता है। विकासशील देशों में यह रोग अधिक होता है। प्रायः एक वर्ष से लेकर तीन वर्ष की अवस्था के बीच और लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को ही यह रोग अधिक होता है। ठीक होने में छः महीने से लेकर तीन वर्ष तक का समय लग सकता है।

रोग का सही पता लगाने के लिए रासायनिक परीक्षण (Chemical tests) और जीवऊति-परीक्षा या वायोप्सी (Biopsy) जरूरी है।

उपचार

१. हींग, सोंठ, मिर्च, पीपल, कूठ, जवाखार और सेंधा नमक के चूर्ण को विजौरा नींबू के रस के साथ।

२. पलाशक्षार के जल से भावित पिप्पलीचूर्ण उष्णोदक या तक्र से।

३. शरफुंका की जड़ का कल्क तक्र में घोलकर।

४. अजवायन, चित्रक, जवाखार, पिपरामूल, दन्ती तथा पिप्पली का चूर्ण उष्णोदक से।

५. जवाखार हरीतकी के क्वाथ से।

शास्त्रीय योग—मुक्तासूक्ति, मण्डूरभस्म, वालयकृदरि लौह, नवायस लौह, पुनर्नवामण्डूर, शंखभस्म, अश्वकंचुकीरस, लघुवसन्तमालती, पिप्पली चूर्ण, वालमित्र चूर्ण, कुमार्यासव तथा लोहासव।

पेटेण्ट योग—लिव-५२ (हि० ड्र० कं०), लिवोट्रिट (झण्डु), लिवोमिन (चरक), लीवरबून (मार्तण्ड), यकृतो (मेहता), लीवरोल (बैद्यनाथ)।

सूचीवेध—अपामार्ग, कुर्चीना, घृतकुमारी, तिल्ली-जिगरोल, यकृदरि, यकृत-प्लीहान्तक, सुधा, स्वर्णमंगा एवं हल्दी।

गण्डमाला

गण्ड का अर्थ है—शोथ या गाँठ; माला के समान एक ही स्थान पर वहुत-सी गाँठों का होना गण्डमाला कहलाता है। प्रस्तुत संदर्भ में यह शब्द गले में होनेवाली गाँठों के लिए प्रयोग किया गया है। चरक ने इस रोग का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः॥

—च० चि० १२।७८

गले के पार्श्व में जब एक ही स्थान पर शोथ होता है, तव उसे गलगण्ड और जब एक साथ अनेक स्थानों पर शोथ होता है तब उसे गण्डमाला कहते हैं। सामान्यतया ये दोनों ही रोग साध्य हैं, किन्तु जब पीनस, पार्श्व-शूल, कास, ज्वर तथा वमन के उपद्रवों से युक्त हो जाते हैं तब असाध्य माने जाते हैं।

वाग्भट ने गलगण्ड, गण्डमाला और अपची को एक ही रोग की तीन अवस्थाओं की तीन संज्ञाएँ मानी हैं। उन्हीं के शब्दों में—

मेदःस्थाः कण्ठमन्याऽक्षकक्षावङ्क्षणगा मलाः।
सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान् वार्ताकामलकाकृतीन्॥
अवगाढान् बहून् गण्डांश्चिरपाकांश्च कुर्वते।
पच्यन्तेऽल्परुजस्तेऽन्ये स्रवन्त्यन्येऽतिकण्डुराः॥
नश्यन्त्यन्ये भवन्त्यन्ये दीर्घकालानुबन्धिनः।
गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक्॥

—अ० हृ० उ० २९।२३-२५

मेद में स्थित दोष कण्ठ, मन्या (ग्रीवा का पार्श्व भाग), अक्ष (हँसली), कक्षा (काँख या बगल) और वंक्षण (गलहरी) में आश्रित होकर त्वचा के ही वर्णवाले, कठोर और स्निग्ध; कँटेरी तथा आँवले के फल के आकार के गम्भीर, गहरे, बहुत-से और देर में पकने वाले गण्डों (गाँठों) को उत्पन्न कर देते हैं। इनमें से कुछ पकते हैं, कुछ पीड़ा देते हैं, कुछ बहते हैं तथा कुछ में खुजली होती है। कुछ नष्ट हो जाते हैं। कुछ उनकी जगह नये निकल आते हैं। इस प्रकार ये देर तक बने रहते हैं। इन्हीं को गण्डमाला और अपची कहते हैं। ये दूर्वा के समान घटते-बढ़ते रहते हैं।

ऊपर वाग्भट ने गण्डमाला और अपची के जिस मिले-जुले स्वरूप का वर्णन किया है, उसे लसिका-ग्रन्थियों के जीर्ण यक्ष्मज शोथ (Chronic tuberculous lymphadenitis) की संज्ञा दी जा सकती है। खासकर जब इस तरह के उपसर्ग गले में प्रकट होते हैं तो उसे स्क्रोफ्यूला (Scrofula) कहते हैं। बोलचाल की भाषा में इसी को कण्ठमाला भी कहते हैं। यह रोग प्रायः बच्चों को ही होता है और तीन वर्ष की अवस्था से लेकर सात वर्ष की अवस्था के बीच उन्हें आक्रान्त करता है। रोग के जीवाणु टाँसिल के माध्यम से अन्दर प्रवेश करते हैं। जैसे-जैसे रोग का प्रभाव बढ़ता जाता है, गले की लसिका-ग्रन्थियों में सूजन आती जाती है। उनमें से अनेक एक साथ मिलकर त्वचा के ऊपर फोड़ों या बहनेवाले घावों का रूप धारण कर लेती हैं। यदि इनका इलाज नहीं भी किया जाय तो कुछ समय बाद ये स्वतः ठीक हो जाती हैं। मात्र घावों के भद्दे निशान शेष रह जाते हैं। कभी-कभी यह रोग हड्डियों और सन्धियों को भी प्रभावित करता है।

उपचार

काञ्चनारत्वचः क्वाथः शुण्ठीचूर्णेन संयुतः।
माक्षिकाढ्यः सकृत्पीतः क्वाथो वरुणमूलजः॥
गण्डमालां हरत्याशु चिरकालानुबन्धिनीम्॥
पलमर्द्धपलञ्चापि पिष्टां तण्डुलवारिणा।
काञ्चनारत्वचं पीत्वा गण्डमालां व्यपोहति॥

—भावप्रकाश चि० ४४।३६-३८

१. कचनार की छाल का क्वाथ सोंठ का चूर्ण मिलाकर।

२. वरुणा की जड़ का क्वाथ मधु मिलाकर मात्र एक बार।

३. कचनार की छाल को चावल के पानी के साथ पीसकर, मधु मिलाकर।

४. इन्द्रायण की जड़ अथवा श्वेत अपराजिता की जड़ के चूर्ण को गोमूत्र के साथ पिसकर।

५- मुण्डी की पत्तियों का स्वरस।

उक्त योगों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण योग ये हैं—वसन्तमालती या कांचनारगुग्गुलु कांचनार के क्वाथ के साथ।

लगाने और नस्य के लिए—नीम का तैल, चकमर्द तैल, चन्दनादि तैल तथा व्योषादि तैल।

अध्याय ४८

अर्दित, पक्षबध, मलावरोध तथा गाढ़विट्कता

अर्दित

(Facial Paralysis)

गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये ।
उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि च ॥
हसतो जृम्भतो भाराद्विषमाच्छयनादपि ।
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः ॥
अर्दयित्वाऽनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ।
वक्रीभवति वक्त्राधं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे तु वेदना ॥
यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ॥
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविशारदाः ॥
क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्तं सक्तभाषिणः ।
न सिध्यत्यर्दितं बाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ॥

सु० नि० १।६८-७२

चेहरे के दाहिने या बायें किसी भी एक भाग का, पक्षाघात के कारण टेढ़ा एवं काम करने में सर्वथा अक्षम हो जाना अर्दित कहलाता है ।

अर्दित के पूर्वरूप—रोंगटे खड़े होना, कम्पन, नेत्रों का आँसुओं से भरा रहना या आँसू बहना, वायु का ऊपर की ओर वेग, डकारें आना, त्वचा में सुन्नता और सूई चुभाने के समान पीड़ा, मन्या और हनु की जकड़ाहट ।

रूप या लक्षण—मुख के आधे भाग का टेढ़ा हो जाना, गरदन का टेढ़ा हो जाना, सिर काँपना, बोलने में रुकावट, नेत्र, कान, नासा आदि में विकृति तथा प्रभावित भाग की ग्रीवा, ठुड्डी और दाँतो में वेदना ।

निदान—अत्यधिक रक्तस्राव, जोर से बोलना, कड़ी चीजों का दाँत से तोड़ना-काटना-खाना, जोर से मुँह फैलाकर हँसना, जम्भाई लेना, बोझा उठाना, विषमस्थान पर तथा विषम मुद्रा में सोना ।

सम्प्राप्ति—उक्त कारणों से प्रकुपित हुआ वायु सिर, नासिका, ओष्ठ, चिबुक, ललाट और नेत्र की सन्धियों में स्थित होकर आधे मुख को टेढ़ा कर देता है।

असाध्यता—अत्यधिक क्षीण, नेत्रों को स्वेच्छा से खोलने-बन्द करने की क्रिया में असमर्थ, निरन्तर अस्पष्ट बोलनेवाले, कम्पन से युक्त, गम्भीरस्वरूप के तथा तीन वर्ष से अधिक पुराने अर्दित को असाध्य माना जाता है।

आधुनिक शब्दावली में इसे मुख का पक्षाघात (Facial paralysis) या बेल्स-पेल्सी (Bell's palsy) कह सकते हैं।

चेहरे के एक ओर के अज्ञातकारणजन्य पक्षाघात को बेल्स-पैल्सी कहते हैं। यह दाहिने या बायें किसी ओर भी हो सकता है। शायद ही कभी दोनों ओर होता हो। इसका आक्रमण प्रायः चेहरे पर एकबारगी कड़ी ठण्ड या ठण्डी हवा लगने पर होता है। परन्तु इस बात का अभी तक निश्चित रूप से पता नहीं चल पाया है कि इसका वास्तविक कारण ठण्डी हवा है या शरीर में छिपा कोई अन्य दोष, जो ठण्ड लगने के कारण एकबारगी उभर जाता है। कुछ लोगों में इस विकृति के बार-बार आक्रमण होते हैं। जो काफी अर्से तक बने रहते हैं। कुछ केस ऐसे भी मिलते हैं जिनमें यह विकृति वर्षों तक बनी रहती है।

चेहरे के जिस भाग पर रोग का आक्रमण होता है, वह लटक जाता है। कभी-कभी उसे सही स्थिति में रखने के लिए टेप या पट्टी आदि का सहारा लेना पड़ता है।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र में इसे एक सामान्य एवं साध्य रोग माना जाता है।

पक्षबध

पक्षबध या पक्षाघात पर्यायवाची शब्द हैं। पक्ष का अर्थ है—आधा या शरीर का आधा भाग। यह आधा भाग दाहिना या बायाँ, अथवा कमर के ऊपर का या नीचे का भी हो सकता है। यह रोग किसी भी एक भाग पर आक्रमण करता है। यह जिस भाग पर भी आक्रमण करता है उसको संज्ञा-शून्य एवं अक्षम बना देता है। प्रभावित भाग में स्थित किसी भी अंग-प्रत्यंग से प्राणी कोई काम नहीं ले सकता। उस पर से उसका ऐच्छिक नियन्त्रण बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इसका वर्णन करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च।
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्॥

कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ।
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ॥
—अ० सं० नि० १५।४०-४१

स्वप्रकोपी कारणों से प्रकुपित वायु शरीर के आधे भाग को पकड़कर, उस भाग की सिराओं और स्नायुओं को सुखाकर, सन्धि-बंधनों को ढीला करते हुए वाम या दक्षिण किसी एक पार्श्व को मार देता है। यह जिस भाग को मारता है उसे निष्क्रिय एवं चेतनारहित बना देता है। कुछ आचार्य (चरक आदि) इसे एकांगरोग और कुछ (सुश्रुत आदि) पक्षवध मानते हैं।

पक्षाघात बालकों में विशेष रूप से मिलता है। विशेषरूप से बालकों में पाये जानेवाले इस रोग को आधुनिक चिकित्साशास्त्र में पोलियो या पोलियो-माइलाइटिस (Polio or Poliomyelitis) कहते हैं।

चित्र २०—पोलियो से पीड़ित बालिका : जिसकी दोनों टाँगें सूख गयी हैं।

इसे एक अत्यधिक संक्रामक रोग माना जाता है। यह तीन प्रकार के पोलियो विषाणुओं से उत्पन्न होता है (१, २ और ३)। अधिकांश केस विषाणु-१ से ही उत्पन्न पाये जाते हैं। इन तीनों से उत्पन्न पोलियो तीन प्रकार का होता है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं। इसकी उद्भवन-अवधि ७ से

१२ दिनों की है। इसका विषाणु ३६ घंटे बाद रोगी की हलक में और ७२ घंटे बाद उसके मल में देखा जा सकता है। यह हलक में एक सप्ताह तक और मल में ६ सप्ताह या उससे अधिक समय तक बना रह सकता है।

इसका संक्रमण रोगी के मुख या गुदा के रास्ते प्रवेश करता है। अन्न-नलिका में पहुँचने के बाद इनकी संख्या बढ़ने लगती है। वहाँ से ये रक्त में और रक्त से तन्त्रिका-तन्त्र में पहुँचते हैं। इनके प्रसार के अनुरूप ही रोग की चार अवस्थाएँ होती हैं। रोग को किसी भी अवस्था में रोका जा सकता है। आगे इन अवस्थाओं का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है—

१. अव्यक्त संक्रमण (Silent infection)—इस अवस्था में विषाणु मात्र अन्न-नलिका में रहकर संख्या में बढ़ रहे होते हैं; उनके लक्षण व्यक्त नहीं होते।

२. अप्रगल्भ पोलियो (Abortive poliomyelitis)—इस अवधि में विषाणु रक्त में प्रवेश करने की अवस्था में होते हैं। फलस्वरूप रोगी में इन्फ्लूएन्जा के-से उपसर्ग प्रकट होते है, यथा—ज्वर, सिरदर्द, गले में खराश, जी मिचलाना, कै और अतिसार।

३. अंगघातहीन पोलियो (Non-paralytic poliomyelitis)—यदि संक्रमण को रोका नहीं गया तो विषाणु अन्न-नलिका और रक्त के साथ-साथ तन्त्रिका-तन्त्र में भी प्रवेश कर जाते हैं। फलतः रोगी में मस्तिष्कावरणीय क्षोभ (Meningeal irritation) के-से लक्षण प्रकट होने लगते हैं। उक्त लक्षणों के साथ-साथ उसके गले की खराश बढ़ जाती है। ग्रीवा में कड़ापन या जकड़ाहट-सी होने लगती है। जाँघों में दर्द होने लगता है। बदन के दूसरे हिस्सों में भी दर्द मालूम होता है। पीठ में पीड़ा और टांगों में कड़ापन मालूम होने लगता है। चलने में कष्ट होता है। उसे भय होता है कि कहीं उसके पैर मुड़ और रीढ़ झुक न जाये। पैर के मुड़ने और रीढ़ के झुकने से दर्द काफी बढ़ जाता है। रोगी अपने को बहुत ही कमजोर महसूस करता है। उसका चिड़चिड़ापन बढ़ जाता है।

४. अंगघाती पोलियो (Paralytic poliomyelitis)—विषाणु पहले की तीनों अवस्थाओं में वर्तमान रहता है। तन्त्रिका-तन्त्र पर उसका प्रभाव बढ़ता जाता है। लक्षण और भी उग्र और जटिल रूप धारण कर लेते हैं। पेशियों में कम्पन और त्वचा में झिनझिनी या दाह होने लगती है। मलावरोध अतिसार में बदल जाता है।

अंगघाती पोलियो दो प्रकार का होता है—मेरुरज्जु-पोलियो (Spinal

polio) और मेरुशीर्ष पोलियो (Bulbar polio)। मेरुरज्जु-पोलियो उन पेशियों को प्रभावित करता है जो मेरुरज्जु के द्वारा नियंत्रित होती हैं। मेरुरज्जु से निकल कर तन्त्रिकाएँ इन पेशियों तक जाती हैं। मेरुशीर्ष-पोलियो उन पेशियों को प्रभावित करता है जो मेरुशीर्ष (Medulla oblongata) के द्वारा नियंत्रित होती हैं; फलतः चेहरे, मुँह, कन्धे, गर्दन और श्वसन-संस्थान की पेशियों का घात होता है। इससे रोगी न तो कुछ निगल सकता है, न चवा सकता है, न खाँस सकता है और न गले में जमा कफ को बाहर निकाल सकता है। रोगी के लिए कृत्रिम श्वसन और हलक तथा अन्न-प्रणाली में एकत्रित स्रावों एवं श्लेष्मा को निकालने के लिए चूषणोपकरण (Aspiratory pump) की आवश्यकता पड़ सकती है। श्वसन की जटिलताओं के कारण रोगी में ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाती। अल्पाक्सीयता (Hypoxia) और मस्तिष्कशोथ (Encephalitis) के कारण वह संन्यास की अवस्था (Coma stage) में पहुँच जाता है; मात्र उसकी हलकी-हलकी साँस चलती रहती है। शेष सारी क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं।

वातरोगों का चिकित्सा-सूत्र

स्वाद्वम्ललवणैः स्निग्धैराहारैर्वातरोगिणः।
अभ्यङ्गस्नेहबस्त्याद्यैः सर्वानेवोपपादयेत्॥

—भैषज्य० वातव्याधि० १

वातव्याधि से पीड़ित प्राणी की सामान्यतया वातहर स्वादु-अम्ल-लवण और स्निग्ध आहार एवं औषधिद्रव्यों तथा अभ्यंग, स्नेहन तथा बस्ति आदि उपायों से चिकित्सा करनी चाहिए।

अर्दित का चिकित्सा-सूत्र

स्वेदाभ्यङ्गशिरोबस्तिपाननस्यपरायणः ।
अर्दितं सः जयेत्सर्पिः पिबेदौत्तरभक्तिकम्॥ —वही, २४

स्वेदन-कर्म, अभ्यंग, शिरोवस्ति, स्नेहपान और स्नेह के नस्य तथा भोजन के बाद निरन्तर घृतपान करने से अर्दित रोग विनष्ट हो जाता है।

पक्षाघात का चिकित्सा-सूत्र

पक्षाघातसमाक्रान्तं सुतीक्ष्णैश्च विरेचनैः।
शोधयेद् बस्तिभिश्चापि व्याधिरेवं प्रशाम्यति॥—वही, ५९

पक्षाघात से आक्रान्त रोगी की अत्यन्त तीक्ष्ण विरेचक औषधियों और

वस्तिक्रिया द्वारा शोधन के उपरान्त चिकित्सा करनी चाहिए। बहुत-कुछ रोग तो शोधन-क्रिया से ही शान्त हो जाता है।

अर्दित तथा पक्षाघात में उपयोगी शास्त्रीय योग—बालार्करस, बृहत्वात-चिन्तामणि, वातकुलान्तक, वातगजांकुश, त्रैलोक्यचिन्तामणि, चतुर्मुख, चिन्तामणिचतुर्मुख, योगेन्द्ररस, ब्राह्मीवटी, स्वर्णसमीरपन्नग, रसराज, अश्वकंचुकी, महायोगराज-गुग्गुलु, त्रयोदशांग-गुग्गुलु, वातारि-गुग्गुलु, रौप्यभस्म, शिलाजीत, एरण्डपाक, रसोनपिण्ड, महारास्नादिक्वाथ, एरण्ड-मूल, दशमूलक्वाथ, गोक्षुरादिक्वाथ, माषबलादिक्वाथ, मांस्यादिक्वाथ, दशमूलारिष्ट, बलारिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, द्राक्षारिष्ट, छागलाद्यघृत, अश्वगंधाघृत आदि।

अभ्यंग के लिए—महामाष तैल, महाराजप्रसारिणी तैल, महानारायण तैल, विषगर्भ तैल, सैंधवादि तैल। अभ्यंग के उपरान्त स्वेदन करें। सिर पर पुराने घी की मालिश करें।

मलावरोध एवं गाढ़विट्कता
(Constipation and Dryness of Stools)

सामान्यरूप से बच्चों में होने वाले मलावरोध का गत पृष्ठों में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। वातरोगों में मल का अवरोध एवं गाढ़विट्कता महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। जब तक संचित मल की शुद्धि न की जाय तब तक कोई भी चिकित्सा सफल नहीं हो सकती।

मलावरोध, कोष्ठबद्धता, विबन्ध, कब्जियत आदि इसके पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहार किये जाते हैं। मलावरोध की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से भी हो सकती है या अन्य रोगों के लक्षणों के रूप में भी। वातरोग तो शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें मलावरोध की प्रवृत्ति न पायी जाती हो। प्रायः मलावरोध होकर ही वातरोग की उत्पत्ति होती है। दोनों को एक-दूसरे का सहगामी कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा।

कुछ लोगों को स्वभावतः पाखाना साफ नहीं होता। पाखाने से आने के बाद भी पेट में भारीपन बना रहता है। कुछ को २-२, ३-३ दिन पर पाखाना होता है। वास्तविक मलावरोध इसी को कहा जाता है। किसी विशेष कारण से दो-एक दिन पाखाना न हो तो इसे मलावरोध नहीं कहा जायेगा।

मलावरोध से मन में ग्लानि, आलस्य भाव, पेट में भारीपन, मुँह में पानी आना, मुँह से दुर्गन्ध आना, ज्वरभाव, अरुचि, सिरदर्द आदि के लक्षण प्रकट होते हैं। लगातार मलावरोध के बने रहने से अर्श, शूल, आनाह,

गृध्रसी आदि रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। यह अपने आप में अनेक रोगों का जनक है।

गाढ़विट्कता—गाढ़विट्कता का अर्थ है मल का गाढ़ा होना या सूख जाना। ऐसा प्रधानरूप से वात के प्रकोप से होता है। इसलिए प्राचीन वैद्य वातरोगों का निदान करते समय इस लक्षण की ओर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। कभी-कभी तो सारा-सारा मल गाढ़-शुष्क एवं ग्रन्थिमय हो जाता है पर कभी मात्र आगे का कुछ भाग ग्रन्थिमय एवं शुष्क होता है और शेष सामान्य जैसा लगता है। ये दोनों ही स्थितियाँ पुरीष के पिण्डीभाव तथा वायु की उत्पत्ति की तारतम्यता की बोधक हैं।

प्राकृतिक चिकित्सक रोगों के निदान में मल के पिण्डीभूत होने को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार मल के शुष्क होने का तात्पर्य है उसका पक्वाशय में वना रहना। वह जितना ही शुष्क होगा उतने ही अधिक समय तक पक्वाशय में बना रहा होगा, सड़ता रहा होगा। उससे विष उत्पन्न होता रहा होगा और वह विष शरीर में फैलकर रोगों की उत्पत्ति करता रहा होगा। इसलिए प्राकृतिक चिकित्सक सबसे पहले पेट की सफाई पर ही ध्यान देते हैं। उनके अनुसार शरीर में पिण्डीभूत मल के रूप में संचित विष जब तक शरीर से बाहर नहीं निकल जाता, रोगी स्वस्थ नहीं हो सकता। इसके लिए वे निरूह-बस्ति का प्रयोग करते हैं।

आयुर्वेद में भी ग्रथित मल को बाहर निकालने के लिए बस्ति को प्रधानता दी गयी है, परन्तु उसके अनुसार केवल निरूह-बस्ति वातप्रकोपक है। अनुवासन-बस्ति के बाद ही निरूह-बस्ति का प्रयोग आयुर्वेद-सम्मत है।

उपचार

मलावरोध के उपचार में मात्र दस्तावर दवाएँ देकर पेट साफ करने से विशेष लाभ नहीं होता। जो लोग बराबर दस्तावर दवाएँ लेते रहते हैं वे उनके आदी हो जाते हैं। वे जब तक कोई रेचक औषधि न लें उनको पाखाना ही नहीं होता। लगातार दस्तावर दवाएँ लेने के कारण उनकी आँतों की मल को बाहर निकालने की स्वाभाविक शक्ति समाप्त हो जाती है। यह स्थिति चिन्ताजनक होती है।

बच्चों में मलावरोध प्रायः अजीर्ण, भोजन की गड़बड़ी, निष्क्रियता, गलत आदतें तथा संवेगात्मक गड़बडी की उपज होता है। यदि वह समय पर भोजन करे और जो खाता है पच जाय तो स्वभावतः समय पर पाखाना भी

हो जायेगा। जो भोजन उसे दिया जा रहा है उसे स्वादिष्ट होने के साथ-साथ सुपाच्य भी होना चाहिए। पौष्टिक होना चाहिए। उसमें ऐसे पदार्थों का बाहुल्य नहीं होना चाहिए जो कब्ज करने वाले हों। फल, सब्जियाँ स्वभावतः पेट साफ करने में सहायक हैं। उसे तरल पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा में देना चाहिए। तरल पदार्थों की कमी भी मलावरोध को उत्पन्न करती है। बच्चों को खेलने तथा मनोरंजन का पर्याप्त अवसर प्रदान करें। निष्क्रियता अपने आप में मलावरोध की जनक है। बच्चों को शुरू से ही दोनों समय पाखाने जाने की आदत लगानी चाहिए। इससे अपने आप पेट साफ होता रहेगा। माता-पिता के शुरू में ही इस ओर ध्यान न देने से भी बालकों की आदत बिगड़ जाती है। उसके मल-त्याग को आवश्यकता से अधिक महत्त्व भी न दें, अन्यथा बहुत से बच्चे मनोवैज्ञानिक ढंग से इसका गलत इस्तेमाल करने लगते हैं। वे इसे मां-बाप के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करने का एक साधन बना लेते हैं। संवेगात्मक एवं द्वन्द्व को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों से बच्चे की रक्षा करें। चिन्ता, शोक, क्रोध, असुरक्षा के भाव आदि भी उसकी पेट की गड़बड़ी का कारण बन सकते हैं। बड़ा हो या छोटा मानसिक तनाव सभी की पाचन-क्रिया को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करते हैं। यदि मलावरोध किसी अन्य रोग का उपसर्ग है तो साथ-साथ उसकी भी चिकित्सा करें। मूल रोग के दूर होने के साथ-साथ मलावरोध स्वतः दूर हो जायेगा।

बच्चों में मलावरोध को दूर करने के लिए शुद्ध एरण्ड तैल, बड़ी हरड़ (पत्थर पर घिसकर), गुलकन्द, मधुयष्टयादि सौम्य औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अधिक बड़े बच्चों को आवश्यकतानुसार पंचसकार चूर्ण, शिवाक्षार चूर्ण, त्रिफला चूर्ण, अश्वकंचुकी आदि भी दिये जा सकते हैं।

अन्नादकालीन व्याधियाँ

अध्याय ४९

शय्यामूत्र

(Enuresis)

विस्तर पर सोते समय अनजाने अपने-आप पेशाव हो जाने को शय्यामूत्र (Enuresis) की संज्ञा दी जाती है। यह वाल्यावस्था में पायी जाने वाली एक स्वाभाविक विकृति है।

नवजात में मूत्रत्याग की क्रिया एक प्रतिवर्त के रूप में घटित होती है। उसका मूत्राशय जब भी पेशाब से भर जाता है, उसकी पेशियों में स्वतः आकुंचन होता है और मूत्र मूत्रमार्ग से निकलकर वाहर हो जाता है। उसकी यह क्रिया पूर्णतः अनैच्छिक होती है। इसके लिए उसे कुछ सोचना, समझना या सीखना नहीं पड़ता।

बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसमें शारीरिक एवं मानसिक परिपक्वता आती है। परिपक्वता के साथ ही उसे अपनी पेशियों पर भी नियन्त्रण प्राप्त होने लगता है। इस पेशीय नियन्त्रण के फलस्वरूप ही वह धीरे-धीरे मूत्र को रोकने और उसे अपनी इच्छानुसार त्यागने में समर्थ होने लगता है। दो वर्ष का होते-होते अधिकांश बच्चे कम-से-कम दिन में बिस्तर पर पेशाब नहीं करते। तीन वर्ष से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था के बीच लगभग ८० प्रतिशत बच्चे बिस्तर पर पेशाब करने की आदत से मुक्त हो जाते हैं। इसके बाद भी उनमें इस आदत का बना रहना असामान्यता या विकृति का द्योतक है। रोग-विज्ञान की दृष्टि से इसी को शय्या-मूत्र कहा जाता है।

यदि शय्यामूत्र की स्थिति अधिक दिनों तक बनी रहे तो हो सकता है कि बालक में अन्य शारीरिक विकार भी उत्पन्न हो जायँ; साथ ही स्नायु-दौर्बल्य, रक्त की कमी, कमजोरी आदि भी।

विकार का स्वरूप

अनैच्छिक मूत्र-त्याग की क्रिया स्वसंचालित होती है। इसे सीखना नहीं पड़ता। बच्चे चाहते हुए भी इसे रोक नहीं पाते। रात के अलावा दिन में भी कभी-कभी बेमौके, बेजगह पेशाब कर देते हैं। उनका सोते हुए पेशाब करना बहुधा किसी-न-किसी स्वप्न से सम्बन्धित रहता है। वे सपने में देखते

हैं कि अमुक समय पर, अमुक स्थान पर पेशाब कर रहे हैं और उनका पेशाब सचमुच निकल जाता है ।

शय्यामूत्र के भेद

विस्तर पर पेशाव कर देने की प्रायः दो स्थितियाँ देखने में आती हैं—एक तो वह जिसमें बच्चा शुरू से ही विस्तर पर पेशाव करता आ रहा है और दूसरी वह जिसमें वह पहले तो नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है परन्तु बाद में किसी कारणवश मूत्र-त्याग पर पुनः नियन्त्रण खो देता है और फिर से बिस्तर पर पेशाब करने लगता है ।

शय्यामूत्र के कारण

शय्यामूत्र के तीन प्रधान कारण माने जाते हैं—गलत आदतें, शारीरिक विकृतियाँ तथा संवेगात्मक तनाव । आगे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

गलत आदतें—पेशाव को रोकने और इच्छानुसार निश्चित स्थान पर त्याग करने की आदत बच्चे को सीखनी पड़ती है । अन्य आदतों के समान इसके अर्जन में भी काफी समय और प्रयास की जरूरत पड़ती है । इसमें अभिभावकों का सहयोग आवश्यक होता है ।

कुछ अभिभावक अज्ञानवश अथवा प्रमादवश बच्चे की आदतों के निर्माण में आवश्यक सहयोग नहीं दे पाते । देते भी है तो गलत ढंग से । शय्यामूत्र के केसों में प्रायः यही देखा जाता है । फलतः बालकों की बहुत-सी आदतों में आवश्यक सुधार नहीं हो पाता; कभी-कभी तो वे और भी बिगड़ जाती हैं ।

शारीरिक विकृतियाँ—कभी-कभी मूत्रजनन-संस्थान की कुछ विकृतियाँ भी अनैच्छिक मूत्रत्याग का कारण बन जाती हैं, यथा मूत्राशय की शिथिलता, वृक्कों के विकार, कतिपय क्षारीय पदार्थों अथवा स्रावों की अनावश्यक वृद्धि, सम्बन्धित अंगों की अत्यधिक उत्तेजना या संवेदनशीलता, पेट की खराबी, पेट या आँतों में कीड़े आदि ।

मानसिक तनाव—इस रोग के तीसरे प्रकार के कारक मनोवैज्ञानिक हैं । विशेषरूप से ऐसे बच्चे जो पहले तो अपने इन अंगों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं, पर बाद में किसी कारणवश खो देते हैं । वे प्रायः किसी-न-किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक या मानसिक व्यथा का शिकार होते हैं । इनमें से प्रमुख कारक निम्न हैं—

१. चिन्ता, भय, क्रोध, ईर्ष्या आदि मनोविकार ।

२. सुरक्षा का अभाव ।

३. अभिभावकों के प्रति अचेतन आक्रामकता अथवा अवज्ञा का भाव।

४. मनोस्नायुकी विकृति।

५. जैविक अथवा संवेगात्मक अपरिपक्वता।

६. मूत्र-त्याग सम्बन्धी आनन्द प्राप्त करने की अदम्य इच्छा।

इनमें से प्रायः एक या अनेक कारक एक साथ मिलकर इस रोग को उत्पन्न करते हैं।

प्रायः ऐसे बच्चे जो अपनी इच्छा के विपरीत तनावपूर्ण वातावरण में रहने को विवश होते हैं या जिनको किसी कारणवश अभिभावकों से अलग रहना पड़ता है अथवा जिनपर से असमय ही माता-पिता की छाया हट जाती है, उनमें यह विकृति अधिक पायी जाती है।

उपचार

शय्यामूत्र के उपचार की व्यवस्था रोग के कारणों के अनुरूप ही करनी पड़ती है। मात्र औषधियों को खिलाने से प्रायः असफलता ही हाथ लगती है।

यदि शय्यामूत्र का कारण गलत आदत है तो बच्चे को आवश्यक प्रशिक्षण देकर धीरे-धीरे रास्ते पर लाया जा सकता है।

यदि शय्यामूत्र का कारण माँ-बाप की अवहेलना या उनकी उपेक्षा है तो बच्चे से पहले माँ-बाप के द्वन्द्वों का विमोचन करना होगा। अन्यथा बच्चे की चिकित्सा पर सारा परिश्रम व्यर्थ जायेगा। बच्चे प्रायः ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाते हैं और जागने के बाद उन्हें पेशाब लगना भी स्वाभाविक है। ऐसे में यदि माँ-बाप आलस्यवश न उठें और बच्चे को ठोंक-पीटकर जबर्दस्ती सुलाने की कोशिश करें तो वे निश्चय ही बिस्तर पर पेशाब करने के आदी बने रहेंगे। अतएव माँ-बाप को बच्चे के पूर्व ही उठने का अभ्यास रखना चाहिए।

यदि बच्चे को यह रोग किसी शारीरिक विकृति के कारण है तो उसकी भली प्रकार जाँच कराकर रोग को दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। मूल कारण के दूर होते ही उसकी यह आदत अपने आप सुधर जायेगी।

यदि यह रोग मानसिक कारण से उत्पन्न हुआ है तो बालक के जीवन-चक्र का भली प्रकार अध्ययन कर, अभिभावकों के सहयोग से उन कारणों को दूर करने की कोशिश करनी चाहिए जिनसे उसका मानसिक जीवन तनावपूर्ण बन गया है; उसके संवेगों ने विकृत रूप धारण कर लिया है। चिकित्सक को देखना चाहिए कि बालक को उसकी इस आदत के लिए धिक्कारा न जाय, धमकाया न जाय, अनावश्यक रूप से तंग न किया जाय।

उसकी अनावश्यक निन्दा या आलोचना न की जाय। उसकी इस आदत के लिए उसके सामने अनावश्यक रूप से चिन्ता प्रकट न की जाय। उपचार में उतावलापन न दिखलाया जाय। ठीक इसके विपरीत बालक को उचित अंशों में प्यार, पोषण एवं सुरक्षा प्रदान की जाय। उसके मनोरंजन का उचित प्रबन्ध किया जाय। उसे रचनात्मक खेलों में लगाया जाय। उसकी इस आदत को धैर्य, सावधानी एवं समझदारी से दूर करने की कोशिश की जाय। कभी-कभी अभिभावकों की अनावश्यक तत्परता स्थिति को और भी बिगाड़ देती है। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण देखिए—

शय्यामूत्र से पीड़ित एक बालक के माता-पिता ने तय किया कि बालक को पेशाब कराके ही सुलाया जाय। बालक जल्दी सो जाता तो उसे जबर्दस्ती उठाकर पेशाब करने पर मजबूर किया जाता। जब इस पर भी उसकी आदत नहीं छूटी तो सोचा गया कि रात में एक बार और उठाकर पेशाब कराया जाय। यह उपाय भी सफल सिद्ध नहीं हुआ। होते-होते नौबत यहाँ तक आ पहुँची कि माता-पिता ने ड्यूटी बांधकर दो-दो घण्टे बाद उसे उठाकर पेशाब कराना शुरू किया। परन्तु सभी प्रयास निष्फल सिद्ध हुए।

ऐसे ही एक बालक के चिकित्सक ने अभिभावकों को राय दी कि अपराह्न के बाद बालक को तरल पदार्थ कम-से-कम दें या नहीं दें। माता-पिता ने चिकित्सक की बात का ब्रह्मवाक्य की तरह पालन किया। बालक अपनी आदतों में इस आकस्मिक परिवर्तन के लिए तैयार न था। उसकी सोते समय दूध पीने की आदत थी। कोशिश करने पर भी वह अन्य किसी चीज को लेने के लिए तैयार न हुआ। एक ओर चिकित्सक का आदेश, दूसरी ओर बालक की जिद—घर में कोहराम मचने लगा। इस खैंचातानी में बच्चे का रोग घटने के बजाय और भी बढ़ता गया।

स्पष्ट है कि उक्त दोनों ही केसों में माँ-बाप ने अनावश्यक तत्परता एवं असावधानी के कारण बालक के मानसिक तनाव को और भी बढ़ा दिया। यदि वे थोड़ी समझदारी से काम लेते तो परिस्थिति इस हद तक नहीं बिगड़ती। सही काम के लिए भी गलत ढंग अपना लेने से परेशानी और भी बढ़ जाती है।

आजकल बाल-चिकित्सालयों में अनुबन्धन की विधि से भी इस रोग का उपचार किया जाता है। इसके अन्तर्गत सोते समय बालक की कमर में एक ऐसा यन्त्र लगा दिया जाता है, जिससे वह जैसे ही पेशाब करने को होता है उसे हलका विद्युताघात लगता है और वह जाग जाता है। धीरे-धीरे बिना

यन्त्र के भी पेशाव लगते ही बालक की आँख खुल जाती है और वह विस्तर पर पेशाव करने से वच जाता है। यह युक्ति भी केवल सतही तौर पर लक्षणों को दूर करने में समर्थ है और प्रायः उन्हीं केसों में अधिक कारगर होती है जिनमें वालक का रोग कु-समायोजन या गलत प्रशिक्षण का परिणाम होता है। यदि रोग का कारण मानसिक तनाव अथवा मन के गुप्त गह्वरों में छिपी कोई कुण्ठा है, तो जब तक उसे नहीं दूर किया जाता, बालक का रोग दूर नहीं हो सकता।

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा—शय्यामूत्र से पीड़ित बालक प्रायः मलावरोध या आन्त्रकृमि का भी शिकार होते हैं। इनके दूर हो जाने से रोग में आशातीत लाभ होते देखा जाता है।

मलावरोध को दूर करने के लिए दूध में शुद्ध एरण्ड तैल या मुनक्के को दूध में पका कर दिया जा सकता है। कृमिरोग की चिकित्सा कृमिरोग-प्रकरण में देखें।

आँवला तथा असगंध अथवा इनके योग भी शय्यामूत्र में अच्छा काम करते हैं। इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार निम्न योगों का उपयोग किया जा सकता है—वंगभस्म, त्रिवंगभस्म, चन्द्रप्रभावटी, बहुमूत्रान्तकरस, शिलाजीत, गगनादि लौह तथा तारकेश्वररस। गिरपार तथा प्रमेहारि सूचीवेध भी इसमें उपयोगी पाये गये हैं।

अध्याय ८०

मानसिक विकृतियाँ

(Mental Diseases)

आयुर्वेद में आश्रय-भेद से रोगों को दो प्रकार का माना गया है—शारीरिक एवं मानसिक। शरीर को आश्रय कर उत्पन्न होनेवाली व्याधियों को शारीरिक और मन में उत्पन्न होनेवाली व्याधियों को मानसिक कहा गया है। शारीरिक व्याधियों में शारीरिक लक्षणों और मानसिक रोगों में मानसिक लक्षणों की प्रधानता होती है।

शारीरिक रोग शारीरिक दोषों—वात, पित्त एवं कफ की विकृति से और मानसिक रोग मानसिक दोषों—रज एवं तम की विकृति से उत्पन्न होते हैं। आगे चलकर शारीरिक दोष मानसिक दोषों में और मानसिक दोष शारीरिक दोषों में भी विकृति उत्पन्न कर देते हैं। दोषों की विकृति के अतिरिक्त वेगावरोध, प्रज्ञापराध, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, वर्जित काम-सेवन, प्रकृति-विरुद्ध, सड़ा-गला एवं विषाक्त भोजन, मनोभिघात तथा दैव को भी मानसिक रोगों की उत्पत्ति का कारण माना गया है। ये सभी दोषों की विकृति में सहायक होते हैं।

मानसिक रोगों को प्रधानरूप से दो वर्गों में बाँटा गया है—एकदेशीय मानसिक रोग और उभयाश्रित मानसिक रोग। एकदेशीय मानसिक रोग मात्र मन तक ही सीमित रहते हैं, यथा—भय, शोक, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता आदि। इन्हीं को मनोवेग कहते हैं। उभयाश्रित मानसिक रोग शरीर और मन दोनों को प्रभावित करते हैं। इनमें मानसिक लक्षणों के साथ-साथ शारीरिक लक्षण भी पाये जाते हैं। इनमें मुख्य हैं—भ्रम, तन्द्रा, क्लम, अपतन्त्रक, अपतानक, अतत्वाभिनिवेश, उन्माद, अपस्मार, मदात्यय आदि।

बालकों में शारीरिक रोगों के समान ही मानसिक रोगों के लक्षणों की भी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती। उनकी अनुभूति और व्यवहार का क्षेत्र सीमित होने के कारण उनमें बड़ों के समान सभी मानसिक रोगों की उत्पत्ति नहीं होती और यदि किन्हीं अंशों में होती भी है तो उन्हें अलग से पहचानना प्रायः असम्भव है। विकास के क्रम में उनके व्यवहार में उत्पन्न अधिकांश

विसंगतियाँ एवं कु-समायोजन प्रधानरूप से मनोविज्ञान के क्षेत्र में आते हैं और मात्र मनोवैज्ञानिक विधियों के द्वारा ही उनका उपचार सम्भव है।

प्रस्तुत संदर्भ में हम मात्र दो मानसिक रोगों—अपस्मार एवं उन्माद की चर्चा करेंगे। काश्यपसंहिता में भी बालकों के संदर्भ में इन्हीं दो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

अपस्मार
(Epilepsy)

अपस्मार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—अप और स्मार। सुश्रुत के अनुसार अप का अर्थ है—परिवर्जन (गमन, नाश, अवरोध आदि) और स्मार या स्मृति का अर्थ है—पूर्वानुभूत वस्तुओं का ज्ञान या उनकी तात्कालिक चेतना। अतः अपस्मार का शाब्दिक अर्थ हुआ 'स्मृति का नाश' अथवा 'अवरोध'। चरक ने अपस्मार के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्त्वसम्प्लवाद् बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमःप्रवेशमाचक्षते। —च० नि० ८।५

स्मृति, बुद्धि और मन की विकृति से बीभत्स चेष्टाओं के साथ अंधकार में प्रवेश करना या संज्ञाशून्य हो जाना ही अपस्मार कहलाता है।

चरक द्वारा प्रस्तुत अपस्मार की इस परिभाषा में उसकी तीन प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है—

१. स्मृति, बुद्धि एवं सत्त्व अथवा मन का डूबना या आच्छादित हो जाना। एक समय-विशेष के लिये उनका लोप हो जाना।

२. बीभत्स चेष्टाएँ—यथा शरीर में कम्प, मुँह में फेन, उच्च स्वर से रुदन-क्रन्दन आदि।

३. संज्ञाशून्यता—समय-विशेष के लिए पूर्ण या आंशिक रूप से संज्ञा का लोप।

काश्यप ने अपस्मारग्रस्त बालक के एकमात्र प्रमुख लक्षण का उल्लेख करते हुए कहा है—

अकस्मादट्टहसनमपस्माराय कल्पते।

—का० सं० सू० २५।२०

जब बालक अकस्मात् जोर से हँसने, अट्टहास करने लगे तो उसमें अपस्मार की कल्पना करनी चाहिए।

आयुर्वेद-संहिताओं में स्कन्दापस्मार या विशाखाग्रह से पीड़ित बालकों के

जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है वे भी अपस्मार के ही लक्षण प्रतीत होते हैं। स्कन्दापस्मार को बालापस्मार का ही पर्यायवाची मानना चाहिए।

निःसंज्ञो भवति पुनर्भवेत्ससंज्ञः संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव।
विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः फेनञ्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः ॥

—सु० उ० २७।९

स्कन्दापस्मार से ग्रस्त शिशु कभी बेहोश हो जाता है, कभी पुनः होश में आ जाता है। भौंहें, हाथ-पैर, मुँह चलाता है। इसी दशा में विण्मूत्र का त्याग कर देता है। शरीर अकड़ जाता है। जंभाइयाँ आती हैं। मुँह से फेन गिराता है।

संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः।
विनम्य जृम्भमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम् ॥
फेनोद्वमनमूर्ध्वेक्षा हस्तभ्रूपादनर्तनम्।
स्तनस्वजिह्वासन्दंशसंरम्भज्वरजागराः ॥
पूयशोणितगन्धश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम्।

—अ० सं० उ० ३।१८-१९

स्कन्दापस्मार से ग्रस्त बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—बार-बार संज्ञा का लोप होना, केश नोचना, गर्दन टेढ़ी करना, शरीर का अकड़ जाना, जंभाई आना, बार-बार मल-मूत्र की प्रवृत्ति, फेनयुक्त वमन, आँखें ऊपर की ओर चढ़ जाना, हाथ-पैर और भौं नचाना, माता का स्तन अथवा अपनी जबान दाँतों से काट लेना, होश में आने पर रोने लगना, ज्वर हो जाना तथा शरीर से पूय-रक्त की-सी गन्ध आना।

स्पष्ट ही ये अपस्मार के लक्षण हैं। निदान की स्पष्टता न होने के कारण ही ऐसा लगता है कि इसका ग्रहबाधा के अन्तर्गत समावेश कर दिया गया है।

आधुनिक मनोवैकारिकी में इसे एपिलेप्सी (Epilepsy) कहते हैं। एपिलेप्सी का वर्गीकरण दो आधारों पर किया गया है—कारण के आधार पर तथा लक्षणों की उग्रता एवं जटिलता के आधार पर।

कारण अथवा हेतु के आधार पर इसे दो वर्गों में बाँटा गया है—ज्ञातकारणजन्य (Symptomatic) तथा अज्ञातकारणजन्य (Ideopathic)। ज्ञातकारणजन्य में अपस्मार का कारण ज्ञात रहता है। उसका सम्बन्ध किसी निश्चित मस्तिष्क-विकार अथवा शरीरान्तर्गत किसी विषाक्त प्रभाव से होता है। अज्ञातकारणजन्य का कोई स्पष्ट कारण नहीं प्रतीत होता।

लक्षणों की उग्रता एवं जटिलता के आधार पर भी इसे दो वर्गों में बाँटा गया है—तीव्रावेग (Grand mal) तथा क्षुद्रावेग (Petit mal)। तीव्रावेग में लक्षण तीव्र होते हैं और अधिक समय तक रहते हैं। क्षुद्रावेग में लक्षण कम होते हैं और कम समय तक (हो सकता है कुछ क्षणों तक ही) रहते हैं। कभी-कभी तो बहुत समय तक इनका पता ही नहीं लगता।

तीव्रावेग के लक्षणों की क्रमिकता के आधार पर इसे चार स्तरों में बाँटा गया है—

१. प्रबोधन अथवा चेतावनी (Aura or warning)।

२. तोनिक अथवा पेशी-संकोच की अवस्था (Tonic phase)।

३. क्लानिक अथवा शिथिलता की अवस्था (Clonic phase)

४. विश्राम अथवा निद्रा की अवस्था (Sleep or coma)।

प्रबोधन की अवस्था में कुछ ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं जिससे रोगी को पता लग जाता है कि अब उसको अपस्मार का दौरा आनेवाला है। ये लक्षण जड़ता, स्तब्धता, पीड़ा, अकारण भागना, शरीर के तापक्रम में परिवर्तन, घबड़ाहट, भय, आह्लाद आदि किसी भी रूप में प्रकट हो सकते हैं।

प्रबोधन के बाद अकस्मात् वास्तविक दौरा शुरू होता है। दौरे के शुरू होते ही रोगी की चेतना का लोप हो जाता है। वह जहाँ का तहाँ गिर जाता है। तानिक अवस्था में मुख, ग्रीवा और नेत्रों की पेशियों के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर की पेशियाँ संकुचित और बेलोच हो जाती हैं। टाँगें सीधी और कड़ी हो जाती हैं। सांस की नली के संकोच से साँस रुकने लगती है। किसी-किसी रोगी में कराहने की-सी आवाज आने लगती है। जबड़ों के परस्पर भिंच जाने से कभी-कभी जबान कट जाती है। शुरू में रोगी का चेहरा पीला पड़ जाता है, फिर हलकी लाली आती है और अन्ततः साँस के रुक जाने से वह नीला पड़ जाता है। आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं। प्रकाश का उन पर कोई असर नहीं पड़ता।

लगभग ३० सेकेण्ड के अनन्तर क्लानिक शिथिलता तानिक जड़ता का स्थान लेने लगती है। सारे शरीर में लयात्मक झटके की-सी गतियाँ आरम्भ हो जाती हैं। शुरू में ये तेज होती हैं पर धीरे-धीरे इनमें कमी आने लगती है।

रोगी हाथ-पैर पटकने लगता है। साँस चलने लगती है। जबड़े खुलने लगते हैं। मुँह से फेन आने लगता है। जबान के कट जाने से कभी-कभी फेन के साथ खून का भी कुछ अंश होता है। कुछ रोगियों का मल, मूत्र भी निकल जाता है। यह अवस्था एक से लेकर तीन मिनट तक रहती है।

क्लानिक अवस्था के बाद वास्तविक दौरा समाप्त हो जाता है और रोगी गहरी नींद में सो जाता है। इस अवस्था में वह कब तक सोता रहेगा इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

क्षुद्रावेग का आक्रमण सौम्य स्वरूप का होता है। इसमें प्रबोधन की अवस्था नहीं आती। दौरे के शुरू होते ही रोगी की चेतना का सहसा कुछ क्षणों के लिए लोप हो जाता है। वह गिर भी सकता है या जिस हालत में है उसी हालत में रह जा सकता है। आँखें एकटक लगी रहती हैं। किसी-किसी रोगी में पलकों और भौहों में लयात्मक फड़कन-सी होने लगती है। सिर झुक जाता है। हाथ की चीज गिर जाती है। बोला हुआ वाक्य अधूरा रह जाता है। चेहरा पीला, निष्प्रभ और भावहीन नजर आने लगता है। यह अवस्था कुछ सेकेण्डों से लेकर कुछ मिनटों तक रहती है। आक्रमण के समाप्त होते ही रोगी में तत्काल चेतना आ जाती है और उसने जो काम जहाँ पर छोड़ा था उसमें पुनः लग जाता है। इस बीच जो कुछ घटा इसका उसको कुछ भी बोध नहीं रहता। कभी-कभी इस प्रकार के दौरे रोगी पर महीनों पड़ते रहते हैं और उसे कुछ पता तक नहीं चलता।

क्षुद्रापस्मार के दौरे प्रायः लड़कियों में अधिक और वे भी उनके वयः-सन्धिकाल (Puberty) के आस-पास होते हैं।

एपिलेप्सी के कारणों में प्रमुख हैं—जन्मजात या अर्जित प्रच्छन्न मस्तिष्क-दोष, वंशानुगत पूर्वप्रवृत्ति, मस्तिष्काभिघात, जीवरासायनिक तत्त्व और मानसिक द्वन्द या तनाव।

अपस्मार की चिकित्सा
(Treatment of Epilepsy)

अपस्मार की चिकित्सा के दो पक्ष हैं–वेगकालीन चिकित्सा और विराम-कालीन चिकित्सा। आगे संक्षेप में इन दोनों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

वेगकालीन चिकित्सा—वेग के आरम्भ होते ही रोगी को ऐसे स्थान पर लिटायें जहाँ पर उसे शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिल सके। बिस्तर यथासाध्य कोमल हो ताकि हाथ-पैर पटकने पर उसे चोट न लग सके। गर्दन, सीने, पेट और कमर के बन्धनों को ढीला कर दें। सिर को ऊँचा रखें। दाँतों के बीच कार्क या कपड़े की गद्दी रख दें जिससे जबान बीच में आ जाने पर कट न सके। मुँह पर ठण्डे पानी के छींटे दें। सिर पर बरफ की थैली रखें। बच्चा बड़ा हो तो किसी अपस्मारहर नस्य या अंजन का प्रयोग करें। फिर भी संज्ञा-लाभ न हो तो उसे आराम से पड़ा रहने दें। बाद में संज्ञा-लाभ कर लेने पर भी २-३ घण्टे तक उसकी रक्षा करें।

विरामकालीन चिकित्सा—वेग के शान्त हो जाने के बाद रोगी की ठीक से परीक्षा करके रोग के वास्तविक कारण को जानने की कोशिश करें। कारण ज्ञात हो जाने के बाद चिकित्सा की उपयुक्त व्यवस्था करें।

आवश्यकतानुसार निम्न योगों में से एक या अनेक को मिलाकर दिया जा सकता है—

१. कूठ और वच का चूर्ण मधु से।

२. वच का चूर्ण मधु से।

३. शंखपुष्पी के स्वरस में कूठ का चूर्ण और मधु मिलाकर।

४. ब्राह्मी की ताजी पत्ती के स्वरस में, वच और कुलंजन का महीन चूर्ण, मधु एवं घृत मिलाकर।

प्रमुख शास्त्रीय योग—कल्याणचूर्ण, सारस्वतचूर्ण, एलादिचूर्ण, सारस्वतारिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, वचादिघृत, ब्राह्मीघृत, कल्याणघृत, पंचगव्यघृत, वंगभस्म, अभ्रकभस्म, ब्राह्मीवटी, अमरसुन्दरीबटी, योगराजगुग्गुलु, कुमारकल्याणरस, लक्ष्मीविलासरस (नारदीय), वातकुलान्तकरस, योगेन्द्ररस, स्मृतिसागररस, महावातविध्वंसनरस, चतुर्मुखरस, अपस्मारनाशनरस, स्वर्णसिन्दूर आदि।

प्रमुख आयुर्वेदीय पेटेण्ट योग—नेड टेबलेट (चरक), सायलेडीन टेबलेट (अलारसिन), बालापस्मारहर बटी (धन्वन्तरि कार्यालय), ब्रेन्टो (झण्डु), चन्द्रावलेह (बैद्यनाथ), शंखपुष्पी सीरप (ऊँझा)।

उन्माद
(Insanity)

उन्माद शब्द उद् पूर्वक मद् धातु में घञ् प्रत्यय लगकर बना है। उद् का अर्थ है उन्मार्ग अथवा ऊर्ध्व। मद का अर्थ है नशा, विक्षिप्तता अथवा पागलपन। प्रकुपित दोष जब उन्मार्गगामी होकर मन अथवा मस्तिष्क में मद को उत्पन्न करते हैं तो उसे उन्माद कहते हैं। उन्माद मानसिक रोगों में सबसे जटिल और उग्र माना गया है। इससे पीड़ित रोगी की प्रायः सभी क्रियाएँ विषम हो जाती हैं। वास्तविकता से उसका सम्पर्क टूट जाता है। उसका शरीर, मन और संवेग सभी उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। चरक ने उन्माद की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है—

उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात्।

—च० नि० ७।५

'मन, बुद्धि, चेतना, ज्ञान, स्मृति, भक्ति, शील, चेष्टा एवं आचार की विषमता ही उन्माद कहलाती है।'

इसमें जहाँ एक ओर मन, बुद्धि, चेतना, ज्ञान, स्मृति आदि मानसिक एवं संवेगात्मक क्रियाएँ विषमता को प्राप्त हो जाती हैं, वहीं दूसरी ओर शील, चेष्टा और आचार आदि शारीरिक क्रियाओं में भी विकृति आ जाती है।

उन्माद के रोगी की विकृतियाँ अपस्मार के दौरों के समान सामयिक नहीं होतीं। वे सतत वनी रहती हैं।

आयुर्वेद में उन्माद के दो रूप मिलते हैं—दोषज और आगन्तुक। दोषज उन्माद वातपित्तादि शारीरिक और रज-तम आदि मानसिक दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होता है। आगन्तुक उन्माद देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, पितृ आदि दैवी एवं अलौकिक शक्तियों से ग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होता है। बालग्रहों को, जिनसे बालक पीड़ित होते हैं, इन्हीं का लघु संस्करण समझना चाहिए। दोनों की उत्पत्ति, दोनों के ग्रसने का ढंग एवं दोनों के ग्रसने का प्रयोजन—लगभग एक-से हैं। ग्रहग्रस्त प्रौढ़ रोगियों के भाव एवं लक्षण अधिक व्यक्त एवं स्पष्ट होते हैं, जबकि बालकों में उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास के अनुरूप लक्षण प्रायः अस्पष्ट एवं न्यून रूप में ही व्यक्त होते हैं। मानसिक अभिव्यक्ति की कमी के कारण उनमें शारीरिक लक्षणों की ही प्रधानता पायी जाती है। बालग्रहों से ग्रस्त बाल-रोगियों के लक्षण, निदान एवं चिकित्सा की विस्तृत चर्चा आगे के अध्यायों की जायेगी।

काश्यप ने उन्मादग्रस्त बाल-रोगियों के प्रमुख रूप से व्यक्त लक्षणों की ओर संकेत करते हुए कहा है—

प्रलापारतिवैचित्यैरुन्मादं चोपलक्षयेत्। —का. सं. सू. २५।२०

जिस बालक में प्रलाप, अरति और वैचित्य या चित्तविभ्रम के लक्षण पाये जायँ उसे उन्माद से ग्रस्त समझना चाहिए।

उन्माद आयुर्वेद का एक व्यापक प्रत्यय है। इसमें अधिकांश मनोविकृतियाँ जिन्हें आधुनिक मनोवैकारिकी में सॉयकोसिस (Psychosis) के नाम से जाना जाता है, का समावेश हो जाता है। बालकों में यदि किसी मानसिक रोग के लक्षणों का विस्तार से अध्ययन किया गया है तो वह विखण्डित-मनस्कता (Schizophrenia) है। प्रायः निम्न कसौटियाँ बालकों में विखण्डित-मनस्कता के निदान में सहायक हो सकती हैं—

१. दूसरों के साथ संवेगात्मक सम्बन्धों में विगाड़ या ह्रास।

२. अपनी अवस्था के अनुरूप बालक में अपनी पहचान (Personal identity) से सम्बन्धित बातों का ज्ञान न होना।

३. परिवेश में परिवर्तन का लगातार विरोध और उसे एक समान यथा-स्थिति में बनाये रखने की कोशिश।

४. स्पष्ट या ज्ञात आंगिक दोषों-विकृतियों के न होते हुए भी इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का दोषपूर्ण या विकृत होना।

५. वार-वार अनावश्यक रूप से, विना किसी विवेक-सम्मत कारण के चिन्ता के प्रवाहों में वह जाना।

६. भाषा या वाणी का अवस्था के अनुरूप समुचित विकास न होना या होकर समाप्त हो जाना।

७. स्वतःगतिशीलता के प्रतिरूपों में विकृतियाँ (Distortion in motility patterns)।

८. गम्भीर मानसिक हीनता या दौर्बल्य की पृष्ठभूमि, जिसमें बीच-बीच में बालक का व्यवहार सामान्य, सामान्य के समकक्ष या प्रतिभाशाली बालकों का-सा लगा हो।

९. चीजों, चीजों के किसी अंग या व्यक्तियों के साथ स्वीकृत या मान्य ढंग से परे बराबर गलत या असामान्य ढंग का व्यवहार करना।

१०. व्यवहार एवं आचरण में वास्तविकता से सम्पर्क का अभाव प्रतीत होना। उसे वास्तविकता से परे होना।

इनमें से जितने लक्षण, जितनी अधिक मात्रा में बालक में पाये जायँ उतना ही उसके इस रोग से ग्रस्त होने या भविष्य में ग्रस्त हो जाने की सम्भावना को व्यक्त करते हैं। अभिभावकों को इस मामले में शुरू से ही सतर्क हो जाना चाहिए।

चिकित्सा

उन्माद में भी अपस्मार की चिकित्सा में बतलाये गये योग लाभदायक सिद्ध होते हैं। उनके अतिरिक्त उन्माद की तीव्रावस्था में निम्न शास्त्रीय योगों की भी आवश्यकता पड़ सकती है—उन्मादगजकेसरी, उन्मादगजांकुश, वृहत्वातचिन्तामणि, सूतशेखर, कस्तूरीभैरव, कामदुधा, समीरपन्नग, रजत-भस्म, स्वर्णभस्म, स्वर्णभाक्षिकभस्म, अभ्रकभस्म, प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी, माणिक्यपिष्टी, सर्पगन्धाचूर्ण।

अध्याय ५२

क्रिमि-दन्त

(Dental Caries)

क्रिमिदन्त या क्रिमिदन्तक की परिभाषा सुश्रुत ने निम्न प्रकार दी है—

कृष्णश्छिद्री चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः ।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥ —सु० नि० १६।२९

जो दाँत काले छिद्र वाला हो, हिलता हो, जिसमें से स्राव निकलता हो, शोथ हो, अकारण पीड़ा होती हो, उस वातप्रधान रोग को क्रिमि-दन्तक कहते हैं।

वाग्भट ने इसका वर्णन और भी विस्तार से किया है—

समूलं दन्तमाश्रित्य दोषैरुल्बणमारुतैः ।
शोषिते मज्ज्ञि सुषिरे दन्तेऽन्नमलपूरिते ॥
पूतित्वात्कृमयः सूक्ष्मा जायन्ते, जायते ततः ।
अहेतुतीव्रार्तिशमः ससंरम्भोऽसितश्चलः ॥
प्रलूनः पूयरक्तस्रुत् स चोक्तः कृमिदन्तकः ।

—अ० हृ० उ० २१।१८-१९

मूलसहित दाँत का आश्रय लिये हुए वातप्रधान दोषों से, अन्न-मल से भरे दाँत के खोखले में मज्जा का शोषण हो जाने पर सड़ने से एक प्रकार के सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। इसके बाद प्रभावित दाँत में अकारण तीव्र वेदना होती है और वह स्वतः शान्त भी हो जाती है। शोथ होता है। दाँत काला पड़ जाता है। हिलता है और कटा-टूटा हुआ-सा प्रतीत होता है। इसमें से पूय और रक्त का स्राव होता है। इसी को कृमिदन्त कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में इसे दन्तक्षय की संज्ञा दी जाती है। अंगरेजी में इसे Dental या Dental caries कहते हैं। आधुनिक सभ्यता का इसे सबसे अधिक व्यापक रोग माना जाता है। प्रायः शहरों और सम्पन्न लोगों में—जो बच्चों को अन्ट-सन्ट खिलाते रहते हैं—यह सबसे अधिक पाया जाता है। दो वर्ष का होते-होते प्रायः पचास प्रतिशत बच्चे किसी-न-किसी रूप में इसका शिकार हो जाते हैं और बारह वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते ८-१० प्रतिशत बच्चे ही ऐसे निकलते हैं जिनके दाँत पूर्णतः स्वस्थ हों।

दन्तक्षय या दन्तक्षरण प्राणी के मुँह में स्वाभाविक रूप से वर्तमान जीवाणुओं (Bacteria) की उपज होता है। खाने-पीने के बाद जब प्राणी अपने दाँतों को ठीक से नहीं साफ करता तो उसका कुछ अंश दाँतों के ऊपर या दाँतों के बीच रिक्त स्थानों पर लगा-फँसा रह जाता है। जीवाणु इसके साथ मिलकर चकत्ते (Plaque) का निर्माण करते हैं। यह एक प्रकार का चिपचिपा पदार्थ होता है। मुँह गन्दा होने की दशा में जबान के द्वारा इसे आसानी से अनुभव किया जा सकता है। जीवाणु एन्जाइम (Enzymes) को उत्पन्न करते हैं। ये एन्जाइम खाद्य-पदार्थों के अवशेषों में वर्तमान कार्बोहाइड्रेट तथा शर्करा को प्रभावित करते हैं जिससे एक प्रकार के अम्ल की उत्पत्ति होती है, जिसे लैक्टिक अम्ल (Lactic acid) कहते हैं। खाना खाने के लगभग १५ मिनट बाद ही यह अम्ल उत्पन्न हो जाता है। यह दाँतों के सुरक्षात्मक आवरण दन्तवल्क (Enamel) को गलाना शुरू कर देता है। दन्तवल्क को गला देने के बाद यह दन्तधातु (Dentine) पर आक्रमण करता है।

बच्चों में दन्तक्षय तेजी से होता है। जब इसका प्रभाव तन्त्रिका-प्रकोष्ठ (Nerve chamber) तक पहुँच जाता है, तब पीड़ा की अनुभूति होती है। दाँतों के गढ़ों में खाद्यान्न के फँसने पर या रात में यह पीड़ा विशेषरूप से बढ़ जाती है। यदि इसका शीघ्र उपचार नहीं किया गया तो दाँतों की जड़ में पीप की उत्पत्ति होने लगती है और उससे मसूढ़ों पर सूजन आ जाती है। ऐसे में बच्चे को ज्वर भी हो जा सकता है। इस रोग के जटिल रूप धारण कर लेने पर इसका संक्रमण गले या मस्तिस्क तक फैल सकता है। लेकिन ऐसा होता बहुत कम है।

कुछ परिवारों में दन्तक्षय के प्रति सुग्राह्यता पायी जाती । इससे ऐसा लगता है कि इसमें कोई वंशानुगत कारक (Hereditary factor) भी काम करता है।

दन्तक्षय के दाँतों की गहराई तक पहुँच जाने के बाद प्रभावित दाँत को निकाल देने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं होता। हाँ, यदि आरम्भ में ही थोड़ी सावधानी बरती जाय तो न केवल इस रोग से बचा जा सकता है बल्कि हो जाने पर प्रारम्भिक अवस्था में आसानी से ठीक भी किया जा सकता है। नीचे उन उपायों का वर्णन किया जा रहा है, जिनका अनुपालन करने से इस रोग से बच्चों की रक्षा की जा सकती है।

रोधक उपाय

रोधक उपायों (Preventive measures) में सबसे प्रधान दाँतों की

सफाई है। प्रत्येक प्रमुख भोजन के बाद दाँतों को मंजन या ब्रश से साफ करें। बीच-बीच में भी जब भी आप कुछ मुँह में डालते हैं तो उसके बाद ठीक से कुल्ला करें। पानी थोड़ा गुनगुना हो तो और भी अच्छा है। इससे दाँतों के बीच फंसी चीज आसानी से निकल जाती है। बच्चे को तीन वर्ष का होते-होते दाँतों की नियमित सफाई की आदत डालें।

एक प्रकार के रासायनिक पदार्थ जिन्हें फ्लुओराइड (Fluoride) कहते हैं, दाँतों के वल्क को सख्त बनाते हैं। इससे लैक्टिक अम्ल का उन पर शीघ्र असर नहीं हो पाता। जिन प्रदेशों के जल में फ्लुओराइड स्वाभाविक रूप में पाया जाता है या जो प्रजातियाँ नियमित रूप से एक निश्चित मात्रा में इसे पानी में मिलाने के बाद ही उसे पीती हैं, उनमें दन्तक्षय का रोग लगभग ६० प्रतिशत तक कम हो जाता है। जिन बच्चों को जन्मकाल से ही फ्लुओराइड से युक्त जल मिलता है, उनमें दन्तक्षय की संभावना कम-से-कम होती है। आजकल तो सोडियम फ्लुओराइड (Sodium fluoride) की टिकिया भी आती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—चबाने वाली और निगलने वाली।

ऊपर हमने देखा कि कार्बोहाइड्रेट और शर्करा के दाँतों में फँसे कण ही दन्तक्षय को उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहायक होते हैं। जो बच्चे इन तत्त्वों से युक्त चीजें जितनी ही अधिक मात्रा में खाते हैं, उनमें दन्तक्षय की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है। इसलिए आवश्यक है कि उनसे युक्त पदार्थ उन्हें एक निश्चित मात्रा में ही दिये जायँ। आज की सभ्यता की देन—केक, टॉफी, लेमनड्रॉप्स, जेम, जैली, मिठाई, मीठे पेय आदि जितनी ही अधिक मात्रा में इसे बच्चे लेते हैं, वे दन्तक्षय का उतना अधिक शिकार होते हैं।

दाँत कितने ही स्वस्थ क्यों न दिखलायी दें, कम-से-कम वर्ष-आध-वर्ष में एक बार किसी दन्त-विशेषज्ञ को अवश्य दिखला देना चाहिए। बच्चों के लिए तो यह और भी जरूरी है। तीन वर्ष का हो जाने के बाद एक नियमित अन्तराल पर उसके दाँतों की जाँच आवश्यक है।

चिकित्सा

दन्तक्षय से ग्रस्त दाँत यदि हिल न रहा हो तो उसकी निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए—

> जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्।
> तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः॥
> भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः॥
>
> —भै० र० मुखरोग० ३९

१. सबसे पहले दाँत का स्वेदन करें।

२. स्वेदन करने के उपरान्त अशुद्ध रक्त का मोक्षण करें।

३. रक्तमोक्षण के उपरान्त वातनाशक औषधियों से अवपीड़न नस्य दें।

४. वातनाशक औषधियों के कल्क, क्वाथ, तैल अथवा घृत का गण्डूष धारण करें।

५. गण्डूष धारण के उपरान्त देवदारु, पुनर्नवा आदि शोथहर द्रव्यों का लेप करें।

६. स्निग्ध भोजन करें।

हिङ्गु सोष्णन्त मतिमान् क्रिमिदन्तेषु दीपयेत्। —वही, ४०

कीड़ों से खाये हुए दाँतों के कोटरों में हींग को गरम कर सुहाती-सुहाती भर दें।

नीलीवायसजङ्घास्नुग्दुधीनान्तु मूलमेकैकम्।
सञ्चर्व्यं दशनविधृतं दशनक्रिमिपातनं प्राहुः॥ —वही, ४२

नीली, काकजंघा, थूहर तथा दुग्धी—इनमें से किसी एक की जड़ को लेकर चबाते रहने से दाँतों के कीड़े नष्ट हो जाते हैं।

दन्तक्षयजनित पीड़ा में

बृहतीभूमिकदम्बपञ्चाङ्गुलकण्टकारिकाक्वाथः।
गण्डूषस्तैलयुतः क्रिमिदन्तकवेदनाशमनः॥ —वही, ४१

बड़ी कण्टकारी, भूमि कदम्ब, एरण्ड की जड़ और छोटी कण्टकारी के क्वाथ में तैल मिलाकर गण्डूष धारण करने से पीड़ा शान्त होती है।

सप्तच्छदार्कक्षीराभ्यां पूरणं कृमिशूलजित्।
अथवा केवलेनार्क पयसाऽपि च शस्यते॥ —वही, ४४

सतौने के दूध और आक के दूध को मिलाकर, अथवा केवल आक के दूध को ही दाँत के छेद में भर देने से उसकी पीड़ा शान्त हो जाती है।

जो दाँत अधिक खराब हो गया है या हिल रहा है उसकी चिकित्सा का निर्देश निम्न प्रकार किया गया है—

चलमुद्धृत्य वा स्थानं दहेत्तु शुषिरस्य वा। —वही, ४३

१. ऐसे दाँत को उखाड़ दें।

२. उखाड़ने के बाद रक्तस्राव को रोकने तथा दोषों की शुद्धि के लिए तप्त शलाका से रिक्त स्थान को दग्ध कर दें।

३. दोष उस दाँत के अतिरिक्त आस-पास भी फैला हो तो उसे भी दग्ध कर दें।

आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में भी क्षयग्रस्त जो भी दाँत बचने वाला

होता है उसका उपचार किया जाता है और जो बचनेवाला नहीं होता है उसे निकाल दिया जाता है। लेकिन आजदिन दन्तचिकित्सा की विधियाँ इतनी उन्नत हो गयीं हैं कि पहले जिन अनेक प्रकार के दाँतों को निकालना जरूरी हो जाता था, आज उनमें से बहुतों को उपचार द्वारा ठीक कर दिया जाता है। अब तो संक्रमण-ग्रस्त गले हुए भाग या नाड़ी को भी निकाल कर दाँत को भर दिया जाता है। दाँत के छिद्रों को भरने के लिए प्रायः सोना, चाँदी, पोसिलेन (चीनी-मिट्टी), पोसिलेन के यौगिक या सीमेन्ट अथवा प्लास्टिक का व्यवहार किया जाता है।

दाँत को भरने के लिए दन्त-चिकित्सक पहले स्थानीय वेदनाहर इन्जेक्शन देता है। उसके बाद गले हुए भाग को उपयुक्त यन्त्रों (डेन्टल-ड्रिल) की सहायता से साफ कर देता है। आजदिन विकसित उन्नत प्रकार के डेन्टल-ड्रिल दाँत के गड्ढों को कम-से-कम समय में विना किसी उपसर्ग को पैदा किये साफ कर देते हैं। वे न तो गरमाते हैं और न उनपर जोर लगाना पड़ता है। चिकित्सक को उनको ठीक स्थिति में रखना और सही ढंग से उनका उपयोग करना जानना चाहिए।

कहीं-कहीं दाँत के छिद्रों को साफ और गहरा करने के लिए लेसर-किरण-पुंजों (Lasser beams) का भी प्रयोग किया जाता है। इनकी गति अत्यधिक तीव्र होती है। इनमें कोई स्पन्दन नहीं होता, परन्तु आवाज बहुत होती है।

छेद को साफ और गहरा कर लेने के बाद उसे भरा जाता है। यदि सोने से भरना हो तो पहले उसका साँचा तैयार किया जाता है। साँचा तैयार करने के लिए चिकित्सक छिद्र को मोम से भर देता है। फिर उसे निकाल कर उसी की सहायता से एक साँचा बनाया जाता है। इस साँचे को सोने के मिश्रण से भर दिया जाता है। इसके पश्चात् उसे दाँत बैठाने के प्रयोग में आनेवाली सीमेन्ट की सहायता से रिक्त स्थान में सेट कर दिया जाता है। चाँदी से भरना हो तो पहले चाँदी, पारा और टिन के एक प्रकार के मिश्रण से धीरे-धीरे कोटर को भर दिया जाता है, फिर उपयुक्त यन्त्रों की सहायता से उसे उचित आकार में लाया जाता है। चीनी-मिट्टी और प्लास्टिक के भरण यद्यपि धातुओं के भरण के समान टिकाऊ तो नहीं होते परन्तु उन्हें अन्य दाँतों के समान आकृति देना आसान होता है। वे असली दाँतों की पंक्ति में मिल जाते हैं।

दाँतों को निकालना एक जटिल प्रक्रिया है। इसे किसी योग्य और अनुभवी दन्त-चिकित्सक द्वारा ही सम्पन्न कराना चाहिए।

अध्याय ८२

व्यंगत्व एवं तारुण्यपीड़िका

व्यंगत्व

(Dark Spots on the Cheeks)

व्यंग शब्द की व्याख्या सामान्यतया निम्न शब्दों में की जाती है—

विगतं विकृतं वा अङ्गं यस्य यस्माद् वा ।

यहाँ यह शब्द तारुण्यावस्था में उत्पन्न होनेवाले एक त्वचागत रोग-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। बोलचाल की भाषा में इसे झाँई या छाहीं कहते हैं। इसमें मुखमण्डल, विशेषरूप से गालों पर छोटे आकार के पीड़ारहित हलके काले रंग के गोलाकार दाग (Darks spots on the cheeks) उभर आते हैं।

आयुर्वेद में व्यंग की गणना क्षुद्र रोगों में की गयी है। सुश्रुत ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ।
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः ॥
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ।

—सु० नि० १३।४५-४६

'क्रोध तथा परिश्रम से प्रकुपित हुआ वायु जब पित्त के साथ मिलकर, मुख पर आकर एकाएक वहाँ पीड़ारहित, छोटा तथा श्याववर्ण का मण्डल बना देता है तो उसे व्यंग की संज्ञा दी जाती है।'

वृद्धवाग्भट ने इसका वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है—

शोकक्रोधादिकुपिताद्वातपित्तान्मुखे तनु ।
श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका ॥

—अ० सं० उ० ३६।२७

'शोक, क्रोध, आदि से कुपित वायु और पित्त मुख पर छोटे आकार के कोमल, पतले एवं काले रंग के मण्डल उत्पन्न करते हैं। इसी को व्यंग कहते हैं। यदि मुख को छोड़कर शरीर के अन्य भागों पर इस प्रकार के मण्डल उत्पन्न होते हैं तो उन्हें नीलिका कहते हैं।

सुश्रुत तथा वाग्भट दोनों ने ही व्यंग की उत्पत्ति में मनोविकारों को

प्रधान कारण माना है। चढ़ती जवानी या उत्तर किशोरावस्था में संवेगों की उथल-पुथल एक स्वाभाविक नियम होता है।

व्यंग की चिकित्सा

१. भाँग के पत्ते, विधारा की जड़ तथा शीशम की जड़ को समभाग ले, पीसकर इसका उबटन लगायें।

२. बटवृक्ष के अंकुर और मसूर को समभाग ले पानी या कच्चे दूध में पीसकर लेप करें।

३. मंजीठ को पीसकर मधु मिलाकर लेप करें।

४. अर्जुन की छाल, मंजीठ और अडूसा समभाग में ले, पीसकर मधु में मिला कर लेप करें।

५. सफेद घोड़े के खुर की अन्तर्धूम-विधि से भस्म बनाकर मक्खन मिलाकर लगायें।

६. वरुणा के क्वाथ से मुँह धोकर बरगद से पीले पत्ते, चमेली के पत्ते, रक्तचन्दन, कूठ, अगर और लोध को पीसकर लेप करें।

७. बिजौरे नींबू की जड़, गोघृत और मैनसिल को गोबर के रस में पीसकर लेप करें।

८. जायफल को जल के योग से घिसकर उसका लेप करें।

९. मदार के दूध और हल्दी को घिसकर लगायें।

१०. कुंकुमादि तैल या मंजिष्ठादि तैल भी मुँह की झाईं को दूर करता है।

उक्त योगों को जल या कच्चे दूध में ही पीसना या घिसना चाहिए। इन योगों की लगाने के पूर्व मुँह को साबुन और गर्म पानी से धोकर किसी तौलिये या रुखे कपड़े से रगड़कर साफ कर लेना चाहिए।

यदि साथ में कब्ज हो तो रात में सोते समय त्रिफला चूर्ण गर्म पानी या दूध से लेना चाहिए।

तारुण्यपिड़िका
(Acne Vulgaris)

तरुणाई में प्रायः मुख पर उत्पन्न होनेवाली पिड़िकाओं को तारुण्यपिड़िका कहते हैं। इनके निकलने से मुख की स्वाभाविक आभा बिगड़ जाती है, अतएव इन्हें मुखदूषिका भी कहते हैं। बोलचाल की भाषा में इन्हें मुँहासे कहा जाता है।

मुखदूषिका का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः ।
जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः ॥
—सु० नि० १३।३९

कफ, वात और रक्त के कारण युवकों के मुख पर सेमल के काँटे के समान जो पिड़िकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें मुखदूषिका कहते हैं ।

वृद्धवाग्भट ने इसपर थोड़ा और विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहा है—

शाल्मलीकण्टकाकाराः पिटकाः सरुजो घनाः ।
मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्याञ्च मुखदूषिकाः ॥
—अ० सं० उ० ३६।५

युवकों के मुख पर सेमल के काँटों के आकारवाली मेद से भरी हुई जो घनी-कड़ी तथा पीड़ा युक्त पिड़िकाएँ निकल आती हैं, उन्हें मुखदूषिका कहते हैं ।

अंगरेजी में इसे Acne vulgaris कहा जाता है । आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार ये प्रायः वयःसंधिकाल (Puberty) में और लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक निकलती हैं । इनका कारण त्वक्वसा-ग्रन्थियों (Sebaceous glands) तथा उनसे निकलने वाले स्रावों की अत्यधिक वृद्धि होती हैं । त्वक्वसा ग्रन्थियों की वृद्धि के अनुपात में उनसे संलग्न नलिकाओं (Ducts) तथा लोमकूपों (Hair follicles) की वृद्धि नहीं होती । फलतः कूपों के द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं । पुटिकाओं के द्वार की अतिकिरेटिनता (Hyper keratosis) से यह अवरोध और भी बढ़ जाता है । त्वक्वसा-ग्रन्थियों की कोशिकाओं के नष्ट होने से त्वक्वसा और भी बढ़ जाती है । वह अवरुद्ध होकर वहीं पर सूखने लगती है । पहले काली कील (Comedo or black heads) सी उभरती है । यह काली वस्तु मेलेनिन (Melanin) होती है । त्वक्वसा से प्राप्त वसीय अम्लों (Fatty acids) की अधिकता से त्वक्कील रासायनिक परिवर्तनों को उत्पन्न करती है । शुरू में इनका शोथ बैक्टीरियाजन्य नहीं होता । इसके बाद द्वितीय संक्रमण के रूप में इनमें पूय की उत्पत्ति होती है और ये व्रण का रूप धारण कर लेते हैं । इस प्रकार की विक्षतियाँ (Lesions) विशेषरूप से चेहरे, छाती तथा कन्धों पर देखने को मिलती हैं । इन्हीं स्थानों पर त्वक्वसीय ग्रन्थियों का बाहुल्य होता है । शुष्क-चर्म या झुर्रियाँ इनके प्रभाव को और बढ़ा देती हैं । मुँहासे-ग्रस्त चेहरे प्रायः चिकने नजर आते हैं ।

तारुण्यपिड़िकाएँ क्यों निकलती हैं ?

मुँहासे क्यों निकलते हैं—इसका ठीक-ठीक ज्ञान आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान को अभी तक नहीं हो पाया है। आयुर्वेद इनके मूल में कफ, वात, रक्त की दुष्टि मानता है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान जैसा कि हमने ऊपर देखा, इनका मुख्य कारण त्वक्‌वसीय ग्रन्थियों की अत्यधिक सक्रियता और इन ग्रन्थियों में उत्पन्न होने वाले स्रावों के अवरोध को मानता है। त्वक्‌वसीय ग्रन्थियों की अतिसक्रियता के मूल में यौन-ग्रन्थियों के अन्तःस्राव (Hormons of sex glands) होते हैं। बालक अथवा बालिका के किशोरावस्था में पदार्पण करते ही उनकी यौन-ग्रन्थियाँ विशेषरूप से सक्रिय होने लगती हैं और इन ग्रन्थियों से स्रवित होनेवाले अन्तःस्राव उनकी शारीरिक वृद्धि एवं विकास को विभिन्न रूपों में प्रभावित करने लगते हैं। मुँहासे भी इन्हीं अन्तःस्रावों के त्वक्‌वसीय-ग्रन्थियों तथा लोमकूपों पर पड़नेवाले प्रभावों के प्रतिफल हैं।

मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological or emotional factors) भी मुँहासों की उग्रता को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जो युवक तथा युवतियाँ सेक्स के प्रति अधिक सचेत होते हैं, उनमें मुहाँसों के उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहती है। प्रायः मानसिक तनाव की हालत में इनकी उग्रता और भी बढ़ जाती है। जो रोगी अपने रोग के प्रति जितने ही हतोत्साह होते हैं, उन्हें ठीक होने में उतना ही अधिक समय लगता है।

प्रायः ऋतु की गड़बड़ी, टान्सिल, दाँतों के रोग, रक्ताल्पता तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की कार्य-प्रणाली में उत्पन्न दोष भी मुँहासों की उग्रता को बढ़ा देते हैं।

तारुण्यपिड़िकाओं का उपचार

प्रायः तरुण या तरुणियाँ अपनी पिड़िकाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील एवं संकोची हो जाते हैं। उन्हें यह समझाने की जरूरत होती है कि ये पीड़िकाएँ किशोरावस्था का एक सामान्य उपसर्ग हैं। किशोरावस्था के समाप्त होते-होते जैसे-जैसे अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का असंतुलन दूर होता है, ये स्वतः समाप्त होती जाती हैं। दाग भी धीरे-धीरे मिट जाते हैं। कुछ पिड़िकाओं के कभी-कभी उग्र रूप धारण कर लेने पर उनका उपचार जरूरी हो जाता है। प्रारम्भिक उपचार के क्रम में सबसे पहले चेहरे के चिकनेपन को दूर करने और चर्मकीलों को निकालने की आवश्यकता होती है। इसके लिए निम्न विधियाँ अपनाएँ—

१. चेहरे को दिन में कम-से-कम तीन बार किसी अच्छे साबुन और गर्म पानी से धोएँ।

२. धोने के बाद किसी रूखे तौलिये अथवा खादी के मोटे कपड़े से रगड़ कर साफ करें।

३. रात में सोने के पूर्व अन्तिम बार मुँह धोने के बाद जो औषधि लगाते हों, लगाएँ।

४. रात भर उसे उसी तरह लगा रहने दें। प्रातः पुनः साबुन और गर्म पानी से धो डालें।

इस प्रक्रिया से धीरे-धीरे मुँहासों की कीलें निकल जायेंगी। त्वक्‌वसीय ग्रन्थियों के मुँह खुल जायेंगे और उनकी क्रिया सामान्य रूप से होने लगेगी। कभी-कभी कीलों को निकालने या निकलवाने की भी जरूरत पड़ सकती है। लेकिन ऐसा करने में पूरी सफाई और सावधानी की जरूरत है। इसे उँगलियों से दबाकर निकालना प्रायः खतरनाक साबित होता है। इसके लिए चर्मकील निस्सारक (Comedo extractor) का उपयोग करना चाहिए।

आयुर्वेद की संहिताओं में मुँहासों पर उपयोग में आने वाले अनेक योगों की चर्चा की गयी है। उनमें से कुछ को नीचे दिया जा रहा है—

१. जायफल, लालचन्दन और काली मिर्च।

२. लोध, धनिया और वच।

३. श्वेत सरसों, वच, लोध और सेंधानमक।

४. अर्जुन की छाल, मंजीठ या मसूर की दाल।

५. सेमल के काँटे।

६. त्रिफला कल्क।

७. बरगद के कोमल पत्ते और नारियल की मंजरी।

इनमें से किसी भी योग को पानी अथवा कच्चे दूध के संयोग से पत्थर पर महीन घिस या पीसकर उपयोग में लाया जा सकता है।

८. कुंकुमादि तैल या मंजिष्ठादि तैल।

९. साथ में प्रातः-सायं सप्तामृतलौह मंजिष्ठादिक्वाथ के साथ और अग्नितुण्डी बटी दोनों समय भोजनोपरान्त गर्म जल से लेने से शीघ्र लाभ होता है।

कब्ज हो तो रात में सोते समय कोई भी मृदु-विरेचक यथा—त्रिफला या स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण दें। साथ में पिड़िकाओं की उग्रता को बढ़ाने वाला कोई अन्य रोग हो तो उसकी भी चिकित्सा साथ-साथ करें।

पथ्यापथ्य

१. भोजन सादा और सुपाच्य लें और पानी खूब पीयें।

२. चाय, काफी, कहवा, कोला तथा इसी प्रकार के अन्य मादक पदार्थों का सेवन कम-से-कम करें या न करें। चाकलेट, चाकलेट से बनी कोई भी चीज, आइसक्रीम, मूँगफली, चर्बीवाले तथा तेलहन युक्त पदार्थ, मिठाइयाँ आदि कम-से-कम लें। मांस, मछली, अण्डे आदि का प्रयोग यथासंभव कम कर दें। नमक भी कम कर दें।

३. अंगरेजी औषधियों में आयोडीन, आयोडिनीकृत अन्य वस्तुएँ, ब्रोमाइड तथा अन्य अवसादक योगों को न लें।

अन्य सावधानियाँ

१. प्रभावित अंगों को धूप और अग्नि के सीधे सम्पर्क में न आने दें।

२. मोटे, भारी, ऊनी विशेषरूप से रोयेंदार वस्त्र जिनका त्वचा से सीधा सम्पर्क हो, प्रयोग में न लायें।

३. मुँहासों को बालों से ढँकने या छिपाने का उद्योग न करें। बालों के नीचे दबे मुँहासे और भी उग्र रूप धारण कर लेते हैं।

बालग्रह

अध्याय ९३

बालग्रह : स्वरूप एवं निदान

चिकित्सा-विज्ञान इतनी उन्नति कर लेने के बाद भी अभी भी बहुत से ऐसे रोग हैं, जिनका कारण उसे ज्ञात नहीं हो सका है। उन्हें वह बिना किसी हिचक के अज्ञातकारण (Idiopathic) जन्य कहता है। साथ ही उनके कारणों की खोज भी जारी रखता है।

प्राचीनकाल में यह समस्या और भी जटिल रही होगी। बालरोग चूंकि अपने सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं होते, इसलिए उनको समझना, उनका सही निदान करना और भी कठिन रहा होगा। इसी क्रम में इन ग्रहों की कल्पना की गई होगी। प्रचलित मान्यता से इसे बल मिला होगा। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' में लिखा है—'बालकों के अनेक रोग जिनका कोई विशिष्ट नामकरण नहीं हुआ, वे सभी बालग्रह के अन्तर्गत कर दिये गये।'

ग्रह का शाब्दिक अर्थ है ग्रहण करना, ग्रसना, पकड़ना या बन्दी बनाना। जो अदृष्य शक्तियाँ बाहर से बालक के शरीर में प्रवेश कर उनके स्वास्थ्य का हरण कर लेती हैं, उन्हें रोगी बना देती हैं—उन्हीं को बालग्रह कहते हैं। इनको सामान्य तरीके से इन चर्म-चक्षुओं द्वारा नहीं देखा जा सकता। शास्त्र-पूत दृष्टि से अनुमान के द्वारा ही जाना जा सकता है। आज भी बहुत से ऐसे वायरस (Virus), बैक्टीरिया (Bacteria) आदि हैं जिन्हें हम रोगी के शरीर में प्रवेश करते हुए नहीं देख सकते। रोग-लक्षणों के आधार पर ही उनका अनुमान लगा सकते हैं या विशिष्ट विधियों द्वारा नैदानिक परीक्षण कर यन्त्रों की सहायता से उनका साक्षात्कार कर सकते हैं।

ग्रहों की संख्या

चरक ने ग्रहोन्माद से पृथक् बालग्रहों का कहीं पृथक् से वर्णन नहीं किया है। सुश्रुत ने इनकी संख्या नौ मानी है—१. स्कन्द, २. स्कन्दापस्मार, ३. शकुनी, ४. रेवती, ५. पूतना, ६. अन्धपूतना, ७. शीतपूतना, ८. मुखमण्डिका और ९. नैगमेय।

वाग्भट ने इनकी संख्या बारह मानी है—पाँच पुरुष-शरीरधारी और सात स्त्री-शरीरधारी। पुरुष-शरीरधारी ग्रह हैं—१. स्कन्द, २. विशाख,

३. मेषास्य, ४. श्वग्रह ५. पितृ । स्त्री-शरीरधारी ग्रह हैं—१. शकुनि, २. पूतना ३. शीतपूतना, ४. अदृष्टिपूतना, ५. मुखमण्डिका, ६. रेवती और ७. शुष्क रेवती । इनमें स्कन्दग्रह को सबसे प्रधान माना गया है ।

काश्यप ने रेवती को ही सबसे प्रधान ग्रह माना है । उसका वर्णन करते हुये उन्होंने कहा है—

सर्वग्रहाणामेका त्वं तुल्यवीर्यबलद्युतिः ।
भविष्यसि दुराधर्षा देवानामपि पूजिता ॥ —काश्यप-बालग्रह०

वीर्य, बल और द्युति में समान होते हुए भी तू सब ग्रहों की अपेक्षा दुर्वश होगी । देवता भी तेरी पूजा करेंगे । संसार में लोग तुझे अनेक नामों से जानेंगे ।

काश्यप ने उसके बीस नाम गिनाये हैं—१. वारुणी, २. रेवती, ३. ब्राह्मणी, ४. कुमारी, ५. बहुपुत्रिका, ६. शुष्का, ७. षष्ठी, ८. यमिका, ९. धरणी, १०. मुखमण्डिका, ११. माता, १२. शीतवती, १३. कण्डू, १४. पूतना, १५. निरुञ्चिका, १६. रोदनी, १७. भूतमाता, १८. लोकमातामही, १९. शरण्या तथा २०. पुण्यकीर्ति ।

रावणकृत बालतन्त्र में ग्रहों के बारह नाम गिनाये गये हैं—१. नन्दा, २. सुनन्दा, ३. पूतना, ४. मुखमण्डिका, ५. कटपूतना, ६. शकुनिका, ७. शुष्करेवती, ८. आर्यका, ९. स्वस्तिमातृका, १०. निऋतामातृका, ११. पिलिपिच्छिका तथा १२. कामुकामातृका । ये ग्रह क्रमशः प्रथम दिन, प्रथम मास या प्रथम वर्ष; द्वितीय दिन, द्वितीय मास या द्वितीय वर्ष—इसी प्रकार १२ वर्ष की वय तक बालक को आक्रान्त करते हैं ।

हारीत ने ग्रहों की संख्या आठ मानी है—१. लोहिता, २. रेवती, ३. वायसी, ४. कुमारी, ५. शकुनी, ६. शिवाग्रह, ७. ऊर्ध्वकेशी तथा ८. सेना । उनके अनुसार ये ग्रह क्रमशः पहले से आठवें दिन तक बालक को ग्रसते हैं ।

भावप्रकाश में ग्रहों की संख्या ९ और योगरत्नाकर में १२ बतलायी गई है ।

ग्रहबाधा के कारण

ग्रह निम्न तीन कारणों से प्राणी को ग्रसते हैं—

१. हिंसा की आकांक्षा से ।

२. रति की आकांक्षा से ।

३. बलि की आकांक्षा से ।

इनके लक्षणों का वर्णन करते हुये वाग्भट ने कहा है—

हिंसा की आकांक्षा से ग्रस्त प्राणी के लक्षण

तत्र हिंसात्मके बालो महान् वा स्रुतनासिकः ।
क्षतजिह्वः क्वणन् बाढमसुखी सास्रलोचनः ।।
दुर्वर्णो हीनवचनः पूतगन्धिश्च जायते ।
क्षामो मूत्रपुरीषं स्वं मृद्नाति न जुगुप्सते ।।
हस्तौ चोद्यम्य संरब्धो हन्त्यात्मानं तथापरम् ।
तद्वच्च शस्त्रकाष्ठाद्यैरग्निं वा दीप्तमाविशेत् ।।
अप्सु मज्जेत् पतेत् कूपे कुर्यादन्यच्च तद्विधम् ।
तृट्दाहमोहान् पूयस्य छर्दनं च प्रवर्तयेत् ।।
रक्तं च सर्वमार्गेभ्योऽरिष्टोत्पत्तिं च तं त्यजेत् ।

—अ० सं० उ० ३।३९-४२

हिंसा की आकांक्षा से ग्रस्त प्राणी में, चाहे वह बालक हो या बड़ा, निम्न लक्षण पाये जाते हैं—नाक से स्राव, जिह्वा में व्रण, बलपूर्वक जोर से चिल्लाना या बोलना, दुखी होना, आँखों से पानी बहना, शरीर का विवर्ण होना, आवाज में दीनता, मुख से दुर्गन्ध आना, कमजोर एवं दुबला होना, मल-मूत्र को शरीर पर मलना, उससे घृणा न करना, हाथों को ऊँचा उठाकर वेग से अपने को तथा दूसरों को मारना, शस्त्र अथवा लकड़ी से मारना, जलती अग्नि में कूदने की चेष्टा करना, पानी में डूबने, कुएँ में गिरने या इसी प्रकार अन्य उपायों से आत्महत्या करने का प्रयास करना, प्यास, दाह एवं मूर्च्छा, पूय का वमन, सभी मार्गों से रक्तस्राव होना। ये सभी अरिष्ट लक्षण हैं। इनसे ग्रस्त रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

रति की आकांक्षा से ग्रस्त रोगी के लक्षण

रहःस्त्रीरतिसंल्लापगन्धस्रग्भूषणप्रियः ।
हृष्टः शान्तश्च दुःसाधो रतिकामेन पीडितः ।।

—अ० सं० उ० ३।४३

रति की आकांक्षा से ग्रसित प्राणी एकान्त, स्त्री-सेवन, स्त्री से बातचीत, सुगन्ध, माला तथा आभूषणों को पसन्द करता है। वह प्रसन्न और शान्तचित्त दिखलाई देता है। यह कष्टसाध्य है।

बलि की आकांक्षा से ग्रसित प्राणी के लक्षण

दीनः परिमृशन् वक्त्रं शुष्कौष्ठगलतालुकः ।
शङ्कितं वीक्षते रौति ध्यायत्यायाति भीतताम् ।।

अन्नमन्नाभिलाषेऽपि दत्तं नाति बुभुक्षते।
गृहीतं बलिकामेन तं विद्यात् सुखसाधनम्।।
—अ० सं० उ० ३।४४-४५

बलि की आकांक्षा से ग्रसित प्राणी के मुख पर दीनता झलकती है। वह बार-बार अपने मुख का स्पर्श करता है। उसके होंठ, गला तथा तालु सूखे हुए रहते हैं। वह शंकित होकर सभी ओर देखता है। रोता, ध्यानमग्न होता और डरता है। अन्न की चाह होने पर भी दिये हुए अन्न को बहुत नहीं खाता। यह सुखसाध्य होता है।

यद्यपि इन लक्षणों का वर्णन बालोपचरणीय अध्याय में बालग्रहों के संदर्भ में किया गया है पर लगभग इन्हीं या ऐसे ही लक्षणों का उल्लेख आगन्तुक उन्माद या ग्रहोन्माद से पीड़ित व्यक्तियों के संदर्भ में भी किया गया है। इसलिए शुरू-शुरू में ही हिंसा की आकांक्षा से ग्रस्त प्राणी के संदर्भ में कहा गया है—**बालो महान् वा**। इसे तीनों पर लागू मानना चाहिए।

बाल्यावस्था की अवधि जन्म से सोलह वर्ष तक मानी गयी है। बाल-ग्रहबाधा का काल भी बारह वर्ष की अवस्था तक माना गया है। इसलिए इन लक्षणों को लागू करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा। बहुत छोटे बच्चों में रोग के सभी लक्षण व्यक्त नहीं होते पर जैसे-जैसे वे बड़े होते जाते हैं उनमें लक्षण अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। उनकी उम्र के अनुरूप उनमें जिन लक्षणों की अभिव्यक्ति जिस रूप में संभव हो सकती है उसी के अनुरूप उनमें उन लक्षणों को देखना चाहिए। शिशु शस्त्र या लकड़ी से किसी को नहीं मार सकता लेकिन बड़ा बच्चा मार सकता है। उसमें आत्महत्या की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है।

हिंसा और बलि के लक्षणों को लेकर उतना भ्रम नहीं पैदा होता जितना रति की आकांक्षा को लेकर। प्रायः यह बात छात्रों के गले नहीं उतरती। उसका एक कारण यह भी है कि उक्त उद्धरण में जो लक्षण दिये गये हैं वे प्रायः बड़ों पर लागू होते हैं, बच्चों पर नहीं। इस पर थोड़ा गहराई से सोचने की जरूरत है। रतिभाव कामभाव का प्रतीक है। और कामैषणा प्राणी में जन्मजात होती है। जन्मकाल से ही शुक्रकला मूर्धा से नीचे की ओर बढ़ने लगती है। ज्यों-ज्यों वह नीचे उतरती है, अंगों में पुष्टि और कान्ति आती जाती है। सोलहवें वर्ष के लगभग वह बालक-बालिकाओं के स्तन तक आ जाती है। तब दोनों के स्तन फूलते हैं। कुछ समय के उपरान्त बालकों के स्तनों का फूलना समाप्त हो जाता है, परन्तु बालिकाओं का बढ़ता जाता है।

जिन्हें इस विषय में अधिक रुचि हो उन्हें फ्रायड प्रणीत मनोलैंगिक विकास (Psychosexual development) का अध्ययन करना चाहिए। उसने बालक के समस्त मनोलैंगिक विकास को पाँच अवस्थाओं में बाँटा है—मुख अवस्था (Oral stage), गुदा अवस्था (Anal stage), लैंगिक अवस्था (Phallic stage), काम-प्रसुप्ति की अवस्था (Latency stage) और जननांगीय अवस्था (Genital stage)। इनका विस्तार उन्होंने क्रमशः जन्म से १८ महीने, ८ महीने से ४ वर्ष, ३ वर्ष से ७ वर्ष, ५ वर्ष से १२ वर्ष और १२ वर्ष से २० वर्ष तक माना है। इस संदर्भ में उन्होंने शैशव कामुकता (Infantile sexuality) के लक्षणों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। उभरती उम्र के किशोर बालक-बालिकाओं में तो ये लक्षण बड़े ही स्पष्ट होते हैं। कामैषाणा का दमन उनमें अनेक काम सम्बन्धी विकृतियों को जन्म देता है। जो उनकी चिन्ता और मानसिक क्लेश का कारण बनती हैं।

आप देखेंगे कि उक्त लक्षणों में अधिकांश ऐसे लक्षण हैं जो मानसिक कुण्ठाओं से ग्रस्त या मानसिक रोगियों में ही अधिक पाये जाते हैं।

इन लक्षणों का वर्णन करने के साथ-साथ आयुर्वेद के संहिताकारों ने मनोदैहिक तन्त्र की उन स्थितियों का वर्णन किया है जो बालकों की ग्रहबाधा के प्रति सुग्राह्यता को बढ़ा देती हैं। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर ग्रह बालक को अपने प्रभाव में ले लेते हैं। आगे इन्हीं परिस्थितियों का वर्णन किया जा रहा है।

ग्रह किन बच्चों को ग्रसते हैं ?

धात्रीमात्रोः प्रावप्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान्मङ्गलाचारहीनान्।
त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान्॥

—सू० उ० २७।६

सुश्रुत के अनुसार ग्रह निम्न प्रकार के बच्चों को पीड़ित करते हैं—

१. जिन बच्चों को दूध पिलाने वाली माता या धात्री बिना विचारे अंट-संट खाती रहती है। कुपथ्य का सेवन करती है। आचार-विचार में शुद्धता के नियमों का पालन नहीं करती। गंदगी से रहती है। बच्चे को गंदे ढंग से रखती है। उसके पहनने के वस्त्र, बिछौने आदि की सफाई का समुचित ध्यान नहीं रखती। बच्चे के मलमूत्र त्याग करने के बाद उसके अंगों को ठीक से नहीं धोती। शास्त्रोक्त मांगलिक विधानों का उल्लंघन करती है। रक्षा-कर्मों का अनुपालन नहीं करती।

गर्भिणीव्याकरण अध्याय में बतलाया गया है कि गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली माता को क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए, क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। माता का कुपथ्य-सेवन बच्चे में पेट की बीमारियों को जन्म देता है। उसका शौच के नियमों का पालन न करना बच्चे में तरह-तरह के संक्रमण का कारण बनता है। आयुर्वेदोक्त रक्षा-कर्म भी बालक के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के विसंक्रमण के तथा आस-पास के वातावरण को शुद्ध रखने के उपाय हैं।

२. जिन बच्चों को अनुचित ढंग से डराया, धमकाया या पीटा जाता है। प्रायः बच्चों को अनुचित काम करने से रोकने के लिए या उनसे मनमाना काम कराने के लिए उन्हें तरह-तरह से डराया-धमकाया जाता है। भूत-प्रेत, हिंसक पशु आदि का या इसी प्रकार की डरावनी चीजों का डर दिखलाया जाता है। इनका बच्चों के कोमल मन पर खराब असर होता है। बहुत से डर स्थायी रूप से उनके मन में घर कर जाते हैं। वे संकल्पशक्ति से हीन और बुजदिल हो जाते हैं। ये परिस्थितियाँ उसमें मानसिक विकारों को जन्म देती हैं। उनके संवेग अस्थिर एवं विकृत रूप धारण कर लेते हैं।

३. जिन बच्चों को अनुचित ढंग से अनावश्यक रूप से हँसाया जाता है। अनुचित रूप से हँसाना भी उनके संवेगों को विकृत बनाता है।

शूलिनेति नियुक्तास्ते बलिपूजाभिकाङ्क्षिणः।
क्रुद्धान् भीतान् विमनसः शून्यस्थानैकचारिणः॥
परोपभुक्तकुसुमवस्त्राभरणधारिणः ।
बालान्कश्मलधात्रीकान् सन्ध्यासु रुदतोऽशुचीन्॥
ऋक्षोलूकबिडालादिरूपैरन्यैस्तथाद्भुतैः ।
सन्त्रासयन्तःशयितान् कदाचिज्जाग्रतोऽपि वा।
प्रायः पर्वसु गृह्णन्ति ग्रहाश्छिद्रप्रहारिणः॥

—अ० सं० उ० ३।८-१०

१. क्रुद्ध, डरे हुए, दुश्चित्त तथा एकान्त स्थान में अकेले घूमने वाले। ये परिस्थियाँ मानसिक विकारों (Neurotic tendencies) की सूचक हैं।

२. दूसरों से सेवित पुष्प, वस्त्र तथा आभूषण को धारण करने वाले। ये परिस्थितियाँ संक्रमण को जन्म देने वाली हैं।

३. दुराचारी धात्री से सेवित। यदि धात्री आचरणहीन है तो एक तो उसका दूध दूषित होगा और दूसरे वह बालक की सेवा में आवश्यक तत्परता नहीं दिखलायेगी, उसे इधर-उधर छोड़ देगी। इससे बालक किसी भी अभक्ष्य

को मुँह में डाल सकता है, किसी भी अस्पृश्य चीज को छू सकता है, गंदगी या दुर्घटना का शिकार हो सकता है।

४. जो बच्चे बहुत रोते या अपवित्र (गंदी) अवस्था में रहते हैं।

उक्त उद्धरण में दो बातें और बतलायी गयीं हैं—

१. ये ग्रह भालू, उल्लू, बिल्ली आदि का रूप धारण करके या अन्य अद्भुत रूपों में सोयी हुई अवस्था में या जागते हुए बच्चों को डराते हुए पकड़ लेते हैं।

२. ये ग्रह अभिभावकों की त्रुटि या भूल का लाभ उठाकर अचानक बच्चों पर आक्रमण करते हैं।

भालू, उल्लू, बिल्ली आदि पशु न केवल डरावने बल्कि हमारी संस्कृति में अशुभसूचक एवं आसुरी शक्तियों से सम्बद्ध माने जाते हैं। बालकों से सम्बद्ध टोने-टोटके में प्रायः इनका या इनके अंगों (बाल, नख, पंख आदि) का व्यवहार किया जाता है। अतः बालकों के लिए ये भय के प्रतीक बन जाते हैं। जागते हुए तो वे इनसे डरते ही हैं सोयी हुई अवस्था में भी इनके सपने देखकर डर जाते हैं, चीख उठते हैं।

शैशवावस्था में बच्चों का प्रतिरक्षण-तन्त्र पूर्ण रूप से विकसित नहीं होता। वे जल्द ही संक्रमण का शिकार हो जाते हैं। ऐसी हालत में यदि माता अपनी तथा बच्चे की सफाई का पूरा ध्यान नहीं रखती तथा आवश्यक सावधानी नहीं बरतती तो बच्चा आसानी से संक्रमण का शिकार हो जाता है। बच्चों में संक्रमण का प्रभाव भी जल्दी और तेजी से फैलता है। माता या धात्री की जरा-सी भूल कभी-कभी बच्चे के लिए प्राण-घातक सिद्ध हो सकती है।

ग्रहबाधा के पूर्वरूप

तेषां ग्रहिष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः।

—अ० सं० उ० ३।१२

बच्चे का सतत रोना और ज्वरग्रस्त होना ग्रहबाधा के पूर्वरूप हैं।

सामान्य लक्षण

सामान्यं रूपमुत्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः।
फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदन्तदंशप्रजागराः॥
रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम्।
नखैरकस्मात् परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम्॥

—अ० सं० उ० ३।१३-१४

डरना, जम्भाई लेना, भौहों को चलाना, दीनता, मुँह से फेन आना, ऊपर ताकना, ओठों को दाँतों से काटना, दाँत किटकिटाना, रात्रि में जागना, रोना-कराहना, दूध न पीना, आवाज़ बदल जाना, नखों से सहसा विना कारण धात्री के और अपने शरीर को नोचना-खरोचना—ये सब ग्रहों के सामान्य लक्षण हैं।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति, नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्त्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्य-च्छुच्छुन्दरि-मत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः।

—सुश्रुत, शा० १०।५६

खिन्न होना, त्रसित होना, रोना, संज्ञाहीन होना, नख और दाँतों से अपने तथा धात्री को नोंचना-काटना, दाँत किटकिटाना, कूँ-कूँ शब्द करना, जम्भाई लेना, भृकुटियों को सिकोड़ना, उपर ताकना, मुँह से फेन निकालना, क्रूर होते हुए ओठ काटना, मल पतला और कच्चा निकलना, कण्ठस्वर का दीन एवं आर्त होना, रात में नींद न आना, शरीर का दुर्बल एवं म्लान होना, शरीर से मछली, छछूंदर एव खटमलों के समान दुर्गंध आना, पहले के समान दूध पीने की इच्छा न करना—ये ग्रहपीड़ित बालक के सामान्य लक्षण हैं।

इन सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त बालक जिस विशेष ग्रह से पीड़ित होता है, उसमें उसके विशेष लक्षण भी पाये जाते हैं। आगे के पृष्ठों में ग्रहबाधाक्षों के पृथक्-पृथक् लक्षण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

स्कन्दग्रह से पीड़ित बालक के लक्षण

तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः।
हतैकपक्षः स्तब्धाङ्गः सस्वेदो नतकन्धरः॥
दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरम्।
वक्रवक्त्रो वमन् लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते।
वसास्रगन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः॥
चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः।
स्कन्दार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद् ध्रुवम्॥

—अ० सं० उ० ३।१५-१७

स्कन्दग्रह से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—एक आँख से पानी बहना, बार-बार सिर को फेंकना, एक पार्श्व या एक ओर के अंग का

निष्क्रिय हो जाना, अंगों का कठोर हो जाना, पसीना आना, गर्दन का लुढ़क जाना, दाँतों को काटना, दूध न पीना, डरना, विकृत स्वर में रोना, मुँह का टेढ़ा हो जाना, अधिक मात्रा में लार वहना, ऊपर की ओर ताकना, उसके शरीर से वसा या रक्त की-सी गंध आना, वेचैनी, मुट्ठियाँ भींचना, मलावरोध, एक आँख, एक कपोल तथा एक भ्रू का हिलना, चेहरे का सुर्ख हो जाना तथा आँखों का डरा-डरा-सा होना।

इसमें अर्दित-सह-शैशवीय पक्षाघात (Hemiplegia with facial paralysis) के मिले-जुले लक्षण पाये जाते हैं।

स्कन्दापस्मार (विशाखा) ग्रह के लक्षण

संज्ञानाशो मुहु केशलुञ्चनं कन्धरानति ।
विनम्य जृम्भमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम् ॥
फेनोद्वमनमूर्ध्वेक्षा हस्तभ्रूपादनर्तनम् ।
स्तनस्वजिह्वासन्दंशसंरम्भज्वरजागराः ॥
पूयशोणितगन्धश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम् ।

—अ० सं० उ० ३।१८-१९

स्कन्दापस्मार ग्रह से पीड़ित बालक में प्रधान रूप से निम्न लक्षण पाये जाते हैं—वार-वार मूर्च्छित होना, बालों को नोचना, गर्दन का झुक या लुढक जाना, झुककर जम्भाई लेते समय मलमूत्र का निकल जाना, मुँह से फेन आना, ऊपर की ओर दृष्टि, हाथ-पैर और भ्रूवों को नचाना, धात्री के स्तन तथा अपनी जिह्वा को काटना, वेग के साथ क्रोध आना, ज्वर, अनिद्रा तथा शरीर से पूय और रक्त की-सी गंध आना।

इसमें अपस्मार (Epilepsy) में पाये जानेवाले लक्षणों की प्रधानता पायी जाती है।

नैगमेय (मेष) ग्रह के लक्षण

आध्मानं पाणिपादस्य स्पन्दनं फेननिर्वमिः ।
तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः ॥
कूजनं स्तननं छर्दिः कासहिध्माप्रजागराः ।
ओष्ठदंशांससङ्कोचस्तम्भबस्ताभगन्धताः ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं मध्ये विनमनं ज्वरः ।
मूर्च्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाकृतिः ॥

—अ० सं० उ० ३।२०-२२

नैगमेय ग्रह से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—आध्मान, हाथ-पैर हिलाना, मुँह से फेन आना, प्यास, मुट्ठी भींचना, अतिसार, क्षीण या दबी हुई आवाज, विवर्णता, कराहना, अस्पष्ट शब्द, वमन, कास, हिक्का, रात्रि में जागना, ओठ काटना, कन्धों को भींचना, अंगों में स्तब्धता, ऊपर की ओर देखकर हँसना, पेट पर झुकना, ज्वर, मूर्च्छा, एक आँख पर सूजन तथा शरीर से बकरे के समान गंध आना।

इस प्रकार के लक्षण निर्जलीभवनजन्य निपात (Collapse due to dehydration) में देखने को मिलते हैं।

श्वग्रह के लक्षण

कम्पो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम्।
बहिरायामनं जिह्वादंशोऽन्तःकण्ठकूजनम्॥
धावनं विट्सगन्धत्वं क्रोशनं च श्ववच्छुनि॥

—अ० सं० उ० ३।२३

श्वग्रह से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—काँपना, शरीर में रोमांच होना, पसीना आना, आँखों को वन्द रखना, पीठ की ओर झुकना, जिह्वा का काटना, कण्ठ में कूजन, दौड़ना-भागना, शरीर से मल के समान दुर्गन्ध आना तथा कुत्ते के समान चिल्लाना तथा आवाज़ करना।

श्वग्रह के लक्षणों में कूकुर-कास (Whopping cough), अपतानक (Tetanus) तथा जलसन्त्रास (Hydrophobia) इन तीनों के मिले-जुले लक्षण पाये जाते हैं।

पितृग्रह के लक्षण

रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः।
कासातिसारवमथुजृम्भातृट्च्छवगन्धिताः॥
अङ्गेष्वाक्षेपविक्षेपशोषस्तम्भविवर्णताः॥
मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे॥

अ० सं० उ० ३।२४-२५

पितृग्रह से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—रोमांच होना, बार-बार डर जाना, सहसा अकारण रोना, ज्वर, कास, अतिसार, वमन, जम्भाई, प्यास की अधिकता, अंगों में आक्षेप, अंगों (हाथ-पैर) का इधर-उधर फेंकना, अंगों का सूखना, अंगों में जड़ता तथा विवर्णता, मुट्ठी बाँधना, आँखों से पानी बहना तथा शरीर से शव की-सी गन्ध आना।

विसूचिका के कारण उत्पन्न निर्जलीभवन (Dehydration due to cholera) की अवस्था में जो लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, उनसे उक्त लक्षणों में साम्य मालूम होता है ।

शकुनिग्रह के लक्षण

स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वातालुगले व्रणाः ।
स्फोटाः सदाहरुक्पाकाः सन्धिषु स्युः पुनः पुनः ॥
निश्यह्नि प्रविलीयन्ते पाको वक्त्रे गुदेऽपि वा ।
भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे ॥

—अ० सं० उ० ३।२६-२७

शकुनिग्रह से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—अंगों में शिथिलता, अतिसार, जिह्वा-तालु एवं गले में व्रण, सन्धियों में दाह, वेदना तथा पकनेवाले छालों का बार-बार होना, छालों का रात्रि में होना और दिन में विलीन हो जाना, मुख और गुदा में भी पाक होना, ज्वर, डरना तथा शरीर से गिद्ध, चील या मुर्गे की-सी गन्ध आना ।

इसमें तीन प्रमुख नैदानिक लक्षणों की प्रधानता है—अतिसार, सन्धि-शोथ तथा त्वक्‌विस्फोट । इसमें मुखपाक (Stomatitis), दण्डाणुज अतिसार (Bacillary dysentry) तथा त्वक्‌ग्राह या पैलाग्रा (Pellagra) के लक्षण पाये जाते हैं । प्रधानता पैलाग्रा की ही मालूम होती है । इसका कारण मुख सहित समस्त जठरान्त्रीय-संस्थान में तीव्र शोथ की अवस्था (Inflammatory condition of the bucco gastro-intestinal tract) भी हो सकती है जो किसी प्रकार के विषाक्त या असात्म्य भोजन के लगातार लेने के कारण उत्पन्न हो सकती है ।

पूतनाग्रह के लक्षण

पूतनायां वमिः कम्पस्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः ।
हिध्माध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः ॥
स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्वं काकवत् पूतिगन्धिता ।

—अ० सं० उ० ३।२८

पूतनाग्रह से पीड़ित बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—वमन, कम्प, तन्द्रा, रात में जागना, हिचकी, आध्मान, अतिसार, प्यास, मूत्र का अवरोध, अंगों में शिथिलता, रोमांच तथा शरीर से कौवे के समान दुर्गन्ध आना ।

इसके लक्षण उग्रस्वरूप के संक्रामक बालातिसार (Epidemic diarrhoea in children) से मिलते-जुलते हैं ।

शीतपूतना के लक्षण

शीतपूतनया कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणम् ।
तृष्णान्त्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धिता ।।
पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च ।

—अ० सं० उ० ३।२९

शीतपूतना से आक्रान्त बालक में निम्न लक्षण पायें जाते हैं—कम्पन, रोना, तिरछा देखना, प्यास, आँतों में कूजन (गुड़गुड़ाहट), अतिसार, वसा (सड़ी मछली) की-सी गन्ध, एक पार्श्व ठण्डा और दूसरा पार्श्व गरम होना।

इसमें विसूचिकात्मक अतिसार (Choleric diarrhoea) के-से लक्षण पाये जाते हैं।

अन्धपूतना के लक्षण

अन्धपूतनया च्छर्दिज्वरः कासोऽल्पनिद्रता ।
वर्चसो भेदवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यान्यङ्गशोषणम् ।।
दृष्टिसादोऽक्षिरुक्कण्डूः पोथकीजन्म शूनता ।
हिध्मोद्वेगः स्तनद्वेषवैवर्ण्यस्वरतीक्ष्णताः ।।
वेपथुर्मत्स्यगन्धित्वमथवा साम्लगन्धिता ।।

—अ० सं० उ० ३।३०-३१

अन्धपूतना से पीड़ित वालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—वमन, ज्वर, कास, नींद की कमी, अतिसार, मल में विवर्णता, दुर्गन्ध, अंगों का सूखना, दृष्टि की शिथिलता, आँखों का दुखना, खुजली एवं सूजन, पोथकी, हिचकी, वेचैनी, स्तनद्वेष, विवर्णता, स्वर में तीक्ष्णता, कम्पन तथा शरीर से मछली की-सी या खट्टी गन्ध आना।

अन्धपूतना के लक्षण तीव्रस्वरूप के दण्डाणुज अतिसार (Bacillary dysentry) से मिलते-जुलते मालूम होते हैं।

मुखमण्डिका के लक्षण

मुखमण्डितया पाणिपादास्यरमणीयता ।
सिराभिरसिताभाभिराचितोदरता ज्वरः ।।
अरोचकोऽङ्गग्लपनं गोमूत्रसमगन्धिता ।

—अ० सं० उ० ३।३२

मुखमण्डिका से आक्रान्त वालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—हाथ, पैर और मुख पर कमनीयता (लाली), पेट पर काली सिराओं का उभरना, ज्वर, अरोचक अंगों में ग्लानि तथा शरीर से गोमूत्र के समान गन्ध आना।

इस रोग में अनावृत्त भागों में सुन्दरता, भूख की अधिकता, पेट पर सिराओं की अधिकता तथा मूत्रगन्धता—ये चार प्रमुख लक्षण हैं। ऐसे सभी लक्षण-समूह अभी तक किसी एक ज्ञात रोग में देखने को नहीं मिलते।

रेवतीग्रह के लक्षण

रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम्।
कासहिध्माक्षिविक्षेपवक्त्रवक्रत्वरक्तताः ॥
बस्तगन्धो ज्वरः शोषः……………।—अ. सं. उ. ३।३५

रेवतीग्रह से आक्रान्त बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—शरीर के रंग का काला या नीला होना, कान, नाक और आँखों को मलना, कास, हिक्का, आँखों को चलाना, मुँह का टेढ़ापन, सुर्खी, ज्वर, शोष तथा शरीर से बकरे की-सी गन्ध आना।

रेवतीग्रह के लक्षण घातकस्वरूप के अरक्तता (Pernicious anaemia) से साम्य रखते हैं।

शुष्करेवती के लक्षण

… … … … पुरीषं हरितं द्रवम्।
जायते शुष्करेवत्यां क्रमात् सर्वाङ्गसङ्क्षयः ॥
केशशातोऽन्नविद्वेषः स्वरदैन्यं विवर्णता।
नानावर्णपुरीषत्वमुदरे ग्रन्थयः सिराः ॥
रोदनं गृद्ध्रगन्धित्वं दीर्घकालानुवर्तनम्।—अ. सं. उ. ३।३५

शुष्करेवती से आक्रान्त बालक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—मल का हरा, पीला आदि विविध रंगों का एवं पतला होना, धीरे-धीरे सभी अंगों का क्षीण होते जाना, बालों का गिरना, स्तनपान तथा भोजन में अरुचि, स्वर में दीनता, विवर्णता, उदर में गाठें एवं सिराएँ, रोना तथा शरीर से देर तक गिद्ध की-सी गन्ध आना।

शुष्करेवती के लक्षण बालकों के एक प्रकार के सूखा रोग—मरास्मस (Marasmus) तथा सभी धातुओं के क्षय (Wasting) से साम्य रखते हैं।

इस रोग के घातकस्वरूप की ओर संकेत करते हुए वृद्धवाग्भट ने आगे कहा है—

उदरे ग्रन्थयो वृत्ता यस्य नानाविधं शकृत्।
जिह्वाया निम्नता मध्ये श्यावं तालु च तं त्यजेत् ॥
भुञ्जानोऽन्नं बहुविधं यो बालः परिहीयते।
तृष्णागृहीतः क्षामाक्षो हन्ति तं शुष्करेवती ॥
—अ० सं० उ० ३।३६-३७

जिस बालक के उदर में गोल-गोल गाठें हों, मल नाना रंग का हो, जिह्वा बीच से दबी और तालु में कालापन हो, उसका रोग असाध्य समझकर वैद्य को उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। जो बालक नाना प्रकार के अन्न खाने पर निरन्तर क्षीण एवं दुर्बल होता जाता है, प्यास बढ़ती जाती है और आँखें अन्दर को धँसती जाती हैं, उसे शुष्करेवती मार डालती है।

काश्यपोक्त रेवतीग्रह के लक्षण

काश्यप ने रेवती को ही एकमात्र प्रधान ग्रह माना है और ग्रहबाधाजन्य प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण लक्षणों का उसी के अन्तर्गत समावेश कर दिया है—

ज्वरातिसारो वैसर्पः पीडनेन्द्रियदूषणम्।
आनाहः शूलमरुचिर्मि······नं श्वासकासतृट्॥
निद्रानाशोऽतिनिद्रा च मुखपाको व्रणोद्भवः।
एकाङ्गकः पक्षवधः क्षीरालसविसूचिका:॥
हिक्का मूर्च्छा मदो मोहो रोदनं स्तब्धनेत्रता।
स्वरवर्णाग्निभेदश्च पाण्डुत्वं कामलाऽरतिः॥
क्षीरदूषणनाशौ च शिरोरुग्घृदयद्रवः।
नासाक्षिकर्णरोगाश्च त्रासकुञ्चनरोदनम्॥
ये चान्ये चैव विविधा ये रोगा नानुकीर्तिताः।
रेवतीरोषसम्भूता भूयिष्ठं त उदाहृताः॥

—काश्यप–बालग्रहचिकित्सा०

ज्वर, अतिसार, विसर्प, पीड़ा, इन्द्रियों का दूषित होना, आनाह, शूल, अरुचि, श्वास, कास, तृषा, निद्रानाश, अतिनिद्रा, मुखपाक, व्रणोत्पत्ति, एकांग-वात, पक्षाघात, क्षीरालसक, विसूचिका, हिक्का, मूर्च्छा, मद, मोह, रोदन, नेत्रों की स्तब्धता, स्वरभेद, वर्णभेद, अग्निभेद, पाण्डु, कामला, अरति, क्षीर-दोष, क्षीरनाश, शिरःशूल, हृदयद्रव, नासारोग, अक्षिरोग, कर्णरोग, त्रास, कुञ्चन तथा रोदन—ये तथा दूसरे भी बहुत से रोग जिनका वर्णन नहीं किया गया है, उन्हें रेवती के क्रोध से ही उत्पन्न मानना चाहिए।

ग्रहबाधाजन्य रोगों के अध्ययन के समय निम्न बिन्दुओं पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए—

(१) प्राचीनकाल में चिकित्सा की सभी विधाएँ-शाखाएँ आज के समान विकसित नहीं थीं, विशेषरूप से शरीर-रचना, शरीर-क्रिया तथा गर्भ-विज्ञान एवं प्रसूति-तन्त्र। इसलिए गर्भस्थ शिशु के अध्ययन की अपनी सीमाएँ थीं।

(२) नैदानिक दृष्टि से बालरोगों का निदान सबसे कठिन होता है। वह

आज भी है। उम्र जितनी ही कम होती है, रोग के लक्षण उतने ही अव्यक्त एवं अस्पष्ट होते हैं। उनको समझ पाना मुश्किल होता है। इसलिए पृथक्-पृथक् रोगों के लक्षण-समूहों (Syndromes) के अनुरूप बालरोगों का वर्गीकरण एक कठिन समस्या होती है। प्राचीनकाल में जबकि नैदानिक परीक्षण की विधा इतनी अधिक विकसित नहीं थी, यह कार्य और भी कठिन रहा होगा। इसलिए वहुत से ऐसे रोग, जिनका उस समय तक ज्ञात रोगों के अन्तर्गत समावेश करना कठिन था, ग्रह-रोगों या ग्रहवाधाओं में समाविष्ट कर दिये गये।

काश्यपसंहिता के हिन्दी टीकाकार सत्यपाल भिषगाचार्य ने लिखा है—'वास्तव में ये भिन्न-भिन्न प्रकार के वालकों के रोग ही हैं जिन्हें ग्रहों का नाम दे दिया गया है। प्राचीनकाल में स्वस्थवृत्ति की दृष्टि से सूतिकागारों का संभवतः उचित प्रवन्ध न होने से वालकों को अनेक प्रकार के रोग घेर लेते थे। उन्हें ही सम्भवतः ग्रहरोगों के नाम दिये गये हैं।' (काश्यपसंहिता, चिकित्सास्थान, बालग्रहचिकित्सा-अध्याय, पृष्ठ ९९)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने भी इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—

'आयुर्वेदीय कौमारभृत्य में बालग्रहों का विशेष महत्त्व है। बालकों के अनेक रोग जिनका कोई विशिष्ट नामकरण नहीं हुआ, वे बालग्रह के अन्तर्गत कर दिये गये।' (आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास–संक्षिप्त संस्करण–पृष्ठ ३७६)।

(३) यह मानव स्वभाव है कि जहाँ वह विवश होता है, दैवी या पराभौतिक शक्तियों का सहारा लेता है। आयुर्वेदज्ञों ने भी यही किया। प्रचलित भूतविद्या से इसे बल मिला। भूतविद्या आयुर्वेद का एक अंग बन गयी।

इतना होने पर भी सुश्रुत ने जिन रोगों को आगन्तुक, विशेषरूप से जिसे दैवी शक्तियों की उपज माना जाता है, दोषज मानने पर ही अधिक बल दिया है। आगन्तुक अपस्मार के विवेचन-क्रम में उन्होंने कहा है—

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः॥

—सुश्रुत-उत्तरतन्त्र ६१।२०

'पृथ्वी के अन्दर अज्ञात रूप से पड़े हुए कुछ बीज वर्षों में मेघ के बरसने पर भी अंकुरित न होकर शरद ऋतु में अंकुरित होते हैं। ठीक उसी प्रकार शरीर में व्याधियों के बीजभूत कारणरूप दोष मनुष्य के अनजाने ही अव्यक्त अवस्था में उसमें वर्तमान रहते हैं और निश्चित समय पर अचानक अपना रोगोत्पादन रूप प्रभाव दिखलाते हैं।' ऐसे में ही व्यक्ति इन्हें अज्ञातकारणजन्य या दैवी-शक्तियों की उपज मान लेता है।

(४) बालग्रह अधिकांशतः नवजात शिशुओं को जन्म के कुछ दिनों के अन्दर ही ग्रसते हैं। यही वह उम्र होती है जबकि बालक संक्रमणों के प्रति सबसे अधिक संवेदनशील होता है। प्राचीनकाल में प्रसव की प्रक्रियाएँ एवं गर्भोत्तर देखभाल की विधाएँ इतनी अधिक विकसित नहीं थीं। अतः प्रसवकाल में असावधानी के कारण बालक को आघात लग जाना या किसी प्रकार के संक्रमण का प्रवेश कर जाना अपेक्षाकृत आसान था। इसलिए उस समय बालमृत्यु-दर अधिक थी।

(५) भिन्न-भिन्न ग्रहों के प्रत्ययों के अन्तर्गत जिन लक्षण-समूहों (Syndromes) का समावेश किया गया है उनका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उनमें से अधिकांश लक्षण जठरान्त्रिय संस्थान, श्वसन-संस्थान तथा तन्त्रिका संस्थानों (Gastro-intestinals respiratory and nervous systems) से सम्बन्ध रखते हैं। बाल्यावस्था में इन तन्त्रों से सम्बन्धित रोग ही अधिक होते हैं। इनके उपचार की ओर यदि समय रहते तत्काल ध्यान नहीं दिया गया तो वे जटिल रूप धारण कर लेते हैं और बालक के लिए घातक सिद्ध होते हैं। आजदिन भी जबकि चिकित्सा विज्ञान इतनी उन्नति कर गया है, विकासशील देशों में बालमृत्यु-दर के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि लगभग ४१ प्रतिशत बालक जठरान्त्रिय विकारों से, २५ प्रतिशत बालक श्वसन सम्बन्धी विकारों से तथा १० प्रतिशत बालक तन्त्रिका-तन्त्रीय विकारों से मरते हैं। आधुनिक दृष्टिकोण से इनमें से अधिकांश रोग कीटाणुजन्य (वायरस या बैक्टीरियाजन्य) होते हैं।

(६) ग्रहों की संख्या और उनके नामों के सम्बन्ध में प्राचीन संहिताकारों में मतैक्य नहीं पाया जाता। यह तथ्य विषय की अस्पष्टता एवं संदिग्धता का बोधक है। बाद के ग्रन्थकारों ने उक्त संहिताओं के आधार पर ही, उन्हीं का अनुगमन करते हुए ही ग्रह-बाधाओं का वर्णन किया है।

इस सम्बन्ध में काश्यप का मत ही अधिक व्यावहारिक मालूम होता है। उन्होंने सभी ग्रहों को एक रेवतीग्रह के अन्तर्गत मान लिया है। उन्होंने रेवती ग्रह से आक्रान्त बालकों में जिन रोगों के होने का वर्णन किया है, उनमें सभी ग्रहों के अन्तर्गत होनेवाले रोगों का समावेश हो जाता है।

आधुनिक दृष्टि से भी देखें तो जितने अधिक बालक घातक रक्ताल्पता, शोष तथा समस्त धातुओं के क्षय से मरते हैं, उतने अन्य किसी रोग से नहीं मरते। प्राचीनकाल में तो इनके निदान तथा उपचार की अधिक जानकारी न होने के कारण इन्हें प्रायः असाध्य माना जाता था। यक्ष्मा को रोगों का राजा 'राजयक्ष्मा' कहा जाता था।

(७) इन रोगों का नामकरण तत्कालीन प्रचलित पौराणिक भूतविद्या के प्रत्ययों के आधार पर किया जाना कोई अस्वाभाविक नहीं। एलोपैथिक चिकित्सा-विज्ञान में भी प्राचीनकाल में रोगों के ऐसे नामकरण मिलेंगे जिनके प्रत्यय प्राचीन ग्रीक या रोमन मिथकों (Greek & Roman Mythology) से लिये गये। मात्र नामों के पौराणिक मिथकों से लिये जाने के कारण उन्हें कभी हेय दृष्टि से नहीं देखा गया। उनकी उपेक्षा नहीं की गयी। बल्कि उनपर आगे खोजबीन जारी रही। नये नाम दिये गये। नये वर्गीकरण हुए। विज्ञान सतत परिवर्तनशील है, विकासशील है। यही दृष्टिकोण हमारे आयुर्वेद के नये स्नातकों द्वारा भी अपनाया जाना चाहिए। इसी में आयुर्वेद का विकास निहित है।

(८) ग्रहबाधाओं की चिकित्सा के क्रम में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के साथ-साथ युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। यह इन रोगों के दोषज आधार को महत्त्व देता है। दोषों के आधार पर इनकी विवेचना की ओर संकेत देता है। उसके लिए एक आधार तैयार करता है।

अध्याय ५४

बालग्रह : चिकित्सा

सामान्य चिकित्सा

हन्तुकामं जयेद्धोमैः सिद्धमन्त्रप्रवर्तितैः।
इतरौ तु यथाकामं रतिबल्यादिदानतः॥

हिंसा की इच्छा से ग्रसनेवाले ग्रह की सिद्ध मन्त्रों से प्रवर्तित हवन द्वारा चिकित्सा करे। रति और पूजा-अर्चना की इच्छा से ग्रसनेवाले ग्रहों की उनकी इच्छानुसार रति, वलि आदि द्वारा चिकित्सा करे।

अथ साध्यग्रहं बालं विविक्ते शरणे स्थितम्॥
त्रिरह्नः सिक्तसंमृष्टे सदा सन्निहितानले।
विकीर्णभूतिकुसुमपत्रबीजान्नसर्षपे॥
रक्षोघ्नतैलज्वलितप्रदीपहतपाप्मनि।
व्यवायमद्यपिशितनिवृत्तपरिचारके॥
पुराणसर्पिषाभ्यक्तं परिषिक्तं सुखाम्बुना।
साधितेन बलानिम्बवैजयन्तीनृपद्रुमैः॥
पारिभद्रककट्वङ्गजम्बूवरुणकट्तृणैः।
कपोतवङ्काऽपामार्गपाटलामधुशिग्रुभिः॥
काकजङ्घामहाश्वेताकपित्थक्षीरिपादपैः।
सकदम्बकरञ्जैश्च, धूपं स्नातस्य चाचरेत्॥
द्वीपिव्याघ्राहिसिंहर्क्षचर्मभिर्घृतमिश्रितैः।

—अ. हृ. उ. ३।४१-४७

मंगलाचार के अनन्तर साध्य ग्रह से पीड़ित बालक को पवित्र, निर्भय एवं एकान्त गृह में रखे। दिन में तीन बार उस गृह की जल एवं झाड़ू से सफाई करे। अग्नि को सदा पास में रखे। राख, फूल, पत्ते, बीज अन्न और सरसों को चारों ओर बिखेर दे। सरसों के तैल का दिया जलाकर अंधकार को दूर करे। बच्चे का पुराने घी से अभ्यंग करके बला, नीम, वैजयन्ती, अमलतास, पारिभद्रक, श्योनाक, जामुन, वरुणा, कत्तृण, सुवर्चला, चिरचिटा, पाटला, मीठा सहिजन, काकजंघा, कटभी, कैथ, बरगद, गूलर आदि दूधवाले वृक्षों की छाल, कदम्ब और करंज—इनसे सिद्ध किये गरम जल से बच्चे को

स्नान कराये । स्नान के उपरान्त चीता, व्याघ्र, साँप, सिंह तथा भालू—इनकी त्वचा को घी में मिलाकर धूप दें ।

पूतीदशाङ्गसिद्धार्थवचाभल्लातदीप्यकैः ।
सकुष्ठैः सघृतैर्धूपः सर्वग्रहविमोक्षणः ॥ —अ. हृ. उ. ३।४८

करंज, दशांग, सरसों, वच, भिलावा, अजवाइन तथा कूठ—इनको घी में मिलाकर धूप दे । यह धूप सभी ग्रहों से मोक्ष दिलानेवाली है ।

सर्षपा निम्बपत्राणि मूलमश्वखुरा वचाः ।
भूर्जपत्रं घृतं धूपः सर्वग्रहनिवारणः ॥ —वही, ४९

सरसों, नीम के पत्ते, पिपरामूल, अश्वखुरा, वच, भोजपत्र और घृत—इनका धूप सब ग्रहों का निवारण करनेवाला है ।

गोश्रृङ्गचर्मबालाहिनिर्मोकं वृषदंशविट् ।
निम्बपत्राज्यकटुकामदनं बृहतीद्वयम् ॥
कार्पासास्थियवच्छागरोमदेवाह्वसर्षपम् ।
मयूरपत्रश्रीवासं तुषकेशं सरामठम् ॥
मृद्भाण्डे बस्तमूत्रेण भावितं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
धूपनं च हितं सर्वभूतेषु विषमज्वरे ॥ —वही, ५५-५७

गाय के सींग, चर्म और बाल, साँप की केंचुल, बिल्ली की बिष्ठा, नीम के पत्ते, घी, कुटकी, मैनफल, छोटी कँटेरी, बड़ी कँटेरी, बिनौला, जौ, बकरे के रोम, देवदारु, सरसों, मोरपंखी, राल, तुष, बाल, हींग—इनको मिट्टी के पात्र में बकरे के मूत्र से भावित करके बारीक चूर्ण बनाकर धूप देनी चाहिए । यह धूप सभी प्रकार की ग्रहबाधा और विषमज्वर के लिए हितकारी है ।

मंगल, बलि, हवन आदि के अतिरिक्त निम्न घृतों में से किसी एक का बालक को सेवन कराना चाहिए—

अनन्ताम्रास्थितगरं मरिचं मधुरो गणः ।
शृगालविन्ना मुस्ता च कल्कितैस्तैर्घृतं पचेत् ।
दशमूलरसक्षीरयुक्तं तद् ग्रहजित्परम् ॥ —वही, ४९-५०

अनन्ता, आम की गुठली, तगर, मरिच, जीवन्ती आदि मधुरगण की औषधियाँ, पृश्निपर्णी और मुस्ता—इनके कल्क, दशमूल के क्वाथ तथा दूध के साथ घृत को सिद्ध करे । यह घृत श्रेष्ठ ग्रहनाशक है ।

रास्नाद्वयंशुमतीवृद्धपञ्चमूलबलाघनात् ।
क्वाथे सर्पिः पचेत्पिष्टैः सारिवाव्योषचित्रकैः ॥

पाठाविडङ्गमधुकपयस्याहिङ्गुदारुभिः ।
सग्रन्थिकैः सेन्द्रयवैः शिशोस्तत्सततं हितम् ॥
सर्वरोगग्रहहरं दीपनं बलवर्णदम् । —अ. हृ. उ. ३।५१-५२

रास्ना, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वृहत् पंचमूल, बला तथा मोथा—इनके क्वाथ में सारिवा, त्रिकटु, चित्रक, पाठा, विडंग, मुलेठी, बिदारी, हींग, देवदारु, पिप्पलीमूल तथा इन्द्रयव—इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। यह घृत बालकों के लिए सभी प्रकार से हितकारी है। यह सर्व रोगनाशक, ग्रहबाधा का निवारण करनेवाला, अग्निदीपक तथा बल एवं वर्ण को देनेवाला है।

सारिवासुरभिब्राह्मीशङ्खिनीकुष्ठसर्षपैः ॥
वचाऽश्वगन्धासुरसयुक्तैः सर्पिर्विपाचयेत् ।
तन्नाशयेद् ग्रहान् सर्वान् पानेनाभ्यञ्जनेन च ॥ —वही, ५३-५४

सारिवा, शल्लक, ब्राह्मी, शंखिनी, कूठ, सरसों, वच, अश्वगंधा और तुलसी से सिद्ध घृत का पान एवं अभ्यंग करने से सभी प्रकार की ग्रह-बाधाएँ दूर होती हैं।

विशिष्ट ग्रहों की विशिष्ट चिकित्सा

स्कन्दग्रह की चिकित्सा

लेप—गुग्गुलु, इलायची, एलावालुक, मैनसिल, हरताल, मंजीठ, खस, रास्ना, अगर, देवदारु, राल, हरेणु, गिरिकदम्ब तथा चन्दन—इनको बारीक पीसकर बच्चे के शरीर पर इसका लेप करे।

स्नान—वातहर वृक्षों के पत्तों के सुहाते गर्म क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—इन्हीं वातहर वृक्षों के मूल का क्वाथ करके इसमें सर्वगन्ध, सुरामण्ड तथा कैडर्य के पत्ते—इनके कल्क से तैल सिद्ध करके उसी का अभ्यंग करे। अथवा—

छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, श्वेत और लाल पुनर्नवा, रेणुका, पिप्पली, मोथा, खैर, वच, शंखनाभि, सरल काष्ठ, सर्पसुगन्धा तथा देवदारु—इनके कल्क से सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

पानार्थ घृत—बरगद, पीपल, गूलर आदि क्षीरी वृक्षों के कषाय, सारिवा, काकोली, क्षीरकाकोली, बला, अति बला, पृश्निपर्णी, शालपर्णी तथा हस्तिकर्ण—इनके कल्क और दूध से सिद्ध घृत का बालक को पान कराये, अथवा—

रास्ना या देवदारु किसी एक के कल्क तथा दूध के साथ सिद्ध घृत का बालक को पान कराये।

धूप—वच, श्वेतगुंजा, सांप की केंचुल, सरसों, ऊँट, बकरी, भेड़, घोड़ा और गाय के रोयें—इनको घी में मिलाकर धूप दे। अथवा—

श्वेत सरसों, राल, कूठ, हींग और गुग्गुलु की धूप दे।

रक्षासूत्र—सोमवल्ली, इन्द्रवल्ली, शमी, विल्व, बन्दाक तथा इन्द्रायण—इनकी जड़ को धागे में बाँध या पिरो कर बालक के गले या सिर में बाँधे।

बलि—लाल माला, लाल अनुलेपन, लाल वस्त्र, पताका, मणि, तिल आदि, नाना प्रकार के भोजन, दही, घी, मधु, लाजा, कुल्माष, मांस, मछली, सुरा, आसव, मोर, मुर्गा, घण्टा, छाज, पंखा और लाल चावलों से वैद्य कुमारग्रह में बलि दे।

हवन—रात्रि के समय अग्नि को प्रज्ज्वलित कर निम्न मंत्र को पढ़ता हुआ मधु और घी से आहुतियाँ दे—

अग्नये कृत्तिकाभ्यश्च स्वाहा स्वाहेति चान्ततः।
नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः॥
शिरसा त्वाभिवन्देहं प्रतिगृह्णीष्व मे बलिम्।
नीरुजो निर्विकारश्च शिशुर्भवतु सर्वदा॥ स्वाहेति।

—अ० सं० उ० ६।१०-११

सभी ग्रहों की शान्ति के लिए प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल अग्नि का पूजन करे और बलि दे। स्कन्दग्रह में, विशेष रूप से, तीन रात प्रति रात में गायत्री-मंत्र से अभिमन्त्रित जल से चोराहे पर धात्री और कुमार को स्नान कराये।

मार्जन एवं रक्षा-सूत्र—निम्नलिखित मंत्र को पढ़ते हुए तीनों समय बालक का मार्जन करे (उसके ऊपर जल छिड़कें) और सूत से बनायी हुई प्रतिसरा (रक्षासूत्र) को बाँधे।

तपसां तेजसां चैव यशसां वपुषां तथा।
विधाता तोऽव्ययो देवः स ते स्कन्दः प्रसीदतु॥
ग्रहसेनापतिर्देवो देवसेनापतिर्विभुः।
देवसेनारिपुहरः पातु त्वा भगवान् गुहः॥
देवदेवस्य महतः पावकस्य च यः सुतः।
गङ्गोमाकृत्तिकानां च स ते शर्म प्रयच्छतु॥
रक्तमाल्याम्बरः श्रीमान् रक्तचन्दनभूषितः।
रक्तादित्यवपुर्देवः पातु त्वा क्रौञ्चसूदन इति॥

—अ० सं० उ० ६।१४-१७

घृत—दशमूलक्वाथ में काकोल्यादि मधुरगण की औषधियों के कल्क को मिलाकर दूध के साथ घृत को सिद्ध कर पिलाये।

धूप—सर्पगन्धा, बकरे के नख और रोम की धूप दे।

रक्षासूत्र—नाकुली, अजगंधा, कड़वी तोरई, इन्द्रायण, शतावरी, सहदेवी और पुनर्नवा—इनके बीजों को धारण कराये।

बलि एवं स्नान—नाना रंगों की माला, फल, श्वेत अनुलेपन, भात, दही, गुड़ तथा दूध—इनकी राजमार्ग पर या बरगद आदि क्षीरी वृक्षों की जड़ में बलि दे। नदी के किनारे स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

अजाननश्चलाक्षिभ्रूः कामरूपी महायशाः।
बालं बालहितो देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु ॥ स्वाहा।

—अ० सं० उ० ६।२६

श्वग्रह की चिकित्सा

लेप—इन्द्रायण, ब्राह्मी, कटेरी, बड़ी कटेरी, सारिवा, नेत्रवाला, भूमि-कदम्ब, तुलसी की मंजरी तथा कनेर के फूल—इनको पीसकर लेप करे।

स्नान—विल्व, एरण्ड, करंज और श्योनाक—इनके पत्तों के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—आँवला, शतावरी, सारिवा, विदारीकन्द, एरण्ड, सहदेवी और त्रिकटु—इनके कल्क और दूध के साथ सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

घृत—आँवला आदि के कल्क तथा दूध से सिद्ध घृत का पान कराये।

धूप—सूखी मछलियों के चूर्ण को गाय और बकरी के मूत्र से भावित करके अर्धरात्रि में धूप दे।

रक्षासूत्र—वच, आँवला, ब्राह्मी, जटामांसी, दूर्वा, कड़वी तोरई, हरड़, भूतकेशी, हल्दू, एकौशिका और सहदेवी को धारण कराये।

बलि एवं स्नान—घी, मांस, सुरा, दही, रक्त तथा तिलकल्क—इनकी चतुष्पथ पर बलि दे। कूड़े के ढेर पर स्नान कराये और निम्न मंत्र पढ़े—

रक्षार्थं कार्तिकेयस्य कृत्तिकोमाग्निशूलिभिः।
योऽसौ श्वविग्रहः सृष्टः स देवस्त्वाभिरक्षतु ॥ स्वाहा।

—अ० सं० उ० ६।३१

पितृग्रह की चिकित्सा

लेप—श्वग्रह में कही गयी वस्तुओं का लेप करे। अथवा—वच, आँवला, जीवन्ती, धाय के फूल, प्रियंगु, गुग्गुलु, रास्ना, मैनसिल और हरताल का लेप करे।

स्नान—विल्व, कैथ, करंज, अग्निमंथ, तुलसी, पाटला, वरुणा, नीम, हरश्रृंगार और बिजौरा—इनके पत्तों के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—वच आदि से सिद्ध तैल का अभ्यंग करे। अथवा—बिल्व आदि औषधियों के कल्क, सुरा और बकरी के मूत्र से सिद्ध तेल की मालिश करे।

विशाखाग्रह की चिकित्सा

लेप—स्कन्दग्रह की चिकित्सा में उल्लिखित वच, कूठादि का लेप करे।

स्नान—दूर्वा, बिल्व, शिरीष, मुस्ता तथा सुरसादिगण की औषधिओं के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—सर्पसुगन्धा, देवदारु, कूठ और मुस्ता के कल्क, गोमूत्र तथा बकरी के मूत्र से सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

घृत—बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के कषाय में जीवनीयगण की औषधियों के कल्क को मिलाकर दूध के साथ सिद्ध घृत का बालक को पान कराये।

अथवा—जीवक, ऋषभक, क्षीरणी, बड़ी कटेरी, हलदी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी और मुलेठी—इनके कल्क, गोमूत्र, बकरी के मूत्र और दूध के साथ सिद्ध घृत का बालक को पान कराये।

अथवा—विदारी, क्षीरविदारी, तवाखीर, मुनक्का, मुलेठी, रास्ना, नीलकमल की जड़, वच और त्रिकुटा—इनसे सिद्ध घृत का बालक को पान कराये।

धूप—गिद्ध, उल्लू की बिष्ठा, बैल के रोम और केश तथा हाथी के नख—इनको घी के साथ मिलाकर धूप दे।

रक्षासूत्र—अनन्तमूल, कुक्कुटी, कौंच, कन्दूरी, मजीठ, श्वेतकमल तथा पूर्वोक्त गिलोय आदि औषधियों को सूत्र में बांध कर बालक के गले या सिर में धारण कराये।

बलि—कच्चा तथा पका मांस, रक्त, दही और वारुणी से युक्त बलि बरगद के वृक्ष में दे। चौराहे पर स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः स्कन्दस्य दयितः सखा।
विशाखसंज्ञः स शिशोः शिवोस्तु विकृताननः॥

—अ० सं० उ० ६।२२

नैगमेय-ग्रह की चिकित्सा

लेप—विशाखा में कहे गये लेप बरते।

स्नान—अग्निमन्थ, वरुण, नरसार, रोहिष घास, नाटा करंज तथा नीम—इनके क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—कांजी, किण्व, गुग्गुलु, असगंध, सरसों, खस, वच, कूठ और सौंफ से सिद्ध तेल की मालिश करे।

घृत—त्रिफला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, विदारी तथा मुलेठी के कल्क, दशमूल का क्वाथ और दूध से सिद्ध घृत का पान कराये।

अथवा—देवदारु, भारंगी, विडंग, चन्दन, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक और ऋषभक के कल्क और दूध से सिद्ध घृत का पान कराये।

धूप—गिद्ध, उल्लू और बन्दर के रोम या मल से लोगों के सो जाने पर रात्रि में धूप दे। अथवा वच आदि की धूप दे। अथवा शवग्रह में उल्लिखित मूत्र-भावित सूखी मछलियों के चूर्ण की धूप दे।

रक्षासूत्र—श्वग्रह में उल्लिखित वस्तुओं को धारण कराये।

बलि एवं स्नान—सुरा, आसव, गुड़, पुए, पिसे तिल से बने खाद्य बनाकर वृक्ष के मूल में बैल की प्रतिमा में सोने की आखें लगाकर, कुमार का पिता स्वयं बलि दे। बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के पास स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

यः पिता सर्वबालानां ग्रहाणां पूजितो वरः।
वृक्षमूले कृतावासः स त्वां पातु पिता सदा॥ स्वाहा।

—अ० सं० उ० ६।३८

शकुनीग्रह की चिकित्सा

लेप—मुलेठी, ह्रीवेर, उशीर, सारिवा, पद्माख, कमल, मजीठ, लोध, प्रियंगु और गेरू; अथवा—लोध, मुलेठी, मंजीठ, हरड़ और देवदारु को सुरा और गोमूत्र में पीसकर; अथवा जलवेतस बिजौरा और कैथ का वृहत् पंचमूल के साथ लेप करे।

स्नान—बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—भृंगराज, मूली, आँवला, तेजपात, प्रियंगु, मैनसिल, हरताल, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, मुलेठी, सुपारी, लोध, धातकी-फूल, सारिवा, अंजन, कमल, पतंग, मंजीठ, हलदी, दारुहलदी, जटामांसी, लज्जावंती, चन्दन, पद्माख और स्वर्ण गेरू के कल्क से दूध के साथ पकाये तैल का अभ्यंग करे। यह तेल ग्रहनाशक होने के साथ-साथ व्रणरोपक भी है।

व्रण-रोपनार्थ—शुक्ति, शंख, शम्बूक की भस्म तथा मंजीठ, हरड़ और मुलेठी से सिद्ध तैल व्रण-रोपनार्थ प्रयोग करें।

मुखपाक में—अर्जुन का फल, लोध, मुलेठी, गूलर और वच का चूर्ण मधु में मिलाकर मुँह में लेप करें।

घृत—विशाखाग्रह के उपचार में कहा गया घृत-पान कराये।

धूप—स्कन्दग्रह में कही गयी धूप दे।

रक्षासूत्र—ऋटम्भरा, कुक्कुटी, कौंच, कड़वी तोरई, सहदेवी, नेत्रबाला और खस; अथवा—नागदन्ती, लक्ष्मणा, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, इन्द्र-वारुणी, शतावरी और सहदेई—इनको धारण करायें।

बलि एवं स्नान—तिल, तण्डुल, मछली, मैनसिल, और हरताल—इनको मिलाकर तिल की पिट्ठी से बनाये पक्षियों से करंज वृक्ष के नीचे बलि देवे। घर के वागीचे में स्नान कराये और यह मन्त्र पढ़े—

अन्तरिक्षचरा देवी सर्वालङ्कारभूषिता।
अयोमुखी तीक्ष्णतुण्डा शकुनी ते प्रसीदतु॥
दुर्दर्शना महाकाया पिङ्गाक्षो भैरवस्वरा।
लम्बोदरी शङ्कुकर्णी शकुनी ते प्रसीदतु॥

—अ० सं० उ० ६।४४-४५

पूतना की चिकित्सा

लेप—हींग, वच, हल्दू, कुष्ठ, छोटी इलायची, बड़ी इलायची और देव-दारु—इनका लेप करे।

स्नान—कैथ, सिरिस, बरगद, बिल्व, एरण्ड, वकुल, बाँस, अग्निमंथ—इनके पत्तों के क्वाथ में एलादिगण की औषधियों को मिलाकर उसी से स्नान कराये; अथवा—वरुण, श्योनाक, आक, हुलहुल और नीम के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—कूठ, राल, वच, दूर्वा, आँवला, मैनसिल और हरताल—इनसे सिद्ध किये हुए तैल का अभ्यंग करे।

घृत—काकोल्यादि गण से सिद्ध घृत पिलाये।

धूप—छोटी एवं बड़ी इलायची, कूठ, वच, हींग और देवदारु की धूप दे।

रक्षासूत्र—कन्दूरी, रत्ती, श्वेतगुंजा, इन्द्रवारुणी और एरण्ड को धारण कराये।

बलि एवं स्नान—नाना प्रकार की मालाएँ, मछली, भात, तिलतण्डुल की खिचड़ी, पिसे तिल—इनकी बनी बलि कूड़े के ढेर पर दे। इसी प्रकार इन वस्तुओं को सम्पुट में रखकर शून्यगृह में फेंके। शून्यगृह में जूठे पानी से स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

मलिनाम्बरसंवीता मलिना रूक्षमूर्धजा।
शून्यागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना॥
दुर्दर्शना महाकाया कराला मेघकालिका।
भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना॥

—अ० सं० उ० ६।४९-५०

शीतपूतना की चिकित्सा

लेप—पूतना की चिकित्सा में कहे गये लेप लगाये।

स्नान—वरुण, कैथ, तुलसी, पाशिका, वंशी, बिल्व, पाढ़ल, पीपल—इनके पत्तों के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—मुस्ता, देवदारु, कूठ, सर्पगन्धा—इनके कल्क से गाय और बकरी के मूत्र में तैल पकाकर उससे अभ्यंग करे।

घृत—गम्भारी, पृश्निपर्णी, लोध, मुलेठी और काकोल्यादिगण की औषधियों के कल्क और दूध से सिद्ध घृत का पान कराये। यह घृत ग्रहबाधा को शान्त करने के साथ-साथ वमन, हिक्का, कास और श्वास में भी उपयोगी है।

धूप—गिद्ध, उल्लू की विष्ठा, अजगंधा, साँप की केंचुल और नीम के पत्ते; अथवा—गाय का पुराना चर्म, सरसों, बौद्ध भिक्षु का ऊपर का चीवर जिसे वे कंधे पर डालते हैं अथवा केवल साँप की केंचुल की ही धूप दे।

रक्षासूत्र—पूतनाग्रह में बतलायी गयी वस्तुओं को ही धारण करे।

बलि एवं स्नान—जलाशय के समीप मूँग और चावल-बहुल बलि दे। वहीं पर स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

> मुद्गौदनाशना देवी सुराशोणितपायिनी।
> जलाशयालयरता पातु त्वा शीतपूतना॥
>
> —अं० सं० उ० ६।५५

अन्धपूतना की चिकित्सा

लेप—बालक के सिर और मुख पर एलादिगण की औषधियों का लेप करे।

स्नान—वरुण, आक, बन्दा, नीम, नागवला, गेरू और शतावरी के क्वाथ से स्नान कराये।

अभ्यंग—हरताल, मैनसिल, कूठ, राल, तुलसी और कांजी से सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

घृत—स्यन्दन, श्योनाक, गम्भारी, खैर, कूठ और काकोत्यादि मधुरगण की औषधियों के कल्क, बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के कषाय और दूध में सिद्ध घृत का मधु के साथ बालक को पान कराये।

यदि साथ में वमन, कास और अतिसार भी हो तो इस घृत को पिप्पली, पिप्पलीमूल, शालपर्णी और कटेरी के कल्क के साथ देना चाहिए।

धूप—सरसों, भिलावा, राल और मधु की धूप दे।

रक्षासूत्र—दूर्वा, कुक्कुटी, कौंच और कन्दूरी को धारण कराये। कड़वी तोरई, एरण्ड, इन्द्रायण और गुंजा को पहनाये।

बलि एवं स्नान—कच्चे और पके मांस तथा रक्त की चौराहे पर बलि दे। घर में स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

> **कराला पिङ्गला मुण्डा कषायाम्बरवासिनी।**
> **देवी बालमिमं प्रीता पालयत्वन्धपूतना॥**

—अ० सं० उ० ६।६१

मुखमण्डिका की चिकित्सा

लेप—एलादिगण की औषधियों को वारुणी के साथ पीसकर उसी का लेप करे।

स्नान—बेल, एरण्ड, कैथ, अग्निमंथ, वंशी तथा कुबेराक्षी—इनके पत्तों के क्वाथ से परिषेक करे।

अभ्यंग—इन्हीं के स्वरस में मुलेठी और अश्वगंधा का कल्क मिलाकर वसा और तैल को एक साथ पकाकर सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

घृत—लघुपंचमूल और काकोल्यादि मधुरगण की औषधियों से सिद्ध घृत मधु और शर्करा मिलाकर बालक को खिलाये।

मूर्वा आदि औषधियों से धूप, प्रलेप, अभ्यंग, नस्य, अक्षिपूरण और परिषेक करे। माता को कफनाशक औषधियाँ पीने तथा स्तनों पर लगाने के लिए दे।

धूप—जौ, कूठ और राल की धूप दे।

बलि एवं स्नान—नाना प्रकार की गंध, धूप, माला, अंजन, पारद तथा मैनसिल से बनायी बलि गायों के बाड़े में दे। गायों के बाड़े में ही बच्चे को स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

> **अलङ्कृता रूपवती सुभगा कामरूपिणी।**
> **गोष्ठमध्यालयरता पातु त्वा मुखमण्डिता॥**

—अ० सं० उ० ६।६६

रेवती की चिकित्सा

लेप—एलादिगण की औषधियों, कुलथी और उड़द के आटे का लेप करे।

स्नान—अश्वगंधा, मेढ़ासिंघी, सारिवा, श्वेत एवं रक्त पुनर्नवा, माषपर्णी, मुद्गपर्णी तथा बिदादीकन्द—इनसे सिद्ध किये हुए जल से स्नान कराये।

अभ्यंग—कूठ और राल से सिद्ध तैल की मालिश करे।

घृत—धव, अश्वकर्ण, धातकी, अर्जुन, तिन्दुक तथा जीवनीयगण की औषधियों के कल्क से सिद्ध घृत का पान कराये।

धूप—जौ, बाँस के जौ, उल्लू और गिद्ध की विष्ठा—इन्हें घी में मिलाकर धूप दे।

बलि तथा स्नान—श्वेत माला, श्वेत अनुलेपन, लाजा, चावल तथा खीर की गोतीर्थ (नदी में जिस स्थान पर गायें पानी पीती हैं) में बलि दे। नदियों के संगम या बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के समीप स्नान कराये और यह मंत्र पढ़े—

नानावस्त्रधरादेवी चित्रमाल्यानुलेपना।
चलत्कुण्डलिनी श्यामा रेवती ते प्रसीदतु॥

—अ० सं० उ० ६।७०

शुष्करेवती की चिकित्सा

धूप—कौऐ, गिद्ध तथा गधे की विष्ठा का लेप करे।

उबटन—वच, असगन्ध, हींग, लाजा तथा सरसों का उबटन करे।

तैल—वचा से सिद्ध सरसों का तैल आँखों में लगाये।

शेष में—मात्र धूप को छोड़कर, अन्य सभी विधियाँ स्कन्दग्रह की चिकित्सा के अनुसार ही करे।

स्नान एवं बलि—सूखे वृक्ष में कांजी या मद्य के साथ सूखे मांस की बलि दे। शुष्क वृक्ष के पास ही स्नान कराये और इस मंत्र का उच्चारण करे—

उपासते या सततं देव्यो विविधभूषणाः।
लम्बा कराला विनता तथैव बहुपुत्रिका॥
रेवती शुष्कनामा च सा ते देवी प्रसीदतु। इति।

—अ० सं० उ० ६।७४

ग्रहदोष-शान्ति के बाद अवशेष उपद्रवों की चिकित्सा

अनुबन्धान्यथाकृच्छ्रं ग्रहापायेप्युपद्रवान्।
बालामयनिषेधोक्तभेषजैः समुपाचरेत्॥ —वही, ७५

ग्रहों की शान्ति हो जाने के बाद भी उनके उपद्रवस्वरूप जो लक्षण अवशेष रह जाय उनकी बालरोग-प्रतिषेध में बतलायी गयी औषधियों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

अध्याय ५५

कुछ अन्य रोग

प्रस्तुत अध्याय में कुछ ऐसे रोग, उनके नामों तथा चिकित्सा आदि की चर्चा की गयी है जिनका उल्लेख आयुर्वेद की संहिताओं या महत्त्वपूर्ण संग्रह-ग्रन्थों में तो किया गया है, परन्तु पाठ्यक्रम में उनको स्थान नहीं दिया गया है। आयुर्वेदीय कौमारभृत्य के पाठकों-छात्रों को कम-से-कम उनसे परिचित तो अवश्य ही होना चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं।

अकालदन्त या सदन्तजात

प्रायः जन्म के चौथे महीने में बच्चों के दाँत निषिक्त होते हैं। कुछ में इससे पूर्व भी निकल आते हैं। कुछ में जन्म से ही वर्तमान होते हैं। जिन्हें सदन्तजात कहते हैं। समय से पूर्व निकलनेवाले इन दाँतों को ही अकालदन्त कहा गया है। इन्हें अशुभ माना जाता है। काश्यपसंहिता में इनकी शान्ति के लिए मारुती-यज्ञ कराने का विधान किया गया है। वाग्भट ने भी शान्ति-पाठ आदि का उपदेश किया है, यथा—

सदन्तो जायते यस्तु दन्ताः प्राग्यस्य चोत्तराः।
कुर्वीत तस्मिन्नुत्पाते शान्तिं तं च द्विजाय तु ॥
दद्यात् सदक्षिणं बालं नैगमेषं च पूजयेत्।

—अ० हृ० उ० २।६२-६३

जो बच्चा दाँतों के सहित उत्पन्न होता है या जिसके ऊपर के दाँत पहले आ जाते हैं, उसे अशुभ माना जाता है। इस उत्पातसूचक अपशकुन के लिए शान्तिपाठ आदि कराना चाहिए, दक्षिणा के सहित बालक को ब्राह्मण को देना चाहिए और नैगमेयग्रह की पूजा करानी चाहिए। आजदिन इसे मात्र एक संयोग माना जाता है। यदि बालक अन्य सभी तरह से स्वस्थ है तो इससे भयभीत होने की कोई जरूरत नहीं है।

अनामक रोग

अनामक का अर्थ है जिसका कोई नाम न हो। यह गुदा से सम्बन्धित एक रोग है। शायद उस समय ठीक-ठीक इसका नामकरण संभव न हो पाने के कारण इसको यह संज्ञा दे दी गयी। देखें—गुदा-रोगों में गुदकुट्ट का विवेचन।

अजगल्लिका

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा ग्रन्थिसन्निभा ।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ।। —सु० नि० १३।४

स्निग्ध, त्वचा के समान वर्णवाली, स्पर्श में कठोर, गाँठदार, वेदनारहित, मूँग के दानों के आकारवाली बालकों में उत्पन्न पिड़िकाओं को अजगल्लिका कहते हैं। ये कफ और वात के प्रकोप से उत्पन्न होती हैं।

उपचार

अजगल्लिकामपक्वां जलौकोभिर्ग्राहयेत् । यवक्षारशुक्तिसौराष्ट्रीकल्कैश्च लेपयेत् ।। —अ० सं० उ० ३७।२

अपक्व अजगल्लिका में जलौका द्वारा रक्तमोक्षण करायें। यवक्षार, सीप और फिटकिरी—इनको पीसकर लेप करें।

नवीनकण्टकार्याश्च कण्टकैर्वेधमात्रतः ।
किमाश्चर्यं विपच्याशु प्रशाम्यन्त्यजगल्लिकाः ।।

—भैषज्यरत्नावली ६०।२

नवीन छोटी कण्टकारी के काँटों से वेधने मात्र से ही अजगल्लिका स्वयमेव पककर ठीक हो जाती है।

वृषमूलविशालाभ्यां लेपो हन्त्यजगल्लिकाम् ।
कठिनां क्षारयोगैश्च द्रावयेदजगल्लिकाम् ।। —वही, ४

अडूसे और इन्द्रायण की जड़ों को जल के साथ पीस कर लेप करने से अजगल्लिका रोग ठीक हो जाता है। जो अजगल्लिका अधिक कठोर हो गयी हो उस पर घण्टापाटल्यादि प्रतिसारीय क्षारों का प्रतिसारण कर उसे विदीर्ण कर देना चाहिए।

अहिण्डिका या अहितुण्डिका

इसका उल्लेख चक्रदत्त ने किया है। यह बालशोष का ही दूसरा नाम या उसी के समकक्ष का कोई रोग लगता है। इसकी चिकित्सा का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—

सोमग्रहणे विधिवत् केकिशिखामूलमुद्धृतं बद्धम् ।
जघनेऽथ कन्धरायां क्षपयत्यहितुण्डिकां नियतम् ।।

—चक्रदत्तः, बालरोग० ६

चन्द्रग्रहण के समय यथाविधि (पहले औषधि को निमन्त्रण देकर फिर मन्त्रोच्चारपूर्वक) मयूरशिखा की जड़ को उखाड़कर ले आयें और उसे घर के पवित्र कोने में सुरक्षित रख दें। फिर सूत में बाँधकर उसे बच्चे की ग्रीवा

या कमर में बाँध दें। इससे अहिण्डिका या अहितुण्डिका रोग नष्ट हो जाता है।

सप्तदलपुष्पमरिचं पिष्टं गोरोचनासहितम्।
पीतं तद्वत् तण्डुलभक्तकृतो दग्धपिष्टकप्राशः॥ —वही, ७

सप्तपर्ण वृक्ष के पुष्प, काली मिर्च तथा गोरोचन—इनको जल के साथ पीस-छानकर बालक को पिलायें। चावलों के भात को केले आदि के हरे पत्ते में लपेटकर ऊपर चिकनी मिट्टी का लेपकर भूभुल में पकाकर पानी के साथ पीसकर बच्चे को पिलायें।

जम्बुकनासा वायसजिह्वा नाभिर्वराहसम्भूता।
कांस्यं रसोऽथ गरलं प्रावृड्भेकस्य वामजङ्घास्थि॥
इत्येकशोऽथ मिलितं विधृतं ग्रीवादिकटिदेशे।
अहितुण्डिकाप्रशमनमभ्यङ्गो नातिपथ्यविधिः॥ वही, ८-९

श्रृगाल की नाक, कौए की जिह्वा, सुअर की नाभि, कांस्य धातु, पारा, गरल, वर्षाकालीन मेढक की बायीं जंघा की हड्डी—इनमें से एक-एक अथवा जितनी मिल सकें सबको बच्चे की ग्रीवा या कटिप्रान्त में बाँधने से अहिण्डिका रोग नष्ट हो जाता है। इनके धारण करने के पूर्व बच्चे के अंगों में तेल लगा देना चाहिए। इसके अलावा और किसी पथ्यादि सेवन की आवश्यकता नहीं है।

अहिपूतना

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्नस्यास्नाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा॥
कण्डूयनात् ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥
—सु० नि० १३।५७-५८

बच्चों के मल-मूत्र त्यागने के बाद या पसीना होने पर सम्बन्धित अंगों की ठीक से सफाई न करने पर उन्हें गुदास्थान पर खुजली होने लगती है। खुजलाने पर घाव होकर उसमें से स्राव बहने लगता है। इस तरह से व्रणों से युक्त एवं भयंकर स्वरूप के इस रोग को अहिपूतना कहते हैं। यह रक्त एवं कफ के विकार से उत्पन्न होता है।

यह बच्चों का एक सामान्य रोग है। इसे अंगरेजी में Infantile erythema of jacquet, napkin rash, sore buttocks आदि नामों से पुकारा जाता है। जो माताएँ आलस्य एवं असावधानी के कारण मल-मूत्र

त्यागने के बाद उनके कपड़े तुरंत नहीं बदलतीं, वे उन्हीं में पड़े रहते हैं या बदलने के बाद कपड़ों को ठीक से नहीं साफ करतीं, गुदास्थान की भी समुचित सफाई की ओर ध्यान नहीं देतीं, मल-मूत्र वहाँ लगकर सूख जाता है। इसी गंदगी के फलस्वरूप प्रायः इस रोग की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी अन्य रोगों, यथा—सूत्रकृमि के कारण भी इस प्रकार का उपसर्ग पैदा हो सकता है।

वाग्भट ने इसका विवेचन गुद-कुट्ट नाम से किया है।

उपचार

धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याऽहिपूतना।
पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम् ॥
पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम्।

सु० चि० २०।५७-५८

बालकों के अहिपूतना रोग की चिकित्सा में पहले धात्री के स्तन्य का शोधन करना चाहिए। परवल की पत्ती, हरड़, वहेड़ा, आँवला और रसौत—इनके द्वारा सिद्ध किये गये घृत का पान कराने से कष्टसाध्य अहिपूतना रोग भी नष्ट हो जाता है।

त्रिफलाकोलखदिरकषायं व्रणरोपणम्। —वही, ५८

हरड़, बहेड़ा, आँवला, बेर और खैर के क्वाथ का प्रयोग व्रणरोपण के लिए करना चाहिए।

कासीसरोचनातुत्थहरितालरसाञ्जनैः ॥
लेपोऽम्लपिष्टो बदरीत्वग्वा सैन्धवसंयुता।
कपालतुत्थजं चूर्णं चूर्णकाले प्रयोजयेत् ॥

—सु० चि० २०।५९-६०

कासीस, गोरोचन, तूतिया, हरताल तथा रसौत, अथवा बेर की छाल और सेंधानमक को कांजी में पीसकर उस पर लेप लगाना चाहिए।

व्रण-रोपणकाल में पके हुए मिट्टी के टुकड़े और तूतिया के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

उपशीर्षक

यह महापद्म नामक शीर्षज विसर्प का ही दूसरा नाम है। इसका उल्लेख शार्ङ्गधरसंहिता में किया गया है। शीर्ष या कपाल में व्रण होने के कारण इसको यह नाम दिया गया प्रतीत होता है। इसका विवरण आगे के पृष्ठों में महापद्म नामक रोग के अन्तर्गत देखें।

गात्रशोष

इसका उल्लेख शार्ङ्गधरसंहिता में किया गया है। यह बालशोष का ही दूसरा नाम है।

तुण्डी

इसका उल्लेख भावप्रकाश में किया गया है। यह नाभिपाक का ही एक भेद या उसी का दूसरा नाम है।

दन्तघात

दन्तघात का अर्थ है—दातों का गिरना। इसका उल्लेख शार्ङ्गधरसंहिता में किया गया है। दूध के दाँत बचपन में और स्थायी दाँत समय पाकर वृद्धावस्था में गिरते हैं। यह दन्तपात स्वाभाविक है। परन्तु जब आघात लगने से या किसी रोग के कारण कोई दाँत असमय ही गिर जाय तो उसे दन्तघात कहते हैं।

दन्तशब्द

इसका उल्लेख भी शार्ङ्गधर ने बालरोगों के अन्तर्गत किया है। बच्चों द्वारा, विशेषरूप से निद्रावस्था में, दाँतों का घिसना या किटकिटाना इसके अन्तर्गत आता है। यह कफजन्य दन्तहर्ष या अन्य अनेक कफज रोगों में लक्षण के रूप में पाया जाता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पेट में कीड़े होने पर बच्चे दाँत किटकिटाते हैं, लेकिन यह जरूरी नहीं है।

दौर्बल्य

शार्ङ्गधरसंहिता में इसका भी उल्लेख बालरोगों के अन्तर्गत किया गया है। दौर्बल्य या कमजोरी किसी रोग के पश्चात् प्रभाव के रूप में या कुपोषण-जनित भी हो सकती है। कारण के अनुरूप ही इसका उपचार करना चाहिए। अन्य ग्रन्थों में इसे कृशता भी कहा गया है।

पर्वानुप्लव

शिरः पृष्ठं ततो मुष्कौ ततः पादौ च यो रुजेत्।
हस्ताभ्यामुत्थितो वायुः सपर्वानुप्लवः स्मृतः॥

—अ० सं० उ० २।११२

जब वायु बच्चे के दोनों हाथों से प्रारम्भ होकर क्रमशः शिर, पीठ, मुष्क (अण्डकोश) और पैरों को आक्रान्त कर उनमें पीड़ा उत्पन्न करती है, तो इस अवस्था को पर्वानुप्लव कहते हैं।

पर्वानुप्लव की चिकित्सा

गौरीवचासदापुष्पीहयगन्धाकटुत्रयैः ।
सकट्फलद्विवार्ताकीवयस्थाहिङ्गुरोहिषैः ।।
बस्तमूत्रसुरायुक्तैः साधितं तस्य योजयेत् ।
तैलमभ्यञ्जने शेषं वातव्याधिवदाचरेत् ।। —वही, ११३-११४

इस अवस्था में हल्दी, वच, आक, असगन्ध, त्रिकटु, कायफल, छोटी कटेरी, आँवला, हींग और रोहिष घास—इनके संयोग से बकरी के मूत्र और सुरा के साथ तैल सिद्ध करें। इस तेल का अभ्यंग और वात-व्याधि की चिकित्सा करें।

पूतिकर्ण

पूतिकर्ण का अर्थ है कान बहना या कान से पीप आना। इसकी चिकित्सा निम्न विधि से करें—

बिभीतकफलं कुष्ठं हरितालं मनःशिला ।
एभिस्तैलं विपक्तव्यं बालानां पूतिकर्णके ।।

—भैषज्यरत्नावली, बालरोग ९२

बहेड़ा, कुष्ठ, हरताल और मैनसिल—इनके कल्क से तिल-तैल में यथा-विधि तैल सिद्ध करके प्रतिदिन पूतिकर्ण से पीड़ित बालक के कान में डालें।

महापद्मक

(Erysipelas Neonaturum)

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः ।
पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ।।
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद् वा गुदं व्रजेत् ।

—माधवनिदान ६८।१४

यह विशेषरूप से बच्चों में ही उत्पन्न होनेवाला विसर्प का एक भेद है। यह प्रायः घातक होता है। यह दो प्रकार होता है—बस्तिज और शीर्षज। हृदय-प्रदेश से गुदा-प्रदेश तक फैलनेवाला विसर्प बस्तिज और शंखप्रदेश तक फैलनेवाला विसर्प शीर्षज कहलाता है।

इसका वर्ण लालकमल के समान होता है। इसी से इसका नाम महा-पद्म पड़ा। यह त्रिदोषज होता है।

विसर्प के दो भेद होते हैं—बाह्य एवं आभ्यन्तर। इनमें बाह्य साध्य, आभ्यन्तर कृच्छ्रसाध्य और बाह्याभ्यन्तर असाध्य माना जाता है।

विसर्प के अन्तराश्रित हो जाने पर उदरावण-शोथ हो जाता है। इससे ज्वर, वमन और अजीर्ण हो जाता है। उपद्रवों के बढ़ने से हृद्‌भेद और उपजिह्विका में शोथ के फलस्वरूप श्वास-मार्ग के अवरुद्ध हो जाने से बालक की मृत्यु हो जाती है।

अंगरेजी में इस रोग को Erysipelas neonaturum कहते हैं। यह एक अत्यधिक कष्टकर एवं संक्रामक रोग है। इसकी उत्पत्ति स्ट्रेप्टोकोकस (Streptococcus) नामक जीवाणु से होती है।

एरिसिपेलस दो ग्रीक शब्दों से बना है, जिनका अर्थ है—रक्ताभ त्वचा। त्वचा पर, विशेष रूप से चेहरे की त्वचा पर, शोथपूर्ण श्याव-अरुण रंग का उपसर्ग इसका प्रमुख लक्षण माना जाता है। वहाँ की त्वचा छूने पर उष्ण मालूम होती है। रोगी ज्वर, वमन और सिरदर्द से भी पीड़ित रहता है।

यह एक अत्यधिक संक्रामक रोग माना जाता है। रोगी अथवा रोगी द्वारा प्रयोग में लायी या स्पर्श की गयी किसी भी वस्तु से इसका संक्रमण दूसरे को लग सकता है। इसके जीवाणु त्वचा पर के किसी घाव, खरोच या दरार से अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए संक्रमण की शंका होते ही सम्बद्ध स्थान को तुरन्त साबुन और गर्म पानी से धो डालना चाहिए।

मुखस्राव

इसका उल्लेख भी शार्ङ्गधरसंहिता में बालरोग-प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है। मुखस्राव का अर्थ है—मुँह से पानी आना या लार बहना। यह मुख-पाक तथा पेट के अनेक रोगों में लक्षण के रूप में पाया जाता है। दन्तोद्‌भवन-काल में विशेष रूप से देखा जाता है। यह जिस रोग के कारण हो उसी की चिकित्सा से लाभ होता है।

सारिवातिललोध्राणां कषायो मधुकस्य च।
स्राविणि मुखे शस्तो धावनार्थं शिशोः सदा॥

अनन्तमूल, तिल, लोध और मुलेठी के क्वाथ से लालास्राव से पीड़ित बच्चे के मुख को सदा धोना चाहिए या उसके कुल्ले करना चाहिए।

मूत्राघात या मूत्र-ग्रह

मूत्राघात का अर्थ है—मूत्र का कम आना या रुक जाना।

कणोषणासिताक्षौद्रसूक्ष्मैलासैन्धवैः कृतः।
मूत्रग्रहे प्रयोक्तव्यः शिशूनां लेह उत्तमः॥

—योगरत्नाकर

पीपल, काली मिर्च, शर्करा, मधु, छोटी इलायची और सेंधा नमक के विधिवत् बने लेह को चटाने से बालकों का मूत्राघात रोग नष्ट होता है।

रोदन एवं रात्रिरोदन

पिप्पलीत्रिफलाचूर्णं घृतक्षौद्रपरिप्लुतम्।
बालो रोदिति यस्तस्मै लेढुं दद्यात् सुखावहम्॥

—योगरत्नाकर

पीपल और त्रिफला के चूर्ण को मधु और घृत में मिलाकर चटाने से बालक का रोना बन्द हो जाता है।

सिध्म, पामा, विचर्चिका आदि

गृहधूमनिशाकुष्ठराजिकेन्द्रयवैः शिशोः।
लेपस्तक्रेण हन्त्याशु सिध्मपामाविचर्चिकाः॥

—भैषज्यरत्नावली, बालरोग० ९९

रसोई-घर का धुँआ, हरिद्रा, कूठ, राई और इन्द्रयव के चूर्ण को मट्ठे के साथ पीसकर लेप करने से सिध्म, पामा और विचर्चिका रोग नष्ट हो जाते हैं।

स्तन्यविमुखता

यो बालोऽचिरजातः स्तन्यं न गृह्णाति तस्य सहसैव। धात्री मधुघृतपथ्याकल्केनाघर्षयेज्जिह्वाम्॥

—भैषज्यरत्नावली, बालरोग० ७

यदि कोई सद्योजात शिशु माता के स्तन का पान करने से विमुख हो जाता है तो आँवले और हरड़ के समप्रमाण चूर्ण को मधु और घृत में मिलाकर, उसका जिह्वा पर लेप करके उँगली से धीरे-धीरे रगड़ना चाहिए।

तृतीय खण्ड

*

चिकित्सा-निर्देशिका

आयुर्वेदिक एवं एलोपैथिक

अध्याय ९६

शास्त्रीय आयुर्वैदिक औषध-योग

इस निर्देशिका में बालकों में सामान्य रूप से होने वाले रोगों की सामान्य चिकित्सा दी गयी है। रोग के उग्र रूप धारण करने या उपद्रवग्रस्त हो जाने की स्थिति में उस रोग से सम्बन्धित अध्याय का भलीभाँति अध्ययन करें और उसमें दी गयी औषधियों का रोग और रोगी की अवस्था के अनुसार समझ-बूझ कर चुनाव करें। उसे उचित अनुपान के साथ दें। सामान्यतया दो (प्रातः-सायं) या तीन (प्रातः, दोपहर और सायं) मात्राएँ काफी होती है। रोग के उग्र रूप धारण कर लेने पर मात्राओं की संख्या बढ़ायी भी जा सकती है। सुविधा की दृष्टि से रोगों को अकारादि-क्रम से व्यवस्थित किया गया है।

(१) अग्निदग्ध (साधारण)—

घीक्वार का रस दग्ध स्थान पर लगायें।

चूने का पानी और नारियल का तेल आपस में खूब मिलाकर लगायें।

वराटिकाभस्म, मुर्दाशंख, सोनागेरू, गुर्चं का सत्त्व, सफेद चन्दन और वंसलोचन—समभाग ले एरण्ड के तेल में खरल कर कोमल ब्रश या रूई के फाये से दग्धस्थान पर लगायें।

(२) अजीर्ण—

बालवटी—१ से २ गोली तक माता के दूध से।

बालार्क या बालसंजीवन रस—१ गोली माता के दूध या मधु के साथ।

यमानी-पंचक चूर्ण—२५० मिलीग्राम से ५०० मिलीग्राम तक गर्म जल से।

(३) अतिसार एवं प्रवाहिका—

बालवटी—१ से २ गोली तक माता के दूध या मधु से।

बालचातुर्भद्रिका चूर्ण—२५० मिलीग्राम से ५०० मिलीग्राम तक माता के दूध, मधु या जल से।

विशेषरूप से हरे-पीले और सफेद फेनयुक्त दस्तों में—

बालार्करस—१-१ गोली माता के दूध, मधु या जल से।

बालरोगान्तकरस १ गोली और जहरमोहरा खताई पिष्टी ३० से ६० मिलीग्राम तक सोंठ और जायफल की घुट्टी से।

रक्तातिसार में—

बालकुटजावलेह—१२० से २४० मिलीग्राम तक मधु में मिलाकर चटायें।

कमल का केसर, लजालू, धाय के फूल और मोचरस—समभाग चूर्ण १२० से ३६० मिलीग्राम तक जल या मधु से दें। इसे बालमित्र चूर्ण भी कहते हैं।

(४) अरक्तता (देखें—पाण्डु)।

(५) अरुचि—

सितोपलादि या तालीसादि चूर्ण—२५० मिलीग्राम से ५०० मिलीग्राम तक मधु से।

अजीर्ण में दिये जाने वाले योग।

(६) अनिद्रा—

कारणानुसार चिकित्सा करें। सामान्य रूप से—

बालवटी—१ से २ गोली तक माता के दूध या मधु के साथ।

द्राक्षारिष्ट—५ से १० मिलीलिटर समभाग जल मिलाकर।

(७) असंयतमूत्रता (देखें—शय्यामूत्र)।

(८) आध्मान—

यमानीपंचक चूर्ण–२५० मिलीग्राम से ५०० मिलीग्राम तक गर्म जल से।

बालवटी या कनकसुन्दररस—१-१ गोली माता के दूध या सौंफ के अर्क से।

सेंधानमक, सोंठ, छोटी इलायची, घी में भुनी हींग तथा भारंगी का चूर्ण गोघृत या उष्ण जल से।

(९) आमवातिक ज्वर—

बालरोगान्तकरस—१-१ गोली माता के दूध या मधु से।

चन्द्रशेखररस—१-१ गोली माता के दूध या मधु से।

(१०) आक्षेप—

बालार्करस—१-१ गोली माता के दूध, मधु या जल से।

दन्तोद्भेदगदान्तकरस—१-१ गोली माता के दूध या मधु से (विशेष रूप से दन्तोद्भेदकालीन आक्षेपों में)।

(११) उदरशूल--

यमानीपंचक चूर्ण—२५० मिलीग्राम से ५०० मिलीग्राम तक गर्म जल से।

चन्द्रशेखर रस—१-१ गोली माता के दूध या जल से।

माणिक्यरसादि वटी—१-१ गोली माता के दूध या पान के रस से।

पेट पर एलुए का लेप करें या अजवाइन को आग में डाल, उसी पर हथेली को गर्म कर उसी से पेट पर सेंक करें। थोड़ी-सी हींग को १-२ चम्मच पानी में घोल, गर्म कर नाभि के चारों ओर पेडू पर लगायें।

(१२) उपदंश के अनुबन्ध से उत्पन्न रोगों में—

अभ्रक भस्म ३० मिलीग्राम तथा गंधक रसायन १२० मिलीग्राम—समभाग मिश्री मिलाकर दूध से। अथवा—

अभ्रक भस्म ३० मिलीग्राम, प्रवालपंचामृत ३० मिलीग्राम तथा अमृता सत्त्व १२० मिलीग्राम—मधु से।

खदिरारिष्ट—५ से १० मिलीलिटर तक जल में मिलाकर।

(१३) कण्ठशोथ—

सितोपलादि चूर्ण—२५० से ५०० मिलीग्राम तक मधु से।

प्रवालपिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से चटायें।

(१४) कफवृद्धि—

सितोपलादि चूर्ण—२५० से ५०० मिलीग्राम तक मधु से।

बालार्क रस, बालज्वरांकुश तथा बालरोगान्तक रस—१-१ गोली माता के दूध या मधु से।

कफ को निकालने के लिए—प्रवालपिष्टी या भस्म—३० से ६० मिलीग्राम तक समभाग शक्कर के साथ या ५ से १० मिलीलीटर तक द्राक्षारिष्ट या कुटजारिष्ट में एक चुटकी यवक्षार का प्रक्षेप देकर।

(१५) कर्णप्रदाह तथा कर्णशूल—

गोमूत्र जरा-सा गर्म कर, सुदर्शन या गेंदे के पत्ते को गर्म कर उनका स्वरस कान में डालें। दशमूल तैल कर्णरोग मात्र में लाभदायक है।

(१६) कर्णपाक एवं कान बहना—

बिल्व तैल या जलकुम्भी तैल की कुछ बूँदें दिन में दो बार कान में डालें।

(१७) कर्णव्रण (कान में घाव)—

चन्दन का तैल या बिरोज़ा के तैल की कुछ बूँदें दिन में दो वार कान में डालें।

(१८) कास, श्वास—

बालचातुर्भद्रिका, सितोपलादि या तालीसादि चूर्ण—२५० से ५०० मिलीग्राम तक मधु से।

बालवटी—१-१ गोली माता के दूध से।

बालरोगान्तक रस १ गोली तथा टंकण भस्म ३० मिलीग्राम मधु से (विशेषरूप से सूखी खाँसी में)।

चन्द्रशेखर रस—३० से ६० मिलीग्राम तुलसीपत्र स्वरस और मधु से।

यदि यकृत् की विकृति से हो तो—बालयकृदरि लौह १-१ गोली माता दूध या मधु से।

दन्तोद्भेदकालीन—दन्तोद्भेदगदान्तक रस १-१ गोली माता के दूध या मधु से।

पार्श्वशूल युक्त—मृगश्रृंग भस्म ३० मिलीग्राम तथा टंकण भस्म ३० मिलीग्राम मधु से।

छाती में कफ जकड़ा होने पर—प्रवाल भस्म या पिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम कफ को निकालने के लिए समभाग शक्कर के साथ तथा सुखाने के लिए मधु के साथ।

पुराने घी में सेंधा नमक मिलाकर छाती तथा पीठ पर गर्म हथेली से मालिश करें। वासाचन्दनादि तैल की मालिश करें।

(१९) कुकास या कालीखाँसी या कुक्कुरकास—

कण्टकार्यावलेह—आधे से एक ग्राम तक मधु में मिलाकर चटायें।

कण्टकारी घृत—आधे से एक ग्राम तक मिश्री मिलाकर चटायें।

कामदुधा रस—३० से ६० मिलीग्राम दाडिमावलेह, वासावलेह या कण्टकार्यावलेह (एक से आधे ग्राम तक) से अथवा मधु में मिलाकर।

द्राक्षासव—५ से १० मिलीलीटर समभाग जल मिलाकर पिलायें।

कासश्वास में उल्लिखित योग भी आवश्यकतानुसार दिये जा सकते हैं।

(२०) कामला—(देखें पाण्डु)।

(२१) कृमि—

छोटे बच्चों को प्याज का रस पिलाने से पेट के कीड़े (सूत्रकृमि) मर जाते हैं।

वकायन या नीम की जड़ की छाल जल के साथ पीसकर समूचे पेट पर लेप कर दें। पेट के कीड़े पाखाने के साथ निकल जायेगें।

वालार्क रस—१-१ गोली माता के दूध या मधु के साथ।

बड़े बच्चों को—कृमिकुठार रस—१ से २ गोली तक नागरमोथा के साथ।

विडंगादि लौह—१२० से ३६० मिलीग्राम तक खुरासानी अजवाइन के क्वाथ, प्याज के रस या गर्म जल से।

विडंगारिष्ट—५ से १० मिलीलिटर जल में मिलाकर।

(२२) गुदपाक—

रसौत को गाढ़ा घोलकर लेप करें।

जात्यादि घृत लगायें।

(२३) गुदभ्रंश—

चांगेरी घृत से चिकनाकर उसे अन्दर करने का प्रयास करें। उसी को लगायें।

शुभ्रा भस्म—३० से ६० मिलीग्राम तक शरबत बनफशा या मधु में मिलाकर चटायें।

कनकसुन्दर रस—३० से ६० मिलीग्राम तक सौंफ के अर्क से। आवश्यक होने पर इसमें पंचामृतपर्पटी भी मिलायी जा सकती है।

(२४) गलतुण्डिकाशोथ, तुण्डिकेरी—

कल्याणावलेह—आधे से एक ग्राम तक टंकण भस्म ३० से ६० मिलीग्राम मधु में मिलाकर चटायें।

प्रवालपिष्टी, यशदभस्म या गंधकरसायन—३० से ६० मि. ग्रा. मधु से।

शुभ्रा भस्म अथवा सेंधा नमक और कण्डे (गोयठे) की राख मिलाकर, सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद, दाहिने हाथ के अंगूठे पर रख तुण्डिका में लगाकर हलके से दबायें। अथवा अमृतधारा को रूई की फुरेरी से लगायें।

रसौत को पानी में घोलकर या कफकेतु रस को पानी में पीसकर हलका गर्म गले के बाहर लेप करें।

(२५) ग्रन्थिशोथ—

यशद भस्म और स्वर्णमाक्षिक भस्म को मिलाकर अथवा इनमें से किसी एक को ३० से ६० मिलीग्राम तक मधु में मिलाकर चटायें।

कांचनार-गुग्गुल आधी से एक गोली तक गर्म जल से।

कांचनार या बरना की छाल को पानी के साथ पीसकर उसी का लेप करें।

निर्गुण्डी तैल दिन में २-३ बार लगायें।

(२६) गलसुआ, पाषाणगर्दभ—

वातकफनाशक चिकित्सा करें। संजीवनी बटी और मृगश्रृंग भस्म प्रत्येक ३० मिलीग्राम अदरख के रस और मधु में मिलाकर दें।

हिंगुलेश्वर-रस ३० से ६० मिलीग्राम तक अदरख के रस और मधु में मिलाकर दें।

नमक की पोटली से स्वेदन कर थोड़ा घी मिलाकर गरम-गरम दशांग लेप करें।

(२७) ग्रहणी—

सर्वांगसुन्दर रस—१२० मिलीग्राम माता के दूध या मधु से दें।

कनकसुन्दर रस—६० से १२० मिलीग्राम तक मट्ठे से दें।

ग्रहणीकपाट रस—६० से १२० मिलीग्राम तक जीरे के चूर्ण और मधु अथवा मट्ठे के साथ।

(२८) ज्वर—

बालचातुर्भद्रिका २५० से ५०० मिलीग्राम मधु से।

बालार्क रस या बालज्वरांकुश—१-१ गोली माता के दूध या मधु से।

चन्द्रशेखर रस या संजीवनी बटी—३० से ६० मिलीग्राम तक तुलसीपत्र स्वरस और मधु या माता के दूध से।

यकृद्प्लीहाजन्य—बालयकृदरिलौह १-१ गोली माता के दूध या मधु से।

दन्तोद्भेदजन्य—दन्तोद्भेदगदान्तक रस—१-१ गोली माता के दूध, मधु अथवा जल से।

सर्दी-खाँसी के साथ—रसपिपरी १२० से २४० मिलीग्राम तक अदरख के रस और मधु से।

(२९) ज्वरातिसार—

बालचातुर्भद्रिका या बालज्वरांकुश ऊपर लिखे अनुसार।

(३०) जीर्ण ज्वर—

बालपंचभद्र—२४० से ४८० मिलीग्राम माता के दूध या मधु से।

बालरोगान्तक रस या मुक्तादि बटी—१-१ गोली माता के दूध या मधु से।

वसन्तमालती—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से।

सितोपलादि चूर्ण या अमृता सत्त्व—स्वतन्त्र रूप से या उक्त औषधियों के अनुपान के रूप में १२० से २४० मिलीग्राम तक मधु से।

(३१) चर्म रोग (देखें—त्वचा के रोग)।

(३२) छर्दि या वमन—

वालवटी—१ से २ गोली तक माता के दूध या मधु से ।

वालचातुर्भद्रिका—१२० से २४० मिलीग्राम तक मधु से ।

वालार्क रस या मुक्तादि वटी—१-१ गोली माता के दूध या मधु से ।

मयूरपुच्छ भस्म ३० मिलीग्राम और पिप्पली चूर्ण ३० मिलीग्राम मधु से ।

एलादि चूर्ण—१२० से २४० मिलीग्राम तक स्वतन्त्र रूप से उक्त औषधियों के साथ अनुपान के रूप में मधु के साथ ।

(३३) डब्बा, पसली चलना या उत्फुल्लिका—

बालार्क रस—१-१ गोली माता के दूध या मधु से ।

वालपंचभद्र—१२० से २४० मिलीग्राम तक तुलसी अथवा पान के स्वरस और मधु के साथ ।

वालरोगान्तक रस १ बटी, मृगश्रृंग भस्म ३० मिलीग्राम तथा अभ्रक भस्म ३० मिलीग्राम मधु से ।

(३४) त्वचा के रोग—

स्वर्णमाक्षिक भस्म ३० मिलीग्राम तथा अमृतासत्त्व ३० मिलीग्राम मधु से ।

गंधक रसायन—आधी से एक गोली तक चूर्णित कर समभाग में मिश्री मिलाकर दूध के साथ ।

अमृतारिष्ट या खदिरारिष्ट—५ से १० मिलीग्राम जल में मिलाकर ।

लगाने के लिए—

गन्धक का मलहम और गन्धकपिष्टी तैल—विशेषरूप से खुजली के लिए।

गुडूच्यादि तैल—त्वचा के विकार, विसर्प, खुजली, दाह तथा वातरक्त में उपयोगी ।

जात्यादि घृत तथा तैल—त्वचा के समस्त विकारों-व्रणों में उपयोगी ।

चालमोंगरा या तुवरक तैल—खाने और लगाने से त्वचा के समस्त रोगों में उपयोगी ।

निर्गुण्डी तैल—गण्डमाला, अपची, नाड़ीव्रण, दुष्टव्रण में उपयोगी । लगाने और नस्य लेने—दोनों में काम आता है ।

पंचगुण तैल—उत्तम वेदनाहर, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक, दाहशामक तथा विस्फोटों को दूर करने वाला है । चोट, मोच सभी को ठीक करता है ।

महामरिच्यादि तैल—सभी प्रकार के त्वचा रोगों और व्रणों में लाभदायक ।

(३५) तृषा—

सुगन्धबाला चूर्ण—१२० से २४० मिलीग्राम तक मधु और मिश्री से ।

जहरमोहरा खताई पानी में घिसकर मधु के साथ चटायें।

प्रवालपिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु और मिश्री के साथ।

(३६) नाभिपाक—

चन्दन या अन्य क्षीरी वृक्षों की छाल का खूब महीन कपड़छन चूर्ण छिड़कें।

चन्दन का तैल लगायें।

हरिद्रा, लोध्र, प्रियंगु और मधुयष्टी के समभाग कल्क, कल्क से चार गुने जल और जल के समान तैल लेकर, उसे सिद्धकर लगायें। इन्हीं औष-धियों के चूर्ण को नाभि पर छिड़कें।

(३७) नाभिशोथ—

मिट्टी के ढेले को अग्नि में तपाकर, दूध में बुझाकर उसकी ऊष्मा से नाभि को स्वेदित करें तथा उक्त तैल लगायें।

(३८) नेत्राभिष्यन्द—

सप्तामृत लौह ६० से १२० मिलीग्राम तक मधु से।

शुभ्रा भस्म ३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से।

त्रिफला घृत—आधे से एक ग्राम तक।

लगाने के लिए—

दारुहरिद्रा, मोथा और सोनागेरू को बकरी के दूध में पीसकर नेत्रों के बाहर लेप करें। शुभ्रा और गुलाब-जल से बने नेत्रबिन्दु को आँखों में डालें।

(३९) दन्तोद्भेदकालीन व्याधियाँ—

दन्तोद्भेदगदान्तक रस—इसकी प्रमुख औषधि है। १–१ गोली माता के दूध, जल या मधु से दें।

कनकसुन्दर रस ६० से १२० मिलीग्राम तक या मुक्तादि बटी आधी से एक गोली तक माता के दूध या मधु से।

कुमारकल्याण घृत—३ से ६ ग्राम तक गर्म दूध से दें।

बाह्य प्रयोगार्थ—दन्तोद्भेदगदान्तक रस की गोली पीसकर या टंकण भस्म १२० से २४० मिलीग्राम तक लेकर मधु में मिलाकर मसूढ़ों पर रगड़ें।

(४०) दूध डालना—

बालचातुर्भद्र चूर्ण—२५० मिलीग्राम से १ ग्राम तक मधु से।

बालबटी—१–२ गोली माता के दूध या मधु से।

(४१) धनुर्वात—

चन्द्रशेखर रस ६० से १२० मिलीग्राम तक माता के दूध या मधु से।

लक्ष्मीनारायण रस—३० से ६० मिलीग्राम तक अदरख के रस और मधु के साथ।

कृमिजन्य में—कृमिकुठार रस—

कालकूट रस—१५ से ३० मिलीग्राम तक अदरख के रस और मधु से। यह बहुत ही उग्र है अतः बहुत सोच-समझ कर अत्यन्त सावधानी से इसका उपयोग करना चाहिए।

(४२) नासारोग—

षड्विन्दु तैल की कुछ बूँदें नाक में डालें या स्प्रे करें।

नासारोगों में सर्दी-जुकाम या पीनस प्रमुख हैं। इनके वर्णन यथास्थान देखें।

(४३) पाण्डु—

पहले मृदु विरेचन दें। फिर—

वालपंचभद्र—२४० से ४८० मिलीग्राम तक मधु से चटाकर ऊपर से दूध पिलायें।

वालयकृदरि लौह—१-१ गोली माता के दूध या मधु से।

मण्डूर भस्म, नवायस लौह, पुनर्नवामण्डूर या सप्तामृत लौह ६० से १२० मिलीग्राम तक मधु से।

लौहासव—५ से १० मिलीलिटर तक जल में मिलाकर दें।

(४४) पोलियो—

कुमारकल्याण रस—आधी से एक गोली तक माता के दूध, मिश्री या वच के चूर्ण और मधु से दें।

अरविन्दासव—५ से १० मिलीलिटर पानी में मिलाकर दें।

प्रभावित अंग या अंगों पर महानारायण या प्रसारिणी तैल की मालिश करें। साथ ही विटामिन-डी का भी कोई उत्कृष्ट योग दें।

(४५) प्रतिश्याय—

मधुयष्टी चूर्ण २५० से ५०० मिलीग्राम तक घृत और मधु में मिलाकर चटायें।

वालरोगान्तक रस—१-१ गोली माता के दूध या मधु से दें।

वालसंजीवन रस या चन्द्रशेखर रस—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु या माता के दूध से।

चित्रक हरीतकी—१ से २ ग्राम तक मधु में मिलाकर चटायें।

(४६) बुद्धिमान्द्य या बौद्धिक दुर्बलता—

ब्राह्मी बटी—आधी से एक गोली तक गुलकन्द, वीजरहित मुनक्के के कल्क, आँवले के मुरब्बे या ब्राह्मी के शरबत के साथ दें।

सारस्वत चूर्ण—आधे से एक ग्राम तक घृत और मधु से।

सारस्वतारिष्ट—५ से १० मिलीलिटर तक जल में मिलाकर।

ब्राह्मी घृत—१ से ३ ग्राम तक समभाग मिश्री मिलाकर खिलायें। ऊपर से दूध पिलायें।

(४७) मलावरोध—

शैशवावस्था में—थोड़ा-सा रीठे का फेन गुदामार्ग से प्रवेश करा दें, या एरण्ड तैल स्तनों पर लगाकर पिला दें, या बड़ी हरड़ को थोड़ा घिसकर, दूध में मिलाकर पिला दें। साथ में अजीर्ण भी हो तो हरड़ के साथ थोड़ा काला नमक भी घिस लें।

बड़े बच्चों को—अभ्रकंचुकी रस—चौथाई से एक गोली तक मधु या जल से।

द्राक्षारिष्ट—५ से १० मिलीलिटर जल में मिलाकर।

यकृत्दोष के कारण हो तो—बालयकृदरिलौह १–१ गोली माता के दूध या मधु से।

(४८) मुखपाक—

मृदु विरेचन दें। पश्चात् बालयकृदरि लौह १–१ गोली माता के दूध या मधु से दें।

बाह्य प्रयोगार्थ—शुद्ध टंकण भस्म या दुग्धपाषाण को मधु में मिलाकर लेप करें, अथवा—आम की गुठली के चूर्ण, लौह भस्म, स्वर्णगैरिक और रसाञ्जन के चूर्ण को मधु में मिलाकर लेप करें, अथवा—पीपल की छाल और पीपल के पत्तों को पीसकर मधु मिलाकर लेप करें।

(४९) मूत्रावरोध—

पिप्पली, काली मिर्च, शर्करा, मधु, छोटी इलायची और सेंधा नमक—एकत्र मिश्रित कर आधे से एक ग्राम तक चटायें।

गोक्षुराद्यावलेह—१ से २ ग्राम तक मधु में मिलाकर चटायें।

प्रवालपिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से दें।

अरविन्दासव या उशीरासव—५ से १० मिलीलिटर तक चन्दनादि अर्क या जल में मिलाकर दें।

पेड़ू पर मोटे कपड़े की कई तहें कर शीतल जल में भिगोकर पट्टी रखें या गीली मिट्टी का लेप करें।

(५०) यकृत्-प्लीहावृद्धि/शोथ (देखें—सूत्रण)।

(५१) रक्तस्राव या रक्तस्रावी रोग—

शुभ्रा भस्म, प्रवालपिष्टी या मुक्तापिष्टी ३० से ६० मिलीग्राम तक मधु में मिलाकर दें।

चन्द्रशेखर रस—३० से ६० मिलीग्राम श्वेतदूर्वा-स्वरस और मधु अथवा केवल मधु से दें।

उशीरासव ५ से १० मिलीलिटर तक जल में मिलाकर सेवन करायें।

विशिष्ट रोग की विशिष्ट चिकित्सा करें।

(५२) रोमान्तिका, खसरा, मसूरिका तथा शीतला—

त्रिभुवनकीर्ति रस—चौथाई से आधी गोली तक अदरख के रस और मधु से।

प्रवालपिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से।

लक्ष्मीनारायण रस, गोरोचन और प्रवालपिष्टी का समभाग मिश्रण ३० से ६० मिलीग्राम तक पटोलादि क्वाथ या मधु से।

ब्राह्मी बटी (चेचक)—आधी से १ गोली तक लक्षणानुसार उचित अनुपान के साथ दें।

बाह्य प्रयोगार्थ—दशांग लेप, निशादि लेप।

(५३) रोदन—

कारण की खोज करें। निदान के अनुरूप उचित उपचार करें।

पीपल, हरड़, बहेड़ा और आँवला के चूर्ण को मधु और गोघृत में मिलाकर चटायें।

(५४) वमन (देखें—छर्दि)।

(५५) वाणी-दोष (तुतलाना, हकलाना आदि)—

ब्राह्मी घृत—आधे से एक ग्राम तक मिश्री मिलकार चटायें। ऊपर से दूध पिलायें या दूध में मिलाकर दें।

सारस्वतारिष्ट—५ से १० मिलीलिटर पानी मिलाकर पिलायें।

(५६) विसर्प विस्फोटक—

मुक्तापिष्टी अथवा प्रवालपिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से।

गन्धक रसायन—आधी से एक गोली तक समभाग मिश्री मिलाकर दूध से।

अमृतासत्त्व ६० से १२० मिलीग्राम तक मधु से।

बाह्य प्रयोगार्थ—मांस्यादि लेप, निशादि लेप।

(५७) वृक्कप्रदाह या पूयवृक्क—

चन्द्रप्रभा बटी—आधी से १ गोली तक दूध से।

देवदार्वाद्यरिष्ट—५ से १० मिलीलिटर जल में मिलाकर।

कालकूट रस—१५ से ६० मिलीग्राम तक अदरख के रस और मधु से।

(५८) श्वास (देखें—कास-श्वास)।

(५९) शूल (उदर)—

सेंधा नमक, सोंठ, छोटी इलायची, घी में भुनी हींग तथा भारंगी का चूर्ण—½ से १ ग्राम तक घी में मिलाकर चटायें या गर्म पानी से दें।

अजीर्णजन्य हो तो तदनुकूल चिकित्सा करें।

हींग को पानी में घोलकर सह्य गरम पेट पर नाभि के चारों ओर लेप करें।

(६०) शय्यामूत्र—

आँवले या कमलगट्टे का चूर्ण—१२० से ३६० मिलीग्राम तक मधु से।

वंग भस्म या प्रवालपिष्टी—३० से ६० मिलीग्राम तक मधु से।

पेट में कीड़े होने पर कृमिकुठार रस का प्रयोग करें।

(६१) शोथ—

बालयकृदरि लौह—१–१ गोली माता के दूध या मधु से।

पुनर्नवा मण्डूर अथवा शोथारि मण्डूर—१–१ गोली गोमूत्र या जल से।

आरोग्यवर्धनी वटी—आधी से १ गोली तक गोमूत्र, दूध या जल से। पुनर्नवा मण्डूर और आरोग्यवर्धनी मिलाकर देने से शोथरोग में विशेष लाभ होता है।

बाह्य प्रयोगार्थ—नागरमोथा, श्वेत कुष्माण्ड के वीज, देवदारु और इन्द्रजौ—समभाग जल के साथ पीसकर लेप करें। दशांग लेप का प्रयोग करें।

(६२) सर्दी-जुकाम—

अजवायन, पीपल, सोंठ और काला नमक—समभाग जल में पीस, थोड़ा गर्म करके, छानकर मिश्री मिलाकर पिला दें। इसमें शुद्ध टंकण भस्म भी मिला दिया जाय तो अधिक गुणकारी हो जाता है।

टंकण भस्म तथा शुभ्रा भस्म—समभाग मिश्रण ३० से ६० मिलीग्राम मधु से।

लक्ष्मीविलास रस (नारदीय)—चौथाई से १ गोली तक अदरख के रस और मधु या पीपल के चूर्ण और मधु से।

रसपिपरी—१२० से २४० मिलीग्राम तक अदरख के रस और मधु से।

बाह्य प्रयोगार्थ—गर्म हाथों से छाती और पीठ पर पुराने घी या कड़ुए तेल में जायफल घिस कर उसकी मालिश करें।

(६३) सूत्रण या बालयकृत्-शोथ—

बालयकृदरि लौह—१–१ गोली माता के दूध या मधु से। बालयकृदरि लौह, रससिन्दूर, अभ्रक भस्म और लौह का मिश्रण इसमें विशेष रूप से उपयोगी पाया गया है।

नवायस-लौह, पुनर्नवा मण्डूर अथवा सप्तामृत लौह—६० से १२० मिलीग्राम तक पीपल के चूर्ण और मधु या केवल मधु से।

मण्डूर भस्म—६० से १२० मिलीग्राम तक मधु से।

अश्वकंचुकी रस—आधी से १ गोली तक मधु या जल से। तीव्र मलावरोध की हालत में विशेष लाभदायक।

कुमार्यासव—५ से १० मिलीलिटर तक जल में मिलाकर सेवन करायें।

(६४) सुखण्डी या शोथ—

बालार्क रस १–१ गोली
बालपंचभद्र—१२० से २४० मि०ग्रा० तक
सुधाषट्क—१२० से २४० मि०ग्रा० तक
मुक्तादि बटी—१–१ गोली
} माता के दूध या मधु से

बालरोगान्तक रस, गोदन्ती हरताल भस्म, कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म का समभाग मिश्रण १२० से २४० मिलीग्राम तक मधु से।

बालचन्द्र रस १२० मिलीग्राम मक्खन, मिश्री, अमृता सत्त्व और शर्बत अनार या दाडिमावलेह के साथ।

रोग अधिक बढ़ा हुआ हो तो कुमारकल्याण रस, प्रवालचन्द्रपुटी और स्वर्णवसन्तमालती का प्रयोग करें।

च्यवनप्राशावलेह का सेवन करायें।

अरविन्दासव ५ से १० मिलीलिटर (या उम्र के अनुसार अधिक भी) जल में मिलाकर सेवन करायें।

बाह्य प्रयोगार्थ—शंखपुष्पी तैल, लाक्षादि तैल, चन्दनादि तैल, वासाचन्द-नादि या चन्दनबलालाक्षादि तैल की शरीर पर मालिश करें।

(६५) हिक्का—

कुटकी या शुद्ध स्वर्णगैरिक का चूर्ण १२० मिलीग्राम मधु से चटायें।

पिपल्यादि चूर्ण मधु, शर्करा और कागजी नींबू के रस में मिलाकर दें।

कण्टकार्यावलेह—आधे से एक ग्राम तक मधु से चटायें।

मयूरपुच्छ भस्म ३० से ६० मिलीग्राम समभाग पीपल के चूर्ण और मधु से चटायें।

(६६) क्षुधानाश (देखें–अरुचि)।

अध्याय ८७

पेटेण्ट आयुर्वेदिक औषध-योग

इस अध्याय में कुछ सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय कम्पनियों द्वारा निर्मित पेटेण्ट वाल-योगों की चर्चा की जा रही है। इसमें केवल उन्हीं योगों को लिया गया है जो विशेष रूप से वालकों के लिए ही वनाये गये हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ कम्पनियों द्वारा निर्मित वालयोग हो सकते हैं। उनका यहाँ न दिया जाना मात्र जानकारी का अभाव है। यदि ऐसी कम्पनियाँ भविष्य में लेखक को अपने योगों की समुचित जानकारी भेजेंगी तो अगले संस्करण में उनका भी समावेश कर दिया जायेगा।

कम्पनियों के नाम तथा योग अकारादि क्रम में व्यवस्थित किये गये हैं। योगों के साथ उनकी मात्रा और सेवन-विधि का भी उल्लेख कर दिया गया है। विशेष जानकारी के लिए चिकित्सक उन औषधियों से सम्वन्धित साहित्य को देखें।

ऊँझा

(ऊँझा आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऊँझा, उ० गुजरात)

(१) **जन्मघुटी**—अपचन, मलावरोध, खाँसी, जुकाम, उल्टी आदि में उपयोगी।

मात्रा—आधा छोटा चम्मच दिन में दो बार।

(२) **वालामृत**—पेट के विकारों को दूर कर वालक को हृष्ट-पुष्ट बनाता है।

मात्रा—६ माह की वय तक ५ बूँद,
६ माह से १ वर्ष तक १० बूँद,
१ वर्ष से अधिक १५ बूँद दिन में दो बार।

(३) **वालरक्षक पिल्स**—ज्वर, अतिसार, उदरशूल आदि में उपयोगी।

मात्रा—१ से ३ मास तक आधी से एक गोली,
३ से ५ मास तक एक से दो गोली,
५ से १२ मास तक २ से ४ गोली माता के दूध, पानी अथवा मधु से।

(४) **शिशु-सञ्जीवनी**—ज्वर, दस्त, निर्बलता, यकृत् एवं प्लीहा के विकार, रक्ताल्पता, कामला, मलावरोध, पाचन की कमी, अजीर्ण, बीमारी के

बाद की कमजोरी आदि में उपयोगी है। बालशोष में नवरत्न रस के साथ देने से अच्छा काम करती है। अस्थि-यक्ष्मा और कैल्शियम की कमी से होनेवाले रोगों में लाभदायक है।

मात्रा—एक छोटा चम्मच, पानी में मिलाकर, दिन में ३ बार, खाना खाने के आधे घण्टे बाद।

गर्ग

(गर्ग वनौषधि भण्डार, विजयगढ़, अलीगढ़)

(१) **बालविट**—हीनताजनित विकारों, मलावरोध, अजीर्ण, अफारा, दूध-डालना, दस्त, पेचिश, सर्दी, खाँसी, यकृत् एवं प्लीहा के दोष तथा दाँत निकलने के समय होनेवाले विकारों को दूर कर बालक को हृष्ट-पुष्ट बनाता है।

मात्रा—शिशुओं को ५ से १० बूँद माता के दूध में तथा बच्चों को २० बूँद दूध या फलों के रस में, दिन में २ बार।

(२) **शिशुशोषान्तक कैपसूल**—बच्चों के सूखारोग तथा अस्थि-मार्दव में उपयोगी।

मात्रा—१-१ कैपसूल दिन में २ बार। जो बच्चे न निगल सकें उन्हें फोड़कर, दवा को मधु या बालविट में मिलाकर दें।

गुरुकुलकांगड़ी

(गुरुकुलकांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार)

(१) **बालघुट्टी**—पेट के विकारों, कब्ज, हरे-पीले दस्त आदि को दूर कर बच्चे को स्वस्थ एवं सुन्दर बनाती है।

मात्रा—आधा से एक छोटा चम्मच दिन में २–३ बार।

(२) **बालशर्बत**—कब्ज, पेचिश, हरे-पीले दस्त, उलटी, खाँसी तथा बुखार में हितावह। बच्चों की दन्तोद्भवन-काल की तकलीफों से रक्षा करता है।

मात्रा—५ से ३० बूँद तक अवस्थानुसार, पानी में मिलाकर, दिन में २ बार।

चरक

(चरक फार्मास्युटिकल्स, बम्बई–४०००११)

(१) **क्रूमिनिल सीरप (Cruminill Syrup)**—

आमतौर से आँतों में पाये जानेवाले कृमियों और उनसे उत्पन्न विकारों, यथा—ज्वर, वायु-विकार, दस्त, ऐंठन, पित्ती, दमा, ब्रान्काइटिस आदि को दूर करता है।

मात्रा—शिशु--आधा चम्मच दिन में तीन बार ७ दिनों तक। बच्चों को १ चम्मच दिन में २–३ बार, ७ दिनों तक।

(२) पीड्रिटोन पाउडर (Paedritone Powder)—

शिशुओं के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया टॉनिक। नियमित सेवन से शिशु स्वस्थ रहता है। रोगप्रतिरोधक-क्षमता में वृद्धि होती है। दाँत निकलते समय कोई तकलीफ नहीं होती। वृद्धि और विकास सामान्य गति से होते हैं।

मात्रा—छः माह से कम उम्र वाले को १ ग्राम (१ माप) दिन में २–३ बार। छः माह से ऊपर वाले को २ ग्राम (२ माप) २ से ४ बार तक।

(३) पेडिलैक्स सीरप (Pedilax Syrup)—

बच्चों तथा कोमल एवं दुर्बल शरीर वालों के लिए रेचक। इसके सेवन से पेट साफ होता है। आँतों की क्रिया नियमित होती है। पेट में मरोड़ या ऐंठन नहीं होती और न आदत ही पड़ती है।

मात्रा—शिशु—२·५ मि० लि० (आधा छोटा चम्मच) १ चम्मच पानी में रात में सोते समय। बच्चों को १ से २ छोटा चम्मच (५ से १० मि० लि०) समभाग में मिलाकर रात में सोते समय।

(४) लिक्वीटोन सीरप (Liquitone Syrup)—

शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था में बालक के सामान्य स्वास्थ्य को बनाये रखता है। वृद्धि और विकास को गति देता है। पाचनशक्ति को बढ़ाता है। चयापचय को नियमित रखता है। सामान्य कमजोरी, अरुचि, क्षुधानाश, वृद्धि में कमी, बालशोष तथा मुँह से अत्यधिक लार आने में उपयोगी है।

मात्रा—शिशुओं को १ छोटा चम्मच (५ मि० लि०) समभाग जल मिलाकर, दिन में ३ बार। बच्चों को २ से ३ छोटा चम्मच (१० से १५ मि० लि०) समभाग जल मिलाकर अथवा यूँ ही दिन में ३ बार।

(५) लिवोमिन ड्रॉप्स सीरप (Livomyn Drops/Syrup)—

क्षुधानाश, कुपोषण, शारीरिक वृद्धि में अवरोध, विकास की गति मन्द, रक्ताधिक्य या द्रवाधिक्य के कारण यकृत् की संकुलता, उसकी कार्य-प्रणाली में गड़बड़ी, बालयकृत्शोथ, कामला, सूत्रण, यकृत् से संक्रमणजन्य विकार तथा तज्जनित उपद्रवों में उपयोगी। यह यकृत् की क्रिया और पित्त के स्राव को नियमित बनाकर पाचन-तन्त्र के विकारों को दूर करता है। यकृत् की बाह्य संक्रमणों से रक्षा करता है।

मात्रा—	ड्राप्स	सीरप
शिशुओं को	५ से १० बूँद तक	चौथाई से आधा छोटा चम्मच
बच्चों को	,,	आधे से एक छोटा चम्मच

दिन में ३ बार, कम-से-कम ६ सप्ताह तक।

(६) वोमीटेब सीरप (Vomiteb Syrup)—

किसी भी कारण से छर्दि या वमन में उपयोगी। बालकों का दूध फेंकना, अजीर्ण, आध्मान, अत्यधिक अम्लता, कामला, ज्वर आदि के कारण जी मितलाना, कै करना आदि में उपयोगी।

मात्रा—शिशुओं को आधा छोटा चम्मच (२·५ मि० लि०)। बच्चों को १ छोटा चम्मच (५ मि० लि०)। जितनी बार जरूरी हो—यहाँ तक कि आधे-आधे घण्टे पर भी।

(७) व्हीपेक्स सीरप (Whipex Syrup)—

कुकास (हूपिंग कफ), श्वसनीशोथ, श्वसनी-विस्फार, दमा, फुप्फुसशोथ आदि में उपयोगी। गले की खराश के कारण सूखी खाँसी, फुप्फुसीय यक्ष्मा तथा शुष्क प्लूरिसी में इसका उपयोग न करें।

मात्रा—शिशुओं को आधा छोटा चम्मच (२·५ मि० लि०)। बच्चों को १ छोटा चम्मच (५ मि० लि०)। पानी में मिलाकर, दिन में तीन बार।

ज्वाला

(ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़)

(१) चेचकावरोधक कैपसूल—वसन्त ऋतु में नित्य १–१ कैपसूल लेते रहने से चेचक निकलने का भय नहीं रहता। निकल आने पर नित्य ३-३ कैपसूल दें।

(२) शोषान्तक कैपसूल—बालशोष में उपयोगी। १-१ कैपसूल दिन में दो बार पानी से निगलवा दें। जो बच्चे न निगल सकें उन्हें कैपसूल फोड़कर औषधि मधु में मिलाकर दें। अवस्थानुसार मात्रा को कम भी कर सकते हैं।

(३) ज्वाला बालघुट्टी—कफ, सर्दी, खाँसी, जुकाम, मुँह में छाले, हरे-पीले वदबूदार दस्त, उलटी, अजीर्ण, पेट में मरोड़, अफारा एवं हरारत आदि में उपयोगी। नियमित सेवन से बालक हृष्ट-पुष्ट एवं निरोग रहता है और दाँत आसानी से निकल आते हैं।

मात्रा—छः माह तक के बच्चों को ५ बूँद। छः माह से एक वर्ष तक १० बूँद। एक वर्ष से ऊपर १५ बूँद, दिन में २ बार गर्म पानी से तथा दस्त या उलटी में ठण्डे पानी में।

(४) शोषान्तक तैल—बालशोष से पीड़ित बच्चे के शरीर पर हलके-हलके मालिश करें। मालिश करने के आधे घण्टे बाद ही नहलायें।

झण्डु

(झण्डु फार्मास्युटिकल वर्क्स लि०, बम्बई ४०००२५)

(१) इनफी (Infec)—शैशवावस्था में स्वास्थ्य-संरक्षण हेतु उपयोगी पेय। विशेषरूप से अजीर्ण, पेट की गड़बड़ी, उदरशूल, मूत्रकृच्छ्रता, मलावरोध तथा कृशता में व्यवहृत।

मात्रा—शिशुओं को ५ से १० बूंद तथा बच्चों को आधा से एक छोटा चम्मच, पानी में मिलाकर, दिन में दो बार।

(२) बालकडु—सर्दी, खाँसी, बुखार, अजीर्ण, अतिसार, आध्मान, कृमि, उबकाई, वमन तथा यकृत् एवं प्लीहा के विकारों में उपयोगी।

मात्रा—१ से ३ महीने तक १ बूंद; ३ से ६ महीने तक ३ बूंद तथा ६ से १२ महीने तक ६ बूंद माता के दूध या गुनगुने पानी में, दिन में ३ बार।

(३) बालगुटी—बाल-रोगों में व्यवहृत। पाचन-शक्ति को सुधारती और दूध अथवा खूराक को पचाने में सहायता करती है। ज्वर, सर्दी-खाँसी, अतिसार, आध्मान, मलावरोध, वमन आदि में विशेषरूप से उपयोगी।

मात्रा—१ से ३ मास आधा से १ गोली, ३ से ५ मास तक १ से २ गोली तथा ५ से १२ मास तक २ से ४ गोली माता के दूध, पानी अथवा मधु से, दिन में २ बार।

(४) बालदवा (शृंग्यादि चूर्ण)—सर्दी-खाँसी, बुखार, वमन तथा अतिसार में उपयोगी।

मात्रा—१२५ से ४०० मि० ग्रा० तक माता के दूध या मधु से, दिन में ३ बार।

(५) बालशूलार्क—बच्चों को स्वस्थ एवं प्रसन्न रखता है। पाचनशक्ति को बढ़ाता है। नियमित सेवन कराते रहने से दाँत आसानी से निकल आते हैं। उदरशूल, अम्लपित्त, पेट की अकड़न, मलावरोध आदि में उपयोगी।

मात्रा—नवजात शिशु को ५ से १० बूंद। २ से ६ माह तक के शिशु को एक छोटा चम्मच तथा ६ से १२ माह तक १ से २ छोटा चम्मच।

(६) बालामृत—पाचनशक्ति को सुधारता और शरीर को पुष्ट करता है। पुरानी खाँसी-जुकाम में, बालशोष तथा दाँत निकलते समय उत्पन्न होनेवाले विकारों में उपयोगी है।

मात्रा—३ से ६ महीने तक ५ बूँद, ६ से १२ महीने तक १५ बूँद, १ से २ वर्ष तक आधा चम्मच, २ से ३ वर्ष तक $\frac{३}{४}$ चम्मच तथा ३ से ५ वर्ष तक १ चम्मच, दिन में २ बार।

(७) **लिवोट्रिट** (Livotrit Paed.)—यकृत् की क्रिया को सुधार कर उसे स्वस्थ रखती है। संक्रमणजन्य यकृत्-शोथ, बालयकृत्शोथ (Infantile Cirrhosis), अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होने वाली यकृत् की विकृतियों, यकृत्-विकृति के कारण उत्पन्न दोषों में विशेषरूप से उपयोगी।

मात्रा—$\frac{१}{३}$ से $\frac{१}{२}$ छोटा चम्मच पानी या ग्लूकोस में मिलाकर दिन में ३ बार।

डाबर

(डा० एस० के० वर्मन प्रा० लि०, गाजियाबाद)

(१) **कुमार्यासव नं० ३**—यह बच्चों के यकृत्, प्लीहा, कफ, श्वास कास, अजीर्ण, कृमि, हँफनी, अरुचि, रक्ताल्पता, पाण्डु, उदरशूल आदि रोगों में उपयोगी है।

मात्रा—एक से बारह मास तक के बच्चे को १ से १२ बूँद, दिन में १ या २ बार।

(२) **ग्राइपवाटर**—अपचन, पेट में ऐंठन और अफारा को दूर करता है।

मात्रा—नवजात शिशु २·५ मि० लि०, १ माह से ६ माह तक ५ मि० लि० तथा ६ मास से ऊपर १० मि० लि०।

(३) **जन्मघूंटी**—बच्चों के ज्वर, अपचन, मलावरोध, कफ-प्रकोप, खाँसी, जुकाम, उलटी, दस्त, मरोड़, पेट फूलना आदि में उपयोगी है।

मात्रा—१ से ३ माह तक १ मि० लि०, ४ से ६ माह तक २·५ मि० लि० (आधा छोटा चम्मच) तथा ७ महीने से ऊपर ५ मि० लि० (एक छोटा चम्मच) दिन में २- ३वार।

(४) **लाल तेल**—बालशोथ में बालकों के शरीर पर मालिश करने से लाभ होता है।

(५) **लालशर**—यह दुर्बल तथा रोग से पीड़ित बच्चों और उनकी माताओं को पुष्ट करता है। बच्चों के कफ, खाँसी, अजीर्ण और दाँत निकलने के समय होने वाली तकलीफों में लाभ पहुँचाता है।

मात्रा—शिशुओं को १ से १० बूँद, बालकों को आधा चम्मच तथा बड़ों को पूरा चम्मच दिन में २ बार।

(६) **शंखपुष्पी तेल**—बच्चों के सुखण्डी, दाद, खाज, खुजली और सिर पर उभरने वाले दोषों में लाभप्रद है।

(७) **पोदीना-हरा**—बच्चों के हरे-पीले फेनयुक्त दस्तों, अजीर्ण तथा दूध की उलटी में लाभदायक।

मात्रा—शिशुओं को २ बूंद मधु मिलाकर तथा बच्चों को ४ से १२ बूंद तक पानी में मिलाकर।

धन्वन्तरि

(धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़, अलीगढ़)

(१) **कुमारकल्याण घुटी**—बालकों के अपच एवं दाँत निकलते समय के रोगों में उपयोगी है।

मात्रा—एक से दो चम्मच दिन में ३–४ बार।

(२) **कुमाररक्षक तेल**—शरीर पर मालिश करने से दुर्बल बच्चे हृष्ट-पुष्ट हो जाते हैं।

(३) **डब्बानाशक बटी**—डब्बारोग (न्यूमोनिया) में उपयोगी।

मात्रा–रोग और रोगी की अवस्थानुसार साहित्य पढ़कर निर्धारित करें।

(४) **बालोपकारक बटी**—बालापस्मार में उपयोगी।

धूतपापेश्वर

(धूतपापेश्वर लि०, बम्बई ४०००० ४)

(१) **ग्राइपीन**–बच्चों के उदर-विकारों में लाभकारी है। दूध डालना, उलटी, दस्त, पेट का दर्द, अफारा, हरे-पीले झागदार दस्तों में उपयोगी है।

मात्रा—१ से २ चम्मच दिन में २–३ बार।

(२) **कुमारेक्स**—उदर-विकारों को दूर कर पेट को नियमित रखती है। अतानी अग्निमान्द्य, जीर्ण अग्निमान्द्य, मलावरोध तथा अग्निमांद्यजन्य सर्दी, जुकाम एवं खाँसी में उपयोगी है।

मात्रा—अवस्थानुसार आधे से एक चम्मच तक दिन में ३ बार।

(३) **बालजीवन**—इसके सेवन से बालक हृष्टपुष्ट एवं निरोग रहता है। बच्चों के हरे-पीले दस्त, आँव, मरोड़, अफारा, मलावरोध, बुखार, खाँसी, कृमि, दूध-डालना तथा दाँत निकलने के समय उत्पन्न होने वाले उपद्रवों में लाभदायक है।

मात्रा—अवस्थानुसार १ से २ चम्मच तक दिन में २ बार।

मोहता

(श्री मोहता आयुर्वेद जनता फार्मास्युटिकल वर्क्स, हाथरस)

(१) **ग्राइपको**—बच्चों के अपचन, दस्त, मरोड़, अफारा तथा दाँत निकलते समय होने वाली तकलीफों को दूर करता है।

मात्रा—शिशुओं को ५ तथा बालकों को १० से १५ बूंद दूध या पानी में आवश्यकतानुसार।

(२) **बालकड्डु**—कृमि, सर्दी, जुकाम, खाँसी, उदरशूल तथा अफारा में उपयोगी।

मात्रा—१ से २ छोटा चम्मच आवश्यकतानुसार।

(३) **बालामृत**—बच्चों की दुर्बलता, कृशता, सर्दी-जुकाम, बुखार तथा खाँसी में उपयोगी तथा बाल-स्वास्थ्य-संरक्षक।

मात्रा—६ माह की वय तक ५ बूंद। ६ माह से १ वर्ष तक १० बूंद तथा १ वर्ष से अधिक १५ बूंद, दिन में २ बार।

(४) **संजीवन लालतैल**—बच्चों के सूखा रोग, अस्थि-मार्दव, पैरों की दुर्बलता आदि में उपयोगी। सम्पूर्ण शरीर पर इसकी मालिश करें।

राजवैद्य शीतल प्रसाद एण्ड संस, दिल्ली–६

(१) **ग्राइप-मिक्श्चर**—पेट की खराबी से होने वाले विकारों में लाभकारी। हरे-पीले दस्त, उदरशूल, अफरा, कै, उलटी, दूध-डालना आदि शिकायतों को दूर करती है।

मात्रा—आधा से दो चम्मच दिन में २–३ बार।

(२) **बालघुटी**—हरे-पीले दस्त, आँव, मरोड़, अफारा, मलावरोध, बुखार, खाँसी, कृमि, हिचकी, दूध डालना तथा दन्तोद्भवन-काल में होने वाले विकारों को दूर करती है। नियमित सेवन से उदर-विकार दूर होकर बच्चे हृष्ट-पुष्ट होते हैं।

मात्रा—आधा से एक चम्मच दिन में २–३ बार।

(३) **बालामृत**—बच्चों को हृष्ट-पुष्ट बनाता है। दौर्बल्य, कार्श्य, रक्ताल्पता, अस्थि-मृदुता, सूखा रोग तथा दाँत निकलने के समय होने वाले विकारों में उपयोगी है।

मात्रा—१ से २ चम्मच दिन में २ बार।

बैद्यनाथ

(श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, पटना–८००००१)

(१) **कुमार्यासव नं० ३**—बालकों के यकृत् के रोग, कब्जियत, बदहजमी, रक्ताल्पता आदि में उपयोगी है। इसके सेवन कराने से अन्न या दूध आसानी से पच जाता है। उदर में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता।

मात्रा—१ से १२ मास तक के बच्चे को १ से १२ बूँद तक दिन में १ या २ बार।

(२) **ग्राइप-वाटर**—पाचनशक्ति को बढ़ाता है। अपच, मरोड़, अफरा और दाँतों के निकलते समय होने वाली शिकायतों को दूर करता है।

मात्रा—५ से १५ बूँद तक दिन में २-३ बार दूध या जल में मिलाकर।

(३) **अर्क-पोदीना**—बच्चों के हरे-पीले दस्त और दाँत निकलने के समय होने वाले अपच में गुणकारी है।

मात्रा—शिशुओं को २ बूँद मधु मिलाकर तथा बच्चों को ४ से १२ बूँद तक जल में मिलाकर।

(४) **कृमिहर सीरप**—बच्चों के पेट के कीड़ों को दूर करने के लिए उपयोगी एवं निर्दोष औषधि है।

मात्रा—½ से १ चम्मच दिन में २ बार, ७ दिनों तक।

(५) **जन्मघुटी**—बुखार, खाँसी, सरदी, जुकाम, अजीर्ण, उलटी होना, टट्टी होना, पेट फूलना आदि शिकायतों को दूर करती है। जन्म के बाद से ही देते रहने से बच्चे इन शिकायतों से बचे रहते हैं।

मात्रा—०·५ से ३ मिलीलिटर तक अवस्थानुसार माता के दूध या जल से।

(६) **बालामृत**—क्षीणता, अपच, मलावरोध, दस्त तथा दन्तोद्भेद-कालीन विकार ठीक होते हैं।

मात्रा—५ से १५ बूँद माता के दूध या जल में मिलाकर।

दि हिमालयन ड्रग कं०, ४०००१८

(१) **बोनिसान लिक्विड** (Bonnisan Liquid)—नवजात तथा शिशुओं के पाचन-तन्त्र के लिए टॉनिक। पाचन-तन्त्र को सुधारता, भूख को जाग्रत करता है तथा पेट साफ रखता है। नियमित रूप से सेवन कराते रहने से बच्चों के स्वास्थ्य में वृद्धि होती है एवं उनका विकास नियमित गति से होता है। आन्त्रशूल, आध्मान, पेट की गैस तथा उदरशूल को दूर करता है।

मात्रा—एक महीने तक के बच्चे को चौथाई से आधा चम्मच, एक महीने से छः महीने तक के बच्चे को एक छोटा चम्मच, छः महीने से एक वर्ष तक के बच्चे को २ छोटा चम्मच तथा दो वर्ष से बड़े बच्चे को दो से तीन छोटा चम्मच जब भी जरूरत हो—स्वभावतः दिन में ३-४ बार।

(२) **लिव-५२** (Liv-52)—यकृत्-वृद्धि, यकृत्-शोथ, यकृत् की निष्क्रियता, बालयकृत्शोथ (सूत्रण), कामला, भूख की कमी आदि विकारों को

दूर कर यकृत् को सबल एवं सक्रिय बनाता है। गर्भावस्था की विषमयता तथा औपसर्गिक रोगों के प्रभाव से यकृत् की रक्षा करता है। प्रतिजीवी तथा अन्य दूसरे प्रकार की औषधियों के दुष्प्रभाव को दूर करता है। बालक की वृद्धि और विकास को नियमित गति प्रदान कर उन्हें सबल बनाता है। रोगों के बाद की दुर्बलता को दूर करता है। जिन परिवारों में यकृत् के विकारों की उपस्थिति वंशानुक्रम के रूप में पायी जाती है, उनमें उत्पन्न बच्चों को सुरक्षा प्रदान करता है।

मात्रा—	ड्राप्स	सीरप
शिशुओं को	५ से १० बूँद तक	—
बच्चों को	१० से २० बूँद तक	२·५ मि० लि०
	दिन में ३ बार।	दिन में २ बार।

अध्याय ५८

एलोपैथिक औषध-योग

इस निर्देशिका में मुख्यरूप से बच्चों में होनेवाले कुछ चुने हुए रोगों में सामान्य रूप से व्यवहार में आनेवाले बहुप्रचलित एलोपैथिक योग दिये गये हैं। योगों का चयन करने में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि वे नवीनतम हों; आसानी से सुलभ हों और प्रयोग करने में सुविधाजनक हों। बच्चे उन्हें आसानी से ग्रहण कर सकें। इन्जेक्शनों का उल्लेख अत्यधिक आवश्यक होने पर ही किया गया है। प्रत्येक योग के आगे कोष्टक में उस योग को तैयार करनेवाली कम्पनी का नाम और विभिन्न उम्र के बच्चों के लिए उसकी मात्रा का निर्देश कर दिया गया है। सामान्य अवस्था में मात्रा को निम्नतम क्रम से शुरू करें और बढ़ाते हुए उच्चतम क्रम तक ले जायें।

किसी भी एलोपैथिक योग को प्रयोग में लाने के पूर्व उससे सम्बन्धित साहित्य का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए। औषधि के साथ आपूर्त साहित्य में औषधि किन रोगों में, रोग की किस अवस्था में, किन लक्षण-समूहों में रोगी की अवस्था का ध्यान रखते हुए किस उम्र के रोगी को कितनी मात्रा में और किस अनुपान के साथ दी जाती है, इसका स्पष्ट निर्देश रहता है। एलोपैथिक के अधिकांश योगों की क्रिया के साथ-साथ प्रतिक्रिया (Reaction) भी होती है। वे कुछ लक्षण-समूहों को दबाते हैं तो कुछ को उभारते भी हैं। इसलिए प्रस्तुत साहित्य में इस बात का भी स्पष्ट संकेत रहता है कि किन-किन हालतों में किन-किन लक्षणों की उपस्थिति में इस योग को नहीं देना चाहिए (Contra Indications)। भूल से अधिक मात्रा में या अधिक समय तक औषधि का सेवन कराने से यदि किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है या किसी प्रकार के उपद्रव की उत्पत्ति हो जाती है तो उसका निराकरण किस प्रकार करना चाहिए।

एक रोग के कई योग दिये गये हैं, जो उस रोग में प्रायः प्रभावकारी सिद्ध होते हैं। लेकिन रोग और रोगी की अवस्था को देखते हुए उनमें से कौन-सा योग अधिक प्रभावकारी सिद्ध होगा, इसकी जानकारी उनसे सम्बन्धित साहित्य को पढ़कर ही प्राप्त की जा सकती है। किसी भी पैथी की औषधियों का उपयोग करने के पूर्व उसकी समुचित जानकारी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

'चिकित्सा-निर्देशिका' निर्देशिका मात्र ही है। इससे अधिक कुछ नहीं। रोग के स्वरूप और निदान तथा आनुषंगिक उपायों की जानकारी के लिए उस रोग से सम्बन्धित अध्याय पढ़ें। एलोपैथी की दृष्टि से निदान और उपचार की विस्तृत जानकारी के लिए एलोपैथी का इस विषय से सम्बन्धित किसी मानक ग्रन्थ का अध्ययन अपेक्षित है। एलोपैथी की औषधियों के सफल प्रयोग के लिए अंगरेजी का सामान्य ज्ञान भी आवश्यक है।

आगे अकारादि क्रम से बालरोगों पर चुने हुए योगों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

मापों में निम्न को आधार मानें—

०५ मिलीलिटर	—	लगभग १० बूँद
१ "	—	" २० बूँद
२·५ "	—	चाय का आधा चम्मच
५ "	—	चाय का एक चम्मच

(१) अग्निदग्ध : साधारण (Minor Burn Injuries)—

वैसलीन, चूने का पानी, गरी या तिल का तेल लगाने से जलन शान्त होती है। जलन कुछ अधिक होने पर निम्न क्रीमों (मलहमों) में से कोई एक लिंट या गॉज पर अच्छी तरह फैलाकर या यूँ ही जले हुए स्थान पर दिन में दो बार लगाएँ—(i) Burnol (Boots); (ii) Cetavlex Cream (IEL); (iii) Systral (Khandelwal)।

(२) अजीर्ण (Dyspepsia)—

Antrinll Drops (CIBA)—२ से ६ वर्ष तक के बच्चों को ५ से ८ बूँद तक तथा ६ से १२ वर्ष तक के बच्चों को ८ से १६ बूँद तक दिन में ३ बार।

Colimex (Wallace)—शिशुओं को हर बार दूध पिलाने के पहले ½ से १ मिलीलिटर तक २४ घण्टे में अधिकतम ४ मिलीलिटर।

बच्चों को १ से २ मिलीलिटर तक दिन में ३ बार।

Perinorm Liquid (IPCA)—एक वर्ष से छोटे बच्चे को ०·५ मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से।

बड़े बच्चों को ०·५ से १ मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से।

Vitazyme Drops (East India)—एक वर्ष से कम उम्र के

शिशुओं को ०·५ मिलीलिटर (लगभग १० बूँद) प्रतिदिन। एक वर्ष से बड़े बच्चों को ०·५ मिलीलिटर दिन में २ बार।

(३) अतिसार (Diarrhoea)—

Chlorambin (AFD)—दो वर्ष तक के बच्चों को २ से ५ मि० लि० तथा २ वर्ष से बड़े बच्चों को ५ मि० लि० दिन में ४ बार।

Chlorostrep Suspension (Park Davis)—शिशुओं को ४ मि० लि० तथा बच्चों को ४ से ८ मि० लि० तक प्रति ४ या ६ घण्टे बाद।

Kaltin with Neomycin (Abbot)—शिशुओं को ५ मि० लि०, २ से ६ वर्ष तक के बच्चों को १५ मि० लि० तथा ६ वर्ष से बड़े बच्चों को ३० मि० लि० दिन में ४ से ६ बार तक। अवस्था में सुधार होने पर २४ से ४८ घण्टे के बाद मात्रा कम कर दें।

(४) अरक्तता/पाण्डु (Anaemia)—

Neo Ferrum (Duphar) Infants—स्वास्थ्य-संरक्षण हेतु ३ महीने तक के बच्चे को २ बूँद, ३ से ६ महीने तक के बच्चे को ३ बूँद तथा ६ से १२ महीने तक के बच्चे को ६ से १२ बूँद तक, दिन में २ बार। उपचारार्थ मात्राओं को दूना कर दें।

Follinate B_{12} (Alembic)—शिशुओं को १ मि० लि०; बच्चों को १·२५ से २·५ मि० लि० तक प्रति बार।

Vitoferin Liquid (Astra–IDL)—६ से २४ महीने तक के बच्चों को १·२५ से २ मि० लि० तथा २ वर्ष से बड़े बच्चों को ५ से १० मि० लि० तक खाना खाने के बाद।

Dexorange (Franco Indian)—२ से ५ वर्ष तक के बच्चों को ५ मि० लि० तथा ५ से १२ वर्ष तक के बच्चों को १० मि० लि० दोनों समय भोजन के पूर्व।

Ferradol (Park Davis)—२·५ से ५ मि० लि० तक दिन में तीन बार।

(५) अरुचि/क्षुधानाश (Anorexia/Loss of appetite)—

Pediatrin Drops (PCI)—शिशुओं को ०·३ मि० लि० तथा एक वर्ष से बड़े बच्चों को ०·६ मि० लि० प्रतिदिन।

Kineton (Boots)—६ महीने से २ वर्ष तक के बच्चे को ५ मि० लि०, २ से ५ वर्ष तक के बच्चों को १० मि० लि० तथा ५ से १२ वर्ष तक के बच्चों को १५ मि० लि० प्रतिदिन।

Eunova (German Remedies)—५ मि० लि० दिन में २ वार।

B–Neurophos (Standard)—५ से १० मि० लि० तक दिन में तीन बार।

(६) असंयतमूत्रता/शय्यामूत्र (Nocturnal Eneurisis)

Antidep (Torrent)—१२ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को २५ मि० ग्रा० तथा १२ वर्ष से बड़े बच्चों को ५० मि० ग्रा० प्रति दिन। एक मात्रा रात में सोते समय लगभग ८ दिनों तक।

Depsonil (S. G. Pharmaceuticals)—मात्रा और देने की विधि ऊपर लिखे अनुसार।

(७) आध्मान (Flatulence)—

Colimex (Wallace)—शिशुओं को ½ से १ मि० लि० प्रति वार दूध पिलाने के पूर्व। २४ घण्टे में अधिकतम ४ मि० लि०।

बच्चों को १ से २ मि० लि० तक दिन में ३ वार।

Dimol (Wallace)—जो बच्चे दूध पीते ही उगल देते हों, उनके दूध या फार्मूले में ¼ से ½ गोली प्रति बार मिला दें, या सीधे खिला दें।

Pipen Drops (Kopron)—६ महीने से कम उम्र के बच्चों को ६ बूँद, ६ से १० महीने तक के बच्चों को ७ से १२ बूँद तथा १ वर्ष से ५ वर्ष तक के बच्चों को १ मि० लि० दूध अथवा खाद्य पदार्थ देने के १५ मिनट पहले।

(८) आमवातिक ज्वर (Rheumetoid Fever)—

Dispirin (Reckitts), Micropin (Nicholas) अथवा Aspirin–१०० से १२० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार के हिसाब से प्रतिदिन विभाजित मात्राओं में।

Aludrox (Wyeth) या Gelucil (Warner)—एस्पिरीन की हर गोली के साथ १ छोटा चम्मच। लक्षणों की समाप्ति के बाद भी २-३ सप्ताह तक कम मात्रा में औषधि का सेवन कराते रहें।

लक्षणों के समाप्त हो जाने के बाद भी भावी सुरक्षा के लिए—

Penidure Lag & La-12 (Wheth)—Lag—५ वर्ष से ८ वर्ष तक के बच्चों को एक वायल (Vial) गहरा अन्तःपेशीय प्रत्येक २१ दिन पर, २५ वर्ष की वय तक। ८ वर्ष से बड़े बच्चों को Penidure L. A–12 उपरोक्त विधि से उसी अवधि तक।

(९) आक्षेप (Convulsions) तथा आक्षेपिक विकृतियाँ (Convulsive Disorders)—

(क) सज्वर (Febrile)—ज्वर हटाने के लिए—

Aspirin—६० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, या Paracetamol ६० से २४० मि० ग्रा० तक या Tylenol ६० से २४० मि० ग्रा० तक दिन में ४ बार।

गुनगुने या ठण्डे पानी से स्पन्ज करें। उसमें कपड़ा भिगो-निचोड़ कर शरीर को पोछें। वातावरण को ठण्डा बनाये रखने की कोशिश करें।

यदि कँपकँपी मालूम हो तो Largactil Pediatric (May & Baker) ५ वर्ष तक के बच्चों को ½ से १ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार तथा ५ वर्ष से बड़े बच्चों को १० से १२ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार के हिसाब से दिन में ३ बार। इसका Pediatric Syrup भी आता है। उसका उपयोग सुविधाजनक है।

वास्तविक कारण का पता लगायें और उसकी चिकित्सा करें।

(ख) अपस्मार (Epilepsy) तीव्रावेग (Grand Mal) में—

Dilantin (Park Devis) Suspension—६ वर्ष से कम उम्र के बच्चे को १ से २ मि० लि० दिन में २ से ४ बार तथा ६ वर्ष से ऊपर के वच्चों को ४ मि० लि० दिन में ३-४ बार।

Mazetol (S. G. Pharmaceuticals)—१ वर्ष तक के बच्चे को १०० से २०० मि० ग्रा०, १ वर्ष से ५ वर्ष तक के बच्चे को २०० से ४०० मि० ग्रा०, ६ से १० वर्ष तक के बच्चे को ४०० से ६०० मि० ग्रा० तथा ११ से १५ वर्ष तक के बच्चे को ६०० मि० ग्रा० दिन में १ या २ बार। न्यूनतम मात्रा से शुरू करें। धीरे-धीरे बढ़ाते हुए अधिकतम मात्रा तक ले जायें।

Gardenal (May & Backer)—६ मि० ग्रा० प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से प्रतिदिन (२४ घण्टे में) ३ विभाजित मात्राओं में। अन्तिम दौरे के बाद भी कम से कम ३ वर्ष तक औषधि का सेवन कराते रहें।

(ग) अपस्मार : क्षुद्रावेग (Petit Mal) में—

Zorantin Syrup (Park Davis) Pediatric—६ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को प्रारम्भिक मात्रा १ छोटा (चाय का) चम्मच तथा ६ वर्ष से बड़े बच्चों को २ छोटे चम्मच। मात्रा को थोड़ा घटा-बढ़ाकर देखें। अनुकूल प्रभाव देखकर मात्रा को स्थिर करें।

Gardinal (May & Baker)—३ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार के हिसाब से प्रतिदिन विभाजित मात्राओं में।

(१०) उत्फुल्लिका/डब्बा (Pneumonia)—

Inj. Benzyl Penicillin—शिशुओं को ५०,००० यूनिट प्रति किलोग्राम शरीर-भार प्रति २४ घण्टे में दो विभाजित मात्राओं में तथा बच्चों को २ से ४ लाख यूनिट तक प्रत्येक ८ घण्टे पर अन्तःपेशीय, अथवा—
Ampicillin—१००-२०० मि० ग्रा० प्रत्येक ६ घण्टे पर, अथवा—

Novamax (Cipla) अथवा Amoxilin (Biddle Sawyer)—२० मि० ग्रा०, प्रति कि०ग्रा० शरीर-भार, ३ विभाजित मात्राओं में प्रत्येक ८ घण्टे पर।

यदि बच्चा पेनिसिलीन के प्रति संवेदनशील है, तो—

Sporidex Paed. Drops (Ranbaxy)—½ से १ मि० लि० प्रत्येक ६ घण्टे पर। बड़े बच्चों को Sporidex या Cephalexin (Biochem)—२५० मि० ग्रा० कैपसूल प्रत्येक ६ घण्टे पर।

Cheston (Cipla)—१ से ५ मि० लि० दिन में २-३ बार।

(११) उदर-शूल (Colic)—

Collimex (Wallace)—शिशुओं को प्रत्येक बार दूध पिलाने के १५ मिनट पहले ½ से १ मि० लि० तक–२४ घण्टे में अधिकतम ४ मि०लि०।

Spasmindon Liquid—१ वर्ष तक के बच्चे को ६ से १२ बूँद, २ से ३ वर्ष तक के बच्चे को १८ बूँद तथा ३ से ६ वर्ष तक के बच्चे को २४ बूँद दिन में २-३ बार।

Pipen Drops (Koppan)—६ महीने से कम ६ बूँद, ६ से १२ महीने तक ७ से १२ बूँद तथा १ से ५ वर्ष तक के बच्चे को १ मि० लि० हर बार भोजन के १५ मिनट पूर्व।

(१२) कण्ठप्रदाह, गले की सूजन (Pharyngitis)—

Dispirin (Reckitts)—१०० से १२० मि० ग्रा० तक दिन में तीन बार। लाभ न होने पर—

Procaine Penecillin या Terramycin के इन्जेक्शन; अथवा Ampicillin Capsule अथवा Erythrocin की गोली—मात्राएँ अवस्थानुसार साहित्य पढ़ कर निर्धारित करें।

गलतुण्डिकाशोथ में दी गयी औषधियों का भी आवश्यकतानुसार सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

(१३) कास/खाँसी (Cough)—

Avil Expectorant (Hochest)—४ से १२ महीने तक के बच्चों को २·५ मि० लि०, १ से ५ वर्ष तक के बच्चों को २·५ से ५ मि० लि०

तथा ६ से १४ वर्ष तक के बच्चों को ५ से ७ मि० लि० २ से ४ बार प्रतिदिन।

Coscopin Drops (Biological Evans)—छः महीने तक के बच्चे को १·२५ मि० लि०, ६ से १२ महीने तक २·५ मि० लि०, १ से ३ वर्ष तक ३·७५ मि० लि० तथा ३ वर्ष से ऊपर ५ मि० लि० दिन में ६ बार तक।

Selvigon Drops (German Remedies)—शिशुओं को ५ बूँद, छः वर्ष तक के बच्चों को ८ बूँद, ६ से १२ वर्ष तक १० बूँद तथा १२ वर्ष से ऊपर १५ से २५ बूँद तक।

Protussa (Boots)—शिशुओं को २·५ मि० लि०, २ वर्ष से ५ वर्ष तक ५ मि० लि०, ५ से १२ वर्ष तक १० मि० लि० तथा १२ वर्ष से ऊपर १५ मि० लि० दिन में ३ बार।

Detigon (Bayer) विशेष रूप से सूखी, हठीली खाँसी के लिए। ६ से १२ महीने तक के शिशुओं को ५ बूँद, बच्चों को ५ से १५ बूँद तक दिन में ३–४ बार पानी या फलों के रस में।

(१४) कास (जीर्ण) (Chronic Cough)—

सूखी खाँसी में—

Phensedyl (May & Baker)—½ छोटा चम्मच दिन में ३ बार।

अथवा—

Coscopin Linctus (Biological Evans)—१० से २० बूँद दिन में ३ बार।

गीली खाँसी में—

Benadryl (Park Davis) अथवा Dilosyn (Allenburys)—५ मि० लि० दिन में दो बार।

Septron Syrup (Wellcome)—६ सप्ताह से ६ महीने तक ½ छोटा चम्मच, ६ महीने से ६ वर्ष तक १ छोटा चम्मच तथा ७ से १२ वर्ष तक २ छोटा चम्मच दिन में २ बार।

ईस्नोफीलिया (Eosinophilia) में—

Hetrazon (Cynamid) अथवा Benocide—६ मि० ग्रा० प्रत्येक कि० ग्रा० शरीर भार पर प्रतिदिन, ३ विभाजित मात्राओं में एक महीने तक।

(१५) कीट-दंश (Insect bite)—

प्रभावित अंग को साबुन और पानी से धोकर साफ करें। दाह एवं खुजली के शमन के लिए Calamine Lotion या Antihistamine Cream का प्रयोग करें।

सूजन आ जाय तो कपड़े में बरफ बाँध कर रखें। निम्न में किसी एक को लगायें—

Anthical (May & Baker)
Calacreme (Pasteur)
Calaminol (Pasteur)
Calamyl (Pasteur)

(१६) कुकास, काली खाँसी (Whooping Cough)—

Kanka (Vilco)—१ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को १·२५ से २ मि० लि० दिन में २ बार; १ से ५ वर्ष तक २·५ मि० लि० तथा ६ वर्ष से १० वर्ष तक १० मि० लि० दिन में ३ बार।

Tixylix (May & Baker)—१ वर्ष से २ वर्ष तक २·५ मि० लि०, २ से ५ वर्ष तक ५ मि० लि० तथा ५ से १० वर्ष तक ५ से १० मि० लि० तक, दिन में २–३ बार।

Vasophrex (Associated)—५ मि० लि० दिन में ४ बार।

Zephrol (May & Baker)—५ मि० लि० दिन में ४ बार।

Paraxin (Bochringer-k) Dry Syrup (१२५ मि० ग्रा०=५ मि० लि०)। २५ से ५० मि० ग्रा० तक प्रति किलोग्राम शरीर-भार पर, प्रतिदिन विभाजित मात्राओं में, प्रत्येक ६ घंटे पर, ७ से १० दिनों तक।

Ampipen (Wyeth) Dry—मात्रा एवं सेवन-विधि ऊपर लिखे अनुसार।

(१७) कृमि (Worms)—सभी प्रकार के कृमियों में—

Mebex (Cipla)—१०० मि० ग्रा० दिन से २ बार। सूत्रकृमियों में १०० मि० ग्रा० तथा फीताकृमि में २०० मि० ग्रा० दिन में २ बार, ३ दिनों तक।

Mendazole Suspension (Biddle Sawyer)—५ मि० लि० दिन में २ बार ३, दिनों तक।

Vermisol (Khandelwal)—बच्चों को ५० मि० ग्रा० की मात्र एक खुराक। फिर भविष्य में रोग से बचाव के लिए महीने भर बाद एक खुराक और।

(क) सूत्रकृमि (Thread Worm)—

Vanpar (Park Davis)—०·५ मि० लि० प्रति कि० ग्रा० शरीर भार के हिसाब से मात्र दो खुराकें।

Xpel (Martel Hammer)—२ वर्ष से बड़े बच्चों को मात्र १ गोली की एक खुराक। सप्ताह भर बाद एक खुराक और दें।

(ख) गोलकृमि (Round Worm)—

Antepar (Wellcome) ३० मि० लि० की बोतल—२ वर्ष से ६ वर्ष तक के बच्चे को तिहाई तथा ६ वर्ष से १२ वर्ष तक आधी तथा १२ वर्ष से बड़े बच्चे को पूरी मात्रा।

Dewormis 50 (Biddle Sawyer)—पूरी मात्रा।

Vanpar (Park Davis)—ऊपर लिखे अनुसार।

(ग) फीताकृमि (Tape Worm)—

Wormin (Cadila)—१–१ गोली दिन में २ बार। दो वर्ष से छोटे बच्चे को न दें।

Xpel (Martel Hammer)—१–१ गोली दिन में दो बार २-३ दिन तक। २ वर्ष से छोटे बच्चे को न दें।

(घ) अंकुश कृमि (Hook Worm)—

Besantin (Khandelwal)—१–१ गोली दिन में २ बार, ३ दिनों तक।

Combantrin Suspension (Pfizer)—३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ४ मि० लि०, २ से ७ वर्ष के बच्चों को (शरीर भार १० से २० किलो०) ८ मि० लि० तथा ८ से १४ वर्ष के बच्चों को (शरीर भार २१ से ४० किलो०) २ गोली।

Hoopar (Cadila)—१ पैकेट दिन में एक बार। १० किलोग्राम से कम शरीर-भार वाले बच्चों को आधी खुराक।

(ङ) कशाकृमि (Whip Worm)—

Mendazole Suspension (Biddle Sawyer)—५ मि० लि० दिन में २ बार, ३ दिनों तक।

Vermitel (Astra IDL)—१–१ गोली दिन में २ बार, ३ दिनों तक।

Xpel (Martel Hammer)—१–१ गोली दिन में २ बार, २-३ दिनों तक।

कृमिघ्न औषधियाँ २ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को औषधि सम्बन्धी साहित्य में स्पष्ट निर्देश के बिना बिल्कुल न दें। निर्देशों का सावधानी से पालन करें।

जहाँ मात्र एक ही खुराक देनी हो, रात्रि को सोते समय दें।

कृमिघ्न औषधियों को सेवन कराने के बाद पेट की सफाई जरूरी है। इसके लिए आवश्यकतानुसार रेचक औषधियों का सहारा लें।

कृमिघ्न औषधियाँ प्रायः विषाक्त होती हैं। इन्हें मात्रा से अधिक या अधिक दिनों तक कभी सेवन नहीं कराना चाहिए।

(१८) खुजली, कण्डु (Scabies)—

Ascabiol (May & Baker); Crotorax (S. G. Pharmaceuticals); Gamaderm (Vilco); Lorexane (IEL); Mitigal (Bayer); Scabicidal (Pasteur)—इनमें से कोई भी एक दिये गये निर्देशों के अनुरूप व्यवहार में लायें।

घावों के जटिल रूप धारण कर लेने पर Madribon Tab. २ दिन तक आधी गोली दिन में दो बार, उसके बाद ४ दिन तक आधी गोली दिन में एक बार।

Soframycin Ointment लगातार ७ दिनों तक।

(१९) गलतुण्डिकाशोथ (Tonsilitis)—

Infecto (Vilco)—छः सप्ताह से ५ महीने तक के शिशु को २·५ मि० लि०, छः महीने से ५ वर्ष तक के बच्चे को ५ मि० लि० तथा ६ से १२ वर्ष तक के बच्चे को १० मि० लि० दिन में २ बार।

Madribon (Idpl) Drops—शुरू में २ बूँद प्रति कि० ग्रा० शरीर भार तथा बाद में संरक्षण हेतु १ बूंद प्रति कि० ग्रा० शरीर भार के हिसाब से।

Sulfuno (German Remedies)—शिशुओं को पहले दिन आधी गोली उसके बाद चौथाई गोली दिन में २ बार। बच्चों को पहले दिन १ गोली उसके बाद $\frac{1}{2}$–$\frac{1}{2}$ गोली दिन में २ बार तथा बड़े बच्चों को पहले दिन १$\frac{1}{2}$ गोली, उसके बाद १–१ गोली दिन में २ बार।

कण्ठ-प्रदाह भी देखें।

(२०) गलसुआ (Mumps)—

Dispirin, Mycopirin या Aspirin—१०० से १२० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार के हिसाब से, विभाजित मात्राओं में।

Bellodona की पट्टी।

आवश्यक होने पर गलतुण्डिकाशोथ में दी गयी औषधियों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(२१) घमौरी (Prickly Heat)—

बच्चे को ठण्डी जगह पर रखें। दिन में दो बार स्नान करायें। Calamine Lotion या Ceram लगायें।

अत्यधिक पाउडर तथा औषधियुक्त साबुनों का प्रयोग न करें। इससे बच्चे की कोमल त्वचा को हानि पहुँच सकती है। बाह्य-प्रयोगार्थ—

Anthical (May & Baker)

Caladryl (Parke Davis)

(२२) चर्मरोग (Skin Diseases)—

देखें—कीट-दंश (Insect bite), कण्डु (Scabies), घमौरी (Prickly heat), जूँ तथा लीख (Lice and nits), तालु-पपड़ी (Milk crust), रूसी (Dandruff), रोमान्तिका (Measles), विचर्चिका (Eczema) तथा शीतपित्त (Urticaria)।

(२३) जुंए और लीख (Lice and nits)—

DDT Powder अथवा Gamabenzene Hexachloride (Lorocan) Liquid—एक भाग दवा चार भाग पानी। लगातार ३ दिनों तक रात में सिर में लगाकर कपड़े से बाँध दें। सुबह सिर को कंघे या ब्रश से साफ कर अच्छे शैम्पू या साबुन से धो दें। एक सप्ताह के बाद पुनः इसी प्रकार करें।

ध्यान रहे ये औषधियाँ आँख, नाक तथा मुँह में न लगने पायें। इन्हें बच्चों की पहुँच से दूर रखें।

(२४) ज्वर (Fever)—

कारण का पता लगाकर उपचार करें।

सामान्य रूप से—

Calpol Syrup (Wellcome)—एक वर्ष से छोटे शिशु को ५ मि० लि०, १ से ६ वर्ष तक १० मि० लि० तथा ५ से १२ वर्ष तक के बच्चे को २० मि० लि० प्रत्येक चार घंटे पर।

Crocin Syrup (Duphar) मात्रा एवं सेवन-विधि कालपोल सिरप के अनुसार।

Mycropirin (Nicholas)—३ से ६ वर्ष तक आधी गोली तथा ६ वर्ष से बड़े बच्चों को एक गोली दिन में ३ बार भोजनोपरान्त।

Tapal Junior (Win Medicare)—१ से २ वर्ष ½ गोली, ३ से

४ वर्ष १ से २ गोली तक, ५ से ७ वर्ष २ से ३ गोली तक तथा ८ से १२ वर्ष तक ३ से ४ गोली तक, प्रत्येक ४ घण्टे पर।

Ultragin Syrup (Manners)—शिशुओं को २ से ५ मि० लि० तथा बच्चों को ५ से १० मि० लि० तक दिन में ३-४ बार।

(२५) तालु-पपड़ी (Cradle cap, Milk crust)—

शिशुओं के कपाल के ऊपरी कोमल भाग–कलान्तराल (Fontanelles) पर जमी मैल की पपड़ी को तालु-पपड़ी कहते हैं। ऐसा प्रायः सफाई न करने के कारण होता है।

रात में किसी तेल से तर कर दें। सुबह हलके से कँघा या ब्रश से साफ कर दें।

एक छोटा चम्मच Sodium Bicarbonate को ४ गिलास पानी में घोलकर उससे सिर को साफ करें।

पपड़ी के साफ हो जाने के बाद रोज सिर को साबुन या शैम्पू से साफ करें।

(२६) दन्तोद्भेदगत (Diseases due to dentition)—

एलोपैथिक में दन्तोद्भवन को स्वतः किसी रोग का कारण नहीं माना जाता। बुखार, खाँसी, वमन, अतिसार, आक्षेप आदि जो भी उपसर्ग हों उनकी लक्षणानुसार चिकित्सा करें। बच्चे के सामान्य स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए विशेषरूप से विटामिन A और D का प्रयोग करायें। यथा—

Abdec Drops (Park Davis)—शिशुओं को ०·३ मि० लि० तथा बच्चों को ०·६ मि० लि० या अधिक प्रतिदिन।

Adexolin (Glaxo)—शिशुओं को ६ बूंद, बच्चों को १० बूँद प्रतिदिन।

Adiplon-12 (Khandelwal)—५ से १० बूँद तक प्रतिदिन।

(२७) नाभिनाड़ीशोथ/नाभिपाक (Omphalitis)—

Antibiotic Drugs या Oxytetracyclinc का प्रयोग करें और व्रणवत उपचार करें।

Nebasulf Powder (Pfizer)—२–३ बार घाव पर छिड़कें।

(२८) नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis)—

Albucid 10% (Nicholas); Cellumide (FDC); Eidrox (Khandelwal); Optisol (Stadmed)—संक्रमण या उपसर्गजन्य अभिष्यन्द में १ से २ बूंद तक दिन में २–३ बार।

Betnesol Eye Ointment (Glaxo); Cabison Eye (Hochest); Decadron Eye (Merind); Genticyn Hcl. Drops (Nicholas)—शोथयुक्त एवं एलर्जीजन्य अभिष्यन्द में निर्देशानुसार उपयोग में लायें।

(२९) पूतिता-नवजात (Neonatal Sepsis)—

Amplicillin—२०० मि० ग्राम प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन।

Kanamycin—१५ से २० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन।

यदि रक्त-संवर्ध (Blood Culture) में Staphylococcus की उपस्थिति मिले तो—

Inj. Cloxacillin—२०० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन।

यदि Pseudomonas या E. Coli की उपस्थिति मिले तो—

Inj. Gentamycin—३ से ५ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन मांसपेशी में।

(३०) प्रवाहिका (Dysentry)—

(क) दण्डाणुज (Bacillary)—

Furoxone Suspension (Eskavet)—शिशुओं को १.२५ से २.५ मि० लि०, १ वर्ष से ४ वर्ष तक ५ मि० लि० तथा ५ वर्ष या बड़े बच्चों को ५ से ७ मि० लि०, दिन में ३-४ बार।

(ख) अमीबी (Amoebic)—

Alfumet Suspension (Albert David)—शिशुओं को २.५ से ५ मि० लि० तथा बच्चों को ५ से १० मि० लि० दिन में ३-४ बार।

Dryade-M Suspension (Cipla)—पाँच वर्ष से छोटे बच्चों को ५ मि० लि० तथा ५ वर्ष से बड़े बच्चों को १० मि० लि०।

Flagyl Suspension (May & Baker)—१ से ३ वर्ष तक ५ मि० लि० दिन में ३ बार। ३ से ७ वर्ष तक ५ मि० लि० दिन में ४ बार तथा ७ से १० वर्ष तक १० मि० लि० दिन में ३ बार।

(३१) पोलिया/पोलियोमेरुरज्जुशोथ (Poleomyelitis)—

पूर्ण विश्राम।

फलालैन के टुकड़ों को गर्म पानी में भिगो-निचोड़ कर उससे या बिजली से सेंक करें।

दिन में २, ३ बार सभी संधियों को धीरे-धीरे गति प्रदान करना—हिलाना-डुलाना या चलाना आदि ।

पेशियों की पीड़ा के शमन के लिए Dispirin या Crocin दिन में ३ बार ।

(३२) मलावरोध (Constipation)—

Agarol (Warner)—३ से ६ वर्ष तक २ से ५ मि० लि० तथा ६ से १२ वर्ष तक ५ से १० मि० लि० रात में सोते समय ।

Cremaffin (Boots)—१ से ५ वर्ष तक २ से ५ मि० लि०, ५ से १२ वर्ष तक ५ से १० मि० लि० तथा १२ वर्ष से ऊपर ७·५ से १५ मि० लि० रात में सोते समय ।

(३३) मुखपाक (Stomatitis)—

25% Hydrogen Paraxide या Jenshian Violet के जलीय घोल को रूई की फुरेरी में भिगोकर उससे मुँह के आक्रांत भाग को साफ करें ।

Glycerin Borax—दिन में ३-४ बार लगायें ।

Betonin Elixir (Boots)—१ से ५ वर्ष तक २·५ मि० लि० तथा ५ से १२ वर्ष तक ५ मि० लि० दिन में ३ बार ।

Becozyme C Forte (Roche)—बच्चों को ¼ से ½ गोली प्रतिदिन । बड़े बच्चों को ½ से १ गोली तक प्रतिदिन ।

(३४) मूत्र-संक्रमण (Urinary Infection)—

मूत्र को संवर्ध (Culture) तथा सुग्राहिता-परीक्षण (Sensitivity Test) के लिए भेज दें । साथ ही निम्न औषधियाँ देना प्रारम्भ करें—

Septran Syrup (Wellcome) Paed. Suspension—छः सप्ताह से ५ महीने तक के शिशुओं को २·५ मि० लि०, छः महीने से ५ वर्ष तक के बच्चों को ५ मि० लि० तथा ६ से १२ वर्ष तक १० मि० लि० प्रत्येक १२ घंटे पर ।

तीव्र संक्रमण (Acute Infection) में ७ से १० दिनों तक तथा जीर्ण संक्रमण (Chronic Infection) में १५ से २१ दिनों तक ।

Paed. Tablets—२ से ५ वर्ष तक २ गोली तथा ६ से १२ वर्ष तक ४ गोली दिन में २ बार ।

Ampicillin—९५ से १०० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार

प्रतिदिन, २ सप्ताह तक खिलायें। यदि संक्रमण गंभीर हो तो इसी मात्रा का अन्तःशिरा सूचीवेध दें।

यदि हालत नहीं सुधरती और संवर्धं (Culture) की रिपोर्ट में Pseudomonas aeruginosa या Klebsiella या Proteuo की वृद्धि पायी जाती है तो—

Inj. Gentamycin—३ से ५ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन २ विभाजित मात्राओं में अन्तःपेशीय। अथवा—

Inj. Kanmycin—७ से १२ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, अन्तःपेशीय। अथवा—

Inj. Polymixin B १·५ से २·५ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन, अन्तःपेशीय।

E. Coli की उपस्थिति में Septran Syrup ऊपर बतलायी विधि से २ विभाजित मात्राओं में।

बार-बार होने वाले संक्रमण में—

Furadantin Suspension (Eskayef) बच्चों को ६ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन, ४ विभाजित मात्राओं में।

(३५) मूत्र-कृच्छ्रता (Dysuria)—

Paradicil—१० मि० ग्राम प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार पर प्रतिदिन, प्रत्येक ६ से ८ घण्टे पर।

Septran—आधी मात्रा में। पूरी मात्रा के लिए देखें—मूत्र-संक्रमण।

(३६) मस्तिष्कशोथ (Encephalitis)—

Inj. Ampicillin—५० से १०० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन, अन्तःशिरा सूचीवेध द्वारा।

Prednisolone—२ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, ३ सप्ताह तक। उसके बाद अगले ३ सप्ताह तक मात्रा धीरे-धीरे घटाते हुए।

Gardinal (May & Baker)—कम्पन होने पर—५ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन।

त्वचा की रक्षा करें। मल-मूत्र आदि की नियमित प्रवृत्ति का ध्यान रखें।

(३७) मस्तिष्कावरणशोथ (Pyogenic Meningitis)—

मस्तिष्कमेरुरज्जुस्राव (Cerebrospinal Fluid) को Culture तथा Sensitivity परीक्षण के लिए भेज दें। साथ ही निम्न चिकित्सा-क्रम प्रारम्भ कर दें—

Inj. Crystalline Penicillin 5,00,000–1 लाख यूनिट प्रत्येक ३ घंटे पर, अन्तःपेशीय।

Gantrisin—५० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० ३ विभाजित मात्राओं में मुख द्वारा।

Chloromycitin—१०० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, अन्तःपेशीय।

यदि बच्चे की उम्र तीन महीने से कम है तो—Inj. Ampicillin २०० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, अन्तःशिरा। अथवा—

Inj. Kanamycin (Kancin-Alemic)—१५ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, अन्तःपेशीय। अथवा—

Inj. Garamycin (Fulford)—५ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, अन्तःशिरा।

इन्हें १५ दिन तक पूरी मात्रा में तथा उसके बाद ७ दिन तक घटाते हुए दें।

Gardinal—५ से ६ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रत्येक २४ घण्टे पर।

(३८) यक्ष्मा (Tuberculosis)—

(क) फुप्फुसीय यक्ष्मा (Pulmonary Tuberculosis)—

Inj. Streptomycin Sulphate या Ambystrin ३० मि० ग्रा, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, अन्तःपेशीय। पहले महीने में प्रतिदिन, दूसरे महीने में एक दिन छोड़कर और तीसरे महीने में सप्ताह में दो बार।

Isonex Tab. (Pfizer)—१० से २० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन १ मात्रा १ वर्ष तक।

Ipcazide Syrup (Ipca)—१० से २० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन १ अथवा २ विभाजित मात्राओं में। अथवा—

Tibicin Suspension (Themis Chemicals)—१० से १५ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन नाश्ते के १ घण्टा पहले या २ घण्टे बाद।

(ख) यक्ष्मज मस्तिष्कावरणशोथ (Tuberculor Meningitis)—

Inj. Streptomycin—३० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन २ महीने तक। अगले २ महीने में १ दिन छोड़कर तथा उसके बाद के २ महीनों में सप्ताह में २ बार।

Isonex—उपर्युक्त मात्रानुसार २ वर्ष तक।

Treskatyl (Ethionamide)—५०० मि० ग्रा० से १ ग्राम तक प्रतिदिन, विभाजित मात्राओं में ३ सप्ताह तक। अथवा—

Rifacillin (PCI)—१५ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार। ६ सप्ताह से ३ महीने तक।

Gardenal (कम्पन होने पर)—६ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, तीन विभाजित मात्राओं में।

Multivitamin Syrup—उत्कृष्ट कोटि का, उपयुक्त मात्रा में।

इसके प्रारम्भिक उपचार के रूप में (२ से ३ महीने तक) तीन औषधियों तथा बाद में अविच्छिन्न उपचार के रूप में प्रायः ६ से १५ महीने तक दो औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

(३९) रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic Diseases)—

Inj. Kalipin (Glaxo)—५ मि० ग्रा०, प्रतिदिन, अन्तःपेशीय, ३ दिनों तक।

यदि विटामिन 'K' के प्रयोग से रक्तस्राव बन्द न हो तो सम्पूर्ण शुद्ध रक्ताधान (Blood Transfusion) या प्लाज्मा (Plasma) के आधान की व्यवस्था करें।

रूसी (Dandruff)—

Cetavlon Concentrate (IEL)—इसे पानी में घोलकर शैम्पू की तरह सिर को साफ करें। सिर में तेल न लगायें।

K S Hair Tincture (German Remedies) अथवा Solu-Reco-rcinol (Pasteur) को प्रभावित भाग पर दिन में दो बार रगड़ें।

(४०) रोमान्तिका/खसरा (Measles)—

आँख और मुँह की नियमित सफाई करें।

Syrup Crocin या Metacin—एक-एक छोटा चम्मच दिन में ३-४ बार। अथवा—

Dispirin—१०० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन, विभाजित मात्राओं में भोजन के साथ या बाद में।

Syrup B-Complex यथा Becasule (Pfizer); Becofral (Duphar); Bejectal (Abott); Beplex (AFD) आदि, निर्धारित मात्रा में दिन में २ बार।

Benadryl Expectorant (Park Davis)—आधा से १ छोटा चम्मच दिन में ३ बार।

एलोपैथिक में चेचक से बचाव का टीका अवश्य है पर रोग हो जाने पर उसका कोई सफल उपचार नहीं।

(४१) वमन, छर्दि (Vomitting)—

कारणानुसार चिकित्सा करें। शरीर में जलीय अंश की कमी न होने पाये इस बात का ध्यान रखें। निम्न औषधियों में से किसी एक को दें—

Perinorm Liquid (Ipca)—शिशुओं को अधिकतम ०·५ मि० ग्रा० प्रति० कि० ग्रा० शरीर-भार तथा १ वर्ष से बड़े बच्चों को ०·५ से १ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार पर।

Phenergan (May & Baker) अथवा Largactyl Paed.—आधे से एक छोटा चम्मच दिन में २ बार।

(४२) विचर्चिका (Eczema)—

पीड़ित स्थान पर साबुन न लगायें। उसे नाइलोन और ऊनी कपड़ों के स्पर्श से बचायें।

नीचे लिखे मलहमों में से किसी एक का निर्देशानुसार प्रयोग करें, पीड़ित स्थान पर लगाएँ।

Aquaminol Calacreme, Caladryl अथवा Solu–Recorcinol (Pasteur)

खाने के लिए—

Ostocalcium (Glaxo) B_{12} Syrup—शिशुओं को २·५ मि० लि० प्रतिदिन, बच्चों को ५ मि० लि० दिन में २ बार।

Beplex (AFD)—½ से १ छोटा चम्मच दिन में २ बार।

Becosule Syrup (Pfizer)—½ चम्मच प्रतिदिन।

(४३) वृक्कशोथ (Acute Nephritis)—

शोफ (Oedema) की हालत में तरल पदार्थों का और वृक्कीय निष्क्रियता (Renal failure) की हालत में प्रोटीन का देना कम कर दें।

Inj. Procaine Penicillin चार लाख प्रतिदिन, अन्तःपेशीय, १० दिनों तक।

यदि रक्तचाप भी बढ़ा हो (Hypertension)—Tab. Adelphane (Ciba-Geigy)—½ से २ गोली तक दिन में २ बार रक्तचाप के सामान्य होने तक।

वृक्कीय निष्क्रियता में Tab Laxis (Hochest)—२ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा०, शरीर-भार के हिसाब से प्रतिदिन।

(४४) शीतपित्त/पित्ती (Urticaria)—

रोगी को जिस चीज से एलर्जी हो उसका पता लगायें और उसे उसके सम्पर्क से पूरी तौर से बचायें।

Betnelan drops (Glaxo)—रोग और रोगी की अवस्था के अनुसार २ से ४० बूँद तक।

Avil Syrup (Hochest)—४ से १२ महीने तक २·५ मि० लि०, १ से ५ वर्ष तक २ से ५ मि० लि० तथा ६ से १५ वर्ष तक ५ से ७ मि० लि० दिन में २-३ बार।

Benadryl Syrup (Parke Davis)—१२ वर्ष तक के बच्चों को ५ से १० मि० लि० दिन में ३-४ बार।

Foristal (Ciba-Geigy)—छः वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ½ गोली तथा छः वर्ष से बड़े बच्चों को १ गोली दिन में ३ बार तक।

Incidal (Bayer)—२ वर्ष से छोटे बच्चों को १ से २ गोली, २ से ५ वर्ष तक १ से ३ गोली तथा ५ से १० वर्ष तक २ से ४ गोली तथा १० वर्ष से ऊपर के बच्चों को २ से ६ गोली—३-४ विभाजित मात्राओं में।

लगाने के लिए—Calamine Lotion (Boots) अथवा Caladryl Lotion (Pasteur)।

(४५) श्वास (Asthma)—

देखें—कास तथा कुकास में दिये जानेवाले योग। बच्चों में श्वास भी अधिकांश में एलर्जीजन्य माना गया है। अतः शीतपित्त के अन्तर्गत बतलाये गये योगों का भी उपयोग किया जा सकता है। सामान्य अवस्था में—

Asthilan Expectorant (Cipla)—६ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ५ से १० मि० लि० तथा ६ से १२ वर्ष तक के बच्चों को १० मि० लि० दिन में ३ बार। अथवा—

Tab. Ephedrine—६ से ८ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार प्रतिदिन चार विभाजित मात्राओं में।

(४६) सर्दी-जुकाम (Common Cold)—

Actifed (Wellcome)—२ से १२ वर्ष तक ½ गोली दिन में २-३ बार।

Kanka (Vilco)—एक वर्ष से छोटे शिशुको १·२५ से २ मि० लि० दिन में २ बार; १ से ५ वर्ष—२ से ५ मि० लि० तथा ५ से १२ वर्ष १० मि० लि०, दिन में ३ बार।

Seumol Plus Syrup (Blueshield)—१२ महीने तक के शिशु को २·५ मि० लि०, १ से ५ वर्ष तक के बच्चे को ५ मि० लि० तथा ६ से १२ वर्ष तक १० मि० लि० दिन में ३ बार।

Solvin Expectorant Syrup (Mexin)—१ से ५ वर्ष तक ५ मि० लि० दिन में २ बार, ५ से १० वर्ष तक ५ मि० लि० दिन में ३-४ बार तथा १० वर्ष से ऊपर १० मि० लि० दिन में ३ बार।

(४७) सुखण्डी (Rickets)—

Calcirol D Granules (Cadila)—६,००,००० यूनिटों का एक ऐम्पुल प्रत्येक १५ दिन पर, कुल तीन मात्राएँ। अथवा—

Sterogyl—एक ऐम्पुल प्रत्येक १५ दिन पर, कुल ३ मात्राएँ।

दूध पर्याप्त मात्रा में। दूध के अभाव या न पचने पर—

Osto-calcium (Glaxo)—१-१ गोली दिन में २ बार। अथवा—

Syrup—शिशुओं को २·५ से ५ मि० लि० तथा बच्चों को ५ से १० मि० लि० दिन में २ बार। अथवा—

Calcima Acd (Cipla)—१-१ गोली दिन में २ बार।

ठीक हो जाने पर—

Vitahext (Hochest);

Becadexamin (Glaxo); अथवा

Paladac (Parke Davis);

आधा चम्मच प्रति दिन।

सुरक्षा के लिए—

Di-calci-plex (Khandelwal)—गर्भावस्था में माता को ५ से १० मि० लि० तथा बच्चों को ५ मि० लि० (या आवश्यकतानुसार अधिक भी) दिन में तीन बार।

(४८) सूत्रण/बाल-यकृत्शोथ (Infantile Cirrhosis)—

विषाणुज यकृत्शोथ (Viral Hepatitis) **की आशंका होने पर—**

Ampicillin—५० से १०० मिलीग्राम, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन।

Predisolon—२ मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० शरीर-भार, प्रतिदिन १ से २ सप्ताह तक।

यकृत्कोशकीय अपघटन (Hepato-cellular decomposition) **के आसार होने पर—**

Glucose १०% + B-Complex—अन्तःशिरा सूचीवेध द्वारा।

Neomycin—५० से १०० मि० ग्रा०, प्रति कि० ग्रा० प्रतिदिन मुख द्वारा।

Inj. Kapilin—५ मि० ग्रा० प्रतिदिन, ३ दिनों तक।

बड़ी आँत के ऊपरी भाग को दिन में दो बार एनिमा के द्वारा धुलवा देने या साफ करा देने (High Colon Wash) से शीघ्र लाभ होता है।

(४६) हीनताजनित रोग (Deficiency Diseases)—

(क) विटामिन 'A' की कमी से होनेवाले रोगों में—

Abdec Drops (Park Davis)
Adiplon-12 (Khandelwal)
Hovite (Raptakos)
Paladac Syrup (Park Davis)
Arovit (Roche)
Aquasol-A (USV & P)
आखों की सुरक्षा के लिए—
Soframycin Eye Ointment
Atrophine Eye Drops

(ख) विटामिन 'B' की कमी से होनेवाले रोगों में—

Becasules (Pfizer), Uni-Vite (Unichem)
Beplex (Afd), Vidalyn (Abbot)
विशेष रूप से B_1 (Thiamine) की कमी में—
Berin (Glaxo)
Betbion (Merck)
Beneuron Forte (Franco India)
B_2 (Riboflavin) की कमी में—
Lipabol (Cadila) Tab.

(ग) विटामिन 'C' की कमी से होनेवाले रोगों में—

Cecon-500 (Abbot), Sorvicin (East India)
Citamin (Hall)
Celin (Glaxo)
Redoxon (Roche)

(घ) विटामिन 'D' की कमी से होनेवाले रोगों में—

Calcidrol (Cadila)

Adexolin (Glaxo)

Adiplon–12 (Khandelwal)

Arachitol (Duphar)

(५०) हृद्पात-रक्ताधिकजन्य (Congestive Cardiac Failure)—

Lanoxin Paed. Elixir (Wellcome)—(एक मिलीलिटर में ०·०५ मिलीग्राम)—बच्चों को २५ माइक्रोग्राम, प्रति किलोग्राम शरीर-भार के हिसाब से, प्रत्येक ६ घण्टे पर–औषधि का प्रभाव होने तक। उसके बाद अनुरक्षणार्थं २५ माइक्रोग्राम, प्रति किलोग्राम शरीर-भार पर मात्र एक या विभाजित मात्रा। अपक्व (Preterm) तथा नवजात शिशुओं को और भी कम मात्रा में दें।

Lasix (Hoechest)—१ से ३ मिलीग्राम, प्रति किलोग्राम शरीर भार, प्रतिदिन, मुँह से अथवा इन्जेक्शन द्वारा।

Polklor (Martin & Harris)—एक चाय का चम्मच पानी में मिलाकर, दिन में ३ बार।

शब्दानुक्रमणिका